महाराष्ट्र गवर्नर्स कैंप
३० ८ १९६०

जगदगुरु आदि-शकराचाय के समय से लेकर आज प्राय तेरह चौदह सौ वर्षों से श्रीमद्भगवदगीता पर अपने देश मे बडा मनन हो रहा ह। दन्तकथा तो यही है कि आदि शकराचाय जी ने ही उन ७०० श्लोको के समूह को महाभारत के महासागर रूपी ग्रथ मे से पथक् कर भगवदगीता के नाम से प्रसिद्ध किया।

वास्तव मे श्रीमदभगवदगीता ससार की अनुपम पुस्तको मे ह, और कोई आश्चय की बात नही है कि शताब्दियो से विविध विचारको और दाशनिको ने इसके भावो पर ध्यान दिया ह और इसमें कितने ही अथ देखे ह। इसमे गूढ से गूढ आध्यात्मिक विचार मिलते हैं, और साथ ही साधारण सासारिक नर नारियो के लिए आदेश और उपदेश भी पाये जाते ह। यह इसकी विशेषता ह, और कोई आश्चर्य नही कि हमारे भारतीय समाज में इसकी बडी महिमा है।

मुझे स्वय श्रीमदभगवदगीता का व्यवहार संबधी अग ही सबसे अधिक आकर्षित करता है। ससार के अन्य धमप्रवतका मे और गीता के प्रवर्तक श्रीकृष्ण में मुझे यह बहुत बडा अतर मालूम पडता है कि जहाँ अन्यो ने विशषकर आध्यात्मिक जीवन पर ही जोर दिया है, और नर-नारियो को परलोक की चिन्ता करने के लिए ससार से विमुख किया है, श्रीकृष्ण का गीता द्वारा यह उपदेश रहा ह कि हमे ससार में रहते हुए, ससार के सब कर्त्तव्यो को पूरा करते हुए, इस प्रकार से जीवन व्यतीत करना चाहिए कि हम उसमे लिप्त न हो जायें। उनका आदेश है

"योगस्थ कुरु कर्माणि, संग त्यक्त्वा धनजय।"

ससार का सब काम करो उसमें त्रुटि न आने दो, पर ससार में आसक्त मत हो जाओ। जिस प्रकार से जल में कमल रहता ह उसी प्रकार से हम सबको संसार मे रहना चाहिए। उसमें रहते हुए भी उसका न होना चाहिए।

मुझे हर्ष है कि श्रीरामगोपाल मोहता ऐसे विद्वान, विचारवान व वयप्राप्त सज्जन ने गीता के इस अग पर जोर दिया ह और अपने विचारो का सुदर प्रतिपादन करते हुए ससार में रहने वाले नर-नारियो के लिए गीता की अच्छी व्याख्या की ह और उचित उपदेश दिया ह। मेरी शुभ कामना है कि इस पुस्तक का अच्छा प्रचार हो और अधिकाधिक नर-नारी इससे लाभ उठावें। मै विज्ञ लेखक को ससम्मान और सधन्यवाद बधाई देता हूँ और ईश्वर से प्रार्थना करता हू कि वे हमारे बीच में अभी बहुत दिनो तक रह कर हमारा पथ प्रदर्शन करते रहे।

(श्रीप्रकाश)
महाराष्ट्र के राज्यपाल

चौथे संस्करण की भूमिका

व्यावहारिक ब्रह्म विद्या के प्रेमी पाठको ने गीता का व्यवहार दशन" के तीन सस्करणो की १७५०० प्रतियो को अपेक्षाकृत थोडे ही समय मे अपना लिया तथा इसके मराठी अनुवाद की भी १००० प्रतियाँ समाप्त हो गइ, फिर भी माँग निरतर बढ रही ह । इसलिए इस चौथे सस्करण को शीघ्र प्रकाशित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई । अत इसको पाठको की सेवा में प्रस्तुत करते हुए मेरा हृदय अत्यन्त प्रफुल्लित हो रहा है ।

जिस समय इस ग्रथ का प्रथम सस्करण प्रकाशित हुआ था उस समय हमारा राष्ट्र अग्रेजो की राजनैतिक पराधीनता में बँधा हुआ था और हमारे देश की जनता महात्मा गाधी और श्री जवाहरलाल नेहरू जसे कुशल तपस्वी एव योग्य सवमान्य नेताओ के नेतृत्व में राष्ट्र को विदेशी पराधीनता की बेडियो से छटकारा दिलाने के लिए अडिग व अथक प्रयत्न कर रही थी । मने उस समय भारतीय जनता का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित किया था कि हमारी राजनैतिक पराधीनता का असली कारण हमारी मानसिक दासता धार्मिक अधविश्वास और हमारे अपन ही समाज के अतर्गत सैकडो वर्षों से चली आने वाली सास्कृतिक व सामाजिक विषमता अत्याचार दमन, जाति पाँति के भेद छुआछूत साम्प्रदायिकता व साधु संस्थाओ और धार्मिक गुरुओ आचार्यों पडे पुरोहितो आदि के निठल्लेपन का बोझ व पारस्परिक फूट आदि ह । अगर हम इन दुबलताओ व दुगुणो को दूर नही करेंगे तो राजनैतिक स्वतत्रता हमारे अयोग्य हाथो में आकर भी कायम नही रह सकेगी, वह फिर फिसल जायगी और हम पुन किसी बडी विदेशी शक्ति के गुलाम हो जावेंगे।

आज हमारा देश इसी खतरे की अवस्था में से गुजर रहा है और देश के बडे नेता बार बार हमें उपरोक्त आशय की चेतावनी दे रहे हैं । इससे स्पष्ट है कि मैंने उस समय जो आशका प्रकट की थी वह अब प्रत्यक्ष सामने आ रही है ।

स्वराज्य प्राप्ति के बाद हमारे देश मे सवतोमुखी भ्रष्टाचार, चोरबाजारी पारस्परिक शोषण धोखेबाजी साम्प्रदायिकता सकीण क्षेत्रीय शासन विभाजन के द्वारा सत्ता प्राप्ति की स्वाथलोलुपता जातीयता फूट स्वाथपरता पदलोलपता, नवयुवको विद्यार्थियो मजदूरो व कमचारियो में उपद्रवीपन और उत्तरदायित्व हीनता आदि अनेक समाज विध्वसक दुगुण एव दुबलताएँ उभर कर सामने आ रही है । अग्रेजो के शासन काल म हमने सिफ उनसे द्वेष करने की आदतो का ही अपने में पोषण किया, उनके गुण, योग्यता, समझदारी कायकुशलता और नैतिकता को नही अपनाया । अपने उपरोक्त परम्परा प्राप्त दोषो दुबलताओ और अयोग्यताओ

को मिटान की चेष्टा न पहले की और न अब ही कर रहे ह । ऐसी अवस्था अगर बनी रही तो देश का भविष्य निश्चय ही अधकारपूण हो जायगा ।

हमन स्वराज्य इसलिए नही लिया कि हम भी पश्चिम वालो की तरह कोरे विज्ञान कला-कौशल व्यापार अतर्राष्ट्रीय कूटनीति व सनिक शक्ति से सम्पन्न होकर दूसरे दुबल राष्ट्रो का शोषण करे और उ मत्त होकर नरसहार के ताण्डव नत्य म उनके हिस्सेदार बन जावे । हमारी स्वाधीनता के सग्राम का मुख्य उद्देश्य तो यह था कि राजनतिक सत्ता प्राप्त करके हम अपनी प्राचीन आध्या मिकता मूलक ब्रह्म विद्या के आधार पर व्यवहार करते हुए अपनी बौद्धिक नतिक आर्थिक व सास्कृतिक उन्नति करे और अपने देश मे शाति पुष्टि व तुष्टि की स्थापना करते हुए दुनिया के देशो को पारस्परिक अविश्वास द्वेष कलह व लोभ मूलक ागण ा मक्न क्गन म सहायता दें और ससार मे सावभौम वसुधव कुटम्बकम ' के आदश की ्यावहारि पूर्नि करने मे क्रियाशील रहे ।

आज दुनिया मे घोर अशाति और दुश्चिन्ता ्याप्त हो रही ह । विज्ञान की उन्नति ने भय्करनम मवनाशकाग शक्ति पश्चिम के लोगो को प्रदान कर दी ह । वे एक दूसरे से डर रहे ह कि कोई आकस्मिक उत्तेजनावश इस ज्वालामुखी का विस्फोट न कर डाले । विज्ञान ने मनुष्य को शक्ति तो प्रदान कर दी परन्तु आध्या त्मिकता मूलक बुद्धिमत्ता प्रदान नही की जिससे प्ररित होकर वह इस शक्ति का उपयोग जन-सहार के लिए न करके लोक मगल के लिए कर सके । इस लोक कल्याणकारी भावना की प्रेरणा प्राप्त करने के लिए वे भारत की ओर आशाभरी आँखो से ताक रहे ह ।

इस प्रकार लोक कल्याणकर ज्ञान और प्रेरणा देने की शक्ति हमारे यहाँ की प्राचीन ब्रह्म विद्या मे ह । हमारे देश में ही ्मका आनिप्कार ुआ और दीर्घकाल तक हमारे पूवजो म इसका प्रचार व ्यवहार भी प्रचलित रहा । उस समय हम अन्य देशो की अपेक्षा न्तिन अग्रगामा और दूसरो के पथ प्रदशक थे यह इतिहास के जानका ा ा छिपा नही ह । परन्तु प्राकृतिक गुण परिवतन के अटल नियमानुसार, काल के प्रभाव से हम स्वय अपने इस अमतकुण्ड को भूलकर प्रगति की प्रेरणा के लिए इधर उधर भटक रहे ह । दुनिया कोरे अ्यावहारिक उपदेश की अपेक्षा व्यावहारिक उदाहरण से अधिक प्रभावित होती ह । अपनी आवश्यकता के अनुसार पश्चिम ाा न विज्ञान को लेन हुए बदले मे ब्रह्म विद्या के और आदश को उ्हे देकर हमे मनुष्यता के ऋण से उऋण होना ह । इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए हमारे राष्ट्र को स्वय अपने विस्मत ्यावहारिक तत्त्वज्ञान को पुन जाग्रत करके उसे अमल मे लाना है । तब ही हम स्वय उन्नत शात और दात होकर विज्ञान की विनाशकारी शक्ति की दिशा निर्माण और कल्याण की ओर मोड़ सकेगे । इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर हमारे देश के सवमान्य नेता श्री जवाहरलाल

नेहरू बार-बार कहते ह कि मानवता को बचाने के लिए आज के युग में विज्ञान और अध्यात्म के सामजस्य की निता त आवश्यकता है। वे सिफ कहते ही नही बल्कि उनकी विदेश नीति सयुक्त राष्ट्रसघ मे जो कार्य कर रही ह उससे स्पष्ट प्रतीत होता ह कि उनके कथन व कार्यों का श्रोत हमारे अतीत की व्यावहारिक ब्रह्मविद्या में ही निहित है।

यह [illegible] ब्रह्मविद्या भारत के प्राचीन उपनिषदो मे भरी पडी ह। भगवान बादरायण व्यास ने उसका नवनीत निकाल कर उसका जसा यावहारिक रूप श्रीमदभगवदगीता मे रखा है वसा विश्व के किसी भी देश के प्राचान अथवा अर्वाचीन साहित्य मे उपल ध होना असभव है। गीता की मान्यता भारत भर में सार्वभौम है। इस पर अनेक प्राचीन और नवीन टीकाएँ उपल ध है। प्राचीन टीकाओ मे अपन अपने म्प्रदाय की दष्टि का आग्रह होन क कारण व न साधारण के दिन प्रतिदिन [illegible] जीवन के काम की नही रही। उल्टा व्यावहारिक पथ प्रदशन मे वे बाधक ही नही कि तु घातक सिद्ध हुई। मध्ययुग के टीकाकारो ने अपनी टीकाओ मे कोरे व्यक्तिगत स्वार्थों अर्थात इस लोक और परलोक के यक्तिगत सुख व कल्याण (अभ्युदय और नि श्रेयस) की प्राप्ति के उद्दश्य से ही ब्रह्म विद्या के इन सत शास्त्रो के अर्थ का अनथ करके उनमें प्रतिपादित यक्ति और समाज दोनो के लिए एक समान हितकर ब्रह्मविद्या को लोक व्यवहार के अनुपयुक्त ही नही किन्तु उसका विरोधी ठहरा दिया। ज्ञानमाग के टीकाकारो ने इनमें व्यक्तिगत मोक्ष प्राप्ति के लिए घर गृहस्थी के व्यवहारो को छोडकर सन्यास लेने और नीरस आत्मज्ञान के विचारो और वाद विवाद के वितडा मे लगे रहने का विधान बताया। भक्ति पथ वालो ने निगुण अथवा सगुण व्यक्ति ईश्वर की उपासना अचन पूजन, नाम जप भगवद् भजन, स्मरण, कीर्तन आदि करते रहकर अपने व्यक्तिगत कल्याण करन का [illegible] सिद्ध किया। योग मार्ग वालो ने आसन, प्राणायाम धारणा, ध्यान आदि से समाधि में बैठे रहने का परम पुरुषार्थ इनसे सिद्ध करने का प्रयत्न किया। कमकाण्डियो ने इनके आधार पर वैदिक हवन यज्ञ, सध्या, देवकम पितृकम आदि कर्मकाण्डो में ही लगे रहना मनुष्य का एकमात्र कतव्य बताया। अ यावहारिक एकागी सदाचारवादियो ने सत्य, अहिसा दया, क्षमा, अस्तेय सतोष, सरलता, ब्रह्मचय आदि समाचारो की अव्यवहारिक अतियो को पालन करने पर जोर दिया तो अलग अलग धार्मिक व साम्प्रदायिक आचार्यों ने अपने-अपने साम्प्रदायिक मतो और आचारो की पुष्टि इनसे की। इस तरह विभिन्न मतवान्यियो ने अपने अपने मतो का समर्थन करते हुए ब्रह्मविद्या के वास्तविक यावहारिक तत्त्व को लोक मानस में सर्वथा भुलाकर व जनता को विभ्राम मे डालकर उसे अकर्मण्यता और विपरीत क्रियाओ में उलझा दिया। राष्ट्र और समाज के अस्तित्व, गौरव व जीवन निर्वाह के साधनो एव घर

गहस्थी के सासारिक व्यवहारो को सबने हेय बताकर उनकी अवहेलना की। जिस लोक समाज और राष्ट रूपी वक्ष की डालो पर बठ कर उक्त सम्प्रदायवादी शोषक उसके मीठ फल खाते रहे उन्ही आधारभूत डालो को वे काटते रहे।

नवीन टीकाकारो ने अपनी टीकाआ मे इस ब्रह्म विद्या के [illegible]यावहारिक पक्ष पर जोर तो अवश्य दिया परन्तु उन्होने भी [illegible]स [illegible]यावहारिक पक्ष का सागोपाग निवाह और स्प[illegible]ट [illegible] नही किया। [illegible] की अस्पष्टता और दुरूहता मे उलझ गए। परिणाम यह हुआ कि गीता का व्याव हारिक तत्त्वज्ञान सव साधारण को उपलब्ध नही हो सका। इस त्रुटि की पूर्ति की आवश्यकता का अनुभव करके मने इसके सवथा सरल सुबोध और [illegible]यावहारिक अथ को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया और मुझका खुशी होती ह कि पाठको ने इसका इतना स्वागत करके मेरा उत्साह बढाया। मेरा विश्वास ह कि यदि हमारे देशवासी इसके अनुसार आचरण करगे तो हमारा देश व समाज व्यक्तिगत व सामूहिक दोनो प्रकार से उन्नत होकर दुनिया का पथ प्रदशन करने व ससार को नवीन दष्टिदान करने मे सफल हो सकेगा।

राष्ट्र के लागो के जीवन मे अच्छ व बुरे सस्कारा का निर्माण बचपन से ही आरभ होता ह। हमारे गहस्थ के अभिभावक माता पिता और शिक्षा सस्थाय ही हमारी भावी सन्तति में गीता मे प्रतिपादित अनुपम व्यावहारिक ब्रह्मविद्या के सस्कार डाले तो सफलता अधिक सुगम हो सकती ह। इनके सिवाय साहित्यकार, लेखक पत्रकार कलाकार रेडियो व सिनेमा भी जनमानस का इस आधार पर निर्माण कर सकते ह। देश मे जसे सरकार अपनी पचवर्षीय योजनाओ द्वारा जनता के शरीरो की उपयोगी वस्तुओ के उत्पादन, विनिमय व वितरण की योजना राजकमचारियो पूजीपतियो मजदूरो व जनता के सहयोग से कर रही है उसी तरह जनता व सरकार सबका कतव्य ह कि हम सब मिलकर देश की वतमान व भावी पीढी के शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक उक्त दिव्य साहित्य के निर्माण शिक्षण प्रचार व प्रसार की योजनाबद्ध व्यवस्था [illegible] ब्रह्मविद्या के अमृत को राष्ट्र की नाडियो मे भरे और उसे दीर्घ जीवी [illegible] बनावे। इस सस्करण में कुछ सशोधन परिवतन व परिवधन आवश्यकतानुसार किए गए है। आशा है कि पाठक पाठिकाए इस सस्करण को भी पूर्ववत अपनाकर मुझे कृतकृत्य करेगे।

मोहता भवन
बीकानर सवत २०१८ चत्र
शुक्ला १ ता० १७ ३ १९६१
शुक्रवार

रामगोपाल मोहता

गीता का व्यवहार-दर्शन

उपोद्घात

सुख प्राप्ति और दु ख निवत्ति सभी देहधारियो का ध्येय ह्। प्राणिमात्र की नाना प्रकार की चेष्टाओ का अन्तिम लक्ष्य दु ख की निवत्ति और सुख की प्राप्ति होता ह् । पशु पक्षियो में साधारणतया विचार शक्ति का विकास नहीं होता, अत वे केवल अपने शरीरो की तात्कालिक दु ख निवृत्ति और सुख प्राप्ति के लिए ही उद्यम करते रहते हैं, और उस उद्यम में सफलता होगी कि नहीं, अथवा उसका विपरीत परिणाम तो नहीं हो जायगा अर्थात उससे सुख के बदले उलटा दु ख तो न हो जायगा, इत्यादि बातो पर विचार करने की उनमें योग्यता नहीं होती।

मनुष्य (स्त्री पुरुष) में विचार शक्ति का विकास होता है, अत॰ वह पशु पक्षियो की तरह अ धाधु ध उद्यम नहीं करता, किन्तु विवेक और दूरदर्शिता से काम लेता है। वह केवल अपने शरीर की तात्कालिक दु ख निवत्ति और सुख प्राप्ति से ही सन्तोष नहीं करता, किन्तु शरीर के अतिरिक्त मानसिक दु ख निवत्ति और सुख प्राप्ति के लिए भी प्रयत्न करता रहता है, तथा इस लोक के भविष्य एव परलोक पर दष्टि रखता हुआ सुख दु ख की मात्रा और परिणाम का भी विचार करता ह। वह अपने शरीर के अति रिक्त अपने कुटुम्ब आदि के सुखो के लिए भी उद्यम करता ह।

मनुष्यो में भी विचार शक्ति के विकास की न्यूनाधिकता के अगणित दर्जे होते हैं और अपनी योग्यतानुसार दु ख निवत्ति और सुख प्राप्नि क लिए सब कोई निरन्तर उद्योग करते रहते ह। कई लोग तो विशेषतया अपने ही शरीर और मन की इहलौकिक दु ख निवत्ति और सुख प्राप्ति के लिए उद्योग करते ह, कई अपने और अपने कुटम्बियो एव सम्बन्धियो आदि की इहलौकिक दु ख निवत्ति और सुख प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते है, और कई भावुक लोग इहलौकिक सुखो को तुच्छ मान कर पारलौकिक सुखो के लिए—इस देह के सुखो की अवहेलना करके—अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक कष्ट सहन करते ह, अर्थात मरने के बाद दूसरे जन्म में भौतिक सुखो की प्राप्ति,

अथवा सूक्ष्म शरीर द्वारा स्वर्गादि सुख भोगने, अथवा मुक्ति प्राप्त करने की कामना से जप, तप, पूजा, पाठ व्रत उपवास, तीर्थाटन, दान, पुण्य, हवन, अनुष्ठान आदि अनेक प्रकार के कमकाण्डो में लगे रहते ह और उनके लिए आवश्यक विधान किये हुए कठिन नियम पालन करने में हठपूवक सर्दी, गरमी, भूख, प्यास आदि शारीरिक पीडाए, एव राग, द्वेष, चिन्ता, भय, क्रोध आदि मानसिक कष्ट सहन करते ह। परन्तु जिनकी बुद्धि अधिक विकसित हो जाती ह, उनको दु ख निवत्ति और सुख प्राप्ति के उपरोक्त प्रयत्न निरथक प्रतीत होते ह, क्योकि वास्तव में न तो उनसे दु खो की निवत्ति होती ह और न निरकुश* निरतिशय*, सच्चे एव अक्षय सुख की प्राप्ति ही। वे प्रत्यक्ष अनुभव करते ह कि शारीरिक एव मानसिक सुख-दु खादि द्वन्द्व (जोडे) सब सापेक्ष एव अन्योन्याश्रित (Relative and interdependent) होते ह, अत जितने अधिक सुख के साधन किये जाते ह, उतना ही अधिक दु ख साथ ही उत्पन्न हो जाता ह। प्रथम तो उन सुखो की प्राप्ति के प्रयत्न में पहले ही से बहुत से कष्ट उठाने पडते ह फिर सुख प्राप्त होने पर उनके नाश होने का भय बना रहता ह और साथ ही दूसरो के अधिक सुखो को देख देख कर जलन होती रहती ह, और सुख भोग के पीछे, उसके परिणाम में दु ख अवश्य होता ह। अत वे सोचते ह कि जिन स्वर्गादि सुखो की प्राप्ति के साथ दु ख निरन्तर लगा ही रहता है, वे दु ख मिश्रित सुख, वास्तविक सुख कसे हो सकते ह, और मरने के बाद की जिस मक्ति की प्राप्ति के लिए जीवन काल में सारी आयु नाना प्रकार के नियमो और बन्धनो में बितानी पडे वह सच्ची मुक्ति कसे हो सकती ह ? सच्चा सुख अथवा मुक्ति तो वह ह कि जिसके लिए मरने की प्रतीक्षा न करनी पडे किन्तु जिसका अनभव इसी शरीर में तुरन्त हो जाय, अर्थात जीवन-काल ही में सब प्रकार के दु खो और बन्धनो की निवत्ति हो जाय। इसलिए वे लोग दु ख निवत्ति और सुख प्राप्ति के उपरोक्त प्रयत्न निष्फल समझ कर, दु खो की अत्यन्त निवत्ति और निरकुश, निरतिशय, सच्चे एव अक्षय सुख की प्राप्ति किस तरह हो सकती ह, इसका अचूक उपाय ढूँढ निकालने के लिए, सुख दु ख के यथाथ स्वरूप, उनके मूल कारण और उनके नाना प्रकार के सम्बन्ध एव प्रभाव आदि के विषय में गहरा अन्वेषण करते ह। इस अन्वेषण के प्रसग में जब सारा जगत ही सुख दु खमय प्रतीत होता ह अर्थात अपनी तरह सारी सष्टि सुख-दु ख से ग्रसित दीखती ह, तो यह जानने की उत्कण्ठा सहज ही उत्पन्न होती ह कि यह जगत क्या ह ? म क्या हू ? जगत से मेरा क्या सम्बन्ध ह ? यह जगत क्यो और किस तरह होता ह, और इसका सचालन कौन और किस प्रकार करता ह ? इसमें नाना प्रकार के सुख दु ख क्यो होते ह ?

---

*जिस सुख मे पराधानता अथवा परावलम्बन न हो, वह निरकुश सुख कहलाता ह और जिस सुख से अधिक कोई दूसरा सुख न हो वह निरतिशय सुख कहा जाता ह।

इनके प्रभाव से रहित कोई हो सकता ह कि नहीं, और यदि हो सकता ह तो किस तरह ? इत्यादि। जब इस प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न होती ह तब इस विषय में सूक्ष्म—तात्त्विक विवेचन करने की आवश्यकता पडती ह, क्योकि किसी भी विषय के तात्त्विक विवेचन बिना उसकी असलियत का पता नहीं लगता और असलियत का पता लगे बिना उसका यथाथ निणय नही हो सकता। अत बुद्धिमान लोग अपने तथा जगत के अस्तित्व और उससे सम्बन्धित विषयो पर तात्त्विक विचार करते ह। इस तरह के सूक्ष्म तात्त्विक विचारो को दशनशास्त्र (Philosophy) कहते ह, और उन तात्त्विक विचारो के आधार पर आचरण करने का विवेचन व्यवहार दशन (Practical Philosophy) ह।

प्राचीन काल के आय लोगो ने दाशनिक विषय में सबसे अधिक अनुसधान किया था और बुद्धि के तारतम्य के अनुसार उन लोगो ने विविध प्रकार के दाशनिक सिद्धान्त निश्चित किये थे, जिनके बहुत से दशनशास्त्र बन गये थे। इस विषय में उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए वे लोग इस अन्तिम निश्चय पर पहुचे कि नानाभावापन्न प्रतीत होनेवाला यह जगत वस्तुत एक ही सत्य, सनातन आत्मा के अनेक रूपो का बनाव ह, अर्थात् एक ही सच्चिदानन्द आत्मा अपनी इच्छा से अनेक भावो में व्यक्त होकर जगतरूप होता है। (कठोपनिषद वल्ली ५ मन्त्र ९ १०, छान्दोग्य उप० प्रपाठक ६ खण्ड २), परन्तु उसका यह नाना रूपो का बनाव अर्थात जगत का नानात्व, निरन्तर परिवतनशील तथा उत्पत्ति नाशवान होने के कारण असत यानी कल्पित ह और उन नाना रूपो अर्थात अनकताओ के बनाव के अन्दर जो एकत्व भाव ह, वही सच्चिदानन्द सनातन आत्म-तत्त्व ह और वह आत्म-तत्त्व सवव्यापक एव सदा इकसार स्थायी रहने के कारण सत ह (ईशोपनिषद मन्त्र ४ ५, कठोपनिषद वल्ली २ ३)। साथ ही वे इस सिद्धान्त पर पहुँचे कि इस भिन्नता के कल्पित बनाव को सच्चा मानने की भूल में पड कर, दूसरो से पृथक अपने व्यक्तित्व के अहकार यक्त तथा दूसरो से पथक अपनी व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के उद्देश्य से राग द्वेषपूवक, जगत के व्यवहार करने से नाना प्रकार के दु ख उत्पन्न होते हैं (कठोपनिषद वल्ली ४ मन्त्र १० ११), परन्तु इस अनेकता के बनाव को एक ही सच्चिदानन्द, सवव्यापक, सनातन आत्मा की इच्छा शक्ति (प्रकृति) का प्रतिक्षण परिवतनशील खेल समझ कर, सवत्र एकता के निश्चयपूवक दूसरो से पथक अपने व्यक्तित्व के अहकार और दूसरो से पथक अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की आसक्ति के बिना, अर्थात् व्यक्तित्व के अहकार को समष्टि अहकार के साथ और व्यक्तिगत स्वार्थों को सबके स्वार्थों के साथ जोड कर व्यवहार करने से दु ख का जरा भी अस्तित्व प्रतीत नहीं होता, किन्तु ससार आनन्दमय भान होता ह (ईशोपनिषद मन्त्र १ २, कठोपनिषद वल्ली ४ मन्त्र १५, वल्ली ५ मन्त्र १२ १३, वल्ली ६ मन्त्र १४ १५), और वह आनन्द सापेक्ष, सांकुश,

दु ख परिणामवाला अथवा उत्पत्ति विनाशवाला नहीं होता, क्योकि वह आत्मज्ञान की समत्वबुद्धि से होता ह। आत्मा स्वय आन द स्वरूप ह। इसलिए उपरोक्त आत्म ज्ञानयुक्त व्यवहार करनेवाला जीवनमुक्त महापुरुष सदा आन द स्वरूप होता ह। यह वेदान्त सिद्धान्त ह। (ईशोपनिषद म त्र ६ ७ ८, कठोपनिषद वल्ली ५ म त्र १२ १३)। प्राचीन काल में इसी को ब्रह्मविद्या कहते थे।

प्रत्येक सस्कृति के दो भाग होते ह—एक उसका तत्त्वज्ञान और दूसरा उसका कमकाण्ड। तत्त्वज्ञान सस्कृति का जीवात्मा और कमकाण्ड उसका शरीर होता ह। 'जगत के नानात्व का बनाव असत और सबका एकत्व भाव सत' यह निश्चय आय सस्कृति (Hindu Culture) का तत्त्वज्ञान ह, अत यह सिद्धान्त आय सस्कृति का सनातन जीवात्मा ह, और इस सिद्धान्त के आधार पर आचरण करने के लिए देश, काल और व्यक्तियो की परिस्थिति एव योग्यता के उपयुक्त जो इश्वरोपासना एव धार्मिक कम काण्ड की व्यवस्थाए, सामाजिक एव नतिक मर्यादाए, और व्यक्तिगत आचरणो तथा सबके पथक पथक काय विभाग के नियम आदि समय-समय पर बना कर उनके अनुसार सासारिक व्यवहार किया जाता ह, वह इस आय-सस्कृति का परिवतनशील शरीर ह। जिस तरह शरीर परिवतनशील होने के कारण बदलता रहता ह, कि तु उसका आधार—अविनाशी आत्मा, अनेक शरीरो को धारण करता और छोडता हुआ भी ज्यो का त्यो बना रहता ह, उसी तरह ईश्वरोपासना एव धार्मिक कमकाण्ड की व्यवस्थाए, विधि निषेध* की सामाजिक एव नतिक मर्यादाए, व्यक्तिगत आचरण एव काय विभाग के नियम आदि, निरन्तर परिवतनशील, देश, काल और वस्तुरूप जगत के नानात्व के खेल के अन्तगत होने के कारण परिवतनशील ह, अत देश, काल और व्यक्तियो की बदलती हुई परिस्थिति के साथ-साथ इनका भी बदलते रहना आवश्यक ही नहीं, किन्तु अनि वाय ह। परन्तु इन सब का आधार—मूल सिद्धा त सत्य एव नित्य होन के कारण अपरि वतनशील ह, अत वह ज्यो का त्यो बना रहता ह। यदि मूल सिद्धा त को भुलाकर अथवा उसकी उपेक्षा करके उसके स्थान में कमकाण्ड आदि को ही नित्य एव अपरिवतनशील मान कर हठ और दुराग्रह से इ हे न बदला जाय तो जीवात्मा के बिना जो शरीर की दुर्दशा होती ह, वही दशा किसी भी सस्कृति अथवा धम की होनी स्वाभाविक, अत अवश्यम्भावी ह।

प्राचीन काल में इस देश में ब्रह्मविद्या विशेषतया राजाओ की विद्या समझी जाती

* अमुक-अमुक व्यवहार करन चाहिए" ऐसी अनुमति देने वाली व्यवस्थाएँ "विधि कही जाती ह और अमुक-अमुक यवहार नही करन चाहिए ऐसी मनाई करने वाली व्यवस्थाए निषेध कही जाती ह।

थी (गी० अ० ९ श्लोक २) और राजा लोगो में इसका बहुत प्रचार था (गी० अ० ४ लोक १ से ३) क्योकि सारे समाज को सुव्यवस्थित रखने की जिम्मेवारी राजाओ ही की होती ह, और ब्रह्मविद्या की जानकारी बिना समाज को पूण रूप से सुव्यवस्थित रखा नहीं जा सकता। वास्तव में आदश और निर्दोष राज्य शासन वा शासन-पद्धति ब्रह्मविद्या के आधार पर ही निर्माण हो सकती ह और बडी से बडी एव जटिल से जटिल राजनतिक समस्याओ को ठीक ठीक सुलझाने का एकमात्र अचूक साधन ब्रह्मविद्या ही ह। इसलिए राजाओ के लिए इसकी अत्यन्त आवश्यकता समझी जाती थी। वे लोग इसी के प्रसाद से सत्रभता मनय नान ारा, सबके साथ एकता के प्रेमयुक्त, प्रजा रक्षणादि काय यथायोग्य करते थे, और इस ब्रह्मविद्या का उपदेश अय लोगो को भी देकर सबको अपने भपन कनय म स्थित रख कर समाज की सुव्यवस्था रखते थे। राजाओ से ब्रह्मविद्या का उपदेश अय लोगो के लेने के वणन प्राचीन शास्त्रो में जगह जगह पाये जाते ह।

भारतवष के स्वणयुग में रचे हुए अनेक दशन और व्यवहार शास्त्र सूक्ष्म विचारो में एक एक से बढ़ कर ह, जिनमें वेदान्त दशन सबसे परे का ह। इस दशन के जो ग्रन्थ वतमान में उपलब्ध ह, उनमें उपनिषद सबसे प्राचीन और सबसे अधिक महत्त्वपूण एव मान्य हं। उनमें वर्णित ब्रह्मविद्या सर्वोपरि ह, और वेदान्त के दूसरे सब ग्रन्थ उपनिषदों के प्रमाणो ही से प्रमाणित होते ह। केवल वेदान्त के ग्रन्थ ही क्यो, पुराण, इतिहास, धमशास्त्र आदि भी अपनी प्रामाणिकता के लिए उपनिषदो ही का आश्रय लेते ह। अत उपनिषदो को हिन्दू-सस्कृति के मल आधार ग्रन्थ कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। श्रीमदभगवदगीता उपनिषदा का सार माना जाना ह, परन्तु वास्तव में यह केवल उपनिषदो का सार ही नहीं ह किन्तु उनके गहन और सूक्ष्म सिद्धान्तो का जीवन के व्यवहारों में उपयोग करने का विधान भी इसमें ह, अर्थात ज्ञान और व्यवहार के मेल का खलासा अत्यन्त ही सरल और सुगम रीति से गीता में किया गया ह। यद्यपि योगवाशिष्ठ भी व्यावहारिक वेदान्त का एक बहत ग्रन्थ ह, परन्तु उसमें रूपान्तर से प्राय गीता ही के उपदेशो का विस्तारपूवक प्रतिपादन किया गया ह। इसके अतिरिक्त उसमें अत्यन्त सूक्ष्म एव गहन विचारो का इतना अधिक विस्तार ह कि उनका साधारण जनता की समझ में आना बहुत कठिन ह। वेदान्त के अन्य ग्रन्थ प्राय अपने-अपने सिद्धान्तो की सिद्धि एव उनकी पुष्टि के शास्त्राथ तथा निवृत्ति में ही उनके उपयोग के विचारो से भरे पडे ह। प्रवत्ति में उनका उपयोग कसे करना चाहिए, काय-रूप में उन्हे कसे परिणत करना चाहिए, अर्थात उनको अमल में कसे लाना चाहिए, यह निरूपण उपनिषदो के आधार पर जसा श्रीमदभगवदगीता में ह, वैसा किसी में नहीं ह। तात्पय यह कि गीता की यह विशेषता ह कि आत्म-ज्ञान की सात्विकी बुद्धि से कतव्याकतव्य का निणय करके, जगत के व्यवहार किस तरह करने चाहिएँ कि जिससे अभ्युदय और निश्रेयस दोनो, अर्थात

शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की निश्चयपूवक प्राप्ति हो सके, इस ज्ञान कम समुच्चय का निरूपण इसम बहुत ही स्पष्ट रूप से किया गया ह—सो भी केवल सात सौ श्लोको में और बहुत ही सरलतापूवक। यदि [illegible] में [illegible] ज्ञान के सिद्धात (Theory) मात्र [illegible] उपदेश [illegible] [illegible] [illegible] होना और न [illegible] एव सर्वोपयोगिता ही रहती, क्योकि केवल आत्मज्ञान के तो बहुत से ग्रथ ह, परन्तु जिस ज्ञान के अनुकूल यवहार न हो सके अथवा जिसका यवहार में कुछ भी उपयोग न हो सके, वह साधारण लोगो के किस काम का ? वह शुष्क ज्ञान तो लौकिक यवहार से विरक्त सयासियो ही के उपयोग मे आ सकता ह। परन्तु गीता में वह शुष्क ज्ञान नहीं ह। गीता तो यावहारिक वेदान्त का क अनुपम शास्त्र ह, जिसकी उपयोगिता किसी यक्ति विशेष या समुदाय विशेष तक ही परिमित नहीं ह, किन्तु वह सावभौम और सावजनिक ह। उसका उपयोग छोटे से छोटे और बडे से बडे लोग—जाति, वण, आश्रम, धम, सम्प्रदाय, देश और काल के भेद बिना—सदा सवदा कर सकते ह, क्योकि उसके उपदेश किसी साधारण मनुष्य के कहे हुए नहीं ह, किन्तु सर्वात्म भावापन्न (अखिल विश्व को अपने में और अपने को अखिल विश्व में अनुभव करने वाले अर्थात अखिल विश्व के साथ अपनी एकता का अनुभव करने वाले) महान-आत्मा के—जिसको हिन्दू लोग तो परमात्मा का पूण अवतार मानते ही ह, किन्तु और लोग भी एक असाधारण महापुरुष अवश्य ही स्वीकार करते ह—कहे हुए ह। गीता की बराबरी का दूसरा कोई शास्त्र ससार को अब तक उपलब्ध नहीं हुआ ह—यह बात केवल आय-सस्कृति के मानने वाले भारतीय लोग ही नहीं मानते किन्तु अन्य सस्कृतियो के मानने वाले बहुत से विदेशी विद्वान भी मक्तकण्ठ से स्वीकार करते ह।

जब तक भारतवष में दाशनिक लोग ज्ञान रूपी प्रकाश को लिये हुए आगे चलते रहे, और साधारण जनता उस प्रकाश में उनके पीछे चलती रही, अर्थात आध्यात्मिकता के मूल सिद्धान्त के आधार पर थोडा या बहुत आचरण करती रही, तब तक यह देश अन्य देशो की प्रतियागिता में उन्नत और शक्तिशाली बना रहा। ससार के सब देश इसका मह ताकते थे। सुख समृद्धि म यह परिपूण था। परन्तु महाभारत काल में, अधिकार प्राप्त लोगो में भौतिकता बहुत बढ़ जाने से व्यक्तित्व का अहकार और व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के भावो की प्रबलता होकर लौकिक यवहारो में आध्यात्मिक भाव प्राय लुप्त हो गये थे (गी० अ० ४ श्लोक १ २) और तत्त्वज्ञानी लोगो ने अधिकतर निवृत्ति माग ही स्वीकार कर लिया था, तब भगवान श्रीकृष्ण महाराज ने अवतार लेकर अपने आचरणो द्वारा, तथा सवभूतात्मक्य साम्य भाव से व्यवहार करने के उपदेश लोगो को देकर ब्रह्म विद्या का पुन प्रचार किया (गी० अ० ४ श्लोक ३)। फिर, महाभारत-काल के बाद के प्रामाणिक इतिहास के अभाव में यह तो नहीं कहा जा सकता कि दर्शनशास्त्रों का

व्यावहारिक उपयोग यहाँ कब बन्द हुआ, परन्तु भगवान बुद्ध के अवतार लेकर प्रवृत्ति मार्ग के विरुद्ध निवृत्ति-मार्ग का प्रचार करने से यह अनुमान होता है कि उस समय इस देश में विश्व की एकता का वेदान्त सिद्धान्त लोगो के आचरणो से लुप्त होकर व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के कर्मकाण्डो की अत्यन्त वृद्धि हो गई होगी जिनके अत्याचारो से लोग बहुत ही दुःखी हो गये होगे और उस अवस्था से लोगो का उद्धार करने के लिए भगवान बुद्ध ने निवृत्ति-मार्ग का प्रचार ही उस समय की परिस्थिति के उपयुक्त एवं कल्याणकारी समझा होगा। फिर जब बौद्धमत में भी विपर्यास हुआ और उससे भी लोगो पर अत्याचार बढने लगे तब भगवान शंकराचार्य ने उसका खण्डन करके वैदिक धर्म का पुनः प्रचार किया, तो उस समय की परिस्थिति के अनुकूल उन्होंने भी निवृत्ति-मार्ग पर ही विशेष जोर देना उचित समझा और वेदान्त शास्त्र के आधार पर निवृत्ति मार्ग को ही दुःखो की आत्यन्तिक निवृत्ति, और सच्चे एवं अक्षय सुख की प्राप्ति यानी मुक्ति का साधन सिद्ध किया। इससे यह निष्पन्न होता है कि भगवान बुद्ध के समय से इस देश में निवृत्ति मार्ग पर लोगो की अधिक श्रद्धा हो गई और यहाँ के लोग संसार के व्यवहारो को सर्वथा बन्धन का हेतु मानने लगे, दर्शनशास्त्र केवल निवृत्ति के ही प्रतिपादक समझे जाने लगे, प्रवृत्ति में दार्शनिक तत्त्वज्ञान अनावश्यक ही नहीं, किन्तु उसका विरोधी ठहराया गया। फलतः दार्शनिक विषय केवल पुस्तकीय ज्ञान (Theory) कोरे शास्त्रार्थ करने के लिए ही रह गया, संसार के व्यवहार में वेदान्त के सिद्धान्तो का उपयोग बिलकुल ही छूट गया और गृहस्थाश्रम छोड कर सन्यास लेने वालो ही का दर्शनो पर अधिकार हो गया। दूसरे शब्दो में दार्शनिक तत्त्वज्ञान का उपयोग संसार के व्यवहारो से लुप्त होकर केवल सन्यास ही में होने लगा। यहा तक कि उपनिषद् और गीता जैसे ज्ञान कर्म समुच्चय अर्थात व्यावहारिक वेदान्त के ग्रन्थो का भी निवृत्ति मार्ग की पुष्टि में ही उपयोग होने लगा और उसी के अनुकूल इनके अनेक भाष्य और टीकाएँ बन गई। साम्प्रदायिक टीकाकारो ने अपने-अपने मत की पुष्टि और अपने अनुयायियो को अपने सिद्धान्त समझाने की स्वार्थ सिद्धि के लिए उपनिषद और गीता का आश्रय लेकर इनके अर्थ की यहाँ तक खींचा तानी की, और शास्त्रार्थ के वागाडम्बरो का तूल इतना बढ़ा दिया कि इनके अर्थ में बहुत ही गडबड हो गई और इनका असली तात्पर्य (व्यावहारिक वेदान्त) बिलकुल अज्ञात हो गया। गीता के विषय में तो कहीं कहीं यहाँ तक कहा जाने लगा कि 'गीता का अर्थ कृष्ण ही जानें।' जिसका भावार्थ यह निकलता है कि स्वयं कृष्ण के सिवाय दूसरा कोई उसका सच्चा तात्पर्य समझ ही नहीं सकता, अतः न अब इस युग में फिर से कृष्ण का अवतार हो और न गीता का वास्तविक अर्थ ही समझा जा सके। कैसे आश्चर्य की बात है कि जब अपने सिवाय दूसरा कोई उसको समझ ही न सके, तो गीता बनाने का परिश्रम उन्होंने व्यर्थ ही किया। तात्पर्य यह कि साधारण जनता भगवान के इस सार्व

जनिक एव सर्वहितकर उपदेश का यथार्थ लाभ उठाने से वंचित हो गई। बहुत से लोगो ने तो इसको निवृत्ति मार्ग की पुस्तक समझ कर, इसके पढ़ने से ससार से वैराग्य हो जाने के डर से इसको पढना छोड कर, केवल मृत्यु के समय सुनाने योग्य ही निश्चय कर लिया। इस तरह उपनिषदो और गीता में प्रतिपादित व्यावहारिक वेदान्त भारतवर्ष में बिलकुल लुप्त हो गया, और ज्ञान के प्रकाश बिना अज्ञान के अन्धकार में ससार के व्यवहार होने लगे, जिसका परिणाम जैसा होना स्वाभाविक है, वैसा ही हुआ अर्थात आर्य-संस्कृति के व्यवहार-रूपी शरीर में से आध्यात्मिक मूल सिद्धान्त रूपी जीव निकल गया। तब, जिस तरह जीव रहित शरीर में अनेक प्रकार के विकार और सडाव-गलाव उत्पन्न हो जाते है, वही दशा इस संस्कृति की हुई। इस देश के अधिकाश लोग अपने व्यवहारो मे आध्यात्मिकता का उपयोग भूल कर आधिभौतिकता में ही अत्यन्त आसक्त हो गये, जिससे जडता (तमोगुण) का इन पर साम्राज्य हो गया, और बुद्धि का विपर्यास होकर ये लोग सत्य को झूठ और झूठ को सत्य मानने लगे, भौतिक शरीरो को ही सब कुछ मान कर, आपस में जाति पाति आदि की अनन्त प्रकार की भिन्नताए उत्पन्न करके, व्यक्तिगत अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ पर ही प्राय सब का लक्ष्य रह गया, जिससे एक दूसरे से घृणा और तिरस्कार के भाव उत्पन्न हो गये, और आपस की एकता का लोप होकर सारे देश में फूट फैल गई, अधिकाश लोग आपस में असत्य और छल कपट का व्यवहार करके एक दूसरे को हानि पहुँचाने लगे, जिससे सम्मिलित शक्ति से काम करने की योग्यता प्राय लुप्त हो गई, भौतिक शरीरो में इतना मोह बढ़ गया कि बहुत से लोग मरने और कष्ट सहने से डरने लगे, बुद्धि से काम लेना छोड कर अन्ध विश्वासो और रूढ़ियो के दास हो गये, मानसिक दुर्बलता के कारण बात-बात में वहम और शकाएँ खडी करके सदा सशंकित रहने लगे, आत्मिक निर्बलता बढ़ जाने से स्वावलम्बन का भाव बहुत कम रह गया, प्रत्येक कार्य में अपने से भिन्न ईश्वर, देवी देवता, भूत प्रेत आदि अदृष्ट कल्पित शक्तियों का अथवा अपने से भिन्न लोगो का आश्रय लेकर ये लोग अधिकतर परावलम्बी, उत्साहहीन, निरुद्यमी और आलसी बन गये, और आत्मा की स्वाभाविक स्वतन्त्रता एव परिपूर्णता के भावो से विमुख होकर दूसरी दृष्ट वा अदृष्ट कल्पित शक्तियो के दास बन कर, उनके आश्रित हो गये, भूतकाल के अभिमान में शोचनीय वर्तमान और अन्धकारमय भविष्य पर ध्यान देना प्राय भूल गये, और अपने अवगुणों तथा त्रुटियो को छिपाये एव बचाये रखना ही अपने लिए हितकर मानने लगे।

इन्हीं कारणो से इस देश का धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और आर्थिक पतन हुआ और इन्हीं कारणो से इस देश के लोग, राजनैतिक स्वतन्त्रता खोकर, जिन लोगों में ये दुर्गुण यहाँ के लोगो से कम थे, उनके अधीन हो गये।

दूसरी तरफ, जो देश वर्तमान में उन्नतिशील है, उनकी उन्नति का कारण थोडा

या बहुत, जाने या अनजाने, व्यावहारिक वेदान्त का आचरण ही ह। उन देशो में दार्शनिक और वज्ञानिक लोग ज्यो ज्यो आगे बढ़ते जाते ह, त्यो त्यो साधारण जनता उनके पीछे चलती रहती ह। आपस में एकता और प्रेम इतना बढा हुआ ह कि वे एक दूसरे के साथ असत्य और छल कपट का बर्ताव प्राय नहीं करते, और प्रत्येक ग्राम म ज्ञान का उपयोग करते ह, व्यक्तित्व के अहकार और व्यक्तिगत स्वार्थ को, जातीय अहकार और जातीय स्वार्थ के अन्तर्गत मानते ह, जनता की सेवा और जनता के हित के लिए व्यक्तिगत शरीर पर कष्ट झेलने और मरने तक को भी सदा तयार रहते ह, व्यवहार में अन्ध-विश्वास की रूढियो तथा मानसिक दुर्बलताओ को बाधक नहीं होने देते, स्वावलम्बन में आत्माभिमान मानन ह और परावलम्बन एव दासता के भावो को बहुत हीन एव त्याज्य समझते ह भूतकाल को अनावश्यक महत्त्व न देकर वर्तमान और भविष्य पर विशेष ध्यान रखते ह, और अपनी त्रुटियो का प्रकट होना हितकर समझते ह। इन सदगुणो के कारण ही उन देशो की उन्नति हुई ह और वे दूसरो पर आधिपत्य करते ह।

भारतीयो के लिए कुशल इतनी ही ह कि जिस तरह भौतिक शरीर के बिगड जाने अथवा नाश होने पर भी अव्यय, अविनाशी जीवात्मा ज्यो का त्यो बना रहता ह, उसी तरह आर्य-सस्कृति के व्यवहार रूपी भौतिक शरीर के अस्तव्यस्त होने पर भी उसका मूल सिद्धान्त सत्य और सनातन होने के कारण, ज्यो का त्यो विद्यमान ह, अन्य सस्कृतियो के अपूर्ण और अस्थिर सिद्धान्तो की तरह वह कभी नष्ट नहीं हो सकता और न उसका कुछ बिगड ही सकता ह। इसलिए आर्य-सस्कृति यदि अपने मूल सिद्धान्त के आधार पर अपने बिगडे हुए व्यवहार रूपी विकृत कलेवर को बदल कर, उसको वर्तमान समय की परिस्थिति के अनुकूल बना ले, तो वह अपनी पूर्व उन्नतावस्था पुन प्राप्त करके सर्वशिरोमणि हो सकती ह, और इस देश की जनता के सभी क्लेश मिट कर सुख शान्ति प्राप्त हो सकती ह। अत यदि हमें इस भयानक अवस्था से मुक्ति पाकर, दूसरे देशो की प्रतिद्वन्द्विता में जीवित रहना ह, तो हमें पुन ब्रह्मविद्या का प्रचार करना चाहिए, अर्थात श्रीमदभगवदगीता का असली तात्पर्य समझ कर सर्वभूतात्मक्य ज्ञानयुक्त व्यवहार करने की व्यवस्थाए बना कर जनता को यथायोग्य उन पर चलाने का प्रबन्ध करना चाहिए।

जिस तरह मरा हुआ शरीर पुन पूर्व रूप में जीवित नहीं किया जा सकता उसी तरह प्राचीन काल की मुर्दा व्यवस्थाए, बिलकुल उसी रूप में पुन प्रचलित नहीं की जा सकतीं, न दूसरे देशो एव अन्य सस्कृतियो के लोगो का अन्धानुकरण ही हमारे लिए हितकर हो सकता ह, क्योकि अन्य सस्कृतियो के सिद्धान्त बहुत सकुचित ह अर्थात उनका क्षेत्र किसी देश विशेष या जाति विशेष या समाज विशेष तक ही परिमित ह, इसलिए वे अपूर्ण और अस्थिर भी ह, उनसे सच्चा एव अक्षय सुख तथा सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। परन्तु हमारी सस्कृति का मूल सिद्धान्त व्यापक होने के कारण उसका क्षेत्र

असीम और सावजनिक ह, इसलिए वह पूण एव नित्य ह, अत उसके आधार पर ही अपनी न्यावहारिक व्यवस्थाए, समयानुकूल बाँधते रहना हमारे लिए विशेष हितकर हो सकता ह । हा, अन्य सस्कृतियो की भी जो जो बातें हमारी वतमान परिस्थिति के उपयुक्त और हितकर हो, उनकी आध्यात्मिक दष्टि से छान बीन करके उनसे हमें लाभ उठाना चाहिए, और जो जो प्राचीन न्यवस्थाए हमारे यहा अब तक प्रचलित ह, उनमें से जो उसी रूप मे अथवा सशोधित होकर, वतमान समय की परिस्थिति के उपयुक्त तथा हितकर हो, उनका यथायोग्य उपयोग करना चाहिए, हमको द्वष किसी से भी नहीं रखना चाहिए, क्योकि प्राचीन और नवीन सभी बाते हमारी सस्कृति के व्यापक सिद्धान्त के अन्तगत ही ह, इसलिए हमको यथायोग्य सब का सदुपयोग करना चाहिए। ऐसा करने से इस देश की वास्तविक उन्नति ही न होगी किन्तु सारे ससार को उसका अनुसरण करना पडेगा ।

क्योकि श्रीमदभगवदगीता का व्यावहारिक वेदान्त ही हमारी सस्कृति का मूल आधार ह, और उसी के अनुसार आचरण करने से हमारी उन्नति सम्भव ह, इसलिए उसी विषय के निरूपण करने का प्रयत्न इस पुस्तक में आगे किया जायगा ।

व्यावहारिक वेदान्त

यह बात उपोदघात में कह आये ह कि "व्यावहारिक वेदान्त" के आचरण से ही सच्चा सुख अर्थात शान्ति, पुष्टि और तुष्टि प्राप्त हो सकती ह। अब सबसे पहले इस विषय पर विचार करना चाहिए कि 'वेदा त" क्या ह और यवहार में उसका उपयोग किस तरह होता ह ?

"वेदान्त" किसी विशिष्ट धम (मजहब), मत, सम्प्रदाय या पन्थ का नाम नहीं है, और न किसी ग्रन्थ विशेष ही में "वेदा त" परिमित ह। "वेदा त" शब्द का अथ ह—जानने का अन्त अथवा ज्ञान की पराकाष्ठा। जानने का अ त अथवा ज्ञान की पराकाष्ठा प्रत्येक व्यक्ति के "अपने आप" में होती ह। जब तक अपने से भिन्न कोई दूसरी वस्तु रहती ह तब तक जानने का अन्त नहीं होता, क्योंकि जब तक जानने वाला (ज्ञाता) और जानने की वस्तु (ज्ञेय) का अलग-अलग अस्तित्व रहता ह, तब तक एक दूसरे का जानना अथवा ज्ञान बना रहता ह, परन्तु जब जानने वाले (ज्ञाता) और जानने की वस्तु (ज्ञेय) की पथकता मिट कर एकता हो जाती ह अर्थात ज्ञाता और ज्ञेय का, सब की एकतारूप "अपने आप (Self)" में लय हो जाता ह, तब जानने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता, केवल "अपना आप" ही शेष रहता ह, जो जानने (ज्ञान) का विषय नहीं ह, क्योंकि जब अपने से भिन्न कोई दूसरा हो तभी जानने की क्रिया हो सकती ह। अत जानने का अ त "अपने आप (Self)" में होता ह।

दूसरे पदाथ तो "अपने आप (Self)" से जान जाते ह, परन्तु जिससे सब जाने जाते ह, उस "अपने आप (Self)" को किससे जाना जाय ? वह तो स्वय अपने अनुभव का विषय ह। प्रत्येक यक्ति यह अनुभव करता ह कि म हू", इस विषय का किसी को अज्ञान नहीं ह कि जिसे दूर करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता हो। "अपने आप" से कोई अनजान नहीं ह। यह कोई भी नहीं कहता कि "म नहीं हू"। "अपने आप" से भिन्न जितने पदाथ ह, उनकी दूरी (पथकता) मिट कर ज्यो-ज्यो समीपता (एकता) होती जाती ह, त्यो-त्यो उनका ज्ञान बढ़ता जाता ह और जब सारी पथकता—सारा अन्तर—मिट कर सब की "अपने आप (Self)" में पूरी एकता हो जाती ह तब ज्ञान की समाप्ति होकर केवल "अपने आप" का अनुभव मात्र ही शेष रह जाता ह, अर्थात सभी पथकताओ का "अपने आप" में समावेश होने का अनुभव हो जाता ह, अत वह अनुभव ही "वेदान्त" ह।

वेदान्त किसी व्यक्ति विशेष, जाति विशेष, समाज विशेष, देश विशेष अथवा

काल विशेष में सीमाबद्ध नहीं ह, क्योकि "अपने आप" का भाव अर्थात "म हू" यह अनुभव समस्त भूत प्राणियो में, सब देश और सब काल में एक समान बना रहता ह। अत सबकी पूण एकता स्वरूप "अपने आप" का यथाथ अनुभव ही "वेदा त" ह, चाहे वह अनुभव किसी भी यक्ति को हो। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक ह कि यद्यपि अपने आपका अनुभव तो सबको ह, पर तु उपयुक्त यथाथ अनुभव विरलो को ही होता ह। "म हू" यह तो सब अनुभव करते ह, परन्तु "म क्या हू' इसका यथाथ अनुभव सब को नहीं होता। अधिकाश लोग स्थूल सूक्ष्म अथवा कारण शरीर ही को "अपना आप (Self)" माने हुए ह। यह यथाथ अनुभव नहीं ह। किसी भी यक्ति का शरीर वास्तविक "अपना आप (Self)" नहीं ह, क्योकि शरीर तो अनेक और भिन्न भिन्न ह, उनमें एक दूसरे से विषमता ह और वे प्रतिक्षण बदलने एव जन्मने-मरने वाले ह परन्तु "अपना आप (Self)" तो सबमें एक ह और समान भाव से सदा विद्यमान तथा सदा एकसा रहता ह। इसलिए परिवतनशील शरीर "अपना आप (Self)" नहीं हो सकता, किन्तु जो सब शरीरो का आधार सत चित आन द स्वरूप आत्मा ह, जो प्रत्येक शरीर का रूप धारण करता ह और प्रत्येक शरीर को चेतना देता ह, जो प्रत्येक शरीर का अस्तित्व बनाये रखता ह जो प्रत्येक शरीर का प्रकाशक है और उसका ज्ञान रखता ह एव जो प्रत्येक शरीर को गति देता ह, वही सच्चा अपना आप (Self)" ह।

प्रत्येक व्यक्ति अपने स्थूल शरीर के सब अवयवो—आख नाक, कान, मुख, सिर, हाथ, पाँव, हड्डी, मांस, रक्त, नस, नाडी, चमडी आदि को "मेरे" कहता है, और चतुर्विध अन्त करण (मन, बुद्धि, चित्त, अहकार) एव पाप, पुण्य, सुख, दु ख, राग, द्वेष आदि सूक्ष्म शरीर के अवयवो और विकारो को भी "मेरे" कहता ह। इससे स्पष्ट है कि वह "अपने आप" को स्थूल और सूक्ष्म दोनो शरीरो का स्वामी मानता ह। जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर के सब अवयवो द्वारा म यानी अपना आप स्थूल व्यापार करता ह और नाना भाँति के स्थूल भोग भोगता ह, स्वप्न अवस्था में जब स्थूल शरीर के सब व्यापार ब द हो जाते ह एव उसका ज्ञान भी नहीं रहता, उस समय भी "म" यानी "अपना आप" सूक्ष्म शरीर द्वारा स्वप्न के व्यापार करता ह, और सुषुप्ति अर्थात गाढ़ निद्रा की अवस्था में स्थूल तथा सूक्ष्म दोनो शरीरो के व्यापार ब द हो जाने पर एव सुख दु ख आदि का कुछ भी ज्ञान न रहने पर भी "म" याना 'अपना आप" कारण रूप से गाढ निद्रा के आन द का अनुभव करता ह और जागने पर कहता ह कि "म बडे सुख से सोया"। इसी तरह तुरीय अवस्था अर्थात आत्माकारवत्ति की निगुण अवस्था में सब प्रकार के शारीरिक व्यापारो से पथक रहते हुए भी "म" यानी "अपना आप" अपने आपके आत्मान द में स्थित रहता ह। शरीरो के बनने अर्थात जन्म के पूव, और उनके बिगड़ने अर्थात मरने के बाद भी "म", यानी "अपना आप" अपने मन के सस्कारो अर्थात मानसिक क्रियाओ के सचित

प्रभावो के अनुसार, कभी कारण रूप से तमोगुण की मूर्च्छित दशा में, अथवा पचभौतिक जड अवस्था में—पथ्वी, जल, तेज, वायु अथवा आकाश रूप में—रहता ह, उस दशा में चेतनता यद्यपि कारण-रूप से रहती तो ह परन्तु व्यक्त (प्रकट) नहीं होती। जब कुछ चेतनता के सस्कार उदभव (विकसित) होते ह, तब पथ्वी में से (जड अवस्था से) निकल कर वनस्पति-रूप से रहता ह फिर और चेतनता के सस्कार विकसित होने पर, वनस्पति रूप में प्राणियो के उदर में जाकर, उनके रजवीयरूप होकर पशु, पक्षी, मनुष्य आदि योनिया धारण करता ह। इसी तरह अपने मन के सस्कारो के अनुसार कभी विकास की क्रमोन्नति की सीढी चढता और कभी उतरता हुआ नाना रूप धारण करता ह। कभी सत्वगुण की प्रबलता जन्य उन्नत सस्कारो के कारण क्रमोन्नति की क्रिया के बिना ही विकास की उच्च अवस्थाओ में एकदम चढ जाता ह, और जब सब सस्कारो और सकल्पो से रहित हो जाता ह, तब नाम, रूप एव क्रियाओ के विकारो से रहित होकर निर्विकार अवस्था में अपनी स्वमहिमा में स्थित रहता ह। परन्तु किसी भी दशा में "मेरा" यानी "अपने आपका" कभी अभाव नहीं होता, क्योकि वह सत चित-आनन्द ह, इसलिए सदा बना रहता ह (बहदारण्यकोपनिषद अ० ४ ब्रा० ३ और ४)।

सब के "अपने आप" के अस्तित्व से ही अन्य सब का अस्तित्व ह। सब को सत्ता देने वाला "अपना आप=आत्मा" ह। "अपने आप" बिना अन्य किसी का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। जब "अपना आप" होता ह, तब दूसरो की प्रतीति होती ह। दूसरे सब पदाथ तो परिवतनशील हैं—कभी प्रतीत होते ह कभी नहीं होते, कभी किसी प्रकार के प्रतीत होते ह, कभी किसी प्रकार के, तथा उनके होने में सशय भी हो सकता ह—इसलिए वे असत ह। परन्तु सब का "अपना आप" अपरिवतनशील ह और सदा इकसार बना रहता ह तथा "अपने आप" की प्रतीति में कभी अन्तर नहीं आता, वह सबके लिए निरन्तर इकसार बनी रहती ह न "अपने आप" के होने में कभी किसी को सशय ही होता ह, इसलिए सब का "अपना आप" यानी आत्मा सत ह।

सब का "अपना आप" चेतन ह अर्थात स्वय ज्ञान अथवा प्रकाश रूप ह। अन्य सब वस्तुओ का प्रकाशक चतनस्वरूप "अपना आप" ह, वे सब "अपने आप" से जानी जाती ह, परन्तु "अपने आप" को प्रकाश करने के लिए, अर्थात अनुभव कराने के लिए अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। अन्य किसी भी वस्तु की प्रतीति न होने पर भी "अपने आप" की प्रतीति सब को सदा बनी रहती ह। अत सब का "अपना आप" यानी आत्मा चित ह।

"अपना आप" सब को सदा अच्छा और प्यारा लगता ह। "अपना आप" कभी किसी को दुखदायक एव अप्रिय और बुरा प्रतीत नहीं होता। अन्य सब वस्तुए "अपने आप" अर्थात आत्मा के कारण अच्छी एव प्यारी लगती ह, अर्थात जितने पदाथ अपने

मान लिये जाते ह, और अपने अनुकूल होते ह वे ही सुखदायक एव प्यारे लगते ह। जब कोई वस्तु बेगानी मानी जाती ह अथवा अपने प्रतिकूल प्रतीत होती ह तो वह प्यारी नहीं लगती। किसी ना पदाथ में प्यारापन उसका ारनान ने उ रन हाना ह। अ य कोई भी पदाथ सुखदायक एव प्रिय न रहने पर भी "अपना आप" तो सबको सदा सुखदायक एव प्यारा लगता ह। इसलिए सब का "अपना आप" यानी आत्मा आनन्द ह।

"अपने आप" (Self) के बिना कोई भी पदाथ नहीं ह। किसी भी काल, किसी भी देश और किसी भी वस्तु मे, "अपने आप" (Self) का अभाव अथवा वद्धि ह्रास (बढना घटना) नहीं होता इसलिए "अपना आप" नित्य, सवव्यापक एव सम अर्थात सबमें एक समान और सदा एकसा रहने वाला ह और जो वस्तु नित्य, सवव्यापक एव सम होती ह, वह वस्तुत एक ही होती ह, उससे भिन्न दूसरा कुछ भी नहीं होता, क्योंकि एक से अधिक होने से उसमें नित्यता, सवव्यापकता एव समता नहीं रहती।

सब के "अपने आप' यानी आत्मा के सत, चित, आनन्द, नित्य, सवव्यापक, सम और एक होने के विषय में कई तरह की शकाएँ उठती ह, यथा —

(१) यदि हमारा "अपना आप" सत और नित्य ह, तो हमारा जन्म मरण क्यों होता ह ? क्योकि सत पदाथ का तो कभी नाश नहीं होना चाहिए।

(२) यदि यह कहा जाय कि शरीर के साथ हमारा आत्मा जन्मता मरता नहीं— जन्मने के पहले और मरने के बाद भी वह बना रहता ह, तो जन्म के पहले के और मरने के बाद के हमारे अस्तित्व का ज्ञान हमें यहाँ क्यो नहीं रहता ? तथा जन्म के पूर्व की बातें हमें याद क्यो नहीं रहतीं ? एव मरने का डर क्यो लगता ह ?

(३) यदि हमारा "अपना आप" चित अर्थात ज्ञान-स्वरूप ह, तो फिर हम अल्पज्ञ क्यो ह ? ससार के सभी देश, काल और वस्तुओं का हमें ज्ञान क्यो नहीं होता ?

(४) यदि हमारा "अपना आप" आनन्द ह, तो हमें अनेक प्रकार के दुख और बन्धन क्यो होते ह ? हम सदा सुखी और मुक्त ही क्यो नहीं रहते ?

(५) यदि हमारा "अपना आप" सवव्यापक ह, तो किसी विशेष देश और विशेष काल तथा विशेष व्यक्ति में ही हमारा अस्तित्व परिमित क्यो ह ? हम अपने को एक साथ सवत्र उपस्थित अनुभव क्यो नहीं करते ?

(६) यदि हमारा सब का "अपना आप" सम ह, तो एक दूसरे में, इतनी विषमता क्यो ह ? कोइ सुखा और कोई दुखी, कोई धनी और कोई निधन, कोई ऊचा और कोई नीचा, कोई निबल और कोई सबल, कोई रोगी और कोई नीरोग, कोई विद्वान और कोई मूख क्यो ह ? और एक ही व्यक्ति कभी सुखी और कभी दुखी—आदि अनेक प्रकार की विषमताए दष्टिगोचर क्यो हो रही ह ?

(७) यदि हमारा सब का "अपना आप" एक ह, तो सबके सुख दुख और अन्य

मानसिक विकार, एक दूसरे को अनुभव क्यो नहीं होते ? सब का आपस में मेल क्यों नहीं रहता ? अलग-अलग व्यक्तियो के अलग-अलग स्वभाव, अलग-अलग सुख दु ख आदि क्यो होते ह ?

उपयुक्त शकाओ का समाधान नीचे लिखे अनुसार ह —

(१) शरीरो के जन्मने और मरने से अपने वास्तविक आप का जन्मना मरना नहीं होता, केवल स्वाग का परिवतन होता ह, न अपने वास्तविक आप की उत्पत्ति और नाश ही होते ह, इस विषय का खुलासा पहले कर आये ह। शरीर तो पच भूतो के सम्मिश्रण का बनाव ह और वह बनाव प्रतिक्षण बदलता रहता ह, शरीर का जन्मना पच भूतो के सम्मिश्रण का एक विशेष रूप होता ह और मरना उसका दूसरा रूप। इन रूपो के बदलने से उनके आधार पच भूत और पच भूतो के आधार आत्मा—जो सब का "अपना आप" ह—के अस्तित्व में किसी प्रकार की घटा-बढ़ी अथवा विकार नहीं होते। आत्मा पच भूतो के सम्मिश्रण का कभी कोई और कभी कोई स्वाग (बनाव) धारण करता रहता ह। शरीर के जन्म के पहले और मरने के बाद भी, पच भूत ज्यो के त्यो बने रहते ह—केवल नाम और रूप का उनमें परिवतन होता ह और वह परिवतन ही उत्पत्ति और नाश प्रतीत होते ह। उत्पत्ति और नाश सापेक्ष द्वद्व (जोडे) ह अर्थात आपस में अन्योन्याश्रित हं, अत वास्तव में उत्पत्ति और नाश कुछ भी नहीं होता। सब शरीरो और पच तत्त्वो का आधार आत्मा यानी "अपना आप", उक्त परिवतन की सब दशाओ में ज्यो का त्यो बना रहता ह इसलिए उसकी सत्यता और नित्यता स्वत सिद्ध ह।

(२) इस जन्म के पहले के और मरने के बाद के हमारे अस्तित्व के ज्ञान के सस्कार हम सब में रहते तो अवश्य ह पर वे अप्रकट रूप में रहते ह। यह इसी से सिद्ध ह कि इस शरीर की अबोध (शशव) अवस्था में ही अनेक चेष्टाएँ हम ऐसी करते ह जो पूव के अभ्यास बिना हो नहीं सकता और जिनका हमने इस जन्म में कभी अभ्यास नहीं किया—जसे खाना, पीना, रोना, हँसना आदि और भिन्न भिन्न व्यक्तियो के तरह तरह के स्वभाव और सुख दु ख आदि जन्म के साथ ही लगे हुए रहते ह। कई बालक चार पाच वर्षों की आयु में ही बिना सिखाए कई विशेष कलाओ में इतने निपुण होते ह और बिना पढ़े ही उनको कई विद्याओ का इतना ज्ञान होता ह कि जिनका बडा ही अचभा होता ह और ये बातें पूव जन्म के सस्कारो के बिना हो नहीं सकतीं। अब रही मरने के बाद हमारे अस्तित्व के अनुभव की बात सो यद्यपि इस बात का सबको निश्चय ह कि दस, बीस, पचास या अधिक से अधिक सौ वर्षों से अधिक यह शरीर नहीं रहेगा, फिर भी लम्बी मद्दत के लिए ऐसे समान—परलोक में विश्वास न रखने वाले भी एकत्र करते रहते ह और अनेक प्रकार के ऐसे प्रबन्ध बाँधते रहते ह कि जो उनके वतमान शरीर के उपयोग में नहीं आ सकते, परन्तु अपने उत्तराधिकारियो को, अपने मरने के बाद भी वे अपने ही समझते हं

अर्थात मत्यु के बाद भी उनसे अपना सम्ब ध कायम रहना मानते ह, तभी तो उनके लिए इतना परिश्रम करते ह, नहीं तो यदि मरने के बाद अपने अस्तित्व की सर्वथा समाप्ति हो जाना मानते तो उत्तराधिकारियो से किसका सम्ब ध रहता, जिनके लिए इतने प्रब ध बाँधने का परिश्रम किया जाता ह। अत हम लोग चाहे अपनी अल्पज्ञता के कारण प्रत्यक्ष में अनुभव न करें, परन्तु वास्तव में अपना अस्तित्व सदा बना रहना रूपान्तर से मानते ही ह।

जन्म के पूव की बाते याद न रहने का कारण यह ह कि प्रथम देह छोड कर दूसरी देह धारण करने के बीच में दीघकाल का अ तर बेहोशी यानी अचेतनता का पडता ह, जिससे पूव के सस्कारो की स्मृति दब जाती ह। इस शरीर में भी मूढताग्रस्त तामसी जीवो की स्मृति कम होती ह और शशव अवस्था की बातें बडे होने पर याद नहीं रहतीं, यद्यपि शरीर वही होता ह। वतमान में भी हमारे शरीर में अन त क्रियाए ऐसी हो रही ह जिनका हमको कुछ भी पता नहीं ह यद्यपि उन क्रियाओ के करने वाले हम ही होते ह। डाक्टरो ने भी अब विज्ञान द्वारा सिद्ध कर दिया ह कि छ -सात दिन तक लगातार बेहोशी रहे तो इसी शरीर के पहले के सस्कारो की स्मति नहीं रहती। जिन व्यक्तियो में तमोगुण की मात्रा कम होती ह और सत्वगुण बढ़ा हुआ होता ह, उनको पूव जन्म की स्मति तारतम्य से होती ह। ऐसे कई व्यक्ति समय समय पर देखने में आते ह जिन्हे पूव-जन्म के बहुत से वत्ता त याद होते है, पर तु ऐसे व्यक्ति थोडे ही होते ह। अधिक तर लोगो में तमोगुण की प्रबलता होने के कारण वे दीघकाल की अचेतन अवस्था से गुजर कर जन्म लेते ह, यही कारण ह कि पूव ज म की स्मृति नहीं रहती। जब हम सोते ह, उस समय यदि पहले स्वप्न आकर पीछे लम्बी सुषुप्ति होती ह तो यह स्वप्न याद नहीं रहता, पर तु स्वप्न के बाद ही यदि हम जाग जाते ह तो वह स्वप्न कुछ-कुछ याद रह जाता ह।

मत्यु के विषय में चित्त में जो भय प्रतीत होता ह, उसका कारण यह ह कि सबके "अपने आप" यानी आत्मा का स्वभाव मरने का नहीं ह, पर तु उसके स्वभाव के प्रतिकूल मरने की भावना उत्पन्न करने से दोनो विरोधी भावो के सघष होने का जो मन में विक्षेप होता है, वही भय-रूप से प्रतीत होता ह। मत्यु का भय निबल हृदय के अज्ञानी लोगो को अधिक होता ह, विचारशील और वीर लोगो को नहीं होता।

(३) हमारे अल्पज्ञ होने का कारण यह ह कि हमने अपने आपको इस भौतिक शरीर के अ दर ही कद कर रक्खा ह, अर्थात हम अपने को एक साढ़े तीन हाथ का पुतला ही समझते ह, और इस पुतले के इद गिद के पदार्थों और इसके निकटवर्ती सम्ब धियों में ही आसक्ति करके, उतने तक ही हमने अपने कायक्षेत्र की हद बाँध रक्खी ह। यह बात प्रत्यक्ष ह कि सकुचित घेरे में रहने वाले व्यक्ति का ज्ञान परिमित ही होता ह।

जिस व्यक्ति का कार्यक्षेत्र जितना ही अधिक विस्तृत होता है उतना ही उसका ज्ञान भी अधिक विस्तृत होता है। जो लोग जितना ही अधिक देशाटन आदि करके जितने अधिक लोगो से मिलते है तथा जितने अधिक स्थान और पदार्थ देखते है, उतना ही उनको उन विषयो का अधिक ज्ञान होता है। ससार में ज्ञान की वृद्धि, सकुचित व्यक्तित्व के भाव कम करके, अपने कार्यक्षेत्र को विस्तृत करने से अर्थात एकता ज्ञान से ही हो सकती है और जो लोग अपना ज्ञान बढा सके है वे इसी साधन से बढा सके है। वर्तमान में भी भौतिक विज्ञान में जो लोग इतने उन्नत हुए है—यहा तक कि सारी पृथ्वी के इर्द गिर्द एक ही विद्युत शक्ति की व्यापकता का ज्ञान प्राप्त करके विश्व की भौतिक एकता सिद्ध करने के निकट पहुँच गये है—वे भी एकता के अवलम्बन से ही ऐसा कर सके है, अर्थात उन्होने केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और व्यक्तिगत सुखो पर ही लक्ष्य नहीं रक्खा, किन्तु अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और सुखो को दूसरो के स्वार्थों और सुखो के अन्तर्गत समझ कर कार्य किया—यहा तक कि बहुत से आविष्कर्ताओ ने अपनी सारी आयु उसी में बिता दी और बहुतो ने प्राण भी दे दिये और जब सफलता मिली तो उससे सबने लाभ उठाया। इसी तरह यदि हम व्यक्तित्व के भाव से ऊपर उठ कर दूसरो से अपनी एकता बढ़ाते-बढाते सर्वात्म भाव तक पहुच जाय, तो हमको सब का ज्ञान हो सकता है। आत्मा तो ज्ञान-स्वरूप ही है। स्वय हमने ही व्यक्तित्व के अहकार से अपने ज्ञान के इर्द गिर्द व्यक्तित्व की चारदीवारी खडी कर रक्खी है। यद्यपि आँखो में दूर तक देखने की शक्ति होती है और दीपक में दूर तक प्रकाश डालने की ज्योति होती है, परन्तु उनके सामने यदि आड खडी कर दी जाय तो आँखें दूर तक देख नहीं सकेगी, और दीपक दूर तक प्रकाश नहीं डाल सकेगा।

(४) सासारिक विषयो से होने वाले दुख अथवा सुख का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। सुख की अपेक्षा से दुख और दुख का अपेक्षा से सुख प्रतीत होता है। इससे सिद्ध होता है कि ये सुख और दुख दोनो ही झूठे है। यदि ये सच्चे होते तो प्रत्येक अपने ही आधार पर, यानी स्वतन्त्र रूप से सदा बने रहते। इसके अतिरिक्त सुख और दुख की अवस्था कभी स्थिर नहीं रहती, और न किसी पदार्थ में सुख अथवा दुख सदा इक सार बना रहता है। किसी अवस्था में कोई पदार्थ सुखदायक प्रतीत होता है, दूसरी अवस्था में वही पदार्थ महान दुखदायक हो जाता है। सुषुप्ति अवस्था में सुख दुख का कुछ भी अनुभव नहीं होता, और सुषुप्ति अवस्था प्राणि मात्र के लिए जाग्रत और स्वप्न दोनो से बहुत बडी होती है। आत्मज्ञान की तुरीय अवस्था और योग की समाधि अवस्था में भी सुख-दुख का भान नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि सुख दुख दोनो ही कल्पित है। जिस वस्तु में हमारी जसी भावना होती है वह वसी ही सुखदायक अथवा दुखदायक बन जाती है। हम अपनी ही खुशी से और अपने ही मन के सकल्प से सुख और दुख की

कल्पना करके सुखी दु खी होते ह । यदि हम चाहे तो सुख दु ख की कल्पना से रहित हो सकते ह । फिर सुख-दु ख जरा भी न रहेगे । हमारा वास्तविक अपना आप" तो स्वभाव से ही इन सुख-दु खो से रहित स्वत आनन्दस्वरूप ह ।

नाना भाँति के बन्धन भी हमने अपनी इच्छानुसार व्यक्तित्व के अहकार से कल्पित कर लिये ह । यदि हम चाहे तो उनको फौरन हटा सकते ह, क्योकि हमारा वास्तविक "अपना आप (आत्मा)" तो स्वभाव से ही मुक्त ह ।

यहा यह प्रश्न उठ सकता ह कि सुख तो सब चाहते ह, परन्तु दु ख की इच्छा कोई नहीं करता, फिर दु ख हमने स्वत कसे उत्पन्न कर लिये ? इसी तरह बन्धन में भी कोई नहीं रहना चाहता, फिर बन्धन हमने स्वय कसे उत्पन्न कर लिये ? इन प्रश्नो का उत्तर यह ह, कि यद्यपि हम अपने लिए दु ख और बन्धन नहीं चाहते, परन्तु यह बात भी बिलकुल सत्य ह कि दु ख और बन्धन हमने स्वय ही उत्पन्न किये ह और कर रहे ह और उनसे अलग होना नहीं चाहते । पहले कह आये ह कि सासारिक पदार्थों का सुख और दु ख, दोनो सापेक्ष ह एक का होना दूसरे पर निभर ह, एक के होने के लिए दूसरे का उतनी ही मात्रा में होना अनिवाय ह । जितनी मात्रा में एक उत्पन्न होता ह उतनी ही मात्रा में दूसरा साथ ही उत्पन्न हो जाता ह । दूसरे शब्दो में यदि यो कहे तो अनुचित नहीं होगा कि ये एक ही वस्तु के दो रूप ह—एक क्रिया (action) और दूसरा उसकी प्रतिक्रिया (re action) ह, अत ये दोनो साथ ही रहते ह । इसलिए जब हम आनन्द स्वरूप अपने आपको भूल कर सासारिक विषयो के सुख की कामना कर के उनमें आसक्ति करते हं, तो उसकी प्रतिक्रिया—दु ख स्वय उत्पन्न करते ह । जिस सांसारिक पदार्थ का सयोग होता ह, उसका वियोग होना अनिवाय ह, अत जिसके सयोग से जितना सुख माना जाता ह, उसके वियोग में उतना ही दु ख होना अवश्यम्भावी ह, और इन सांसारिक सुखो की आसक्ति हम छोडना नहीं चाहते, अर्थात हम सदा इन सुखो को भोगते रहने की ही इच्छा रखते ह—कभी इनका वियोग सहन नहीं कर सकते, और जबकि सुख और दु ख साथ ही रहते ह, तो इससे स्वत सिद्ध ह कि दु खो को भी हम छोड़ना नहीं चाहते । यदि किसी को नशे आदि की आदत पड जाती ह, तो वह उससे बहुत दु खी होता ह, परन्तु जब तक वह उस व्यसन को नहीं छोड देता तब तक वह उस दु ख से छुटकारा नहीं पा सकता—यद्यपि आदत डालना और छोडना उसके अधिकार में होता ह।

अपने आपके साथ व्यक्तित्व के भाव की उपाधि और उस व्यक्तित्व के साथ जाति विशेष नाम विशेष, कुल विशेष, धम विशेष सम्प्रदाय विशेष, समाज विशेष निवास विशेष, पद विशेष और प्रतिष्ठा विशेष आदि अनेक प्रकार की उपाधियों के अहकार के बन्धन और अनन्त प्रकार की कामनाएँ हम स्वय अपने साथ लगाले हैं, और उन विविध प्रकार की उपाधियो एव कामनाओ के कारण अपनी आवश्यकताए भी बहुत

बढ़ा लेते ह, क्योकि प्रत्येक उपाधि के साथ उनकी विशेष आवश्यकताएँ लगी हुई रहती ह, अत जितनी अधिक उपाधिया होती ह उतना ही अधिक व्यक्तित्व का अहकार और उतनी ही अधिक आवश्यकताए होती ह और "यक्तित्व के अहकार, व्यक्तिगत आवश्यकताओ एव कामनाओ की आसक्ति ही मनष्यो को परवश करती ह। फिर हमको उन उपाधियो के ब धन और कामनाओ की परवशताएँ इतनी प्यारी लगती ह कि उनसे ऊपर उठ कर उनसे परे अपने आपके यथाथस्वरूप में स्थित होना नहीं चाहते, और उनसे ऊचे उठे बिना अर्थात उनकी आसक्ति से रहित हुए बिना ब धनो से मुक्ति नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट ह कि हम स्वय ही ब धनो से मुक्त होना नहीं चाहते। जो उन उपाधियो और कामनाओ से जितना ही ऊपर उठता ह अर्थात उनमें जितनी कम आसक्ति रखता ह, उतना ही वह ब धनो से मुक्त होता ह। वास्तव में सब का "अपना आप" तो आन द और मक्त-स्वरूप ही ह। "अपने आप" के असली स्वरूप, यानी सर्वात्म भाव को भूलकर व्यक्तित्व की उपाधियो और व्यक्तिगत विषयो सुखो की कामना ही में आसक्त होने से दु ख और ब धन प्रतीत होते ह।

(५) हमने अपनी ही इच्छा से व्यक्तित्व के भाव में आसक्ति करके अपने सव व्यापक भाव के बदले छोटे से शरीर ही को "अपना आप" मान कर, शरीर से सम्ब ध रखने वाले विशेष देश, विशेष काल विशेष व्यक्तियो और विशेष वस्तुओ के साथ राग की आसक्ति कर ली, तब शेष सब देश, काल, व्यक्ति और वस्तुओ से द्वेष स्वत ही हो गया, क्योकि राग की प्रतिक्रिया द्वेष होना स्वाभाविक ह। अत जितनी थोडी सी हद तक हमने अपना सम्ब ध जोडा, उतनी थोडी सी हद तक ही अपना अस्तित्व परिम्मित करके सबसे हमने अपने अस्तित्व का सम्ब ध विच्छेद कर लिया। जेल की चारदीवारी के अ दर कद होने वाले का अस्तित्व जेल की चारदीवारी तक ही सीमाबद्ध रह जाता ह। यदि वह जेल से अपनी मुक्ति कर ले तो उसके बाहर, उसके अस्तित्व का सम्ब ध विस्तत हो सकता ह। इसी तरह व्यक्तित्व के भाव रूपी जेलखाने से यदि हम बाहर निकल कर सर्वात्म भाव में अपनी स्थिति कर लें तो हम अपनी सव यापक्ता का अनुभव कर सकते ह। पर न तो हम व्यक्तित्व का भाव छोडना चाहते ह और न सव यापक होना ही।

(६) सब विषमताए हमने अपनी इच्छा से उत्पन्न की ह और कर रहे ह। ससार के सभी पदार्थो में हम लोग एक दूसरे से बढाचढ़ी करने की दौड धप में लगे हुए ह। हमारे जितने प्रयत्न होते ह वे एक दूसरे से अधिक सुखी अधिक सम्पत्तिशाली अधिक बलवान और अधिक उन्नत होने के लिए होते ह। एक दूसरे से आगे निकलने के लिए दिन रात घुड दौड सी होती रहती ह। अपने स्वाथ-साधन के लिए एक दूसरे को दबाने, एक दूसरे को गिराने एव एक दूसरे को कष्ट देने के लिए, एक दूसरे से छीन-झपट सदा चलती रहती ह। जब हम दूसरो को अपने से पथक समझ कर उनको दबाने

और दु ख देने की चेष्टाए करते ह, तो उनकी प्रतिक्रिया-स्वरूप दूसरे भी हमें दबाने और दु ख देने की चेष्टाए करते ह, अत इन्हीं चष्टाओ द्वारा अनन्त प्रकार की विषमताए हम ही उत्पन्न करत ह। यदि हम इस तरह का खाचातानी छोड दें तो कोई विषमता न रहे, क्योंकि वास्तविक "अपना आप" तो स्वभाव से ही सम ह। परन्तु हम अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए बढाचढी की खींचातानियो को छोडना नहीं चाहते, फलत विषमताए मिटाना नहीं चाहते। वतमान समय में प्रत्यक्ष देखने में आता ह कि जगत में विषमताए इतने भयानक रूप से बढ़ गई ह कि लोग अत्यन्त दु खी हो रहे ह, और दु खो से छुटकारा पाने के लिए ससार के प्राय सभी राष्ट छटपटा रहे ह, और बहुत से विचारशील पुरुष यह अनुभव करते ह कि जब तक अलग-अलग व्यक्तिगत और भिन्न भिन्न राष्ट्रीय स्वार्थों की खींचातानिया छोड कर, सबकी एकता स्वीकार करके, सबके सम्मिलित स्वार्थों के लिए प्रयत्न नही किया जायगा, तब तक सुख शान्ति नहीं हो सकती (क्योंकि जगत वास्तव में एक ही आत्मा के अनेक रूप होने के कारण एक दूसरे के सुख दु ख की क्रिया प्रतिक्रिया का प्रभाव आपस में पडे बिना कदापि नहीं रहता), परन्तु अपने व्यक्तिगत और राष्ट्रीय स्वार्थों को दूसरो के स्वार्थों के अन्तगत मानना कोई भी व्यक्ति या राष्ट वास्तव में नहीं चाहता, इसलिए विषमताए और उनसे होने वाले दु ख भी नहीं मिट सकते। परन्तु इतनी विषमताए होने पर भी सबका "अपना वास्तविक आप=आत्मा" तो सम ही रहता ह, क्योकि वह सवव्यापक ह—उसमें सब विषमताओ का एकीकरण हो जाने से सबका एकत्व भाव सम हो जाता ह। सुखी दु खी ऊचा नीचा, धनी गरीब आदि द्वन्द्वो (जोडो) की सभी विषमताए सापेक्ष ह, जितनी मात्रा में एक होती है, उतनी ही मात्रा में दूसरी होती ह। सब का एकीकरण हो जाने से आपस में एक दूसरे से कट कर कोई विषमता शष नहीं रहती—सवत्र समता हो जाती ह। अत जिन आत्मज्ञानी महा पुरुषो ने सबकी एकता का सच्चा अनुभव कर लिया ह, उनके लिए कोई विषमता नहीं ह, परन्तु जो लोग एकता को स्वीकार न करके, अपने पथक व्यक्तित्व के अहकार में उलझ रहे ह, उनको विषमताजन्य दु ख हुए बिना नहीं रहते।

(७) हम, सबके साथ अपनी वास्तविक एकता के भाव को भुला कर एव अलग अलग व्यवितत्व के भाव को सच्चा मान कर उसके अनुसार आचरण करते रहते ह, इसी से हमें एक दूसरे के सुख-दु ख आदि विकारो की प्रतीति नहीं होती। जितने व्यक्तियों के साथ हम जिस दर्जे की अपनी एकता मानते है, उतने यक्तियो के सुख दु खादि का अनुभव हमको उसी दर्जे का होता ह। अपने शरीर के साथ हम अपनी पूण एकता मानते ह, इससे अपने शरीर के सुख-दु ख का अनुभव हमको पूण रूप से होता है। अपने शरीर के सम्बन्धी—अपने स्त्री-पुत्रादिको को अपने सबसे निकट के सम्बन्धी मान कर उनके सथ दूसरो की अपेक्षा अधिक एकता मानते ह, अत उनके सुख दु ख आदि का प्रभाव

हम पर अपने शरीर के सुख दु खो से दूसरे नम्बर का होता ह। उनके बाद अपने कुटु-म्बियो, उनके बाद जाति-बान्धवो, उनके बाद ग्रामनिवासियो और उनके बाद देश वासियो के साथ उत्तरोत्तर अपनी एकता हम कम मानते ह, उसी के अनुसार उनके सुख दु खादि के अनभव हमको उत्तरोत्तर कम होते जाते ह, और जिनके साथ हम अपनी एकता का सम्बन्ध बिलकुल नहीं मानते, उनके सुख दु ख आदि का अनभव हम बिलकुल नहीं करते। जिसने अपने आपको जिस तरह का मान रक्खा ह और जिसने दूसरो के साथ जिस तरह का सम्बन्ध बना रक्खा ह उसको उसी तरह के सुख दु ख आदि प्रतीत होते ह और उसका उसी तरह का स्वभाव बन जाता ह। वास्तव में सबके असली 'अपने आप'' में न तो कोई भेदभाव ह और न कोई सुख-दु ख ही। यदि पथकता के भाव छोडकर सबसे एकता का सच्चा अनुभव हो जाय तो सुख दु ख आदि द्वन्द्व कोई शेष ही न रहें।

सारांश यह कि हमने स्वय अपने आपके वास्तविक स्वरूप को बिसार कर असत्य अज्ञान, दु ख, अव्यापकत्व, विषमता, अनेकता आदि विपरीत भाव कल्पित कर लिये ह और इन्हीं को सच्चा मान कर इनमें आसक्ति कर ली ह—यहाँ तक कि इनको छोडना ही नहीं चाहते—अत जब तक हम "अपने आप" का यथाथ अनभव न कर लें तब तक ये भाव बने ही रहेगे।

इस पर एक बडा ही पेचीदा प्रश्न उठता ह कि हम अपने वास्तविक आपको यानी सबकी एकतास्वरूप आत्मा को भूले ही क्यो ? इस प्रश्न का यथाथ उत्तर "अपना आप" ही दे सकता ह, क्योकि अपनी करनी का सच्चा रहस्य अपने सिवाय दूसरा कौन जाने ? जब तक अपने आपसे अलग दूसरे पर इस प्रश्न का उत्तरदायित्व रक्खा जाता ह तब तक इसका पूणतया समाधान नहीं हो सकता। यह रहस्य कहने-सुनने से परे, केवल "अपने आप" के अनुभव का विषय ह। जब "अपने आप" का पूण रूप से यथाथ अनभव हो जाता ह, तब इस प्रश्न का समाधान आप ही हो जाता ह। इसलिए इस प्रश्न का समाधान दूसरो से करवाने के झमेले में न पड कर "अपने आप का यथाथ अनभव प्राप्त करने के प्रयत्न में लगे रहना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि जिससे यह प्रश्न किया जाता ह, वह भी तो उक्त सिद्धान्त के अनुसार "अपना आप" ही ह, तो यह पूरा अनुभव हो जाने से कि सब 'अपना आप" ही ह, फिर यह प्रश्न ही शेष नहीं रहता, क्योकि उस दशा में जो कुछ असत्य, भूल, भ्रम आदि प्रतीत होते ह, वे सब, "अपने आप" में ही लय हो जाते ह और फिर "अपने आप" के अतिरिक्त कुछ शेष ही नहीं रहता—न कभी यह भूल या भ्रम वस्तुत उत्पन्न हुए थे और न ह, ये सब अपनी ही इच्छा अथवा सकल्प के खेल थे, आप ही ने यह विनोद किया था ऐसा अनुभव हो जाता ह। जिस तरह होली आदि त्योहारो के अवसर पर कई लोग अपनी खुशी से जान बूझ कर अपने

विनोद के लिए विदूषक (मूर्ख अथवा बावले) का स्वाँग करके कष्ट उठाते हैं अथवा नशा लेकर बावले और व्याकुल हो जाते हैं और स्वाँग छोड़ने अथवा नशा उतरने पर फिर से अपनी पहले वाली स्थिति में आ जाते हैं, उसी तरह सबका "अपना आप= आत्मा" अपनी खुशी से अपने विनोद के लिए यह भूल भुलैया का खेल करके व्याकुल होता है और जब अपने आपका यथार्थ अनुभव कर लेता है तब समझ लेता है कि यह सब मेरी ही इच्छा का खेल था।

स्वप्न के अन्दर हम अनेक प्रकार के अच्छे-बुरे, अनुकूल प्रतिकूल नाना भावों युक्त दृश्य देखते हैं और जाग्रत अवस्था की तरह ही सब व्यवहार करते हैं—उस समय हमको वह साक्षात जाग्रत अवस्था ही प्रतीत होती है, स्वप्न का जरा भी सन्देह नहीं होता। हम स्वप्न के देखने वाले यानी द्रष्टा रूप से नाना प्रकार की रचनाओं को देखते हैं और नाना प्रकार के व्यवहार उन रचनाओं के साथ करते हैं तथा उन रचनाओं को हमसे भिन्न एवं हमसे पहले की —दूसरों की रची हुई मानते हैं। वास्तव में स्वप्न की रचनाओं और स्वप्न के द्रष्टा, दोनों के रचने वाले हम ही होते हैं—रचने वाले ही नहीं, किन्तु स्वप्न की रचनाएँ और उनके साथ व्यवहार करने वाले द्रष्टा सब हम स्वयं ही बनते हैं। उसमें सुख-दुःख भय, क्रोध आदि सभी विकार होते हैं, क्योंकि यद्यपि स्वप्न के द्रष्टा और दृश्य दोनों हम ही होते हैं, परन्तु स्वप्नावस्था के द्रष्टा होना तो हम उस समय अनुभव करते हैं, दृश्य होना हम अनुभव नहीं करते, अर्थात यह अनुभव हम नहीं करते कि नाना भाँति के दृश्य भी हम ही हैं, किन्तु दृश्य हम अपने से भिन्न मान कर उनके विकार हम स्वयं ही अपने लिए कल्पित कर लेते हैं। इतना होने पर भी जागने पर वे सभी मिथ्या हो जाते हैं, स्वप्न में इतने सुख दुःख प्रतीत होने और भोग भोगने पर भी जागने पर हम पर उनका कोई प्रभाव नहीं रहता क्योंकि जागने पर हम यह जान लेते हैं कि स्वप्न की जितनी रचनाएँ थीं वे सब झूठी थीं, सब हमारे ही मन की कल्पनाएं थीं, हमसे भिन्न कुछ भी नहीं था। एक तरफ हम भोक्ता थे दूसरी तरफ हम ही भोग्य थे। हम ही डरने वाले, हम ही डराने वाले, हम ही मरने वाले और हम ही मारने वाले आदि थे। यद्यपि स्वप्न में हमने अपने को वास्तव में ही सुखी, दुखी, बद्ध, मुक्त आदि अनेक विकारों युक्त अनुभव किया था परन्तु जागने पर उन सबको मिथ्या जान कर चित्त पर उनका कोई प्रभाव नहीं रक्खा। वास्तव में न हम कभी दुखी हुए और न हम कभी किसी से बंधे। ऐसी दशा में यह प्रश्न ही नहीं उठता कि हमको यह विकार कहाँ से हुए। इसी तरह यद्यपि जाग्रत जगत का भी दृश्य और उसके द्रष्टा दोनों हम ही हैं, परन्तु अज्ञान दशा में द्रष्टा अथवा कर्ता अथवा भोक्ता तो हम अपने को मानते हैं—दृश्य अथवा कर्म अथवा भोग्य हम अपने से भिन्न तथा दूसरे के रचे हुए मानते हैं और इसी से नाना भाँति के सुख दुःख आदि विकार हम अपने लिए स्वयं ही कल्पित कर लेते हैं। परन्तु आत्मज्ञान अर्थात "अपने

आप" का यथाथ अनुभव हो जाने पर यह निश्चय हो जाता ह कि जगत का नानात्व सब हमारे ही मन की कल्पना थी—हमसे भिन्न कुछ नहीं था। हम ही द्रष्टा, कर्ता अथवा भोक्ता थे और हम ही दश्य, कम अथवा भोग्य थे। अत वास्तव में न हम कभी दुखी हुए, न हम किसी से बधे, क्योकि दु ख या ब धन हमसे भिन्न कुछ था ही नहीं, फिर यह प्रश्न ही नहीं उठता कि हममें ये विकार कहाँ से आये थे।

साराश यह कि जिस तरह स्वप्नावस्था के सब बनाव हमारी ही पूव और वतमान की मानसिक वासनाओ और क्रियाओ के सस्कारो का सूक्ष्म दश्य होता ह, उसी तरह जाग्रत अवस्था के सब बनाव भी हमारी ही पूव और वतमान का मानसिक वासनाओ और क्रियाओ के सस्कारो के स्थूल दश्य मात्र ह, और जिस तरह हमारे ही रचे हुए स्वप्न प्रपञ्च का रहस्य स्वप्नावस्था ही में, अपने जाग्रत स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण जाना नहीं जा सकता—जागने पर ही अपने जाग्रत स्वरूप का ज्ञान होने से जाना जा सकता ह, उसी तरह हमारे ही रचे हुए जाग्रत प्रपञ्च का रहस्य भी अपने वास्तविक आपके अज्ञान की अवस्था में जाना नहीं जा सकता, जब अपने आपका यथाथ अनभव हो जाता ह, तब ही जाना जा सकता ह।

इस सम्ब ध में यह प्रश्न आमतौर से उठता ह कि जब हम ही अपने मन के सकल्प से सब रचनाए करते ह, तो उनका हमको प्रत्यक्ष अनुभव और स्मरण क्यो नहीं होता और उन पर हमारा पूण अधिकार क्यो नहीं होता ? हम चाहते कुछ ह और होता कुछ और ही ह। इसका उत्तर यह ह कि हमारे सकल्पो की रचनाओ का हमको अनुभव और स्मरण न होने और उन पर हमारा अधिकार न होने का कारण हमारा अपना ही स्वीकार किया हुआ अज्ञान, अल्पज्ञता अथवा विचारशक्ति (बुद्धि) की निबलता ह। बहुत से कार्य ऐसे होते ह कि जो हमने स्वय प्रत्यक्ष रूप में किये ह और कर रहे ह, पर तु हमारे अपने ही अज्ञान अथवा अल्पज्ञता के कारण उनका हमको न तो स्मरण रहता ह और न उनके करने का अनुभव ही। पूर्व ज म के कर्मों की बात छोड दी जाय तो भी, इसी ज म में बाल्या वस्था में हमने इसी शरीर से ऐसे बहुत से काम किये ह जिनका प्रभाव हमारे पीछे के जीवन पर पडता ह, पर तु उन कामो की हमको कुछ भी स्मति नहीं रहती, और उन किये हुए कामो का फल जब हम भोगते ह, तो उसमें हम अपना कोई कतत्व नहीं मानते। वतमान में भी हमारे शरीरो में अन त प्रकार की क्रियाएँ ऐसी हो रही ह जिनका करने वाला हमारे अपने सिवाय और कोई नहीं होता, पर तु हमको उनका कुछ भी पता नहीं ह कि हम उन्हें कर रहे ह, न हमको यह ज्ञान ह कि वे किस प्रकार हो रही ह, और न उन पर हमारा कोई अधिकार ही हमको प्रतीत होता ह। उदाहरण के लिए —शरीर के अ दर खाये हुए पदार्थों की पाचन क्रिया, रस, खून आदि बनने की क्रिया और उनका परिचालन, मल-मूत्र आदि की उत्पत्ति और निकास, अग प्रत्यगो का बढ़ना घटना, नख, केश, रोम आदि का निकलना,

रोगादि विकारो की उत्पत्ति और शमन, इत्यादि। यद्यपि हमारी उपरोक्त क्रियाओ का हमको स्मरण और अनुभव नहीं होता, तथापि उनके कर्ता हम ही होते ह—हमारे सिवाय दूसरा कोई नहीं होता, क्योकि क्रियाए सब हमारे शरीर के अदर, उसकी भीतरी शक्ति द्वारा होती ह, कोई बाहरी शक्ति आकर नही करती और वह भीतरी शक्ति हम ही ह—हमारे सिवाय दूसरी कोई हो नहीं सकती। बात यह ह कि जो जो काम हम अपनी छोटी-सी (व्यष्टि) बुद्धि की आढत से यानी पथकता के भाव की करते ह, उन को तो हम अपने किये हुए मानते ह और उन पर अपना अधिकार भी मानते ह, परतु अपनी व्यष्टि बुद्धि के उपयोग बिना अपने समष्टि भाव के किये हुए कर्मो को हम अपने किये हुए और उन पर अपना अधिकार नही मानते। जब कि हमारे अपने शरीर के अदर हमारी ही की हुई क्रियाओ का हम अनुभव नहीं करते और उनके होने न होने पर हम अपना कोई अधिकार नही मानते, तो शरीर के बाहर होने वाली घटनाओ का अनुभव और उन पर अधिकार कस हो सकता ह? परतु अनुभव न होने पर और उन पर अधिकार न मानने पर भी, हमारा जगत हमारे ही सकल्पो और कर्मों की रचना ह, इसमें कोई सदेह नहीं। हमारे ही भूतकाल के और वतमान के अच्छे बुरे कर्मों और मन के सकल्पो के अनुसार हम अपने इद गिद का घेरा अर्थात अपने से सम्बध रखने वाली सष्टि निर्माण करते ह। यदि हमारे सकल्प और आचरण अच्छे और सबके लिए हितकर होते ह, तो उन्हीं के अनुसार हमारी सष्टि हमको सुखदायक होती ह, और यदि हमारे सकल्प और आचरण इसके विपरीत हाते ह तो हमारी सष्टि भी इसके विपरीत होती ह। वास्तव में हमारे जगत के रचयिता हम ही ह। जिस तरह शरीर के अदर की क्रियाओ का अनुभव और उन पर अधिकार हम अपने मन की वत्तियो को अतमख अर्थात एकाग्र करके प्राप्त कर सकते ह इसी तरह शरीर के बाहर की समष्टि क्रियाओ का हम समष्टि जगत से एकता करके अपनी ज्ञान शक्ति को बढा कर जान सकते ह, और उन पर अधिकार भी प्राप्त कर सकते ह। और जिस प्रकार वत्ति जब तक भिन्नता के भावो मे बहिमख अर्थात बिखरी हुई रहती ह तब तक शरीर के अदर की क्रियाओ का ज्ञान होना सम्भव नहीं, उसी तरह हम जब तक दूसरो से पथक अपन व्यक्तित्व क अहकार की चारदीवारी में घिरे रहते ह और अपने छोटे से सकुचित दायरे के सिवाय दूसरे सारे जगत से सम्बध विच्छद किये हुए ह, तब तक जगत की घटनाओ के विषय में यथाथ ज्ञान और उन पर अधिकार प्राप्त कर सकना असम्भव ह।

अब यह प्रश्न उठ सकता ह कि क्या हम मानसिक और शारीरिक क्रियाएँ करने मे स्वतत्र ह? क्या कम करना पूणतया हमारे अधिकार में ह? प्रत्यक्ष अनुभव से तो इस विषय में साधारण लोगो को स्वतत्रता बहुत कम प्रतीत होती ह, इसलिए यहाँ कर्मों के विषय में सक्षेप से विचार किया जाता ह। कम चाहे मनसिक हो या शारीरिक सब जड

ह, अत वे स्वय (अपने आप) सम्पादित नहीं होते किन्तु चेतन की अध्यक्षता से उनका सम्पादन होता ह, अर्थात चेतन आत्मा ही कर्मो का सचालक ह, और जो किसी काय का सचालक होता ह, वह काय उसी के अधिकार में होता ह। अत यदि हम अपने को चेतन आत्मा अनुभव करे तब तो स्वभावत हम कर्मों के स्वामी ह और कम करने म पूरे स्वतन्त्र ह परन्तु यदि हम अपने को जड शरीर का पुतला मान कर शरीर के विषयो और उनसे सम्बन्ध रखने वाले पदार्थो ही मे आसक्त हो जाय तो हम कर्मो के अधीन हो जाते ह। यद्यपि कमरूपी जगत को आत्मा ही अपनी इच्छा से स्वतन्त्रतापूवक रचता ह, परन्तु अपने ही रचे हुए कर्मों के मोह म फस कर जब वह अपन वास्तविक स्वरूप को भूल जाता ह, तब उनके अधीन होकर नदी की बाढ मे बहने वालो की तरह कर्मों के प्रवाह मे बहता चला जाता ह—और जब तक उस मोहरूपी निबलता को हटा कर आत्मानुभव रूपी शक्ति का उपयोग नही करता, तब तक कमरूपी नदी के प्रवाह से निकलने में असमथ रहता ह। शरीर और इन्द्रियो से ऊपर मन ह, मन से ऊपर बुद्धि और बुद्धि से ऊपर आत्मा ह। जिनका मन बुद्धि के अधीन न रह कर इन्द्रियो के वश में हो जाता ह उनको मानसिक और शारीरिक कम करने मे कोई स्वतन्त्रता नही रहती, परन्तु जिनका मन बुद्धि के अधीन रहता ह और बुद्धि सात्विक (आत्माभिमुख) होती ह, व कम करने में स्वतन्त्र होते ह। बुद्धि जितनी अधिक सात्विक (आत्माभिमुख) होती ह उतनी ही स्वतन्त्रता अधिक होती ह और जितनी कम सात्विक होती ह उतनी ही स्वतन्त्रता कम होती ह। रज तमप्रधान बुद्धि, मन को अपने अधीन नहीं रख सकती, किन्तु खुद मन के अधीन हो जाती ह और मन इन्द्रियो के वश म हो जाता ह। इन्द्रियो द्वारा कम होते ह अत बुद्धि कर्मानुसारिणी हो जाती ह, अर्थात जसे कम किये जाते ह वसे ही विचार उत्पन्न होने लगते ह और फिर उन विचारो के अनुसार कम होते ह। इसी तरह कर्मों के अनुसार बुद्धि और बुद्धि के अनुसार कर्मों का चक्कर निरन्तर चलता रहता ह, और कर्मों के बन्धन से तब तक छुटकारा नही मिलता, जब तक कि बुद्धि को सात्विक अर्थात आत्माभिमुख करने का प्रयत्न नहीं किया जाता। इस पर एक दृष्टान्त दिया जाता ह। किसी सम्राट ने अपने मनोरजन के लिए स्वेच्छा से शिकार खेलने अथवा अन्य प्रकार के किसी खेल के लिए अपनी राजधानी से दूर, किसी विनोद के स्थल में जाकर वास किया। वहा नाना प्रकार के सुहावने, मन को मुग्ध करने [illegible] की [illegible] जो स्वय उसने वहा रख छोडी थीं, उनमें उलझ कर वह अपने साम्राज्य को भूल गया और उसी विलास भूमि में ममत्व करके निरन्तर वहा रहने लग गया, यहा तक कि अपने सम्राटपन की उसको कुछ भी स्मृति न रही, और अपने को एक साधारण व्यक्ति मान कर अपने ही कमचारियो के अधीन हो गया। यद्यपि वह साम्राज्य का मालिक था और सारा देश, सारी सम्पत्ति तथा सब ऐश आराम के सामान एव सब कमचारी उसी के थे, परन्तु

अपन पद के अज्ञान से वह एक तुच्छ व्यक्ति, एव सबका आश्रित बन गया और सब कोई उसका अपमान करन लगे। यदि वह उस तुच्छ एश आराम की क्रीडा भूमि की आसक्ति छोड कर अपन वास्तविक स्वरूप का स्मरण करके, अपनी राजधानी में लौट आता तो उसकी हीनता और दीनता तुरन्त मिट जाती फिर अपन साम्राज्य का स्वामी तो वह था ही। यही हाल प्रत्येक देहधारी जीवात्मा का ह। उसन अपनी इच्छा से कम रूप इस जगत का खेल रचा और स्वय ही अपनी मनोहर रचना में आसक्त होकर अपने असली स्वरूप और अपनी सवशक्तिमत्ता को बिसार कर अपने रचे हुए कर्मों के अधीन हो गया और सबके स्वामी होने के बदले उलटा कर्मो का दास बन गया। जब तक वह उलट कर अपने असली स्वरूप का फिर से अनुभव न कर ले तब तक परवश होकर कर्मों के प्रवाह में बहता ही रहता ह। कर्मों के गुणन से वह प्रवाह अनन्त काल तक चलता ही रहता ह, और उनके विविध प्रकार के सुख-दु ख आदि फल भोगते ही रहना पडता ह क्योकि कम और फल का जोडा ह, फल कर्मों के साथ ही उत्पन्न हो जाते ह और फिर आग कम उत्पन्न कर देते ह। इस तरह कर्मों से फल और फलो से कम का चक्कर निरन्तर चलता ही रहता ह, कभी टूटता नहीं, परन्तु जिस क्षण अपने आपका यथाथ अनभव कर लिया जाता ह, उसी क्षण कर्मों के बन्धन के सारे भ्रम मिट कर पूण स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती ह।

अज्ञान अवस्था में भी बुद्धि के तारतम्य के अनसार कम करन में थोडी बहुत स्वतन्त्रता रहती ह। जिनकी बुद्धि अधिक विकसित होती ह वे कम करन में अधिक स्वतन्त्र होते ह और कर्मों के अच्छे-बरे परिणाम का उत्तरदायित्व भी उन पर अधिक होता ह, और जिनकी बुद्धि कम विकसित होती ह, वे कम करने में कम स्वतन्त्र होते ह और उनका उत्तर दायित्व भी कम रहता ह। वतमान कानून में भी जानने वाले और अनजान के लिए बुरे कर्मों के दण्ड विधान मे अन्तर रहता ह। यदि कम करने में बिलकुल परतन्त्रता ही रहती तो दण्ड विधान और शास्त्रो की विधि निषेध की मर्यादाए अर्थात "अमक काम करो और अमुक काम मत करो", इस तरह के विधान निरथक होते और पाप पुण्य का भी कोई प्रश्न नहीं रहता।

उपयुक्त सारी व्याख्या का निष्कष यह ह कि असली "अपना आप" अर्थात सच्चिदानन्द आत्मा, एक, नित्य सवव्यापक और सम ह, और वही सत ह, और जगत म जो अनन्त प्रकार के भिन्न भिन्न पदाथ प्रतीत होते ह वे सब "अपने आप" यानी आत्मा ही के अनेक नाम और रूपो के कल्पित एव प्रतिक्षण परिवतनशील बनाव ह, उससे भिन्न कुछ नहीं ह, और जो वस्तु प्रतिक्षण बदलती रहती ह स्थायी नहीं रहती, वह सत नहीं हो सकती।

किसी भी प्राणी का शरीर लीजिए। गर्भाधान से लेकर ज्यो ज्यो वह बढ़ता ह, उसकी अवस्था प्रतिक्षण बदलती रहती ह। वह गभ में अनेक प्रकार के रूप बदलता हुआ

विशष अवधि मे पूरा शरीर बन कर गभ के बाहर आता ह और बाहर भी वही परिवतन की क्रिया निरन्तर चालू रहती ह। कितने ही परमाणु शरीर म से प्रतिक्षण निकलते ह और नितन ही उसम प्रवेश करते रहते ह। शन शन बाल्यावस्था से युवावस्था प्रौढावस्था और फिर वद्धावस्था हो जाती ह। इन अवस्थाओ का परिवतन किसी विशेष समय मे एक दम नही हो जाता, किन्तु प्रतिक्षण निरन्तर होता रहता ह और घटा-बढी की क्रिया चालू रहती ह। शरीर का विनाश यद्यपि किसी विशेष समय म एकदम होता प्रतीत होता ह, परन्तु साधारणतया वह भी पहले निरन्तर होता रहता ह और उसकी सम्मिलित प्रतीति मरने के समय के जोरदार परिवतन के धक्के से होती ह।

इसी तरह स्थावर पदार्थो का भी प्रतिक्षण परिवतन होता रहता ह। वनस्पति (वक्ष, लता आदि) किसी विशेष समय म एकदम नहीं उगते और न एकदम सूखते ही ह, किन्तु उनके बढने घटने की क्रिया भी प्रतिक्षण निरन्तर चालू रहती ह। खनिज पदाथ—हीरा पन्ना, माणिक, सोना चादी पत्थर मिटटी आदि भी निरन्तर परिवतन की क्रिया में से गुजरते हुए अपने अपने प्राकृत रूप मे आते ह, और फिर भी उनका परिवतन एव वद्धि ह्रास चालू रहता ह।

काल (समय) का भी निरन्तर परिवतन होता रहता ह। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक, तथा शाम से लेकर सुबह तक समय निरन्तर बदलता रहता ह। इसी तरह ऋतु भी प्रतिक्षण बदलती रहती ह। सुबह के सुहावने शीतल समय को हटा कर उसके स्थान मे दोपहर की कडी धूप एकदम नही आ जाती और दिन के प्रकाश को हटा कर रात्रि का अधकार भी अकस्मात पथ्वी मण्डल को आच्छादित नही कर लेता, न जाड की सर्दी सहसा ग्रीष्म म परिणत होती ह, किन्तु सभी परिवतन प्रतिक्षण निरन्तर होते रहते ह। समय की जो शीघ्रता और विलम्ब प्रतीत होते ह, वे भी इकसार और स्थायी नही होते। किसी प्राणी को जो काल बहुत थोडा प्रतीत होता ह, वही दूसरो को लम्बा प्रतीत होता ह, स्वप्नावस्था में थोडा काल भी बहुत लम्बा प्रतीत होता ह—घडी भर के स्वप्न में वर्षो का अनुभव हो जाता ह और सुषप्ति अवस्था मे दीघ काल भी बहुत थोडा प्रतीत होता ह—घण्टो की गाढ निद्रा एक क्षण के तुल्य प्रतीत होती ह। जाग्रत अवस्था में भी सुख की अवस्था का काल अल्प और दुख की अवस्था का काल बहुत लम्बा प्रतीत होता ह। इसी तरह भूतकाल अल्प और भविष्यत बहुत लम्बा प्रतीत होता ह। तात्पय यह कि काल भी इकसार नही रहता, वह भी निरन्तर बदलता रहता ह।

यही अवस्था देश की ह। किसी अवस्था मे किसी की दष्टि में कोई देश बहुत विस्तत और बहुत दूर प्रतीत होता ह, और दूसरी अवस्था तथा दूसरे की दष्टि में वही देश बहुत छोटा और निकट मालूम देता ह। एक समय में कोई देश बहुत सुन्दर और सुहावना प्रतीत होता ह, और दूसरे काल में वही महान भयानक हो जाता ह। किसी समय कोई

नवीन देश उत्पन्न हो जाता ह, और किसी समय किसी वतमान देश का प्रलय हो जाता ह। वतमान में भौतिक विज्ञान, देश, काल और वस्तुओ के नानत्व का अस्थायीपन स्थूल इद्रियो को भी प्रत्यक्ष दिखा रहा ह और उनका एकत्व सिद्ध करन की ओर अग्रसर हो रहा ह। बेतार का तार (Radio Telegraphy), बतार का टेलीफोन (Radio Telephony) बिना सम्बाध के दूर के दश्य दिखाना (Radio Television) आदि आविष्कारो न देश की दूरी और काल की लम्बाई को समेट कर बहुत कम कर दिया ह और सवत्र एक वाहक शक्ति का यापक होना सिद्ध कर दिया ह। रेडियम (Radium) धातु के छोटे छोटे कणो और (Atom) परमाणु में भी अखूट तेजराशि भरी हुई दिखा दी, और ससार के बड-बडे दश्य बाइस्कोप के फिल्मो मे बाद कर लिये गये ह। ज्यो ज्यो भौतिक विज्ञान आगे बढता जायगा, त्यो-त्यो उसके द्वारा भी एकता का अधिक प्रमाण मिलता जायगा। साराश यह कि प्रत्यक्ष अनुभव और भौतिक विज्ञान भी जगत की एकता को स्थायी, और भिन्नता को अस्थायी एव परिवतनशील सिद्ध करता ह, और जो वस्तु स्थायी नहीं होती वह सच्ची नहीं हो सकती, किन्तु मेस्मेरिज्म या जादू के खेल की तरह केवल दिखावटी होती ह, यह सवमा य सिद्धा त ह। व्यवहार मे प्रत्यक्ष देखने में आता ह कि कल अथवा आज ही एक घण्टे बाद किसका क्या होगा, इसका किसी को कोई निश्चय नहीं हो सकता। यदि सचाई होती तो यह अनिश्चितना नहीं रहती। प्रतिक्षण पलटन वाले मनष्य को सब झूठा कहते ह। बाइस्कोप के परदे पर प्रतिक्षण पलटने वाले दिखाव को सच्ची क्रियाए कोई नहीं मानता।

इसके अतिरिक्त देश काल और वस्तु, यानी ससार का कोई भी पदाथ (देश, काल और वस्तु में ससार के सभी पदार्थो का समावेश हो जाता ह) सबको सदा एकसा प्रतीत भी नहीं होता। किसी को कोई वस्तु किसी अवस्था में एक प्रकार की प्रतीत होती ह, दूसरी अवस्था म तथा दूसरे व्यक्ति को वही वस्तु दूसरी तरह की प्रतीत होती ह। किसी को कोई वस्तु किसी अवस्था मे अनकूल प्रतीत होती ह, दूसरी अवस्था में अथवा दूसरे व्यक्ति को वही प्रतिकूल प्रतीत होती ह। दिनचरो को सूय प्रकाश रूप दीखता ह, निशाचरो को अधकार रूप। सूखे में वष्टि सुहावनी लगती ह, अतिवष्टि के समय वर्षा भयानक प्रतीत होती ह। भारतवष मे ग्राम ऋतु में सूय का तेज असह्य होता ह, योरप में सूय के दशन को लोग तरसते ह। प्यास से मरते हुए के लिए जल ना न ना वही जलोदर के रोगी तथा डूबने वाले का प्राण हरता ह। सुख शान्ति के समय जो देश प्रिय लगता ह, अशाति और विपत्ति के समय उसको छोड भागना हितकर प्रतीत होता ह। धन धाय आदि का सग्रह, सत्ता तथा मान प्रतिष्ठा शाति के समय एव योग्य व्यक्तियो के पास हो तो सुखदायक होते ह, विप्लव के समय अथवा अयोग्य व्यक्तियो के पास वे ही महान दु खदायक होते ह। सदाचारी व्यक्तियो की विद्या सबको लाभदायक होती

ह, दुराचारियो की विद्या से सबकी हानि होती ह । पुत्रहीन गहस्थ पुत्र जन्म पर बडा हर्ष मानता ह, विधवा स्त्री गर्भ में ही उसे मार डालना चाहती ह। पतिव्रता स्त्री पति को और स्नेह करने वाला पति पत्नी को एव सुपुत्र पिता को प्यारा लगता ह, इनसे विपरीत गुणो वाले पति, पत्नी और पुत्र, शत्रु प्रतीत होते ह । सर्दी मे जो गर्म कपडे तथा गर्म आहार विहार अच्छे लगते ह, गर्मी म वे ही बरे प्रतीत होते ह । भूखे को भोजन बहुत स्वादिष्ट लगता ह अघाये हुए को उससे ग्लानि होती ह । कहा तक गिनाया जाय, जगत का कोई भी व्यवहार सदा सर्वदा एकसा नहीं रहता । यहा तक कि धर्म भी सदा एकसा नहीं रहता । किसी परिस्थिति म प्रेम, दया, सत्य, क्षमा अहिंसा, शील, सन्तोष आदि सात्विक वत्तियो का भी उलटा हानिकारक परिणाम होता ह और उनके दुरुपयोग से बडे अनर्थ होते ह और किसी परिस्थिति मे काम, क्रोध लोभ, भय आदि आसुरी भाव भी लाभदायक होते ह—उनके सदुपयोग से लोगो का बडा हित होता ह । अत जो वस्तु निरन्तर परिवर्तनशील ह, एक क्षण के लिए भी एकसी नहीं रहती, उसके किस रूप को सच्चा माना जाय ? सत्यता के ठहरने के लिए कोई स्थिर बिन्दु (standpoint) भी तो होना चाहिए । परन्तु जगत की भिन्नता म जरा भी स्थिरता (स्थिर बिन्दु) नही ह, इसलिए वह सत्य नहीं कही जा सकती ।

भिन्नता जितनी ही अधिक होती ह, उतनी ही वह कम स्थायी होती ह, और उतनी ही जल्दी उसका परिवर्तन और नाश होता ह एव उतनी ही शीघ्रता से उसके मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता ह, और वह जितनी कम होती ह उतनी ही अधिक स्थायी होती ह और उतने ही विलम्ब एव कठिनता से उसका निश्चय होता ह । इसके विपरीत, एकता जितनी ही कम होती ह, उतनी ही उसकी सत्यता कम ठहरती ह और जितनी अधिक होती ह, उतनी ही उसकी सत्यता अधिक स्थायी होती ह । सम्पूर्ण भिन्नताओ और एकताओ के दिखाव का आधार—सत चित आनन्दस्वरूप आत्मा, यानी सबका "अपना आप" पूर्ण रूप से स्थायी, अत सर्वथा सत्य ह । वही अपनी इच्छाशक्ति—प्रकृति से जगत रूप होकर निरन्तर बनने बिगडने वाले क्षण क्षण म परिवर्तनशील नाना भाति के नाम रूपात्मक भिन्नता के खेल किया करता ह। वास्तव में उसके सिवाय अन्य कुछ ह ही नही । इस विषय को अधिक स्पष्ट रूप से समझाने के लिए कुछ उदाहरण दिये जाते ह —

१—समुद्र मे अनन्त लहरें, फेन, बुदबुद आदि उठते ह अनेक स्थलो में उसके ऊपर बर्फ जम जाती ह, कही पर जल सूक्ष्म भाप रूप हो जाता ह, परन्तु जल से भिन्न वे कुछ भी नही होते । एक ही जल के अनेक नाम और अनेक रूप होते ह । लहरें, फेन, बुदबुद, बर्फ और भाप आदि नामरूपात्मक भिन्नताए केवल जल का रूपान्तर मात्र होती

ह । वास्तव में सब जल ही जल होता ह । उन सबका अस्तित्व जल से होता ह, उनमें भान भी जल ही होता ह ओर उनम रस और स्पश भी जल ही का होता ह ।

२—सोन के आभूषण—चाहे वे सिर पर रखन के हो, या गले हाथो एव परो में पहिनने के हो—वास्तव मे वे सब स्वण ही होते ह । उन आभूषणो का तोल, स्पश रूप, कीमत आदि सब सोन ही के होते ह । आभूषण एक तोड कर दूसरा बनवाया जा सकता ह परन्तु स्वण ज्यो का त्यो ही रहता ह । अत आभूषणो की भिन्नता केवल दिखावटी बनाव होती ह, परन्तु सोना सच्चा होता ह ।

३—मिटटी के भिन्न भिन्न बतन बनने के पहले मिटटी होती ह, बतन दशा में भी मिटटी ही होती ह, और बतन टूटने पर भी मिटटी ही रहती ह । मिटटी के सिवाय बतन कुछ नही होते । बतनो के अलग-अलग घाट और नाम बनावटी होते ह, मिटटी सच्ची होती ह ।

४—मनुष्यो की अनेक जातिया वण नाम, आकृति, रग, रूप, अवस्था, धम, पद आदि होते ह, जिनसे उनमे नाना प्रकार की भिन्नताए प्रतीत होती ह परन्तु मनुष्यपन म वे सब एक होते ह । ऊपर से जुडी हुई उपाधिया ‍‍‍ पित ग‍‍ परिवतनशील होती ह उनके हटा देने पर भी मनुष्यपन बना ही रहता ह । परन्तु मनष्य के बिना वे उपाधियाँ रह ही नहीं सकतीं । उन उपाधियो की सत्ता और आधार मनुष्य ही होता ह ।

और भी ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते ह । साराश यह कि जगत का नानात्व, बनावटी नाम रूपात्मक दिखाव मात्र ह उसका आधार एक आत्मा सत्य ह ।

यद्यपि उपरोक्त उदाहरण आत्मा के विषय म पूण रूप से उपयक्त नही होते क्योकि आत्मा एक ह और उपरोक्त उदाहरण द्वत के ह । तथा इनमे कहे गये पदार्थों के उपादान* कारण और निमित्त कारण भिन्न भिन्न ह । जसे लहर फेन, बुदबद, बफ और भाप का उपादान कारण जल, और निमित्त कारण वाय, सघष, शीत और गरमी ह, आभूषणो का उपादान कारण सोना और निमित्त कारण सुनार ह, बतनो का उपादान कारण मिटटी और निमित्त कारण कुम्हार ह, और जाति, वण नाम, आकृति आदि का उपादान कारण मनुष्य और उनके निमित्त कारण कुल, पेशा, सस्कार आदि ह । इसलिए इन उदाहरणो मे कारण और काय की भिन्नता प्रतीत होती ह परन्तु जगत का उपादान और निमित्त—दोनो कारण, अर्थात बनने वाला पदाथ और बनाने वाला—एक आत्मा ही ह । आत्मा स्वय ही जड और चेतन रूप से जगदाकार होता ह, इसलिए उसमें कारण और काय की भिन्नता नही ह, अर्थात कारण और काय एक ह, और जहा कारण काय-

---

*जिस द्र‍य की कोई वस्तु बनती ह वह उसका उपादान कारण होता है और जिसके द्वारा वह वस्तु बनाई जाती ह वह उसका निमित्त कारण होता ह ।

भाव ही नहीं, उस एक, अपग्निननगा सत्य पदाथ को समझाने के लिए अनेक, परि-वतनशील, मिथ्या पदार्थों के दष्टा त पूणतया उपयुक्त हो नही सकते। पर तु उसके जोड की पूण एकता की कोई दूसरी वस्तु ह नहीं, जिसका दष्टा त दिया जा सके। वाणी से किसी श द का उच्चारण करना ही द्वत हो जाता ह। "अपना आप' होने के कारण वाणी द्वारा उसका पूणतया बोध नही कराया जा सकता, वह तो अपने अनुभव ही का विषय ह तथापि बहिमख वत्ति को लौकिक पदार्थों के उदाहरणो से ही यथाशक्य सत्य के निकट पहुचाने का प्रयत्न किया जाता ह क्योकि कई अशो मे सादश्य होने से समझने मे सुभीता हो सकता ह। दष्टा त यदि पूण रूप से दार्ष्टा त* के समान हो जाय तो दष्टा त ही न रहे, कि तु वह स्वय दार्ष्टा त हो जाय।

उपयुक्त त्ष्टान्तो में पानी, सोना मिटटी, मनष्य आदि कारणो की अपेक्षा उनके काय---लहरें, फेन, बुदबुद, बफ भाप, गहने, बतन, जाति, वण, धम आदि पदार्थों के कल्पित नाम-रूपो की भिन्नता को पग्विननगा एव मिथ्या बताया ह, जिससे भ्रम हो सकता ह कि इन अगणित भिन्नताओ के आधार---पानी सोना मिटटी, मनष्य आदि थोडी भिन्नताए सत्य होगी। पर तु जब इनके विषय में भी सूक्ष्म विचार किया जाता ह तो ये भी परिवतनशील और अस्थायी सिद्ध होती ह। जल† की उत्पत्ति तेज से तेज† की वायु से, और वायु† की आकाश से ह और इसके उलटे क्रम से इनका लय होता ह और सबका समावेश आत्मा में होता ह। सोना एक पार्थिव पदाथ ह। यह पथ्वी में अनक भौतिक क्रियाओ से रूप परिवनन करता हुआ सोन के रूप को प्राप्त होता ह और घिसते घिसते काल पाकर पथ्वी में ही इसका लय हो जाता ह। इसी तरह मिटटी भी एक पार्थिव पदाथ ह। पथ्वी की उत्पत्ति और लय जल मे होते ह। मनुष्य अपने ज म के पहले किसी रूप में रहता ह, गभ में तथा बाहर आने पर अनेक परिवननो में से गुजरता हुआ बालक, युवा और वद्ध होकर अन्त में मर जाता ह, और मरने के बाद फिर कोई दूसरा रूप धारण करता ह। प्रत्येक शरीर पच तत्त्वो के विशेष रूप या विशेष नाम का सगठन ह। अत शरीरो की उत्पत्ति और लय, उनके कारण पच तत्त्वो में होते रहते ह, और पच तत्त्वों की एकता आकाश में होकर, सबका आत्मा में लय हो जाता ह। यद्यपि शरीरो की दष्टि से पच-तत्त्व अधिक स्थायी और अधिक सत्य प्रतीत होते ह, पर तु एक, नित्य एव सत्य आत्मा की अपेक्षा पच-तत्त्वो की भिन्नताए भी उ पत्ति नाशवान और अस्थायी ह। यद्यपि पच-तत्त्वो के कार्यों की अपेक्षा वे स्वय अधिक काल तक स्थायी प्रतीत होते ह, परन्तु काल भेद स्वय ही असत्य ह। इसका खुलासा पहले हो चुका ह।

---

*जिसके समझाने के लिए दष्टा त दिया जाता ह वह दार्ष्टान्त कहलाता ह।

†इस विषय का विशेष खुलासा आग किया जायगा।

वास्तव मे आत्मा अथवा परमात्मा मे भिन्नता ह ही नही, क्योकि यदि भिन्नता कोई सत वस्तु हो तो उसका अस्तित्व माना जा सकता ह। जब भिन्नता असत ह तो फिर उसके आत्मा अथवा परमात्मा म होने का प्रश्न उठना ही अयुक्त ह। अधरे म अथवा दष्टि दोष से रस्सी मे सप का भ्रम हो जाय तो यह प्रश्न उठना । , कि यह सप कहाँ से और कसे आया ? क्योकि वास्तव म वहा सप ह ही नहीं—यह केवल भ्रम होता ह, और सच्चिदान द आत्मा अथवा परमात्मा म वस्तुत भ्रम भी नही ह क्योकि आत्मा अथवा परमात्मा में कोई विकार या दोष नही हो सकते। जगत की भिन्नताओ का बनाव उसका खिलवाड मात्र ह। सबका 'अपना आप'=आत्मा अथवा परमात्मा अपनी इच्छा अथवा खुशी से यह जगतरूपी खेल करता ह और इस खेल के लिए ही अन त प्रकार के भिन्नता के रूप धारण करता ह क्योकि भिन्नता के बनावो ही से खेल होता ह। भिन्नता के बनावो बिना खेल हो नही बनता। वह सबका अपना आप=आत्मा अथवा परमात्मा ही जड, वही चेतन वही पशु, वही पक्षी, वही स्त्री वही पुरुष, वही भोक्ता वही भोग्य, वही छोटा वही बडा वही ऊचा वही नीचा वही धनी वही गरीब, वही सबल वही निबल, वही सुखी और वही दु खी आदि नाना प्रकार के जोडे स्वय बनता ह। इसलिए वास्तव में सुख दु ख आदि के भेद कुछ ह नहीं। यद्यपि अल्पज्ञता स्वीकार कर लेन से उन दोनो (जोडो) का एक ही समय में एक ही व्यक्ति को एक साथ भान नहीं होता पर तु सुख दु ख आदि दोनो विरोधी भाव बराबर ह। सव यापक, एक और सम आत्मा म दोनो विरोधी भावो का एकीकरण हो जाता ह और सर्वात्म भाव म वे दोनो आपस मे एक दूसरे की प्रतिक्रिया से शा त हो जाते ह किसी एक का भी अलग अस्तित्व नहीं रहता। इसलिए सबकी एकता की अध्यात्म दष्टि से ससार म सुख या दु ख आदि कुछ भी नहीं ह। यदि यक्तित्व की दष्टि से देखा जाय तो भी किसी भी यक्ति को ससार वास्तव मे दु ख रूप प्रतीत नहीं होता। यदि ऐसा होता तो इसम कोई रहना अर्थात जीना ही नहीं चाहता, परन्तु मरने को कोई भी राजी नहीं होता। इससे सिद्ध होता ह कि चाहे किसी समय अथवा किसी स्थिति में, किसी विशेष कारण से कोई अपने को दु खी भले ही माने, पर तु वास्तव मे ससार को केवल दु ख रूप कोई नही समझता। तात्पय यह कि ससार न तो दु ख रूप ह, और न उससे आत्मा में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न होता ह। वह आत्मा का एक खिलवाड ह, और उस खिलवाड का रहस्य अनिवचनीय ह अर्थात उसका वाणी [illegible]। वह तो केवल अपने आपके अनभव का विषय ह। जब तक सर्वात्म भाव अर्थात विश्व की अपने साथ पूण एकता का सच्चा अनुभव नही हो जाता, तब तक केवल दूसरो के कहने या पुस्तको के पढने मात्र से ही वह रहस्य पूरी तरह कदापि समझ मे नहीं आ सकता। भौतिक व्यवहार मे यह बात प्रत्यक्ष देखने मे आती ह कि बहुत सूक्ष्म वस्तु बहुत ही सूक्ष्म नोक के हथियार से पकडी जा सकती ह स्थूल हथियार से नहीं पकडी जा सकती, और आत्मा

सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थात अत्यन्त ही सूक्ष्म ह, इसलिए उसके रहस्य को जानने के लिए बद्धि को सूक्ष्म करते करते जब वह आत्मनिष्ठ हो जाती ह, तब इस विषय का अनुभव अपने आप ही हो जाता ह। अथवा जिन लोगो ने दाघ काल के अभ्यास से बुद्धि को सूक्ष्म करके इस विषय का अनुभव प्राप्त किया ह, उनके वचनो मे श्रद्धा (विश्वास) करने से उक्त शका का समाधान हो सकता ह।

तत्वज्ञानी लोगो ने गहरे अ वेषण के बाद यह निश्चय किया ह कि इस कल्पित जगत की तीन अवस्थाए ह—आधिभौतिक, आधिदविक और आ यात्मिक।

(१) जगत के सदा बदलते रहने वाले अन त प्रकार के भौतिक पदाथ, जो स्थूल इ द्रियो के गोचर ह अर्थात आखो से देखे जाते ह, कानो से सुन जाते ह नाक से सूघे जाते ह जीभ से चखे जाते ह और त्वचा से स्पश किये जाते ह, वे, और उनके सम्ब ध के सब यवहार जगत की आधिभौतिक अवस्था ह।

(२) सब स्थूल पदार्था एव यवहारो की आधारभूत सूक्ष्म चेतन शक्तिया, जो प्रत्येक स्थूल पदाथ और यवहार के अ दर सूक्ष्म रूप से रहती हुई व्यष्टि* और समष्टि* भाव से जगत का काम चलाती ह, और जो स्थूल इ द्रियो के अगोचर ह कि तु मन और बुद्धि (विचार) से जानी जा सकती ह—जिस तरह स्थूल पच-तत्वो के अ दर उनकी सूक्ष्म व्यष्टि और समष्टि शक्तिया, स्थूल इ द्रियो के अ दर रहने वाली सूक्ष्म भोग एव क्रिया शक्तियाँ, मन की अनेक प्रकार की सात्विक, राजम और तामस [illegible] चित्त की स्मरण शक्ति, बुद्धि की विचार शक्ति अहकार का अहभाव, प्राणो को चलाने की शक्ति, प्रत्येक शरीर (पिण्ड) और जगत (ब्रह्माण्ड) में रहने वाली चेतना शक्ति, और पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, [illegible] आदि अनेक प्रकार की सूक्ष्म चेतन शक्तिया और उनके सूक्ष्म यवहार—जगन की आधिदविक अवस्था ह। इन सूक्ष्म शक्तिया को हा दवता कहने ह (बहदा० उ० अ० ३ ब्रा० ९)। ये ही अपने सूक्ष्म रूप में सूक्ष्म-आधिदविक जगत रूप होकर रहती ह, और ये ही सूक्ष्म शक्तियाँ घनीभूत होकर जब स्थूल भाव धारण करती ह तब भौतिक जगत-रूप बन जाती ह। स्थूल शरीर और स्थूल-जगत की उत्पत्ति अर्थात यक्त होने के पहले, और नाश अर्थात अ यक्त होने के बाद भी, यह सूक्ष्म आधिदविक अवस्था बनी रहती ह।

(३) उपयुक्त सब स्थूल और सूक्ष्म सष्टियो का कारण यानी आधार एक आत्म तत्व ह, जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म ह, और स्थूल तथा सूक्ष्म सबके अ दर ठसाठस भरा हुआ ह, जो सबका सत्व ह और जो सब जड और चेतन पदार्थों की सत्ता, गति और प्रकाश ह,

---

*प्रत्येक यक्ति अथवा वस्तु का अलग अलग भाव व्यष्टि और सब का सम्मिलित भाव समष्टि कहा जाता ह।

साधारणतया जड़ पदार्थों में जिसका विकास बहुत कम प्रतीत होता है परन्तु चेतन पदार्थों में जिसकी चेतनता अच्छी तरह प्रकट होती है, और जो स्थूल इन्द्रियों और मन के अगोचर है, केवल सात्विक बुद्धि से ही जिसका ज्ञान हो सकता है—वह चेतन आत्म-तत्त्व जगत् की आध्यात्मिक अवस्था है (बृहदा० उ० अ० २ ब्रा० ५)।

जिस तरह जगत् की ये तीन अवस्थाएँ हैं उसी तरह शरीर की भी जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति भेद से तीन अवस्थाएँ हैं। जाग्रत अवस्था में भौतिक शरीर के व्यवहार होते हैं, अतः यह शरीर की आधिभौतिक अवस्था है। स्वप्न में सूक्ष्म शरीर के मानसिक व्यवहार होते ह, यह शरीर की आधिदैविक अवस्था है। सुषुप्ति में स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर अपने कारण—आत्मा में लय हो जाते हैं, यह शरीर की आध्यात्मिक अवस्था है। जाग्रत अवस्था में भी स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ गौण रूप से विद्यमान रहती हैं। कभी-कभी स्थूल शरीर क्रिया-रहित हो जाता है परन्तु मन में कई तरह के संकल्प उठते रहते हैं तथा विचार-क्रिया अथवा स्मरण-क्रिया चालू रहती है, यह जाग्रत में स्वप्नावस्था है। कभी-कभी शारीरिक और मानसिक दोनों क्रियाएँ बन्द होकर केवल शून्य अवस्था रहती है, यह जाग्रत में सुषुप्ति है। तात्पर्य यह कि जो दशा पिण्ड की है वही ब्रह्माण्ड की है।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड की उपर्युक्त तीन अवस्थाएँ होने के कारण उनके विषय में विचार करने की भी तीन पद्धतियाँ हैं :—

(१) सृष्टि के सभी पदार्थ ठीक वैसे ही हैं, जैसे कि स्थूल इन्द्रियों को प्रतीत होते हैं—इन स्थूल पदार्थों के परे और कोई सूक्ष्म तत्त्व नहीं है। इस विचार-पद्धति को आधिभौतिक मत कहते हैं। अधिकतर भौतिकवादी लोग इसी मत को मानते हैं।

(२) सृष्टि के स्थूल पदार्थ जड़ होने के कारण स्वयं क्रियाशील नहीं हो सकते, अतः उनको हलचल देने वाली उनके भीतर अनेक सूक्ष्म चेतन शक्तियाँ अलग हैं। ये ही जगत् को धारण करती हैं और समस्त जड़ पदार्थों से नाना प्रकार की चेष्टाएँ करवाती हैं। ये चेतन शक्तियाँ प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न जीवात्माएँ हैं, और ब्रह्माण्ड में भिन्न-भिन्न देवता हैं। इस विचार-पद्धति को आधिदैविक मत कहते हैं। यह आधिभौतिक मत से कुछ सूक्ष्म है। बहुत से श्रद्धालु लोग इस मत के अनुयायी हैं।

(३) न तो सृष्टि के जड़ पदार्थ स्वतः किसी प्रकार का व्यवहार कर सकते हैं, और न भिन्न-भिन्न देवता अर्थात् सूक्ष्म शक्तियाँ ही अपनी अलग-अलग सत्ता से पिण्ड (शरीर) और ब्रह्माण्ड (जगत्) के व्यवहारों को नियमित रूप से, एक-दूसरे के साथ शृङ्खलाबद्ध होकर चला सकती हैं; किन्तु इनके परे प्रत्येक शरीर में और जगत् में एक ही आत्म-तत्व है, जो इन्द्रियों और मन के अगोचर है, और जो सब भूत-प्राणियों में भरा हुआ है और भिन्न-भिन्न शक्तियों को एकता के सूत्र में पिरोये हुए है; उस एक की सत्ता से ही प्रत्येक शरीर का और जगत् का सब व्यवहार उसकी सूक्ष्म शक्तियों (देवताओं) द्वारा

चल रहा ह, कई लोग, प्रत्येक शरीर में रहने वाले आत्म-तत्त्व को अलग अलग जीवात्माए मानते ह और सारे जगत का सचालन करने वाले परम-आत्मा को उक्त जीवात्माओ से अलग एक ईश्वर मानते ह, परन्तु वेदान्त दशन सबमें एक ही आत्म-तत्त्व मानता ह। व्यष्टि भाव से वही जीवात्मा कहा जाता ह, और समष्टि भाव से उसी को परमात्मा कहते ह। वही जड और चेतन भाव से व्यक्त होकर जगत-रूप होता ह। इस विचार पद्धति को आध्यात्मिक मत कहते ह। यह सबसे सूक्ष्म ह और सूक्ष्म बुद्धि के विचारशील लोग इसे मानते ह।

यद्यपि आधिभौतिक और आधिदविक मतो के अनुसार साधारणतया जगत की भिन्नता सच्ची मानी जाती ह, परन्तु यदि गहरा विचार कर देखा जाय तो आधिभौतिक और आधिदविक अवस्थाओ में भी जगत की एकता ही सच्ची सिद्ध होती ह। यह नाना भावापन्न स्थूल जगत पच तत्त्वो के सम्मिश्रण का अनक प्रकार का बनाव ह, अर्थात जिन पच तत्त्वा का एक राजा, महाराजा, विद्वान, आचाय, ज्ञानी और महात्मा का शरीर होता ह उन्हीं का एक छोटे से छोटे अछूत व चाण्डाल माने जाने वाले मनुष्य, पशु पक्षी एव वनस्पति आदि का शरीर होता ह। स्थावर जगम जितनी सृष्टि ह, वह सब उन्हीं पच तत्त्वो के सम्मिश्रण का बनाव ह, और सभी एक दूसरे के उपकारी उपकाय अथवा एक दूसरे के भोक्ता भोग्य अथवा एक दूसरे के कारण काय ह, तथा एक दूसरे पर निभर (अन्योन्याश्रित) ह। सब एक दूसरे की सहायता से एक दूसरे के साथ शृखलाबद्ध होकर जगत के व्यवहार करते ह। सूय, चन्द्र, पथ्वी, तारागण अर्थात सभी ग्रह-नक्षत्र एक दूसरे के आकषण से बधे हुए नियमपूवक आपस की एकता से सब काम करते ह, और ज्योतिष शास्त्रानुसार इन सबके अच्छे-बुरे प्रभाव इस पथ्वी पर भी पडते ह, तथा पथ्वी के भिन्न भिन्न देशो की ऋतु आदि के प्रभाव दूसरे दूरस्थ देशो पर पडते ह। वतमान के वज्ञानिक (Scientist) लोग भी स्थूल जगत की अनन्त प्रकार की अनेकताओ में पूण एकता ढूँढ निकालने में ही लगे हुए ह, और यद्यपि वे अब तक पूण एकता तक नहा पहुचे ह, परन्तु वह समय अब अधिक दूर नहीं ह जब कि विज्ञान (Science) के द्वारा भी भौतिक एकता पूण रूप से सिद्ध हो जायगी।

स्थूल पच-तत्त्वो में भी आपस में एकता ही ह, क्योकि आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल और जल से पथ्वी उत्पन्न होती ह, और जब ये तत्त्व लय होते ह, तो इसके उलटे क्रम से लय होते ह, और एक दूसरे के अन्दर सूक्ष्म अथवा स्थूल रूप से बने भी रहते ह। पथ्वी में से जल निकलता ह, और उसे खोदन से उष्णता, तथा रगडने से अग्नि निकलती ह वायु और आकाश पथ्वी में सवत्र ओतप्रोत रहते ह। जल ही घनीभूत होकर पथ्वी बनता ह—अनेक स्थलो में जल से पथ्वी बनती हुई देखी जाती ह। जल के सघष से बिजली (अग्नि की ज्वाला) निकलती ह और समुद्र में बडवानल (अग्नि) उत्पन्न होती ह।

अग्नि अर्थात उष्णता से पसीना और वर्षा आदि द्वारा जल उत्पन्न होता ह। वायु के बिना अग्नि और जल की स्थिति भी नहीं रह सकती। आकाश सबका आधार ह ही—जहाँ दूसरे तत्त्व रहते ह, वहा पर आकाश मौजूद रहता ह। उक्त तथ्य से इन सबकी एकता ही सिद्ध होती ह।

इसी तरह सूक्ष्म आधिदविक जगत में भी एकता ही सिद्ध होती ह, क्योकि एक ही आत्मा के सकल्प से उसकी अनन्त सूक्ष्म शक्तिया सत्व, रज और तम गुणो के तारतम्य से अनन्त प्रकार के दश्य रूप होती ह। किसी भी घटना अथवा काय का पहले सूक्ष्म सकल्प मन मे उठता ह और जब वह सकल्प घनीभूत होकर दढ हो जाता ह, तब वह स्थूल काय में परिणत होता ह। एक तरफ समष्टि (सबके सयुक्त) मन के सकल्प से सूक्ष्म पच तत्त्व घनीभूत होकर, तीन गुणो के तारतम्य से समष्टि जगत के अनन्त प्रकार के पदाथ रूप बनते ह और दूसरी तरफ शरीरधारियो के व्यष्टि (व्यक्तिगत) मन के सकल्प से उसकी त्रिगणात्मक वत्तिया द्वारा उक्त सूक्ष्म पच तत्त्व ही व्यष्टि भाव से इन्द्रियरूप होकर समष्टि जगत के पदार्थो के साथ भाति भाति के व्यवहार करते ह। मन म जब देखने का सकल्प उठता ह तब उसकी वत्तिया तेजात्मक होकर चक्ष रूप से नाना प्रकार के रूप देखती ह सुनने का सकल्प उठता ह तब आकाशात्मक होकर श्रवण-रूप से शब्द सुनती ह, सघन का सकल्प उठता ह तब पथ्वी रूप होकर नासिका द्वारा गन्ध लेती ह, रसास्वादन का सकल्प उठता ह तब जलात्मक होकर रसना रूप से सब रसो का स्वाद लेती ह, स्पश करने का सकल्प उठता ह तब वाय्वात्मक होकर त्वचा-रूप से सब प्रकार के स्पश करती ह। साराश यह कि सूक्ष्म और स्थूल जगत सब मन के सकल्पो की ही रचना ह। यह भी प्रत्यक्ष देखन में आता ह कि एक व्यक्ति के मन के सकल्पो तथा विचारो का प्रभाव दूसरे व्यक्ति पर पडता ह और जगत की उत्पादक पोषक एव सहारक सूक्ष्म शक्तियाँ, यथासमय यथोचित रूप से एक दूसरे के साथ शृखलाबद्ध होकर अपने-अपने काय निरन्तर करती रहती ह। इस तरह की वस्तुस्थिति पर अच्छी तरह विचार करने से आधिदविक जगत की भी एकता ही सिद्ध होती ह।

तात्पय यह ह कि जगत की आधिभौतिक, आधिदविक और आध्यात्मिक तीनो अवस्थाओ में अनन्तता झूठी और एकता सच्ची ह और इस निश्चयपूवक सब भूत प्राणियो में एक ही आत्मा को समान भाव से व्यापक समझ कर, व्यक्तिगत अहकार को समष्टि अहकार में, तथा व्यक्तिगत स्वार्थो को सबके स्वार्थों मे जोड कर, सबके साथ एकता का प्रेम रखते हुए, अपना अपना योग्यता के कतव्य कम साम्यभाव से करना—यही व्यावहारिक वेदान्त ह, और यही उपदेश भगवान ने गीता में अजुन को निमित्त बना कर सबको दिया ह।

बहुत से लोगो को यह भ्रम ह कि जिस जगत के अस्तित्व को हम प्रत्यक्ष अनुभव

करते ह, वेदान्त उसको मिथ्या बताकर उसके व्यवहार त्यागने को कहता ह। परन्तु बात ऐसी नहीं ह। यह केवल समझने का अन्तर ह। वास्तव में न तो वेदान्त जगत के अस्तित्व को मिथ्या कहता ह और न उसके व्यवहार त्यागने ही का प्रतिपादन करता ह। इसके विपरीत वेदान्त तो यह कहता ह कि जगत का अस्तित्व बिलकुल सच्चा ह क्योकि असत वस्तु का तो भाव ही नहीं होता (गीता अ २ श्लोक १६), परन्तु जगत का अस्तित्व तो सबको प्रत्यक्ष प्रतीत होता ह, एव वह सबको अच्छा और प्यारा भी लगता ह, इसलिए अस्ति भाति प्रियरूप से अर्थात एकत्व भाव मे वह निस्सन्देह ही सत्य ह। वास्तव में वेदान्त इस प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले और प्यारे लगने वाले जगत के अस्तित्व को सच्चा मान कर ही सन्तोष नही करता, किन्तु वह अस्ति भाति प्रियरूप एक, अविनाशी नित्य और सत्य आत्मा (सबके अपने आप) से अभिन्न मानता ह और साथ ही साथ इसमें जो नाना भाति के अनन्त भेद और विचित्रताए दष्टिगोचर होती रहती ह, उनको वह उसी एक, सत चित आनन्दस्वरूप आत्मा के अनेक परिवतनशील नाम और रूपो का कल्पित बनाव सिद्ध करता ह। वेदान्त के अनुसार 'जगन्मिथ्या' का तात्पय इतना ही ह कि सबके अपने आप, सबके आत्मा-परमात्मा से भिन्न जगत का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं ह। दूसरे शब्दो में जगत आत्मा अथवा परमात्मा ही का विवत भाव* ह, अत वस्तुत वह परमात्मा स्वरूप ही ह। वह जसा हमारी स्थूल इन्द्रियो को भिन्न भिन्न प्रकार का—अनन्त प्रकार की उपाधियो एव द्वन्द्वो युक्त—प्रतीत होता ह, वास्तव में वसा नहीं ह। सूय हमारी आखो को एक थाली के आकार जितना ही दीखता ह, परन्तु वास्तव में उसका विस्तार बहुत ही बडा ह। इसी तरह दूर की सभी चीजे छोटी दिखाई देती ह और नजदीक की बडी। आखो के बिलकुल समीप सटा कर एक सलाई भी रख दी जाय तो वह पहाड जितनी बडी दीखने लगे। पृथ्वी हमको स्थिर दीखती ह, परन्तु वास्तव में वह चल रही ह। स्थूल इन्द्रियो से हमें पथ्वी चपटी दिखाई देती ह पर वास्तव में वह गोल ह। आकाश का रग हमें नीला दीखता ह, पर वास्तव में उसका कोई रग नहीं ह—इत्यादि। इन बातो से सिद्ध होता ह कि केवल स्थूल इन्द्रियो से पदार्थों का यथाथ ज्ञान नही होता। सात्विक बुद्धि से यथाथ ज्ञान हो सकता ह और सात्विक बुद्धि से विचार करने पर जगत के नानात्व का दश्य कल्पित और उसका एकत्व भाव यानी सत चित आनन्द आत्मा जो सबका अपना आप ह सच्चा सिद्ध होता ह।

अत जो वेदान्त जगत को सबका अपना आप यानी आत्मस्वरूप और उसकी

---

* जिसमें पदार्थ के रूपान्तर दिखाव नाना प्रकार के होते रह पर वह पदाथ ज्यो का त्यो बना रहे, उसम वस्तुत कोई परिवतन न हो वह विवत भाव कहा जाता ह—जिस तरह जल म तरग [illegible] न और सोने के [illegible]।

भिन्नताओ को सबके अपने आप, यानी एक ही आत्मा के नाना नामो और नाना रूपो का कल्पित बनाव मानता ह, वह उसके व्यवहारो को छडा ही कसे सकता ह ? भिन्नता के मिथ्या ज्ञानजन्य व्यवहार दु खदायक होते ह, इसलिए उन दु खदायक व्यवहारो को छोडने की प्रवत्ति अज्ञानी लोगो की स्वत ही होती ह, परन्तु वेदान्त तो एकता के सच्चे ज्ञान से समस्त दु खो के मूल कारण भिन्नता के मिथ्या ज्ञान ही को मिटाने द्वारा जगत के व्यवहारो की दु ख रूपता नष्ट करके उन्हे त्यागने की आवश्यकता ही नहीं रखता। जहा दूसरे मत और मजहब परमात्मा और जीवो का आपस में स्वामी सेवक और पिता-पुत्र का सम्बन्ध और जीव जीव का आपस में भाई भाई का सम्बन्ध बताते ह, वहा वेदान्त सबको एक ही आत्मा यानी अपने आपके ही अनेक रूप सिद्ध करके, ग्रहण और त्याग करने के लिए कुछ रखता ही नहीं। स्वामी-सेवक में और पिता-पुत्र में तथा भाई भाई में आपस में वमनस्य हो सकता ह और वे एक दूसरे से अलग भी होते ह, परन्तु जहाँ सब कुछ अपना आप ही होता ह वहा किसके साथ वमनस्य हो और कौन किससे अलग होवे अथवा कौन किसको त्यागे। वस्तुत जहा सब भिन्नताओ की एकता हो जाती ह, वहाँ फिर छोडने के लिए कुछ भी शष नहीं रहता और न त्याग कर कहीं जाने के लिए कोई जगह ही रहती ह। साराश यह कि भिन्नता को प्रतिक्षण परिवतनशील अत कल्पित तथा एकता को सच्ची जान कर उसके अनुसार, अर्थात सच्चे ज्ञान युक्त व्यवहार करने को वेदान्त कहता ह छोडन को नहा। दूसरो से पथक अपने व्यक्तित्व के अहकार और दूसरो से पथक अपन व्यक्तिगत स्वाथ की आसक्ति के कारण, लोग जो अपने को एक छोटी सी देह का पुतला मान कर उसके तुच्छ स्वार्थों ही में उलझ रहे ह, वेदान्त उनको उस न म मगणना की चारदीवारी से निकाल कर महान बनाता ह, एक छोटे से व्यक्ति से महान आत्मा—जगत का स्वामी बनाता ह, और तुच्छ स्वार्थों के बदले सारे जगत का स्वामित्व देता ह। वह जगत के व्यवहार छडाता नहीं, किन्तु एक दीन, हीन, तुच्छ कर्ता से, एक स्वतन्त्र परिपूण महाकर्ता बनाता ह। बूद से सागर बनाता ह। वेदान्त का यह अनूठा त्याग ह। ससार के व्यवहारो का छोडना तो [illegible]।

वेदान्त ने जगत की—आध्यात्मिक, आधिदविक और आधिभौतिक—नाना अवस्थाओ को आत्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति का बनाव बता कर, तीनो का समावेश एक में किया ह, और उन तीनो को यथातथ्य जान कर, जगत के व्यवहार करने की आवश्यकता मानी ह। इन तीनो अवस्थाओ के ज्ञान को क्रम से सात्विक, राजस और तामस ज्ञान कहा ह। पथक-पथक सब भूतो में एक, अव्यय, अविभक्त याना बिना बँटे हुए भाव को देखना सात्विक ज्ञान कहा ह (गी० अ० १८ श्लो० २०)। सब भूता में अनन्त प्रकार की भिन्नता को सच्ची मानने के ज्ञान को राजस और प्रत्येक पदाथ का स्थूल रूप ही सच्चा ह—इसके परे कुछ भी नहीं ह, ऐसे ज्ञान को तामस कहा ह (गी० अ० १८ श्लो० २१ २२)।

यद्यपि जगत् की भिन्नता मिथ्या होने के कारण भिन्नता के राजस-तामस ज्ञान को भी मिथ्या एवं एकता के सात्विक ज्ञान को यथार्थ ज्ञान माना है, तथापि त्रिगुणात्मक जगत् के व्यवहारों में इन तीनों की आवश्यकता मानी है; क्योंकि जगत् के नाना प्रकार के भौतिक पदार्थों के पृथक्-पृथक् द्रव्यगुणादिक तथा उन प्रत्येक के अन्दर रहने वाली अलग-अलग सूक्ष्म शक्तियों के ज्ञान के साथ-साथ उनके आपस के सम्बन्ध और एकत्व-भाव को जानने से ही सांसारिक व्यवहार ठीक-ठीक हो सकते हैं (ईशोपनिषद् मं० ९ से ११)। जगत् की अवस्था त्रिगुणात्मक होने के कारण उसके व्यवहार त्रिगुणात्मक होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। तमोगुण स्थूल जड़ात्मक है, रजोगुण रागात्मक और क्रियात्मक अर्थात् सारी हलचल का कारण है, और सत्वगुण बहुत सूक्ष्म और ज्ञानात्मक है। इन तीनों के अल्पाधिक सम्मिश्रण से ही जगत् का अस्तित्व है। परन्तु यह बात प्रत्यक्ष है कि स्थूल से सूक्ष्म ही अधिक सत्य, अधिक टिकाऊ और अधिक प्रामाणिक होता है। प्रत्येक वस्तु का सूक्ष्म सार ही उसका सत्व होता है। स्थूलता के मिट जाने पर भी सूक्ष्मता शेष रहती है। स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर सहित जीवात्मा जब तक रहता है, तभी तक वह जीवित रहता है और स्थूल शरीर के नाश होने पर भी सूक्ष्म शरीर शेष रह जाता है। सूक्ष्म शक्ति के बिना मोटा-ताजा स्थूल शरीर कुछ भी नहीं कर सकता, और उस सूक्ष्म शक्ति से भी सूक्ष्म आत्मबल के बिना स्थूल शरीर की सूक्ष्म शक्ति भी कुछ नहीं कर सकती। स्थूल (मोटे) विचारों की अपेक्षा सूक्ष्म (महीन) विचार अधिक सच्चे और अधिक मान्य होते हैं। जितना ही अधिक सूक्ष्मता से विचार किया जाता है, उतना ही अधिक सत्य के नजदीक पहुँचा जाता है। स्थूल बुद्धि के व्यक्ति धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में सूक्ष्म बुद्धि के व्यक्तियों के अनुयायी होते हैं। स्थूल पदार्थों से सूक्ष्म पदार्थ अधिक मूल्यवान् और ग्राह्य होते हैं। जितना ही अधिक सूक्ष्मता में बढ़ा जाता है, उतनी ही अधिक अनैक्य की एकता होती जाती है, और बढ़ते-बढ़ते जब अन्त में सब अनैक्य मिट कर केवल एक तत्त्व ही शेष रह जाता है, वही आत्मा अर्थात् सबका अपना आप=परमात्मा है। आत्मा—परमात्मा यानी सबका अपना आप सूक्ष्म का सूक्ष्म और सत्य का भी सत्य है। इस पूर्ण एकता के भाव पर लक्ष्य रखते हुए, जगत् के व्यवहार करने से सब प्रकार की सुख-समृद्धि अर्थात् शान्ति, पुष्टि और तुष्टि विद्यमान रहती है।

इस पूर्ण शान्ति, पुष्टि और तुष्टि, अर्थात् निरंकुश, निरतिशय, सच्चे और अक्षय सुख की खोज में ही भौतिक पदार्थ-विज्ञान के पण्डित लोगों ने, स्थूल भौतिक पदार्थों की छानबीन करते हुए जगत् की अनन्त प्रकार की भिन्नताओं का एकीकरण करके गिनती के थोड़े से मूल तत्त्वों में समावेश कर दिया; परन्तु आधिभौतिकता ही को सब कुछ मानने के कारण उनको पूर्ण सफलता मिलना अशक्य है। इनसे दूसरे नम्बर पर धार्मिक सम्प्रदायों के प्रवर्तकों ने उक्त सच्चे और अक्षय सुख की तलाश में स्थूलता से परे, सूक्ष्मता में प्रवेश

करने का यत्न किया। वे लोग भौतिकता से तो आगे बढे, परन्तु आधिदैविकता तक पहुच कर ही रह गये, अर्थात उन लोगो ने स्थूल जगत के नानात्व को नाशवान अत मिथ्या मान कर भी, इसमे सूक्ष्म रूप से रहने वाले भिन्न भिन्न जीवात्माओ तथा भिन्न भिन्न देवताओ और उन सबके ऊपर एक ईश्वर को अलग मान कर उसकी कृपा से जीवो को मरने के बाद परलोक मे स्वर्गादि सुख अथवा मोक्ष प्राप्त होना ही सबसे अन्तिम ध्येय एव पुरुषार्थ की परमावधि का सिद्धान्त निश्चित कर लिया। अपनी बुद्धि जहा तक पहुच सकी, अथवा अपने अनुयायियो के समझने की जितनी योग्यता प्रतीत हुई, एव जैसी परिस्थिति देखी उसके अनुसार, भिन्न भिन्न सम्प्रदायो के प्रवर्तको ने समय-समय पर इसी सिद्धान्त के आधार पर भिन्न भिन्न मत प्रचलित कर दिये और उनसे परे अधिक कुछ भी नहीं है यह निश्चय करके वहीं तक रह गये। यद्यपि ये लोग स्थूलता से आगे बढ कर कुछ हद तक सूक्ष्मता मे पहुचे तो सही परन्तु अनेकता यानी नानात्व के भाव ज्यो के त्यो कायम रखने के कारण, सबकी एकता के सच्चे सिद्धान्त तक ये नही पहुचे, इसलिये सच्ची शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति में ये भी असमर्थ ही रहे।

इनके अतिरिक्त तर्क-बुद्धि से विचार करने वाले दार्शनिक लोगो ने इस विषय का अनुसन्धान किया। उनमे नास्तिको और वैज्ञानिको (बौद्धो) के मत बडे मार्के के है, क्योकि उन्होने अन्ध-श्रद्धा के बदले विचार स्वतन्त्रता को बहुत महत्व दिया है। इसलिए नास्तिको के मत को बृहस्पति (बुद्धि के देवता) का मत कहते है, और वैज्ञानिको का मत बौद्ध मत कहलाता है। परन्तु वे लोग भी स्थूल आधिभौतिक तथा सूक्ष्म आधिदैविक विचारो तक ही रह गये, मगर ।ि न ग ग ाम ा ा नहा माना ार न नानात्व का एकत्व ही कर सके। नानात्व का एकत्व करने मे न्याय, वैशेषिक, योग, और सबसे अधिक साख्य ने काम किया, अर्थात स्थूल एव सूक्ष्म भावो के अनन्त नानात्व का उत्तरोत्तर एकीकरण करते हुए, उन्होने सबका समावेश थोडे से मूल तत्त्वो मे ही कर दिया, यहा तक कि साख्य ने प्रकृति और पुरुष—केवल दो ही तत्त्व शेष रक्खे। वेदान्त ने इन सबसे आगे बढकर प्रकृति पुरुष का भी एकीकरण करके एक आत्म-तत्त्व मे सबका समावेश कर दिया, जो सबका अपना आप है। मानवीय तत्त्वज्ञान इस पराकाष्ठा तक पहुच कर रुक गया। यही ज्ञान का अन्त होता है, इसी से इसका नाम वेदान्त है।

सूक्ष्मता जितनी अधिक होती है उतना ही अधिक उसका विस्तार होता है, उतनी ही अधिक वह व्यापक होती है, और उतनी ही अधिक वह सत्य होती है, और आत्मा, जो सबका वास्तविक अपना आप है, वह सब सूक्ष्मो का सूक्ष्म और सबका सार होने के कारण सर्व-व्यापक एव सर्व सत्य है, उसकी सत्ता अत्यन्त सूक्ष्म रूप से सब जगत में ओतप्रोत है। उसकी सत्ता ही से जगत की सत्ता है, उसकी सत्ता बिना जगत का अस्तित्व ही नहीं रहता। साराश यह कि जगत आत्म-स्वरूप सबका अपना आप है। यही अन्तिम सिद्धान्त है।

यद्यपि वेदान्त सबसे आगे इतना बढा हुआ ह कि जिससे आगे कुछ शेष नहीं रहता, तथापि वह किसी भी दशन, अथवा पदाथ विज्ञान आदि का तिरस्कार नहीं करता, चाहे वे किसी भी समाज या किसी भी देश विशेष के क्यो न हो, उन सबका उसमे समावेश हो जाता ह, क्योकि उसमें भिन्नता कुछ ह ही नहीं। सब दशनो एव भौतिक विज्ञान का भी समावेश करता ह ा वह आगे बढता जाता ह। वह इनको अपना सहायक मानता ह, क्योकि प्रत्येक ने स्थूलता से सूक्ष्मता मे और नानात्व के भावो को समेट कर एकता में पहुचने का कुछ न कुछ काय करके वेदात का काय बहुत हल्का कर दिया, अर्थात अतिम मजिल के पहले की सब मजिले उत्तरोत्तर तय करके, उन्होने वेदात के लिए केवल अतिम मजिल ही शेष रक्खी। अत जिसने जितना काय किया और जिसकी जिस हद तक पहुच हुई, उसको स्वीकार करता हुआ वह प्रत्येक से कहता ह कि 'यही मत ठहरो, आगे बढते चलो इतना ही सब कुछ नही ह, यही अन्तिम लक्ष्य नही ह, इससे और आगे बढने की आवश्यकता ह" ऐसा सकेत करता हुआ वह अतिम लक्ष्य अर्थात वास्तविक स्थिति को स्पष्ट कर देता ह।

कई लोग शास्त्रीय पद्धति से एकता के ज्ञान को व्यवहार का विरोधी बताते ह। उनका कहना ह कि जगत और उसके व्यवहार अविद्या के काय ह अत वे अधकार रूप ह, और एकता का ज्ञान प्रकाश रूप ह, तथा अधकार और प्रकाश का विरोध होने के कारण ज्ञानयुक्त व्यवहार हो नहीं सकते, इसलिए आत्मज्ञानी के सासारिक व्यवहार छूट जाते ह, यह सिद्धान्त निवृत्तिमाग की पुष्टि के लिए बनाया गया ह। परतु वास्तव में यदि विचार कर देखा जाय तो यह सिद्धात टिक नहीं सकता क्योकि जगत और उसका व्यवहार अविद्या का काय नहीं ह। यदि जगत और उसके व्यवहार को अविद्या ही का काय मानें तो उसके कारण, उसके रचने वाले—मायाविशिष्ट परमात्मा को अज्ञानी अथवा अविद्या ग्रस्त मानना पडेगा, परन्तु परमात्मा को अज्ञानी बताने का साहस कोई आस्तिक नहीं कर सकता। परमात्मा अपनी इच्छा से, । अर्थात ज्ञानसहित, सष्टि रचता ह (जगत रूप होता ह), और ज्ञानसहित ही उसके धारण पोषण और सहार के व्यापार करता ह, यह प्राय सभी आस्तिक मानते ह। यदि दार्शनिक रीति से विचार किया जाय तो जगत् आत्मा के सकल्प का खल ह, और आत्मा ज्ञान-स्वरूप ह, इसलिए जगत अविद्या का काय नहीं हो सकता। इसके सिवाय अवतारो तथा आत्मज्ञानी महापुरुषो का कोई भी व्यवहार अज्ञानयुक्त नही होता, किन्तु उनके सभी व्यवहार सव भूतात्मक्य ज्ञानयुक्त होते ह। इससे स्पष्ट ह कि जगत और उसके व्यवहार अविद्या के काय नही ह। हा, आत्म ज्ञानरहित व्यवहार करना, अथवा न करना (त्यागना) दोनो ही अविद्या यानी अज्ञान ह, परतु सव भूतात्मक्य ज्ञानयक्त व्यवहार करना कदापि अविद्या नही ह। अब रही अज्ञान और ज्ञान, अथवा अधकार और प्रकाश के विरोध की बात, सो वास्तव में इनका विरोध नहीं ह। क्योकि ज्ञान का अभाव अज्ञान नही ह किन्तु अयथाथ ज्ञान, अर्थात अपने आपको

आर जगन का यथाथ रूप से न जान कर अ यथा जानना ही अज्ञान ह। इसी तरह प्रकाश का अभाव अ धकार नहीं ह, किन्तु प्रकाश का आवरण अ धकार ह। अ धकार और प्रकाश, इसी तरह अज्ञान और ज्ञान दोनो सापेक्ष ह। एक की सिद्धि के लिए दूसरे का होना आवश्यक ह। ससार मे सभी पदाथ एक दूसरे के उपकारी उपकाय अर्थात अन्योन्याश्रित ह। इसलिए ये विरोधी प्रतीत होने वाले द्व द्व वास्तव मे एक दूसरे के साधक ह, बाधक नहीं। अत प्रकाश अ धकार का नाशक नहीं कि तु उसका प्रकाशक ह। तात्पय यह कि ज्ञान, ससार के व्यवहारो का बाधक नही, किन्तु उन पर प्रकाश डालता ह। जिस तरह अ धकार के प्रकाशित होने से उससे कोई अनथ नही होता, उसी तरह अयथाथ ज्ञान पर यथाथ ज्ञान का प्रकाश पडने से विपरीत कम नहीं बनते, प्रत्युत उससे यवहार सुधरते ह। सच्चे झूठे, अच्छे, बुरे, उचित, अनुचित आदि का निणय सत्य ज्ञान ही से होता ह, अत सत्य ज्ञानयुक्त यवहार करने ही से यथाथ यवहार सिद्ध होता ह, और उसी से सब प्रकार का सच्चा एव अक्षय सुख प्राप्त होता ह (शापनिग म० ११)।

सत्वगुण की प्रधानता से (यथाथ) ान ह ा (ा अ० १४ श्लो० ११), रजोगुण की प्रधानता से विविध प्रकार के यवहार होते ह (गी० अ० १४ श्लो० १२) और तमोगुण की प्रधानता से अयथाथ ज्ञान अर्थात अज्ञान हाता ह (गी० अ० १४ श्लो० १३), अत तमोगुण अविद्यारूप ह और जिस जगत तथा जिस शरीर में स्थित होकर हम ान ना का विचार करते ह, वह इन ता ा णा न नारनम्य का बनाव ह, अत शरीर के और जगत के रहते इन तीनो गुणो का तारतम्य उसके साथ बना रहना अनिवाय ह (गी० अ० १८ श्लो० ४०)। कभी सत्वगुण की कभी रजोगुण की और कभी तमोगुण की प्रधानता होती रहती ह (गी०अ० १४ श्लो० १०) किसी एक का भी सवथा अभाव कभी हो नहीं सकना। इससे स्पष्ट ह कि इनका आपस में विरोध नहीं ह, किन्तु ये एक दूसरे के सहायक ह। आत्मज्ञानी के शरीर में यद्यपि तीनो गुण रहते ह, पर तु सत्वगण की प्रधानता रहती ह अत वह तीनो गणो का नियन्ता अर्थात स्वामी होता ह। वह यथाथ ज्ञान द्वारा सवभूतात्मक्य भाव से जगत के यवहार करता ह और स्वत त्रतापूवक तीनो गणो का यथायोग्य उपयोग करता हुआ भी उनम आसक्ति नहीं रखता। ना ा ा उसको कुछ भी बाधा नहीं देते और न वह उनको त्याग देने ही की इच्छा करता ह (गी० अ० १४ श्लो० २२ २३ और ईशोपनिषद म० ६ ७)।

बहुतो को यह भ्रम ह कि व्यवहार तो भिन्नता को सच्ची मानने से ही सिद्ध होता ह, एकता होने पर यवहार बन ही नहीं सकता। एक से दूसरी वस्तु होती ह तभी व्यवहार होता ह। मनुष्य और पशु, भले और बुरे आदि की भिन्नताएँ न मान कर यदि एकता ही मान ली जाय तो क्या उन सबके साथ एक-सा वर्ताव बन सकेगा ? और क्या इस तरह एकाकार करना ठीक होगा ? स्त्री और पुरुष, माता और पत्नी आदि के साथ एक-से

व्यवहार की अनुपयुक्तता के उदाहरण देकर, ये लोग एकता के ज्ञान को व्यवहार का विरोधी सिद्ध करते हैं। इस विषय में वेदान्त दावे के साथ कहता है कि व्यवहार एक दूसरे के साथ सहयोग और एकता होने से ही बनता है और भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले पदार्थों के साथ अपनी एकता के ज्ञान-युक्त व्यवहार करने से, व्यवहार कदापि बिगड़ नहीं सकता, किन्तु भिन्नता को सच्ची मान कर व्यवहार करने से ही वह बिगड़ता है (बृहदा० उ० अ० २ ब्रा० ४ मं० ६)। जो जैसा है उसको वैसा ही जान कर आचरण करने से व्यवहार सुधरता है, अन्यथा जान कर व्यवहार करने से यह अवश्य बिगड़ता है। जिस तरह झूठे को सच्चा और सच्चे को झूठा मान कर, उस मिथ्या ज्ञान के आधार पर व्यवहार करने से बहुत हानि उठानी पड़ती है, उसी तरह अनेकता के मिथ्या ज्ञान से मोह उत्पन्न होता है और एक दूसरे के साथ राग, द्वेष, ईर्ष्या, तिरस्कार, अभिमान आदि अनेक प्रकार के हानिकारक भाव उत्पन्न होते हैं, जिनसे व्यवहार बिगड़ता है। उदाहरणार्थ, (१) बरफ के टुकड़े को वस्तुतः पानी जानते हुए उसका उपयोग किया जायगा, तभी उसका यथार्थ उपयोग होगा, यदि पानी से भिन्न उसको पत्थर जान कर दीवार में चुन दिया जायगा, अथवा हीरा जान कर तिजोरी में बंद कर दिया जायगा, तो थोड़े ही समय में वह पानी होकर सबको बिगाड़ देगा। (२) मिट्टी के बर्तनों को मिट्टी समझते हुए, उनसे यथायोग्य काम लिया जायगा, तो वे ठीक काम देंगे, परन्तु यदि उनको सोना समझ कर तिजोरियों में बंद रखने का प्रयत्न किया जायगा, तो उनका यथार्थ उपयोग न हो सकेगा। (३) सोने के आभूषणों को सोना समझ कर यथास्थान पहिनेंगे तो वे शरीर की शोभा बढ़ावेंगे, परन्तु उनको मिट्टी समझ कर अरक्षित दशा में छोड़ दिया जायगा तो चोर-उचक्के उठा ले जायँगे। (४) घोड़ा पशु का ही एक भेद है, यदि पशुभाव की एकत्व-दृष्टि छोड़ कर घोड़ाभाव भी भेद-दृष्टि में ही आसक्ति रक्खी जायगी, तो उसके साथ पशूचित व्यवहार न होकर, या तो जड़-पाषाण, वनस्पति आदि के उपयुक्त व्यवहार होने से उस पर निर्दयता होगी, अथवा मनुष्यादि उच्च कोटि के प्राणियों के योग्य व्यवहार किया जायेगा, तो तबेलों में बाँधने के बदले उसे कमरों में रक्खा जायगा, घास के स्थान में रोटी आदि खिलाई जायगी, और सवारी के स्थान में उससे मानवीय काम लिया जायगा; ऐसा करने से व्यवहार अवश्य ही बिगड़ेगा। (५) पुरुष या स्त्री के साथ पुरुष अथवा स्त्री का भाव छोड़ कर केवल वर्ण, नाम अथवा आपस के सम्बन्ध आदि की भेद-दृष्टि से ही व्यवहार किया जायगा, तो उससे भी उपरोक्त प्रकार से ही व्यवहार बिगड़ेगा। (६) भले अथवा बुरे व्यक्ति के साथ उसके मनुष्यपन के ज्ञान बिना केवल भलाई अथवा बुराई के ही विचार से व्यवहार किया जायगा, तो अनर्थ होगा; क्योंकि भलाई अथवा बुराई कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। अनुकूलता भलाई है और प्रतिकूलता बुराई। अनुकूलता-प्रतिकूलता जड़ पदार्थों में, पशुओं में और दैवी शक्तियों में भी होती है। अतः भलाई अथवा बुराई किसके आश्रय में है; उसका भी ज्ञान होना चाहिए।

यदि ऐसा न होगा तो विपरीत बर्ताव होकर व्यवहार बिगड़गा। (७) माता को सचेतन स्त्री न जान कर केवल उसमें माता के सम्बन्ध ही की आसक्ति रक्खी जायगी तो मोह के वश उसके साथ सचेतन स्त्रियोचित व्यवहार न होकर किसी जड पदार्थ अथवा पश आदि की तरह व्यवहार हो जायगा, जिससे उसको बहुत कष्ट होगा। (८) इसी तरह पत्नी से भी यदि सचेतन स्त्रियोचित व्यवहार न होकर किसी जड पदार्थ अथवा पश की तरह व्यवहार हो जायगा तो उसको बहुत कष्ट होगा, जसे कि अज्ञानी बालक अपनी माताओ को मूर्ख माताए सन्तानो को, पति पत्नी को और पत्नी पति को उनके स्थूल शरीरो के मोहवश कष्ट दिया करते ह वही हाल होगा। माता अथवा पत्नी के एकत्व भाव =स्त्रीपन की अपेक्षा उनके साथ के सम्बन्ध अर्थात मातापन अथवा पत्नीपन की भिन्नता का भाव अस्थायी और सकुचित ह। जो एक की माता होती ह, वह दूसरे की पुत्री, बहिन या पत्नी होती ह, और जो एक की पत्नी होती ह, वह दूसरे की माता, पुत्री या बहिन होती ह परन्तु स्त्रीपन का सम्बन्ध सबके साथ एक समान होता ह, अत वह अधिक व्यापक और स्थायी ह। भले-बुरेपन की अपेक्षा मनुष्यपन अधिक स्थायी और व्यापक ह। मनुष्य में भलाई अथवा बुराई आगन्तुक होती ह, वे बदल सकती ह, परन्तु मनुष्यत्व बना रहता ह। इसी तरह घोडे म घोडेपन की अपेक्षा पशुपन अधिक व्यापक और अधिक स्थायी ह। कही पर घोडे से सवारी का काम लिया जाता ह, कहीं बोझा ढोने का, कहीं हलो में जोतने का, और कही सकसो में खेल दिखाने का, इत्यादि पशु से भिन्न पाषाण, वनस्पति अथवा मनुष्य का काम उससे नही लिया जा सकता, सब दशाओ में उसका पशुपन बना ही रहता ह।

अब इससे आगे बढ कर मनुष्य, स्त्री, पशु आदि के स्थायीपन और सत्यता पर गहरा विचार किया जाय तो आत्मा की दृष्टि से वे भी सब अस्थायी और कल्पित सिद्ध होते ह क्योकि वे सब बनने बिगडने वाले और क्षण क्षण में बदलने वाले ह, और यही दशा व्यवहार करने वाले के शरीर और व्यवहार की ह। इन सबम सदा एकसा रहने वाला एकत्व भाव, अर्थात अग्नि भानि प्रिय[illegible] आत्मा ही सत्य ह। अतएव अपने तथा दूसरो यानी समस्त जगत के अन्दर एक आत्म तत्त्व को सत्य मानते हुए, और नाना प्रकार की भिन्नताओ का उस एक ही [illegible] नामो का कल्पित बनाव समझते हुए अपने तथा दूसरे के शरीर की योग्यता और गुणो के तारतम्य के अनुसार, और आपस के सम्बन्ध के उपयुक्त परस्पर में व्यवहार करना—यही एकता एव समता का व्यवहार ह। श्रेष्ठ और दुष्ट, मनुष्य और पशु आदि को अपने से अभिन्न आत्मरूप समझते हुए, अपने नाम-रूपात्मक शरीर और उनके नाम-रूपात्मक शरीरो के गुणो के उपयुक्त और उनसे अपने सम्बन्ध के अनुसार व्यवहार करना चाहिए। इसी तरह माता और पत्नी को अपने से अभिन्न आत्मरूप समझते हुए, उनके तथा अपने नाम रूपात्मक शरीरो, तथा आपस के

कल्पित सम्बन्धों के अनुसार व्यवहार करना चाहिए। जिस शरीर की जिस अवस्था और जिस स्थिति में जैसी योग्यता हो, उसी के अनुसार व्यवहार करना चाहिए। यदि गृहस्थाश्रम में रह कर उपरोक्त सिद्धान्तों के अनुसार व्यवहार करने की योग्यता हो तो वैसा करे; और यदि गृहस्थाश्रम से अलग रह कर उपरोक्त सिद्धान्तों के अनुसार व्यवहार करने की योग्यता हो तो वैसा करे; परन्तु एकता की सत्यता और भिन्नता के भावों के मिथ्यापन को कभी नहीं भूलना चाहिए। नाटक के पात्र (Actors) लोग भिन्न-भिन्न स्वांगों के अनुसार आपस में यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी यह बात एक क्षण के लिए भी नहीं भूलते कि वे सब एक ही मण्डली के सदस्य हैं। वे इस एकता को सच्ची और स्वाँगों की भिन्नता के दिखावटी व्यवहारों को मिथ्या समझते हैं। कचहरियों में दो वकील मित्र एक मुकदमे में प्रतिद्वन्द्विता से लड़ते हैं, परन्तु आपस की मित्रता ज्यों की त्यों कायम रहती है। मुक़दमे के अवसर पर लड़ने की भिन्नता को वे मिथ्या जानते हैं। शरीर के पृथक्-पृथक् अंङ्गों को एक ही शरीर के अनेक अवयव जानते हुए उनके द्वारा यथा-योग्य आचरण करने ही से शरीर का व्यवहार ठीक-ठीक चल सकता है। इसी तरह जगत् की सम्पूर्ण भिन्नताओं में एकता का ज्ञान रखते हुए, उन प्रत्येक के उपयुक्त सांसारिक व्यवहार करना, यही व्यावहारिक वेदान्त है। इसी का आचरण करने वाले पूर्व काल में सब प्रकार से उन्नत हुए हैं और वर्तमान में भी जो लोग थोड़ा या बहुत इसका आचरण करते हैं, वे उस आचरण के अनुसार, थोड़े या बहुत उन्नत होते हैं।

इस विषय में यह आशंका बिलकुल ही न रहनी चाहिए कि सबके साथ पूर्ण एकता के व्यवहार बिना सच्चा सुख हो नहीं सकता, और इस तरह पूर्ण एकता का व्यवहार कर सकना, साधारण व्यक्ति के लिए सर्वथा अशक्य है, इसलिए यह प्रयत्न निष्फल है। व्यावहारिक वेदान्त का आचरण दूसरे कर्मकाण्डों अथवा क्रियाओं की तरह नहीं है कि जिसकी पूर्णता होने से ही निर्दिष्ट फल होता हो। इसमें यही तो विशेषता है कि जितना इसका आचरण किया जाय, उतना ही सुख उसी समय प्रत्यक्ष रूप में होता है, अर्थात् जितने अधिक लोगों के साथ जितने दर्जे की एकता के भाव से बर्ताव किया जाता है, उतनी ही अधिक शान्ति, पुष्टि और तुष्टि तत्काल ही प्राप्त होती है। इसके थोड़े आचरण से थोड़ी और अधिक से अधिक, और पूर्ण रूप से इसका आचरण करने से पूर्ण शान्ति, पुष्टि और तुष्टि प्राप्त होती है। तात्पर्य यह कि इसका थोड़ा भी आचरण निरर्थक नहीं जाता; और न इसमें कोई ऐसी कठिन विधि है कि जिसके बिगड़ जाने से विपरीत परिणाम हो (गी०अ०२ श्लो०४०)। इसका आचरण करने वाला यदि एक जन्म में पूर्णता तक नहीं पहुँचे, तो आगे के जन्मों में क्रमशः उन्नति करता हुआ पूर्णता, अर्थात् "वसुधैव कुटुम्बकम्" की स्थिति में पहुँच जाता है (गी० अ० ६ श्लो० ४३ से ४५)। सारांश यह कि इसका आचरण करने वाला उत्तरोत्तर उन्नति करता रहता है, पीछे गिरता नहीं।

गीता के व्यावहारिक अर्थ की भूमिका

किसी भी ग्रन्थ के सच्चे तात्पय का निणय करने के लिए यह देखना चाहिए कि (१) उसकी विशेषताए क्या ह ? (२) उसके आरम्भ और समाप्ति में क्या कहा गया ह ? (३) उसमें किस विषय का सयुक्तिक प्रतिपादन ह ? (४) उसमें किस विषय का बार-बार समथन एव पुनरावत्ति ह ? (५) उसमें किस विषय के गुण प्रदशन एव प्रशसा ह और (६) उसका परिणाम क्या निकला ? इन साधनो से ग्रन्थ की परीक्षा करके उसमें कथित सभी बातो को लेकर उनकी आपस में सगति करके, पक्षपात रहित होकर ग्रन्थ का तात्पय निणय करना चाहिए। यदि अपना मत पहले स्थिर कर लिया जाय और फिर उसकी पुष्टि किसी ग्रन्थ से करने के लिए, उपरोक्त साधनो की अवहेलना करके, उसमें वर्णित जो बातें अपने मत के अनुकूल न पडें उन्हे छोडकर, जो बातें अपने मत के अनकूल हो, केवल उन्हीं को ग्रहण किया जाय तो उस ग्रन्थ के तात्पय का यथाथ निणय नहीं हो सकता।

उपरोक्त पद्धति से श्रीमदभगवदगीता के तात्पय के विषय में विचार करने पर निम्नलिखित तथ्य ऐसे उपलब्ध होते ह कि जिनसे इसका 'व्यावहारिक अथ" स्वत ही प्रतिपन्न होता ह और उक्त अथ की प्रामाणिक्ना में कोई सन्देह नहीं रहता। अत गीता का सच्चा तात्पय समझने के लिए, इसके प्रत्येक श्लोक के अथ पर विचार करते समय इन तथ्यो पर अवश्य ही ध्यान रखना चाहिए। इन पर समुचित ध्यान न रखने से ही इसके अथ में इतनी असम्बद्धता तथा अव्यावहारिक्ना का घोटाला हो गया ह कि कई लोग उसको कोरा कल्पित सिद्धान्त (Theory) अथवा अव्यावहारिक आदशवाद (Impracticable Idealism) ही समझने लगे ह, और व्यवहार में इसके सिद्धान्तो का उपयोग लुप्त प्राय हो गया ह, जिससे जनता की अकथनीय हानियाँ हुई ह।

(१) गीता के उपदेशकर्ता महायोगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने स्वय गीता में प्राय सवत्र ही अपना सर्वात्मभाव घोषित किया ह, अर्थात अपनी सवव्यापकता, सवज्ञता, एकता, नित्यता एव समता आदि परमात्म भाव की स्थिति में यह उपदेश देना सूचित किया ह, और उक्त उपदेश को अत्यन्त प्राचीन, गहन, अविनाशी, मनुष्य (स्त्री पुरुष) मात्र के लिए एक समान उपयोगी एव एक समान हितकर राज विद्या बताया ह, और साथ ही कर्मो की अपेक्षा बुद्धि की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करके, बुद्धियोग अर्थात प्रत्येक विषय म बुद्धि से काम लेने पर बार-बार जोर दिया ह, यहाँ तक कि अपने इस उपदेश पर भी अच्छी तरह विचार करके काय करने को कहा ह (गीता अ० १८ श्लो० ६३)।

इन बातो से स्पष्ट ह कि गीता केवल श्रीकृष्ण और अजुन का व्यक्तिगत सम्वाद मात्र ही नहीं ह, न यह किसी देश विशेष, काल विशेष जाति विशेष एव व्यक्ति विशेष के लिए ही परिमित ह, और न यह किसी काय विशेष की सिद्धि, अथवा किसी सम्प्रदाय विशेष की स्थापना एव उसके प्रचार के उद्देश्य से ही कही गई ह, कि तु यह दि य उपदेश, सर्वात्मभावापन्न महान आ मा=परमात्मा ने, देश भेद, काल-भेद, जाति भेद, लिग भेद, धम भेद सम्प्रदाय भेद, वण भेद, आश्रम भेद, अवस्था भेद, कम भेद, पद भेद आदि किसी भी प्रकार के भेद, बिना मनुष्य (स्त्री-पुरुष) मात्र के हित, अर्थात उनके वतमान एव भविष्य के कल्याण के लिए दिया ह। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए गीता के श्लोको का अथ गम्भीर गवेषणापूवक अत्यन्त सूक्ष्म एव गहरे विचार से—जहा तक बुद्धि पहुच सक—अधिक से अधिक उदार, अधिक से अधिक यापक और अधिक से अधिक विस्तृत करना चाहिए।

अत भगवान ने इसमें अपने लिए जो 'अह, माम मया, मे, मत, मम मयि" आदि उत्तम पुरुष (first person) वाचक सवनामो का प्रयोग किया ह, उनको केवल श्रीकृष्ण महाराज के विशेष व्यक्तित्व (व्यष्टि भाव) के लिए ही नहीं समझना चाहिए, कि तु वे सवनाम उनके यष्टि समष्टि-सयुक्तभाव अर्थात सबके "अपने वास्तविक आप (self) " के लिए प्रयुक्त हुए समझना चाहिए। इसी तरह अजन के लिए भिन्न भिन्न नामो एव विशेषणो युक्त जो सम्बोधन ह, उ हें प्रत्येक यक्ति के व्यष्टि भाव के लिए समझना चाहिए। दूसरे श दो में गीता का उपदेश प्रत्येक मनुष्य (स्त्री पुरुष) मात्र के लिए, समष्टिआत्मा=परमात्मा का दिया हुआ समझना चाहिए।

उपरोक्त विशेषताओ के अतिरिक्त गीता में एक यह भी विशेषता ह कि भग वान कृष्ण के वाक्यो में जो कुछ कहा गया ह, सब यथाथ कथन ह। अतिशयोक्ति, मिथ्या प्रशसा अथवा मिथ्या नि दा, अथवा कपोल कल्पित अ यावहारिक एव असम्बद्ध विषयो का वणन इसमें बिलकुल नहीं ह। यदि ऐसा होता तो महाभारत काल से लेकर अब तक, सारे भूमण्डल के विचारशील लोगो में इसका इतना आदर कदापि न होता, और दाशनिक आय सस्कृति के अनुयायी लोगो की इस पर इतनी श्रद्धा नहीं रहती।

(२) महाभारत के भूमण्डल यापी महायुद्ध के आरम्भ में, शस्त्र चलने की तयारी के समय, कमवीर अजुन, हृदय की दुबलता के वश, अपने और अपने सम्ब धियो के व्यक्तिगत स्वार्थों के मोह, तथा मरने मारने के शोक एव पाप के भय से किकत्तव्य विमूढ़ हो गया और घबरा कर अपने [illegible] सासारिक यवहार से खिन्न, तथा अत्य त दीन दुखी होकर भगवान श्रीकृष्ण से पूछने लगा कि "इस विकट परिस्थिति में मेरे लिए जो श्रेयस्कर हो सो बताइए।" तब भगवान ने उस प्रसग को लेकर

गीता का उपदेश दिया जिसमें अजुन को लक्ष्य करके सब लोगो को आत्म ज्ञानयुक्त सासारिक व्यवहार करने की व्यवस्था दी। मनुष्य समाज की सुव्यवस्था के लिए, अर्थात मनुष्य जगत का व्यवहार ठीक ठीक चलाने के लिए, चार प्रकार के मुख्य कर्मों, अर्थात शिक्षा, रक्षा, व्यवसाय और सेवा की व्यवस्था आवश्यक होने के कारण, समाज को गुण कर्मानुसार चार वर्णों में विभक्त करके प्रत्येक व्यक्ति के अपने अपने स्वाभाविक गुणो के अनुसार, अपने-अपने कर्तव्य कर्म अर्थात अपना अपनी योग्यतानुसार अपने अपने हिस्से के सासारिक व्यवहार, सबके साथ एकता के प्रेमयुक्त—कर्मो के स्वामी भाव से—स्वतन्त्रतापूर्वक करने का उपदेश भगवान ने दिया, और इसी विषय का सयुक्तिक प्रतिपादन तथा बार बार समर्थन एव उसके गुणो के प्रदर्शनसहित प्रशसा, अनेक प्रकार से सारी गीता मे करके यही आचरण सबके लिए परम श्रेयस्कर यानी इस लोक और परलोक, दोनो मे कल्याणकर बताया, और उसके परिणाम-स्वरूप अर्जुन ने उसी समय उसके अनुसार आचरण करना स्वीकार किया। इससे स्पष्ट है कि उपरोक्त आत्मज्ञानयुक्त सासारिक व्यवहार करने का विधान अर्थात 'व्यावहारिक वेदान्त' ही गीता का मूल प्रतिपाद्य विषय है और उसी की व्यवस्था करने के लिए, उसके सब अगो का निरूपण, प्रसगानुसार इसमें यथास्थान किया गया है। मूल विषय मे उन अगभूत विषयो के समावेश का स्पष्टीकरण आगे किया जायगा।

यह बात ध्यान में रखने की है कि उन अगभूत विषयो का निरूपण, उक्त मूल प्रतिपाद्य विषय के अन्तर्गत—उसकी व्यवस्था करने के लिए किया गया है, न कि उनकी स्वतन्त्र कर्तव्यता के विधान के लिए। यदि उनकी स्वतन्त्र कर्तव्यता का विधान किया जाता तो असगति अव्यावहारिकता असम्बद्धता आदि दोष आते, परन्तु सर्वात्मभावापन्न भगवान श्रीकृष्ण के कहे हुए गीता जैसे सर्वमान्य, सार्वजनिक, सत्य एव व्यावहारिक शास्त्र में यह दोष रह ही कैसे सकते है ?

(३) आत्मज्ञान विहीन सासारिक व्यवहारो में व्यक्तित्व के भाव की अत्यन्त आसक्ति रहती है, जिससे व्यक्तिगत हानि लाभ सुख दु ख एव सयोग वियोग आदि का शोक हुए बिना नहीं रहता, तथा अपने शरीर को कष्ट होने अथवा मरने का मोह एव दूसरो को कष्ट देने अथवा मारने के पापो का फल—इसी जन्म में अथवा परलोक में—भोगने का भय भी रहता है। इस तरह के शोक, मोह और भय के कारण सासारिक व्यवहार बिगडने के अतिरिक्त, व्यवहार करने वाले का जीवन भी व्यर्थ ही नष्ट होता है और उसकी बडी दुर्दशा होती है। अर्जुन को भी इसी तरह का शोक, मोह और भय हुआ था, और साधारणतया अन्य कार्यकर्ताओ को भी हुआ करता है। इसलिए भगवान् ने अपने उपदेश के आरम्भ से लेकर अन्त तक, आत्मज्ञान और उसके महत्त्व का निरूपण प्रसगानुसार प्राय सर्वत्र ही किया है अर्थात यह प्रतिपादन किया है कि

एक ही अज अविनाशी नित्य, सनातन, निर्विकार सच्चिदानन्द आत्मा जो सबका असली अपना आप ह और जो सब भूत प्राणिया म एक समान यापक ह—वही सत्य ह, और जो नाना भाति के जगत के बनाव और शरीर ह, वे उस एक ही आत्मा के अनन्त कल्पित रूपो और नामो का खेल ह, ओर वह खेल प्रतिक्षण परिवतनशील एव उत्पत्ति-नाशवान होने के कारण असत्य ह तथा सुख दु ख, हानि-लाभ, सयोग वियोग आदि द्वन्द्व भी इस खेल के अन्तगत होने के कारण परिवतनशील एव आने जाने वाले तथा सापेक्ष ह, अत वे भी असत्य ह और सबके एकत्व भाव—आत्मा मे वे सब सम हो जाते ह अर्थात उनका अभाव हो जाता ह। इसलिए पथकता के मिथ्या भावो के कारण प्रतीत होने वाले सुख दु ख, हानि लाभ, सयोग वियोग, अनकूलता प्रतिकूलता मान-अपमान निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वो से विचलित न होकर सबकी एकता के ज्ञानयक्त साम्य भाव से अपने-अपने स्वाभाविक गुणो के अनसार, अपने अपने हिस्से के लौकिक व्यवहार करने का विधान, सबके लिए गीता मे सवत्र किया गया ह, और साथ में यह भी कहा गया ह कि इस तरह आचरण करने से किसी पुरुष को शोक मोह और भय नहीं होता।

जब कि आत्मज्ञान के आधार पर ही व्यवहार करने का विधान गीता का मूल विषय ह, तो आत्मज्ञान को इस उपदेश का जीवात्मा समझना चाहिए, अत उसका वणन इसमें सबसे प्रधान और सबसे अधिक होना स्वाभाविक ही ह। परन्तु इसका यह तात्पय नही ह कि सासारिक व्यवहार छोड कर केवल आत्म चिन्तन करते रहन और आत्म ज्ञान के ग्रन्थ देखन, प्रक्रियाओ को याद करने एव शास्त्राथ करने ही में सारी आयु बिता दी जाय, क्योकि न तो अजुन को उस समय ऐसी शिक्षा देने का अवसर था, न उसको निमित्त बना कर दूसरे लोगो को ही यह उपदेश देने का प्रसग था कि 'जगत के सब व्यवहार छोड कर केवल आत्म चिन्तन और आत्म-ज्ञान की चर्चा ही में लगे रहो,' इसके सिवाय और कोई कतव्य नही ह'।

(४) उपरोक्त आत्मज्ञान युक्त सासारिक व्यवहार करने में, सबके साथ एकता के साम्य भाव में मन की स्थिति होना आवश्यक ह, जिससे अनुकूलता प्रतिकूलता एव सुख दु खादि नाना भाति के द्वन्द्वो में वह विक्षिप्त न हो, किन्तु सम बना रहे। इस सव भूतात्मक्य साम्य भाव की स्थिति को गीता में "योग" कहा ह। सबकी एकता के साम्य भाव मे मन की स्थिति विचार से भी होती ह और क्रिया से भी। विचार से मन को एकाग्र करने के लिए तो आत्मज्ञान का निरूपण सवत्र किया ही गया ह, परन्तु जिनकी बुद्धि उक्त सूक्ष्म विचार को ग्रहण नही कर सकती, उनके लिए राज-योग की क्रियाओ से मन को एकाग्र करन का सक्षिप्त विधान छठे अध्याय म किया गया ह। परन्तु वह विधान, उक्त समत्व-योग म स्थित होने का एक साधन बताने मात्र के लिए ही ह, हठयोग की समाधि के निमित्त उन क्रियाओ की स्वतन्त्र कतव्यता प्रतिपादन करन के लिए नही ह

क्योकि ससार के व्यवहार करने वालो के लिए, काया को क्लेश देने वाली हठयोग की क्रियाओ तथा समाधि में ही लगे रहने का विधान सवथा अनुपयक्त होता। गीता मे जिस समाधि का कथन ह, वह व्यक्तिगत चित्त का निरोध मात्र ही नही ह, कितु सबके साथ एकता के साम्य भाव में मन को स्थित करना ह ।

(५) ससार-चक्र को अर्थात जगत के "यवहार को यथावत चलाने के लोक सग्रह के लिए, अपने-अपने स्वाभाविक गुणो के अनुसार चातुवण्य विहित कम करने के विधान को गीता मे 'यज्ञ" कहा ह। इस "यापक "यज्ञ" मे प्रत्येक "यक्ति के (व्यष्टि) कर्मों को सबके (समष्टि) कर्मों में सम्मिलित करने, अर्थात सबके साथ सहयोग करने द्वारा अपनी-अपनी व्यष्टि "यावहारिक शक्तियो का—देवता रूप से कथित—जगत को धारण करने वाली समष्टि शक्तियो में योग देने की आहुति देकर, ससार चक्र को चलाने में सहायक होने का विधान किया गया ह। भूत प्राणियो के भिन्न भिन्न कम करने की व्यष्टि शक्तियो के समष्टि (सम्मिलित) भाव ही उनके अधिदेव अर्थात देवता ह, और प्रत्येक व्यक्ति की व्यष्टि शक्तियो का सबकी समष्टि शक्तियो में योग देना ही उन देवताओ का यजन अर्थात "यज्ञ" ह। यही "यज्ञ" ससार को धारण करता ह अर्थात सबके अपने-अपने हिस्से के कत"य कम—सबके हित के लिए, दूसरो से सहयोग रखते हुए—करने ही से जगत का व्यवहार ठीक-ठीक चल सकता ह। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का—चाहे वह कितना ही छोटा हो अथवा बडा चाहे वह कितना ही नीचा हो अथवा ऊँचा, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष—अपनी-अपनी योग्यतानुसार, अपने-अपने हिस्से के कतव्य-कम, दूसरो से एकता तथा सहयोग रखते हुए करना मात्र ही "यज्ञ" ह, क्योकि "यज्ञ" का प्रयोजन ससार चक्र को चलाना ही ह। अस्तु, गीता में विधान किये हुए "यज्ञ" का तात्पय आमतौर से प्रचलित यज्ञो की तरह अग्नि में घतादि पदार्थों का होमना अथवा बलि-वश्वदेव आदि वदिक कमकाण्डो मे लगे रहना नहीं ह, क्योकि उपरोक्त ससार चक्र को चलाने के लिए अपने अपने कत"य पालन करने के निरूपण में अग्निहोत्र, बलि-वश्वदेव आदि वदिक कमकाण्डो में लगे रहने की "यवस्था बन नहीं सकती।

(६) आत्मा यानी "अपने वास्तविक आप" की सबके साथ एकता के साम्य-भाव का विचार अर्थात आत्मज्ञान, अत्यन्त ही सूक्ष्म एव गहन होने के कारण साधारण लोगो के लिए बडा दुगम ह, इसलिए लोगो का चित्त उसमें लगना बहुत ही कठिन होता ह। इस विषय को सुगम [illegible] को समझान, तथा उनके लिए मन को सबकी एकता के साम्य भाव में स्थित करने की व्यवस्था सहल करने के लिए भगवान ने भक्ति अथवा उपासना का विधान किया ह, जिसमें परमात्मा या ब्रह्म, या महेश्वर रूप अपने आप (कृष्ण) को सब भूत प्राणियो में एक समान व्यापक बता कर, अखिल विश्व परमात्मा का व्यक्त स्वरूप होने के निश्चय से सबके साथ अनन्य भाव के प्रेम के

आचरण द्वारा उस सव यापक परमात्मा की उपासना करन का प्रतिपादन किया गया ह। उक्त उपासना के विधान में, जो ईश्वर के अथवा अपने (कृष्ण के) शरण होने को कहा ह, उसका तात्पय परमात्मा, ईश्वर अथवा कृष्ण को सव यापक समझ कर अपने यक्तित्व को सबके साथ जोड देना ह, तथा ब्रह्मापण अथवा अपने (कृष्ण के) अपण करने का जो विधान किया ह उसका तात्पय ब्रह्म अथवा कृष्ण को सबमें समान भाव से व्यापक समझते हुए सबके लिए अर्थात अपने-अपने कायक्षेत्र की सीमा में आने वाले जनतारूपी जगदीश्वर के लिए प्रेमयुक्त कम करना अथवा पदाथ देना ह। पर तु उक्त भक्ति अथवा उपासना का यह तात्पय नही ह कि किसी निगुण निराकार ईश्वर के ध्यान या चिन्तन का दु साध्य प्रयत्न किया जाय, अथवा किसी स्थान विशेष में स्थित किसी व्यक्ति विशष ही को ईश्वर मान कर, केवल उसका भजन, स्मरण, कीतन आदि ही किया जाय, अथवा उसके किसी विशेष रूप की कल्पना करके उसकी प्रतिमा, चित्र आदि बनाकर उनका अचन, पूजन, भजन, स्मरण आदि ही किया जाय, और किसी अदष्ट कल्पित शक्ति की, अथवा किसी देश अथवा काल विशष में परिमित ईश्वर की शरण में जाने मात्र ही का भाव मन से किया जाय अथवा वाणी से उच्चारण किया जाय तथा किसी देश अथवा काल विशेष में स्थित किसी व्यक्ति विशेष के, अथवा अदष्ट (अव्यक्त) ईश्वर के नाम मात्र ही से कोई पदाथ या कम अपण करने का श द उच्चारण किया जाय अथवा हाथ से मकल्प छाडा जाय। गीता जसे यावहारिक उपदेश में इस तरह की अ यावहारिक भावुकता, अर्थात किसी अदष्ट यक्ति विशेष के नाम पर भजन स्मरण, पूजन, अचन आदि में लगे रहने और उसकी शरण में पडे रहने तथा उसके नाम पर अपण करके बहुमूल्य पदार्थों का अपव्यय करने आदि आडम्बरो का विधान सवथा अयुक्त होता।

(७) उपरोक्त व्यष्टिभाव की समष्टि से एकता करने की विशेष व्याख्या करने के अभिप्राय से भगवान ने भिन्न भिन्न व्यक्तित्व के मिथ्या भावो को मिटाने के लिए अहकार-त्याग ममत्व की आसक्ति का त्याग, कामना त्याग, फल-त्याग आदि—त्याग वराग्य अथवा स यास का विधान किया ह, क्योकि भिन्नता का मिथ्या भाव मिट जाने से, सवत्र एकता तो वास्तव में ह ही। अत अहकार-त्याग अथवा निरहकार का यह तात्पय ह कि जगत में सवत्र एकता सच्ची होने के कारण सारे व्यवहार सबके सहयोग से होते ह—दूसरे व्यक्तियो अथवा शक्तियो के सहयोग बिना काई अकला यक्ति हिल भा नहा सकता इसलिए किसी भी काम के करने अथवा न करने का व्यक्तित्व का अहकार रखना कि "म करता हू" अथवा "मेरे ही करन से कोई काय होता ह" या 'म नहीं करूँगा तो कोई काय नहीं होगा" इत्यादि सब मिथ्या ह। इस मिथ्या व्यक्तित्व के अहकार को छोड कर सच्चे समष्टिभाव में स्थित होन से ही समत्व-योग का व्यवहार हो सकता ह।

ममत्व की आसक्ति का त्याग अथवा अनासक्ति का तात्पय यह ह कि किसी व्यक्ति विशष अथवा पदाथ विशष ही को अपना मान कर उसके पथकता के भाव में ममत्व की आसक्ति रखना साम्य भाव का बाधक ह, क्योकि ससार के सभी पदाथ एक ही आत्मा के अनक रूप ह, इसलिए किसी विशेष यक्ति अथवा विशष पदाथ ही म ममत्व रखने के बदले सबके साथ अन य भाव का प्रेम रखना चाहिए।

कामना-त्याग अथवा निष्काम कम का तात्पय यह ह कि अखिल विश्व में एकता सच्ची होने के कारण सबके स्वाथ आपस मे मिले हुए ह अत कोई भी यक्ति दूसरो के स्वार्थो की सवथा अवहलना अथवा हानि करके, अपने पथक यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि नहीं कर सकता। दूसरो से पथक अपनी यक्तिगत स्वाथ सिद्धि की कामना से कम करना मिथ्या यवहार ह, अत अपना स्वाथ सबके स्वार्थों के अ तगत समझ कर सबके हित क साथ अपना भी हित साधन करने के उद्देश्य से कम करना चाहिये।

इसी तरह कमफल-त्याग का भी यह तात्पय ह कि जगत की एकता सच्ची होने के कारण प्रत्येक यक्ति के कर्मों का प्रभाव एक दूसरे पर पडे बिना नहीं रहता, इसलिए कोइ भी व्यक्ति अपने कर्मो के फल के लाभ से दूसरो को सवथा वचित रख कर केवल अकेला ही उससे लाभ न उठावे, कि तु दूसरो को लाभ पहुँचाने के साथ साथ स्वय भी अपनी आवश्यकताएँ पूरी करे।

पर तु, जसा कि साधारणतया माना जाता ह गीता के निरहकार का यह तात्पय कदापि नहीं ह कि ससार के यवहार करने में मनुष्य अपने आपके अस्तित्व तथा आत्मा भिमान एव अपने दायित्व को सवथा भुला कर दूसरे किसी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष व्यक्ति अथवा शक्ति पर निभर होकर स्वावलम्बन के बदले परावलम्बी बन जाय। मनुष्य के सिवाय अ य भत प्राणियो में तो कर्मों अथवा प्रकृति की अधानता से मक्त होने की योग्यता नहीं होती पर तु मनष्य शरीर म कम अथवा प्रकृति की परवशता हटा कर उन पर शासन करने की योग्यता होती ह और जिसमें जितनी ही एकता के भाव की वद्धि होती ह, उतना ही वह प्रकृति पर अधिक अधिकार प्राप्त करता ह। इसलिए भगवान प्रकृति के स्वामी—चेतन पुरूष को प्रकृति का दास—जड होकर पराधानता से कम करने को नही कहते, कि तु समष्टि अहकार से, सबके हित के लिए, कर्मों अथवा प्रकृति के स्वामी भाव से लोक सग्रह के कम करने को कहते ह।

अनासक्ति का भी यह तात्पय नही ह कि किसी भी काम के करने में मन न लगाया जाय, तथा उसका अच्छी तरह सम्पादन करने एव उसमें उन्नति करने के लिए विचार शक्ति का उपयाग न करक केवल मशीन की तरह, जड भाव से एव असावधानी से काम किये जाय, तथा उनके सुधरने बिगडने की कुछ भी परवाह न की जाय, क्योकि

कर्म सब मन-बुद्धि-चित्त-अहंकारस्वरूप—चतुर्विध अन्तःकरण सहित इन्द्रियों द्वारा होते हैं, इसलिए कर्मों में मन न जोड़ने का अव्यावहारिक उपदेश भगवान् कैसे दे सकते हैं ? किसी भी कर्म में व्यक्तिगत राग की आसक्ति न रखकर, सबसे प्रेमयुक्त, सबके हित के लिए, अच्छी तरह मनोयोग से—दत्तचित्त होकर तत्परता से कर्म करना ही सच्ची अनासक्ति है ।

निष्काम कर्म और कर्मफल-त्याग का भी यह तात्पर्य नहीं है कि किसी उद्देश्य के बिना पागलों की तरह निष्प्रयोजन चेष्टाएँ की जायँ, अथवा अपनी इच्छा के बिना दूसरों की प्रेरणा से जबरदस्ती कर्म किये जायँ, तथा इस विचार से कर्म किये जायँ कि उनका फल कुछ भी न हो, अथवा कर्मों का फल यदि उत्पन्न हो तो वह ग्रहण न किया जाय। जिस तरह, खेती करे तो अनिच्छा से करे—अन्न उत्पन्न करने के उद्देश्य से न करे, तथा इस भाव से करे कि इससे कुछ भी उत्पन्न नहीं होगा—केवल जमीन पर हल चलाना और बीज फेंकना मात्र ही कर्त्तव्य है; और यदि उससे अन्न उत्पन्न हो जाय तो वह किसी के उपयोग में न आवे और न स्वयं उसे खाकर भूख शान्त करे; (२)स्वतन्त्रता या मुक्ति के प्रयत्न के परिणाम में जब स्वतन्त्रता या मुक्ति प्राप्त हो तो उसे अस्वीकार करके परतन्त्रता या बन्धन में ही पड़ा रहे, इत्यादि। गीता इस तरह के अव्यावहारिक निष्काम कर्म और कर्मफल-त्याग का उपदेश नहीं देती। जगत्-प्रपंच आत्मा की इच्छा का खिलवाड़ होने के कारण इच्छामय है, इसलिए इसके व्यवहार इच्छा से रहित नहीं हो सकते—किसी न किसी प्रकार की इच्छा और उद्देश्य ही से कर्मों में प्रवृत्ति होती है; और कर्मों का अच्छा, बुरा अथवा मिश्रित फल होना भी अनिवार्य है। यदि कर्मों का फल ही न हो तो कर्म-विपाक का सिद्धान्त नष्ट हो जाय और कर्म करने में किसी की प्रवृत्ति ही न रहे। गीता में तो यज्ञ अर्थात् लोक-संग्रह के उद्देश्य से कर्म करने का स्पष्ट आदेश है (गी० अ० ३ श्लो० ९)। इससे सिद्ध है कि कर्म करने का उद्देश्य तो कुछ न कुछ होता ही है और इस उद्देश्य की सिद्धि अथवा उसका अन्य फल भी होता ही है, परन्तु लोक-संग्रह के उद्देश्य से किये हुए कर्मों के फल में किसी व्यक्ति-विशेष की स्वार्थ-सिद्धि का मिथ्या भाव नहीं रहता, किन्तु उनसे अपने-अपने कार्यक्षेत्र की सीमा में आने वाले सब व्यक्तियों के हित होने का सद्भाव रहता है, जिनमें स्वयं कर्ता भी सम्मिलित है। यही निष्काम कर्म तथा कर्मफल-त्याग का रहस्य है।

सारांश यह कि भगवान् ने जो त्याग, वैराग्य अथवा संन्यास का विधान किया है, उसका तात्पर्य भिन्नता के मिथ्या भावों को एकता के सच्चे भाव में परिणत करना, और "अपने आप (आत्मा)" से भिन्न जगत् के पदार्थों में सुख-दुःख मान कर उनमें आसक्ति न रखना तथा उनसे विचलित न होना, किन्तु परमानन्दस्वरूप "अपने आप (आत्मा)" ही में सब प्रकार के कल्पित सुख-दुःख का एकीकरण (समावेश) समझना है। दूसरे शब्दों में अपने को दूसरों से पृथक् एक तुच्छ व्यक्ति एवं छोटे-से कर्ता के स्थान में अखिल विश्व

का आत्मा, प्रकृति का स्वामी एवं महाकर्ता अनुभव करना, और जगत् के तुच्छ पदार्थों के लिए हीनता एवं दीनता के भावों के बदले अपने आपको परिपूर्ण समझना—यही गीता का त्याग, वैराग्य अथवा संन्यास है। छोटे-से व्यक्तित्व का भाव छुड़ा कर भगवान् महान्-आत्मा अर्थात् परमात्म-भाव में स्थिति करवाते हैं, यानी बूंद से समुद्र बनाते हैं; और मिथ्या विषय-सुखों की मृग-तृष्णा छुड़वा कर विश्व की सारी सुख-समृद्धि का अक्षय भण्डार "अपने आप" में बताते हैं।

गीता में कथित त्याग, वैराग्य अथवा संन्यास का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि जगत् को वस्तुतः मिथ्या जान कर, उससे घृणा करके अलग होने का प्रयत्न किया जाय तथा सब उद्यम छोड़-छाड़ कर निठल्ले हो बैठे। इस तरह के त्याग, वैराग्य एवं संन्यास को भगवान् ने अप्राकृतिक एवं अव्यावहारिक कहा है। जब कि जगत् का सारा नानात्व मिथ्या है, तो शरीरों के व्यक्तित्व के भावों में नानात्व होने के कारण वे भी मिथ्या हैं, अतः जगत् के व्यवहारों एवं पदार्थों को त्याग देने का व्यक्तित्व का अहंकार मिथ्या है; और जब तक ग्रहण अथवा त्याग के व्यक्तित्व का अहंकार रहता है, तब तक भिन्नता के (मिथ्या) व्यवहार बनते ही रहते हैं—चाहे वे ग्रहण के हों या त्याग के। इसलिए भगवान् उक्त मिथ्या भावों ही को छुड़ा कर एकता का सच्चा भाव ग्रहण करने को कहते हैं। यही सच्चा त्याग, वैराग्य अथवा संन्यास है।

त्याग और ग्रहण दोनों सापेक्ष हैं। त्याग के लिए ग्रहण का भी साथ-साथ होना आवश्यक है। इसलिए गीता व्यष्टि-भाव का त्याग समष्टि-भाव में कराती है, अर्थात् व्यष्टि-समष्टि का भेद मिटाती है, और जब व्यष्टि-समष्टि का भेद मिट जाता है तब त्याग और ग्रहण के लिये कुछ शेष ही नहीं रहता। अतः जो कुछ करना है वह यही है कि व्यष्टि-भाव का झूठा अभिमान मिटाना है; फिर न व्यष्टि है, न समष्टि; जो कुछ है वह सब "अपना आप" ही है—जो न ग्रहण का विषय है, न त्याग का।

(८) उपरोक्त सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भावयुक्त सांसारिक व्यवहारों की स्पष्ट व्याख्या करने के लिए, भगवान् ने उक्त व्यवहार करने वाले महापुरुषों के आचरणों का वर्णन प्रसंगानुसार गीता के प्रायः सभी अध्यायों में थोड़ा-बहुत किया है; किन्तु दूसरे अध्याय के अन्त में "स्थित-प्रज्ञ" के विवरण में, तथा बारहवें अध्याय के अन्त में "भक्त" के विवरण में, तथा तेरहवें अध्याय में "ज्ञान" के विवरण में, तथा चौदहवें अध्याय में "गुणातीत" के विवरण में और सोलहवें अध्याय में "दैवी-सम्पत्ति" के विवरण में विशेष रूप से किया है। उसके विपरीत, पृथक् व्यक्तित्व के भाव से विषमता के व्यवहार करने वाले "असुरों" के आचरणों का वर्णन सोलहवें अध्याय में किया है; तथा सत्रहवें और अठारहवें अध्याय में सात्विक, राजस और तामस आचरणों की व्याख्या की है। उनमें आसुरी अथवा राजस-तामस आचरण त्याज्य, एवं दैवी अथवा सात्विक आचरण

ग्राह्य कहे ह । इसका तात्पय यह ह कि साधारणतया दूसरो से पथक व्यक्तित्व के भावो के कारण ही आसुरी सम्पत्ति के अथवा राजस तामस आचरण बनते ह, और एकता के साम्य भाव से दवी सम्पत्ति के अथवा सात्विक आचरण बनते ह । अत जितने ही अधिक पथकता के भाव बढे हुए होते ह उतने ही अधिक आसुरी अथवा राजस-तामस व्यवहार होते ह ार निनना ृा र्भाजर एकता ना साम्य भाव बढा हुआ होता ह उतने ही अधिक सात्विक व्यवहार होते ह । इसलिए यह बात ध्यान में रखने की ह कि व्यवहार अथवा कम सब जड होने के कारण उनमे स्वय अच्छापन या बुरापन अर्थात दवी सम्पत्ति अथवा सात्विकपन तथा आसुरी सम्पत्ति अथवा राजस-तामसपन, कुछ भी नहीं होता, किन्तु कर्मों म अच्छापन या बरापन कर्ता के भाव से उत्पन्न होता ह । यदि दवी सम्पत्ति के सात्विक आचरणो म पथक व्यक्तित्व के अहकार और दूसरो से पथक व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के भाव आ जाय, तो उनका दुरुपयोग होकर वे ही राजस-तामस आसुरी सम्पत्ति में परिणत हो जाते ह, दूसरी तरफ यदि आसुरी सम्पत्ति के राजस तामस आचरण, समष्टि भाव और सबके हित के उद्देश्य से किये जाय तो उनका सदुपयोग होकर वे ही दवी सम्पत्ति के सात्विक आचरणो में परिणत हो जाते ह । अनेक अवसर एसे आते ह, जब कि लोक सग्रह के लिए काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, मान आदि आसुरी भावो के आच रण आवश्यक एव लोक हितकर होते ह, उस परिस्थिति में वे काम क्रोध आदि के आचरण आसुरी भाव नही रहते । इसी तरह अनेक अवसर ऐसे आते ह जब कि सत्य, दया, क्षमा, अहिसा आदि दवी सम्पत्ति के आचरण, लोक-सग्रह के विरुद्ध अर्थात लोक पीडा के हेतु हो जाते ह एसी दशा में वे दवी सम्पत्ति के आचरण नही रहते, किन्तु आसुरी सम्पत्ति में परिणत हो जाते ह । यह सष्टि त्रिगुणात्मक प्रकृति का खेल ह इसलिए इसके व्यवहारो में तीनो गुणो युक्त, यथायोग्य आचरणो का होना अत्यावश्यक ह । दवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति सापेक्ष ह एक के होने के लिए दूसरी का होना अनिवाय ह । इसलिए सवभूतात्मक्य समत्व बुद्धि से निणय करके ही इनका यथायोग्य आचरण करने का विधान ह । कर्मों की अपेक्षा बुद्धि की श्रेष्ठता गीता में इसीलिए विशेष रूप से कही गई ह ।

(९) ससार में जितने भी काय होते ह—चाहे वे धार्मिक हो या सामाजिक चाहे आर्थिक हो या राजनतिक किसी भी प्रकार के हो—सबका आधार श्रद्धा विश्वास की भित्ति पर होता ह । जिस जिस विषय का जिस जिसको ज्ञान होता ह, उस विषय के सम्बन्ध में पहले पहल उसी के अनुभव एव उसी के कथन पर श्रद्धा करके उसमें प्रवेश करना होता ह । विशेष करके आत्मज्ञान जसे गहन और सूक्ष्म विषय में—जो कि स्थूल इन्द्रियो के सवथा अगोचर ह—प्रवेश करने के लिए एव उसके आधार पर आचरण करने के लिए तो पहले-पहल आत्मज्ञानी समत्वयोगी महापुरुषो के अनुभव एव वचनो पर

श्रद्धा ही का अवलम्बन करना पडता ह । श्रद्धा के बिना इस विषय में चञ्चु प्रवेश होना भी दुस्तर ह । इसके अतिरिक्त, सबसे अधिक आवश्यकता अपने वास्तविक आप पर श्रद्धा रखने अर्थात आत्म विश्वास की ह, क्योकि आत्म विश्वास के बिना मनष्य किसी भी काय मे अग्रसर नहीं हो सकता । इसलिए भगवान ने गीता में श्रद्धा को बहुत महत्त्व दिया ह, और यहा तक कहा ह कि मनुष्य श्रद्धामय होता ह जिसकी जसी श्रद्धा होती ह वह वसा ही होता ह । पर तु श्रद्धा के उक्त विधान का यह तात्पय नहीं ह कि आत्म विश्वास को छोडकर, दूसरी अदष्ट शक्तियो पर अ धविश्वास करके उन पर निभर रहा जाय, अथवा किसी भी यक्ति का यो यता के विषय का कुछ भी विचार न करके उसकी बातो पर विवेकशू य अ ध-श्रद्धा से आचरण किया जाय, तथा जिस अ धविश्वास को पकड लिया जाय उसको हठ एव दुराग्रह से छोडा ही न जाय, एव उसके परिणाम पर भी कुछ विचार न किया जाय । श्रद्धा विचारयक्त होनी चाहिए, अर्थात जिस विषय में जिस पर श्रद्धा की जाय, उस विषय में उसकी योग्यता एव कुशलता तथा उसके गुणावगणो एव आचरणो के विषय में पहले अच्छी तरह अनुसधान कर लिया जाय । सच्ची श्रद्धा वही होती ह जो विचारपूवक होती ह । प्रत्येक काम में बुद्धि का उपयोग करना मनष्य का प्रधान कत य गीता में बताया गया ह, अत मनुष्य की मनष्यता इसी में ह कि वह बुद्धि से काम ले ।

(१०) जब कोई ग्रथ, का य अथवा शास्त्र निर्माण किया जाता ह—खास करके जब समाज शास्त्र की रचना की जाती ह तो उस समय की समाज की मा यताआ रिवाजो, यवस्थाओ, विश्वासो और कल्पनाआ का प्रभाव निर्माता के अत करण पर कुछ न कुछ किसी न किसी रूप में रहता ही ह और उसका वणन उल्लेख अथवा सकेत उस रचना में प्रसगानसार थोडा बहुत होना स्वाभाविक होता ह । गीता म भगवान के उपदेशो में अनेक स्थलो पर प्रसगवश दूसरे लोगो के मतो और विश्वासो का तथा उस समय के प्रचलित रिवाजो, मा यताओ यवस्थाओ और कल्पनाओ का वणन अथवा उल्लेख भी आया ह, जिससे यह भ्रम हो सकता ह कि ये सब बातें भगवान श्री कृष्ण को भी मा य थीं । पर तु उनके वणन और उल्लेख की शली पर, पूर्वापर का सामजस्य करके अच्छी तरह गभीरता से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि यह वणन और उल्लेख भगवान श्री कृष्ण के अपने विचार नहीं ह कि तु उनका उल्लेख या तो उनके खण्डन करने या उनकी त्रुटि दिखाने या उस समय की मा यताओ और मतो के ही आधार पर तथा प्रचलित दष्टान्तो एव रूपको द्वारा अपने प्रतिपाद्य विषय को अच्छी तरह समझाने और उसकी पुष्टि करने के लिए किया गया ह । जिस तरह—

(क) दूसरे अध्याय के २६वें श्लोक में भौतिकवान्यिा के मत का उल्लेख, मरने के विषय में शोक न करने की पुष्टि के लिए किया गया ह ।

(ख) दूसरे अध्याय के श्लोक ३१ से ३७ तक अजुन ने उसवे हा मग्न हुए शास्त्रो में विधान किए हुए धम के अनसार यद्ध करने की कत्तयता की पुष्टि करने के लिए स्वधम नाश के पाप का भय और निदा स्तुति तथा स्वग और राज्य भोग की प्राप्ति आदि के रोचक भयानक अथवाद के वचनो का उपयोग किया गया ह। यह वणन भगवान का निज का मत नही ह ।

(ग) तीसरे अध्याय के श्लोक १० मे समष्टि सकल्प रूप प्रजापति ब्रह्मा का यज्ञ सहित सष्टि रचने के रूपक का जो वणन किया गया ह वह उस समय की मायता के अनसार केवल इस बात की पुष्टि करने के लिए किया गया ह कि सारी सष्टि की रचना ही यज्ञमय ह अर्थात सबके अपने अपने कतय कम करने रूपी यज्ञ पर ही ससार का अस्तित्व निभर ह ।

(घ) चौथे अध्याय के पहले श्लोक में समत्व योग का उपदेश सूरज को देने का जो कहा गया ह वह समत्व योग का सदा बना रहना और उसके महत्व की पुष्टि करने के लिए काय की अलकारिक भाषा मे रूपक बाधा गया ह ।

(ङ) चौथे अध्याय के २५ से ३० श्लोको तक कितने ही प्रकार के यज्ञो का जो वणन आया ह वह उस समय की प्रचलित मान्यताओ के यज्ञो की तुलना म आत्मज्ञान सहित अपने कत्तय पालन करने रूपी ज्ञानयज्ञ की श्रष्ठता और अवश्य कतय की पुष्टि करने के लिए किया गया ह ।

(च) आठवें अध्याय के श्लोक १६ में ब्रह्मलोक का जो उल्लेख किया गया ह वह उस समय साधारणतया यह मायता थी कि पुण्यवान लोग मरने के बाद ऊपर के विविध कल्पित लोको में जाते ह जिनमें ब्रह्मलोक सबसे ऊपर का ह। उस मायता की तुलना में ब्रह्मलोक को भी आवागमनवाला बता कर परमात्मभाव की स्थिति प्राप्त करने वाले आत्मज्ञानी महापुरुष के जम मरण के चक्कर में न आन की पुष्टि की गई ह ।

(छ) आठवें अध्याय के १७वें श्लोक में हजार यगो का ब्रह्मा का दिन और हजार युगो की रात का जो रूपक बाधा गया ह वह उस समय के ज्योतिषियो की गणना के अनुसार हजार युगो तक समष्टि सकल्प का सष्टि रूप से यक्त होने रूप जाग्रत अवस्था और हजार युगो तक समष्टि सकल्प की सष्टि लय होने रूप सुषुप्ति अवस्था बताई गई ह । समष्टि सकल्प को ब्रह्मा का रूपक देकर ज्योतिषियो के मत के अनुसार हजार यगो तक सष्टि का व्यक्त रूप में रहना और हजार युगो तक अयक्त रूप में परिवर्तित होते रहना कह कर पीछे आत्मा का सभी दशाओ में एक समान बने रहने का अविनाशी भाव स्पष्ट किया गया ह ।

(ज) आठवें अध्याय के २३ से २५ तक के श्लोको में मरने के बाद उत्तरायण और दक्षिणायन मार्गों की शुक्ल और कृष्ण गतियो का जो वणन किया गया ह, वह उस

समय के लोगो मे दृढता से जमी हुई मान्यता की निरर्थकता बताकर समत्व योगी के लिए उनके भ्रम मे न पडने और उसकी स्थिति उन कल्पित मान्यताओ से बहुत ऊँची होने की पुष्टि करने के लिए किया गया है ।

(झ) नवें अध्याय के १६वें श्लोक में जो कहा है कि क्रतु यज्ञ, यज्ञ की सामग्री आदि "मैं" हूँ, और २० २१ श्लोको में यज्ञो से स्वर्ग की प्राप्ति होकर पीछे गिरने का जो उल्लेख हुआ है, उसका कारण यह है कि उस समय इस देश में हवन करने की रिवाज का बहुत अधिक प्रचार था, उसको महत्त्वशून्य बताने के लिए उसका उल्लेख करना आवश्यक था । १६वें श्लोक मे इन यज्ञो में भी हवन की क्रिया, सामग्री, अग्नि, मन्त्र, हवन करने वाले आदि सबकी एकरूपता दिखा करके प्रथकता के भाव की इन क्रियाओ का मिथ्यापन सिद्ध किया और २० २१ श्लोको मे इन यज्ञ करने वालो की उनके ही मतानुसार आवागमन के चक्कर मे घूमते रहने की दुर्दशा दिखाकर २२वें श्लोक में एकता के भाव में जुडे रहने वाले आत्मज्ञानी पुरुषो का माहात्म्य बताया गया है ।

(ञ) नवें अध्याय के ३२ ३३ श्लोको में स्त्री, वैश्य और शूद्रो की निकृष्टता और ब्राह्मण क्षत्रियो की उत्कृष्टता का जो भाव प्रतीत होता है, वह उस समय के समाज में स्त्री, वैश्य, और शूद्रो की निकृष्टता और ब्राह्मण, क्षत्रियो की उत्कृष्टता की लोगो में दृढ मान्यता थी, इसका परिचायक है, परन्तु भगवान ने उसका खण्डन करके इन सब का समान अधिकार बताया है । तात्पर्य यह है कि कल्याण की प्राप्ति में अपने कर्तव्य पर आरूढ़ रहने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र और स्त्रियो का एक समान अधिकार है, कोई भेद नही है । यह श्लोक उस भेद का खण्डन करने के लिए है । उसकी पुष्टि के लिए नहीं । अर्जुन को यह शंका थी कि मैं अपना क्षत्रिय का कर्तव्य पालन करूंगा तो मेरी दुर्दशा होगी उसका यह भ्रम मिटाने के लिए भगवान इन श्लोको में कहते है कि सब की एकता के साम्य भाव से अपने कर्तव्य पालन करने वाले स्त्री, वैश्य और शूद्र, जिनको समाज निकृष्ट मानता है, वे भी परम गति को प्राप्त हो जाते है तो तुझको तो श्रेष्टाचारी क्षत्रिय होने के कारण समाज उत्कृष्ट मानता है, इसलिए तेरी परमगति होने में संदेह ही क्या है ।

(ट) दसवें अध्याय मे विभूतियो के वर्णन में शास्त्रो तथा काव्यो आदि में वर्णित देवताओ गन्धर्वों दैत्यो, आदित्यो, मरुदगणो, रुद्रो, यक्षो, राक्षसो, पुरोहितो, सेनापतियो, महर्षियो देवर्षियो, सिद्धो, पितरो आदि के तथा पशु पक्षियो आदि के जो आधिदैविक और आधिभौतिक वर्णन है उनका तात्पर्य इतना ही बताने का है कि इस संसार में जो कुछ सूक्ष्म और स्थूल पदार्थ किसी भी प्रकार के चमत्कारिक विशेषतायुक्त माने जाते हैं अथवा कल्पना में आते है उनको आत्मा का विशेष विभूतिसम्पन्न रूप समझना चाहिए । इसी तरह ११वें अध्याय में भी शास्त्रो तथा काव्यो आदि में कल्पना किए हुए नाना प्रकार

के रूपो और घटनाओ के जो वणन ह उनका तात्पय केवल यही दिखाने का ह कि ससार में जो कुछ ह और जो कुछ कल्पना में आ सकता ह वे सब एक ही आत्मा के अनन्त कल्पित रूपो का बनाव ह। दसवे अध्याय के अत के श्लोक में यह स्पष्ट कर दिया गया ह और ११वें अध्याय में अजुन को मानसिक दिव्य दष्टि से विश्व रूप दिखाकर पीछे उसी समय उस सारे दश्य को विलीन कर लेने से यह स्पष्ट हो गया कि वह सब मन की कल्पना मात्र ही था। भौतिक दष्टि से उनमे वास्तविकता कुछ भी नहीं थी। उसी तरह चतुभुज रूप भी कल्पना मात्र ही था। अजुन को विराट रूप का दश्य देखने से जब घबराहट हुई तो उसको मिटान के लिए उसको सौम्य और श्रेष्ठ चतुर्भुज रूप देखने की इच्छा हुई तब भगवान ने वह कल्पित रूप उसी मानसिक दिव्य दष्टि से दिखाकर उसके मन की व्यथा दूर कर दी। मुकुटधारी मस्तक तथा शख चक्र गदा, पद्मयुक्त हाथो के रूपक का रहस्य ११वें अध्याय के स्पष्टीकरण म लिखा जायगा।

(ठ) सतरहवे अध्याय मे श्रद्धा आहार यज्ञ, तप और दान के सात्विक राजस और तामस भेदो की व्याख्या, सात्विक श्रद्धा, आहार यज्ञ, तप और दान की पुष्टि तथा राजस, तामस श्रद्धा, आहार, यज्ञ, तप और दान का निषेध करने के लिए की गई ह।

(ड) १८वें अध्याय में सन्यास और त्याग का तत्त्व समझाने के लिए दूसरे और तीसरे श्लोको में दूसरे विद्वानो के मतो का जो उल्लेख किया गया ह वह उनका खण्डन करके अपना निश्चित मत समझान के लिए किया गया ह। फिर आगे त्याग ज्ञान कम कर्ता, बुद्धि धृति और सुख के सात्विक, राजस और तामस भेदो की जो व्याख्या की गई ह वह भी सात्विक रूपो की पुष्टि और राजस, तामस रूपो के त्याग के लिए की गई ।

(११) उपरोक्त तथ्यो पर विचार करने से, इस विषय में कोई सन्देह नही रह जाता कि श्रीमदभगवदगीता मे व्यावहारिक वेदान्त' (Practical Philosophy) का ही प्रतिपादन ह, न कि कोरे कल्पित सिद्धान्त (Theory) अथवा अव्यावहारिक आदशवाद (Impracticable Idealism) का, जसा कि कई लोग अनमान करते ह। इसके उपदेष्टा स्वय भगवान श्रीकृष्ण महाराज की अवतार लीला व्यावहारिक वेदान्त" की पूर्णावस्था का आदश ह (उपोदघात देखिए), और जिस अजन को निमित्त करके यह उपदेश दिया गया था, वह भी जगद विख्यात कायकर्ता--क्षत्रिय वीर था। यह बात अवश्य ह कि गीता में सवभूतात्मक्य साम्य भावयुक्त सासारिक व्यवहार करने अर्थात व्यावहारिक वेदान्त की पूर्णावस्था के आदश का प्रतिपादन प्रधानता से किया गया ह, क्योंकि पूर्णावस्था का आदश अथवा अन्तिम लक्ष्य बताने से ही मनष्य उसकी प्राप्ति के लिए अग्रसर हो सकता ह, आदश अथवा लक्ष्य के बिना मनुष्य की उस तरफ

प्रवत्ति हो नही सकती, परन्तु साथ ही साथ यह भी अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया गया ह कि इसके थोडे आचरण से थोडी, और अधिक से अधिक शान्ति, पुष्टि एव तुष्टि (Peace Power and Plenty) प्राप्त होती ह, अर्थात जिस दर्जे और जिस क्षेत्र तक एकता के साम्य भाव से व्यवहार किया जाय उतनी ही शान्ति पुष्टि एव तुष्टि प्राप्त होती हैं। इसका थोडा भी आचरण कभी निष्फल नही जाता (गी० अ० २ श्लो० ४०)। इसका पूण आचरण करने वाले तो पूण स्वतन्त्र जीवनमुक्त, स्वय परमानन्द परमात्मस्वरूप ही होते ह (गी० अ० ५ श्लो० १६ से २९)।

(१२) कई लोगो का कहना ह कि 'महाभारत यद्ध कोई ऐतिहासिक घटना नहीं ह, और न गीता मे कथित कृष्ण और अजन ही कोई एतिहासिक पुरुष ह, किन्तु दवी और आसुरी वत्तियो का जो सघष प्रत्येक शरीर मे होता ह, उसी को भारतीय युद्ध का रूपक देकर, आसुरी वत्तियो पर विजय प्राप्त करने के लिए कृष्णरूपी ईश्वर ने अजुनरूपी जीव को गीता का उपदेश दिया—यह कहानी महाभारतकार वेदव्यास न कल्पित की ह।' यद्यपि इस कथन में कोई प्रामाणिकता नही ह, क्योकि महाभारत यद्ध के तथा श्रीकृष्ण और अजन के होने का प्रमाण तो स्वय गीता ही ह जिसको कि वे लोग स्वय इतनी मान्यता देते ह, और जिस गीता का महाभारतकार श्रीवेदव्यासजी न भारतीय युद्ध के आरम्भ में भगवान श्रीकृष्ण द्वारा अजुन को कही जाना लिखा ह, और बहुत से प्राचीन ग्रन्थो में भी इस विषय के प्रचुर प्रमाण भरे पड ह तथा महाराज यधिष्ठिर का सवत अब तक प्रचलित ह। परन्तु महाभारत और कृष्ण अजन को एतिहासिक न मानने वालो के पास उनके न होने का कोई भी प्रमाण—उनकी अपनी अटकल के सिवाय कुछ भी नहीं ह। फिर भी यदि थोडी देर के लिए यही मान लिया जाय कि यह सब कल्पना ह, तो भी इससे गीता के महत्व में कोई कमी नही आती और न इस भूमिका में लिखे हुए उपरोक्त तथ्यो की ही कोई हानि होती ह, प्रत्युत उनकी पुष्टि ही होती ह। वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार सारा जगत ही मन की कल्पना का खल ह, अत उस दष्टि से विचार करन पर जगत के दूसरे अनन्त बनावो की तरह महाभारत यद्ध और गीता का उपदेश भी कल्पना की ही सष्टि कही जा सकती ह परन्तु जब कल्पना की सष्टि का एक बार प्रारम्भ कर दिया जाता ह तो फिर कारण काय की परम्परा पूर्वापर की सगति कायम रखते हुए, उस काल्पनिक सष्टि का अच्छी तरह निर्वाह करना होता ह। कवि जब किसी कहानी की कल्पना करता ह तब उस कहानी की घटनाओ की शृखला का जगत में प्रत्यक्ष घटने वाली घटनाओ की तरह ही निर्वाह करता ह। इसलिए जब महाभारत-युद्ध के अवसर पर अजन को मोह होकर उसके किकतव्य विमूढ होने की कल्पना कर ली गई और उसी कल्पना के अन्दर श्रीकृष्ण को ईश्वर मान कर अजुन के उक्त मोह को दूर करने और उसको अपने कतव्य कम में लगाने के निमित्त को लेकर ससार को गीता

का उपदेश देना मान लिया गया, ओर उसी कल्पना के आधार पर लिखी गई गीता का उपदेश सवमान्य ह तब इस भूमिका मे कहे हुए सभी तथ्यो की पूण रूप से पुष्टि स्वत ही होती ह। चाहे महाभारत यद्ध एव कृष्ण अजन का सवाद ऐतिहासिक हो या कल्पित, उससे इस भूमिका मे कही गई बातो म अर्थात 'गीता म व्यावहारिक वेदान्त ही का प्रतिपादन ह' इस सिद्धान्त मे रत्तीभर भी अन्तर नहीं आता। हम लोग भी तो कल्पित जगत मे कल्पित व्यवहारो की कल्पना ही तो कर रहे ह।
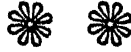
श्रीमद्भगवद्गीता का व्यावहारिक अर्थ

पहला अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच

धमक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सव ।
मामका पाण्डवाश्चव किमकुवत सञ्जय ॥१॥

अथ—धतराष्ट्र न सञ्जय* से पूछा कि हे सञ्जय ! धम-क्षेत्र कुरुक्षेत्र† में युद्ध की इच्छा से इकटठे हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रो ने क्या किया ? (१)

सञ्जय उवाच

दृष्टवा तु पाण्डवानीक व्यूढ दुर्योधनस्तदा ।
आचायमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत ॥२॥
पश्यता पाण्डुपुत्राणामाचाय महती चमूम ।
व्यूढा द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमाजुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथ ॥४॥

---

*सञ्जय को व्यास भगवान के प्रसाद से मनोयोग की दिव्य-दृष्टि प्राप्त हुई थी जिससे उसको हस्तिनापुर म बठ बठ भी कुरुक्षेत्र म होते हुए महायुद्ध के सब वृत्तान्त ज्यो के त्यो [illegible] थे [illegible] धतराष्ट्र को सुनाता था।

वतमान समय म जब कि भौतिक रेडियो यन्त्र द्वारा दूर देशो के शब्द सुनाई देते ह और दूरस्थ दृश्य देखे जाते ह तब आधिदैविक मनोयोग की सूक्ष्म शक्ति से दूर देशो के वृत्तान्तो का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकने मे सन्देह करने को अवकाश नहीं रहना।

†कुरुक्षेत्र को धम-क्षेत्र का विशषण इसलिए दिया गया ह कि उस मदान म समय समय पर बडे-बडे वीर योद्धा लोग धम-युद्धो म वीरतापूवक लड कर अपना क्षात्र धम पालन करते थ।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥
अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥
अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

अर्थ—संजय बोला कि उस समय पाण्डवों की व्यूहाकार सेना को देख, राजा दुर्योधन ने द्रोणाचार्य के निकट जाकर कहा (२)। हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद-पुत्र द्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डवों की इस बड़ी सेना को देखिए (३)। इसमें महाधनुर्धारी भीम तथा अर्जुन के समान वीर योद्धा, युयुधान, विराट, महारथी द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, बलवान काशिराज, पुरुजित, कुन्तिभोज, नरश्रेष्ठ शैब्य, शूर युधामन्यु, बलवान उत्तमौजा, सुभद्रा का पुत्र और द्रौपदी के (पाँचों) पुत्र इत्यादि सभी महारथी हैं (४-५-६)। और हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ! हमारे जो बड़े-बड़े सेनापति हैं उनके नाम भी आपके ध्यान में रहने के लिए मैं कहता हूँ, आप सुनिए (७)। आप, भीष्म, कर्ण, समर-विजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त का पुत्र, तथा और भी अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित, मेरे लिए जीवन अर्पण करने वाले बहुत से वीर हैं, जो सबके सब युद्ध विद्या में निपुण हैं (८-९)। भीष्म के संरक्षण में हमारा वह (सैनिक) बल अपर्याप्त है, किन्तु भीम के संरक्षण में उन (पाण्डवों) का यह (सैनिक) बल पर्याप्त है (१०)। आप सब लोग अपने-अपने जिम्मे लगे हुए व्यूह के सभी द्वारों पर डट कर पूर्ण रूप से भीष्म ही की रक्षा कीजिए (११)।

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

अर्थ—(तब) कौरवों में सबसे बड़े, प्रतापी भीष्म पितामह ने उस (दुर्योधन) के हर्ष को बढ़ाते हुए सिंह समान गर्ज कर जोर से शंख बजाया (१२)। तदनन्तर अनेक शंख, भेरियाँ, पणव, आनक, गोमुख (उस समय के नाना प्रकार के फौजी बाजे) एक साथ ही बजाये जाने लगे, जिनका (सम्मिलित) शब्द बहुत प्रचण्ड हुआ (१३)। तब सफेद घोड़ों वाले बड़े रथ पर सवार, श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी अपना-अपना दिव्य (अपूर्व नाद वाला) शंख बजाया (१४)। श्रीकृष्ण ने 'पाञ्चजन्य', अर्जुन ने 'देवदत्त' और भयानक कर्म करने वाले भीम ने बहुत बड़ा 'पौण्ड्र' नामक शंख बजाया (१५)। कुन्ती-पुत्र राजा युधिष्ठिर ने 'अनन्त-विजय', नकुल ने 'सुघोष', सहदेव ने 'मणिपुष्पक' (नामक शंख बजाया) (१६)। और विशाल धनुर्धारी काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजेय सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदी के पुत्र और महाबली सुभद्रा-पुत्र आदि सबने, हे महाराज ! अपने-अपने शंख बजाये (१७-१८)। उस भयंकर शंखनाद ने आकाश और पृथ्वी को प्रतिध्वनित करते हुए, (दुर्योधन आदि) कौरवों के कलेजे धड़का दिये (१९)।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

हृषीकेश तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

अर्थ—इसके अनन्तर, हे पृथ्वीनाथ ! कौरवों को व्यवस्था के साथ खड़े देख कर, जब शस्त्र चलने ही को थे कि अर्जुन धनुष उठा कर उस समय श्रीकृष्ण से यह वचन बोला कि हे अच्युत ! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिए, ताकि लड़ने की इच्छा से तैयार खड़े हुए इन लोगों को मैं अच्छी तरह देख लूं कि इस संग्राम में मुझे किन किन के साथ लड़ना है। युद्ध में धृतराष्ट्र के दुर्बुद्धि पुत्र (दुर्योधन) का प्रिय करने की इच्छा से, जो लड़ने वाले यहां एकत्र हुए हैं उनको मैं देखूं (२० से २३)।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखञ्च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।। ३१ ।।
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।। ३२ ।।
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।। ३३ ।।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ।। ३४ ।।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।। ३५ ।।
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।। ३६ ।।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।। ३७ ।।
यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।। ३८ ।।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।। ३९ ।।
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।। ४० ।।
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ।। ४१ ।।
सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।। ४२ ।।
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।। ४३ ।।
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।। ४४ ।।

वर्णसंकर, कुलघातकों यानी युद्ध में कुल का नाश करने वालों को तथा सारे कुल को नरक में पहुँचाने के ही कारण होते हैं, और पिण्डोदक क्रिया का लोप हो जाने से, अर्थात् वर्णसंकरों के हाथ का दिया हुआ पिण्डोदक न पहुँचने से, इनके पितर भी नरक में गिरते हैं (४२)। हे जनार्दन ! कुलघातकों के, वर्णसंकरकारक इन दोषों से परम्परागत जाति-धर्म तथा कुल-धर्म, सभी जड़ से नष्ट हो जाते हैं; और जिन मनुष्यों के कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं, उनको निश्चय ही नरक में जाना पड़ता है, ऐसा हमने (शास्त्रों में) सुना है (४३-४४)। हाय ! राज्य-सुख के लोभ से अपने बन्धुओं को मारने के लिए प्रस्तुत होकर हम बहुत बड़ा पाप करने को उद्यत हुए हैं (४५)। यदि संग्राम में शस्त्ररहित होकर, मैं अपना बचाव भी न करूँ, और धृतराष्ट्र के पुत्र हाथों में शस्त्र लेकर मुझे उसी दशा में मार दें, तो मेरा अधिक भला होगा (४६)।

स्पष्टीकरण—आर्य-संस्कृति में प्राचीन काल ही से वंश (नसल) शुद्धि, धर्म का प्रधान अंग माना जाता रहा है; क्योंकि शुद्ध रक्त के लोग अपने-अपने धर्म (कर्तव्य-कर्म), जैसे ठीक तौर से पाल सकते हैं, वैसे मिश्रित रक्त के लोग नहीं पाल सकते। इसीलिए एक वर्ण के पुरुष का दूसरे वर्ण की स्त्री के साथ सहवास करना साधारणतया पाप समझा जाता है, और ऐसे संयोग से उत्पन्न होने वाले सन्तान वर्णसंकर माने जाते हैं, जो धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक आदि सभी प्रकार के अधिकारों से प्रायः वंचित रहते हैं।

अर्जुन को चिन्ता इस बात की थी कि कुल-धर्म, अर्थात् कुल की मर्यादाओं की रक्षा करने वाले क्षत्रिय लोग जब संग्राम में मारे जायँगे, तब समाज में उच्छृंखलता आ जाने से विधवा कुल-स्त्रियाँ पवित्र न रह सकेंगी, जिससे वर्णसंकर उत्पन्न होंगे। यद्यपि उस समय विधवा स्त्री का उसके मृत पति के सपिण्ड, सगोत्र अथवा सजातीय पुरुष के साथ नियोग करना श्रेष्ठ धर्म माना जाता था (मनुस्मृति अ० ९ श्लो० ५९), और ऐसे नियोग से उत्पन्न सन्तान, स्त्री के मृत पति के शुद्ध सन्तान माने जाते थे, तथा वे सब प्रकार से उसके उत्तराधिकारी होते थे (मनु० अ० ९ श्लो० १४५), एवं ऐसे सन्तान का दिया हुआ पिण्डोदक भी पितरों को बराबर पहुँचने का विश्वास था। सारांश यह कि उस सन्तान में किसी तरह का दोष नहीं माना जाता था (मनु० अ० ९ श्लो० १८०)। स्वयं कौरव-पाण्डव भी नियोग ही की सन्तान थे, और उपर्युक्त श्लोकों के अनुसार वे अपने को शुद्ध क्षत्रिय और पिण्डदान के पूर्ण अधिकारी मानते थे। परन्तु अर्जुन को भय तो यह था कि युद्ध में जब सारा कुल ही नष्ट हो जायगा, तब कुल की विधवा स्त्रियों से नियोग करने वाला सपिण्ड, सगोत्र अथवा सजातीय पुरुष ही नहीं बचेगा—ऐसी दशा में वे विवश होकर हीन वर्ण के पुरुषों के संयोग से वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न करेंगी और वे वर्णसंकर संतान न तो जाति की मर्यादाओं का यथावत् पालन कर सकेंगे और न उनका दिया हुआ पिण्डोदक ही पितरों को मिलेगा। परिणाम यह होगा कि जाति-धर्म और कुल-धर्म नष्ट हो जाने से

सर्वनाश हो जायगा और पितर भी नरक में पड़ेंगे। उपर्युक्त श्लोकों में "वर्णसंकर" शब्द इसी प्रयोजन से प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है क्योंकि सवर्ण स्त्री-पुरुष के विधिवत् संयोग से उत्पन्न होने वाले सन्तान तो वर्णसंकर होते ही नहीं—चाहे वह संयोग नियोग द्वारा स्थापित किया हुआ हो अथवा विवाह-संस्कार द्वारा।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

अर्थ—सञ्जय बोला कि शोक से अत्यन्त व्याकुल अर्जुन, संग्राम की तैयारी के बीच इस प्रकार कह कर, (और) धनुष बाण त्याग कर रथ के पिछले भाग (पुट्ठे) पर बैठ गया (४७)।

॥ पहला अध्याय समाप्त ॥

× × × ×

अर्जुन का उपरोक्त विषाद वैसा ही है जैसा कि साधारणतया आत्मज्ञान विहीन, आधिभौतिक और आधिदैविक विचारों के लोगों को, इस तरह के विकट अवसरों पर हुआ करता है। उन लोगों की बुद्धि या तो प्रत्यक्ष के सुख दुःख, हानि लाभ, कीर्ति अकीर्ति आदि के विचार तक ही रहती है, अथवा शास्त्रों में कहे हुए धर्माधर्म के अदृष्ट फल और स्वर्ग नरक आदि परोक्ष सुख दुःखों के विचार तक पहुंच कर रह जाती है। इससे अधिक सूक्ष्म अर्थात् आध्यात्मिक विचार तक उनकी बुद्धि नहीं पहुंचती, इसलिए उनके चित्त का विषाद नहीं मिटता। फलतः वे बहुत दुखी होते हैं और विषाद ही में अपना जीवन नष्ट कर लेते हैं। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के उपरोक्त विषाद की निन्दा करके, उसे आधिभौतिक और आधिदैविक विचारों से ऊपर उठ कर आत्मज्ञान युक्त अपने कर्तव्य पालन करने का उपदेश आगे दिया है। इसलिए अर्जुन के उपरोक्त वाक्य "व्यावहारिक वेदान्त" की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखते, और धर्म अधर्म, पुण्य पाप, स्वर्ग-नरक आदि के विचार तथ्य-हीन हो जाते हैं। आगे यही बात स्पष्ट करने के लिए इस प्रथम अध्याय में उपरोक्त पूर्व पक्ष उठाया गया है।

दूसरा अध्याय

सञ्जय उवाच

त तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम ।
विषीदन्तमिद वाक्यमुवाच मधुसूदन ।। १ ।।

अर्थ—सञ्जय बोला कि आँसुओ से परिपूर्ण तथा व्याकुल नेत्रो वाले, करुणा से भरे हुए, शोकाकुल उस (अर्जुन) के प्रति श्रीकृष्ण ने यह वचन कहा (१)।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिद विषमे समुपस्थितम ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।। २।।
क्लैब्य मा स्म गम पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्र हृदयदौर्बल्य त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ।। ३ ।।

अर्थ—श्री भगवान बोले कि हे अर्जुन! (इस) विकट परिस्थिति में तुझे, आर्य लोगो के अयोग्य, सुख और यश का विरोधी यह मोह कैसे हो गया (२)? हे पार्थ! (तू) नपुसक मत हो, यह तेरे योग्य नहीं है। हे शत्रुओ के सहारक! हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता को दूर करके खडा हो (३)।

अर्जुन उवाच

कथ भीष्ममह सङ्ख्ये द्रोण च मधुसूदन ।
इषुभि प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ।। ४ ।।
गुरूनहत्वा हि महानुभावान
श्रेयो भोक्तु भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामास्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान ।। ५ ।।
न चैतद्विद्म कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयु ।

यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

अर्थ—अर्जुन बोला कि हे शत्रुनाशक मधुसूधन ! पूजा के योग्य भीष्म पितामह तथा द्रोणाचार्य के साथ, मैं संग्राम में बाणों से कैसे लड़ूंगा (४) ? बड़े प्रतापशाली गुरु-जनों को मारने की अपेक्षा इस संसार में भीख माँग कर भी निर्वाह करना नितान्त श्रेय-स्कर है; (यद्यपि ये गुरुजन अर्थ-लोलुप हैं, तो भी इन) अर्थ-लोलुप गुरुजनों को मार कर इस लोक में जो भोग मैं भोगूंगा, वे रक्त-रंजित (खून से सने हुए) ही होंगे (५) । इसके अतिरिक्त हम यह भी नहीं जानते कि हम लोग जीत कर राज्य करें तो (सबके लिए) हितकर होगा; अथवा वे लोग जीत कर राज्य करें तो हितकर होगा; और वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र सामने खड़े हैं जिनको मार कर हम जीना ही नहीं चाहते (६) । कृपणता से मेरी बुद्धि मारी गई है, अर्थात् हृदय की संकीर्णता ने मेरी विचार-शक्ति नष्ट कर दी है, और धर्म के विषय में मेरा चित्त मोह से ग्रस्त हो गया है, अर्थात् मोह के वश होकर मैं कर्तव्या-कर्तव्य का निर्णय करने में असमर्थ हो गया हूँ, अतएव मैं आपकी शरण होकर पूछता हूँ कि जो मेरे लिए श्रेयस्कर हो सो आप मुझे बताइए; मैं आपका शिष्य हूँ, आप मुझे शिक्षा दीजिए (७) । यदि सारे भूमण्डल का ऋद्धि-सिद्धि-सम्पन्न निष्कण्टक राज्य, और देवताओं का आधिपत्य अर्थात् स्वर्ग का साम्राज्य भी मिल जाय, तो भी इन्द्रियों को सुखाने वाले, मेरे इस शोक को दूर करने का साधन मैं नहीं देखता (८) ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णींबभूव ह ॥ ९ ॥
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

अथ—सजय बोला कि हे राजन ! इतना कह कर अजुन, भगवान से यह कहता हुआ कि "म नहीं लड ूगा", चुप हो गया (९) । तब दोनो सेनाओ के बीच, विषाद में पडे हुए उस अजुन को श्रीकृष्ण मुस्कराते हुए यह कहने लगे (१०) ।

स्पष्टीकरण—अजन एक शूरवीर, यवहार कुशल, पुण्यवान एव ईश्वर भक्त क्षत्रिय था । दवी-सम्पत्ति के गुणो की उसमे अधिकता थी (गी० अ० १६ श्लो० ५) । लौकिक मर्यादाओ के नीतिशास्त्र और धमशास्त्र का भी वह अच्छा ज्ञाता था । ऐसे विच क्षण बुद्धिमा चतुर कायकर्ताओ मे प्राय प्रेम मत्री, करणा आदि सात्विक भावो की प्रधानता रहती ह, परन्तु आत्मज्ञान बिना कई अवसरो पर, यक्तित्व के भावो की आसक्ति के कारण, उनके वे प्रेम आदि सात्विक भाव मोह में परिणत हो जाते ह जिससे वे लोग बडे बडे अनथ कर बठते ह, फलत उनकी बहुत दुदशा और भयानक पतन हो जाता ह । एसे अवसरो पर लौकिक मर्यादाओ के नीतिशास्त्र तथा धमशास्त्र भी उ हे कोई सहा यता नहीं देते, कि तु उलटा मोह बढाकर उ हे किकत य विमूढ बना देते ह । यही दशा उस समय अजुन की हुई थी । दुष्टो द्वारा अ याय से छीनी गई अपनी पतक सम्पत्ति को पुन प्राप्त करने क निमित्त उसको यद्ध के लिए प्रस्तुत होना पडा था और जिस समय लडाई में शस्त्र चलने ही वाले थे, ठीक उसी समय, दोनो सेनाओ मे अपने [illegible] को मत्यु के सम्मुख उपस्थित देख कर एकाएक उनके प्रति प्रेम, मत्री और करुणा के भाव उसके हृदय में उमड आये । यद्यपि उस समय की परिस्थिति इसके बिलकुल विपरीत—उन दुष्ट आततायियो को, वीरतापूवक लडकर दण्ड देने की थी, पर तु ऐसी विकट अवस्था में भी अजुन के चित्त में अपने बा धवो के भौतिक शरीरो में ममत्व की आसक्ति हो गई, और उनके मारे जाने की सम्भावना से उसके हृदय के वे (प्रेम, मत्री और करुणा के) सात्विक भाव, पलट कर शोक और माह के तामसी भावो में परिणत हो गए । ऐसी अवस्था में नीतिशास्त्रा के ज्ञान ने उसके शोक तथा मोह को बढाने में सहायता दी । धमशास्त्र ने [illegible] की हत्या के घोर पाप का भय बताने के अतिरिक्त, कुल क्षय हो जान से कुल धम तथा जाति धम के नाश होने, अपने एव अपने कुल के निश्चित रूप से नरक में जाने, एव पिण्डोदक क्रिया के लुप्त होने से पितरो के भी नरक में गिर जाने की चिन्ता अलग खडी कर दी । परिणाम यह हुआ कि अजन का कलेजा दहल गया और वह अपने वास्तविक धम, यानी युद्ध से विरक्त होकर, शस्त्र फेक, याकुलता से रोने लगा । अजुन की यह शोचनीय दशा देख कर महायोगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने उसको मूख अज्ञानियो की तरह शोक और मोह करने के लिए गुरु भाव से बहुत फटकारा तथा उसे हृदय की उक्त दुबलता दूर करके यद्ध करने की आज्ञा दी ।

यदि गीता का प्रयोजन केवल युद्ध से विरक्त अजुन को फिर से उत्साहित करके लडाने मात्र ही का होता—जसा कि बहुत से लोग मानते ह—तो वह यहीं पर समाप्त

हो जाती, क्योंकि अर्जुन श्रीकृष्ण को परमेश्वर मानता था (गी० अ० १० श्लो० १२), और उनमें उसका इतना भक्ति थी, तथा उनके वचनो पर इतनी श्रद्धा थी कि वह धर्म शास्त्र के धर्म अधर्म, स्वर्ग नरक, पाप पुण्य आदि के रोचक भयानक वचनो की अवहेलना करके अन्ध श्रद्धा से भगवान की आज्ञा ही का पालन करता और फौरन युद्ध मे प्रवृत्त हो जाता। परन्तु भगवान कृष्ण, जो अखिल विश्व को अपने अन्दर दिखाते है (गी० अ० ११), जो अपने को सबकी आत्मा बताते है (गी० अ० १० श्लो० २०), और जो स्पष्ट कहते है कि "मुझसे भिन्न जगत मे कुछ भी नही है" (गी० अ० ७ श्लो० ७), 'सब लोगो का महान ईश्वर मै ही हू" (गी० अ० ५ श्लो० २९) इत्यादि, उनके द्वारा दिया हुआ सब देश, सब काल तथा सब परिस्थितियो मे सब व्यक्तियो के लिए समान भाव से यथार्थ पथ प्रदर्शक गीता ज्ञान का उपदेश इतना संकुचित नही हो सकता कि वह केवल अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करा देने मात्र के लिए ही परिमित हो। सांसारिक व्यवहारो मे छोटे और बडे सभी कार्यकर्ताओ के सम्मुख—चाहे वे धार्मिक कार्यकर्ता हो या राजनैतिक या आर्थिक अथवा सामाजिक, चाहे गृहस्थ हो या सन्यासी, चाहे वे किसी भी वर्ण के हो अथवा किसी भी पेशे के, जो कुछ भी सांसारिक कार्य करते है उनके सम्मुख—अपनी ।   । नुसार ऐसे विकट अवसर आते ही रहते है, जैसा कि अर्जुन के सम्मुख उपस्थित हुआ था। उदाहरण के लिए, धार्मिक कार्यकर्ताओ के सामने कभी-कभी धर्म के किसी एक अंग—सत्य शौच दया, क्षमा, अहिंसा आदि के साथ, दूसरे किसी अंग के परस्पर में विरोध का प्रश्न उपस्थित होता है, अथवा धर्म प्रचार के कार्य में अनेक लोगो के मन में उद्वेग, पीडा और कही कहीं पर खून-खराबिया होने के प्रसंग भी आ जाते है, राजनैतिक कार्यकर्ताओ के सामने अपने कर्तव्य पालन करने में स्वयं अपने शरीर तथा अपने कुटुम्बियो एवं अन्य लोगो को भारी कष्ट होने तथा भीषण संग्राम में अगणित हत्याएं होने के प्रसंग उपस्थित होते रहते है, आर्थिक कार्यकर्ताओ के सामने अपने कर्तव्य पालन करने में अनेक व्यक्तियो को हानि पहुंचने तथा अनेको की आजीविका मे आघात लगने की सम्भावना प्रतीत होती है, इसी तरह सामाजिक कार्यकर्ताओ के सम्मुख समाज की दशा सुधारने के संघर्ष में अपने बडे-बूढो तथा स्वजन [illegible] व्यथा होने तथा आपस का सामाजिक सम्बन्ध विच्छेद होने आदि की नौबत आ जाती है। तात्पर्य यह कि इस तरह अनन्त प्रकार की कठिनाइया विविध रूप से भिन्न भिन्न कार्यकर्ताओ के सामने आती रहती है, जब कि कर्तव्याकर्तव्य का ठीक-ठीक निर्णय न कर सकने के कारण वे मोह में फस जाते है, और विपरीत आचरण करके अपना तथा दूसरो का घोर अनिष्ट कर लेते है। इस तरह का मोह विशेष अवसरो पर ही उत्पन्न हुआ करता हो, ऐसी बात नहीं है, किन्तु रात दिन के घरेलू व्यवहारो में भी अज्ञानी लोग अपने तथा अपने सम्बन्धियो के भौतिक शरीरो के क्षणिक मोह में अनुचित व्यवहार करके नाना प्रकार की हानिया उठाते रहते है। जिस तरह—

अपने शरीर के विषय-भोग आदि क्षणिक सुखों के लिए उनके परिणाम में बहुत दुःख भोगना; अपने सन्तानों को लाड़-प्यार से खान पान आदि में संयम न रखवा कर विलासी और अस्वस्थ बना देना, अथवा उनके बीमार होने पर कड़वी औषधि आदि का उपचार न करना एवं अशिक्षित रख कर उन का जीवन नष्ट कर देना, इत्यादि।

ऐसे लोगों का मोह दूर करने एवं उन्हें सच्चा रास्ता दिखा कर पतन से बचाने के लिए, अर्जुन के उस मोह को दूर करने के प्रसंग को लेकर भगवान् ने सारे संसार को गीता का सार्वजनिक उपदेश देकर अनन्त प्रकार की उलझनों को निश्चित रूप से सुलझाने का एकमात्र सत्य एवं श्रेयस्कर उपाय बताया है : जिसका अवलम्बन करके प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी योग्यतानुसार संसार का व्यवहार यथायोग्य करता हुआ अपना इहलौकिक अभ्युदय और पारलौकिक निःश्रेयस एक साथ सम्पादन कर सकता है।

अस्तु, जब युद्ध करने की स्पष्ट आज्ञा देने पर भी अर्जुन ने फिर शंका की कि "युद्ध में भीष्म, द्रोण जैसे पूज्यों पर मैं किस तरह शस्त्र चलाऊँ, और इनको मार कर खूनी हाथों से राज्य किस तरह भोगूँ ? क्या अपने स्वजन-बान्धवों को मार कर राज्य-सुख भोगना मेरे लिए श्रेयस्कर है अथवा इन आततायियों से हार मान कर भीख माँग के खाना उत्तम है ? मोह के कारण मैं किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया हूँ, अपने हिताहित का मैं कुछ भी निर्णय नहीं कर सकता; त्रिलोकी का राज्य मिलने पर भी मेरे चित्त को शान्ति नहीं मिल सकती; इसलिए आप कृपा करके, जो मेरे लिए वास्तव में श्रेयस्कर मार्ग हो वह बताइए" (गी० अ०२ श्लो० ४ से ८); तब भगवान् मुस्कराकर, जगत् के हित को लक्ष्य में रखते हुए, अर्जुन को निमित्त करके सब लोगों को कल्याण का मार्ग बताने के लिए गीता-ज्ञान का उपदेश यहाँ से आरम्भ करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।। ११ ।।
न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।। १२ ।।
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।। १३ ।।
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।। १४ ।।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥
अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥
न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

अर्थ—श्रीभगवान् बोले कि जो शोक करने के योग्य नहीं हैं, उनका तू शोक कर रहा है, और बुद्धिमानों की-सी बातें बनाता है; जो (वास्तविक) पण्डित होते हैं, वे मरे हुओं तथा जीवितों का शोक नहीं करते (११)। क्योंकि मैं, तू और ये राजा लोग पहले कभी नहीं थे ऐसी बात नहीं है, और आगे नहीं होंगे ऐसा भी नहीं है (१२)। जिस तरह इस देह में जीवात्मा को बाल्य, युवा और बुढ़ापे की अवस्थाओं का अनुभव हुआ करता है, उसी तरह दूसरे शरीर की प्राप्ति होती है; इस विषय में बुद्धिमानों को मोह नहीं होता (१३)। हे कौन्तेय ! शरीर और उससे सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ एवं विषय आदि*,

*बहुत से टीकाकारों ने "मात्रास्पर्शाः" का अर्थ "इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्बन्ध" किया ह, परन्तु अर्जुन को शोक अपने सम्बन्धियों के हताहत होने के कष्ट का, और उनके मारे जाने के बाद उनसे वियोग होने का था। उस शोक को मिटाने के लिए केवल इन्द्रियों के विषयजन्य सुख-दुःख आदि को "आगमापायी" कहने मात्र से अर्जुन का समाधान नहीं हो सकता था। इसलिए "मात्रास्पर्शाः" का व्यापक अर्थ 'शरीर और उससे सम्बन्ध रखने वाले सभी पदार्थ और विषय आदि' करना उचित है। इन्द्रियों का समूह ही शरीर है।

जो सर्दी-गरमी एवं सुख-दुःख (आदि द्वन्द्वों) के देने वाले होते हैं, वे आने-जाने वाले और अनित्य हैं, अर्थात् प्रतिक्षण परिवर्तनशील होने के कारण वे एक-से नहीं रहते; अतः हे भारत ! उनके संयोग-वियोग को तू सहन कर, अर्थात् शरीर और उससे सम्बन्ध रखने वाले सब पदार्थ अस्थायी होते हैं, इस कारण तू उनके जाने या रहने से व्यथित मत हो (१४) हे पुरुष-श्रेष्ठ ! सुख-दुःख को एक समान[१] मानने वाले जिस बुद्धिमान् पुरुष को ये (शरीर और उसके सम्बन्धी पदार्थों के संयोग-वियोग) व्यथित नहीं करते, वही अमृतत्व, अर्थात् सर्वात्म=परमात्म-भाव को प्राप्त होने में समर्थ होता है (१५)। जो असत् है उसका भाव अर्थात् अस्तित्व नहीं होता, और जो सत् है उसका अभाव नहीं होता; तत्त्वज्ञानियों ने इन दोनों का अन्त देख लिया है, अर्थात् यह अन्तिम निर्णय कर लिया है (१६)। जिससे यह सब (अखिल विश्व) व्याप्त और विस्तृत है, अर्थात् जो स्वयं विश्वरूप होकर सर्वत्र फैल रहा है, उस आत्मा को तू अविनाशी अर्थात् नाशरहित जान; इस निर्विकार का कोई भी नाश नहीं कर सकता (१७)। हे भारत ! नित्य (अपरिवर्तनशील), अविनाशी (नाश-रहित) और अप्रमेय[२] शरीरी[३] (शरीर धारण करने वाले व्यष्टि-भावापन्न आत्मा) के ये (नाम-रूपात्मक अनन्त) शरीर[३] नाशवान् हैं, अतएव तू युद्ध कर (१८)। जो इस (शरीरधारी आत्मा) को मारने वाला, और जो इसको मारा गया मानता है, वे दोनों ही अनजान हैं, यह (शरीरधारी आत्मा) न तो किसी को मारता है, और न किसी से मारा जाता है (१९)। यह न तो कभी जन्मता है, न मरता है; और ऐसा भी नहीं है कि यह (पहले) होकर फिर नहीं होगा। यह कभी उत्पन्न नहीं होता, सदा विद्यमान (और) एक समान रहता है, तथा पुराना (सब का आदि-कारण) है; शरीर के मारे जाने पर भी (यह) मारा नहीं जाता (२०)। जो इसको अविनाशी, नित्य, अजन्मा एवं अविकारी जानता है, हे पार्थ ! वह पुरुष कैसे किस को मरवायेगा और किस को मारेगा (२१)।

स्पष्टीकरण:—गीता के उपदेशों में सर्वत्र बुद्धियोग ही को महत्त्व दिया गया है (गी० अ० २ श्लो० ३९ से ७२, अ० १८ श्लो० ५७), क्योंकि

---

[१] सुख-दुःख की समता का स्पष्टीकरण "व्यावहारिक वेदान्त" प्रकरण में और इसी अध्याय के ४८वें श्लोक के स्पष्टीकरण में देखिए।

[२] आत्मा अप्रमेय इसलिए है कि वह किसी प्रमाण से नहीं जाना जा सकता, क्योंकि अपने से भिन्न वस्तु ही किसी प्रमाण से जानी जाती है। आत्मा तो सबका "अपना आप" है, जो स्वतः प्रमाण है। अतः वह स्वयं-संवेद्य अर्थात् अपना अनुभव रूप ही है। 'मैं हूँ' इसकी सिद्धि के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती।

[३] नाना शरीरों के रूपों में व्यक्त होने वाला शरीरी (आत्मा) एक ही है, इसलिए नाना देहों के लिए बहुवचन और शरीरी (आत्मा) के लिए एक वचन का प्रयोग हुआ है।

ससार के व्यवहार करने में बुद्धि की प्रधानता रहनी चाहिए, और वह बुद्धि जब साम्य भाव मे जुडी हुइ अर्थात आत्मनिष्ठ हो, तभी ससार के व्यवहार पूणतया ठीक ठीक हो सकते ह—यह गीता का सिद्धा त ह (गी० अ० २ श्लो० ४१, अ० १२ श्लो० ४ और अ० १८ श्लो० ३०)। यद्यपि अजुन युद्ध से निवत्त होने की दलीलो मे कौरवो को मूख और अज्ञानी कह कर, उनको कुल-क्षय आदि पापो को जानने के अयोग्य बताता ह और स्वय बुद्धिमान होने का दावा करता हुआ अपने को पुण्य पाप, धम अधम आदि को जानने वाला स्वजन-बा धवो के मारे जाने एव मरे हुए पितरो के नरक मे पडने की तथा ब धजनो के मारने का पाप कमा कर उनके बिना म अकेला जीकर क्या करूँगा ?" इस तरह की चिन्ता करने योग्य मानता ह (गी० अ० १ श्लो० ३२ से ४६) और अजुन की तरह लौकिक विषयो के प्राय सभी पण्डित एव विचक्षण कायकर्ता लोग दूसरो को मूख बता कर स्वय बडे बुद्धिमान होने की बाते बनाया करते ह। पर तु आत्म ज्ञान के अभाव में इन लोगो की बुद्धि राजसी और तामसी होती ह (गी० अ० १८ श्लो० ३१ ३२) जो इस तरह के विकट अवसरो पर काम नही देती। फलत वे लोग अजुन की तरह किंकत य विमूढ होकर रोन चिल्लाने के सिवाय कत याकत य का कुछ भी यथाथ निणय नहीं कर सकते। भगवान, अजुन के इस प्रसग को लेकर ऐसे लोगो की कुछ हँसी सी करते हुए कहते ह कि एक तरफ तो शोक करना और दूसरी तरफ पण्डिताइ की बाते छाटना, क्या यही बुद्धिमत्ता ह ? जो वास्तव मे बुद्धिमान होते ह वे मरने जीने का जरा भी शोक नहीं करते, क्योकि यदि विचार कर देखा जाय तो मरना जीना तत्त्वत कुछ ह नही। "अहम", "त्वम" और "इदम", अर्थात "म", "तू' और "यह" रूप से जो चराचर जगत ह, वह अपने असल एकत्व भाव में अर्थात आत्म-स्वरूप में भूत, भविष्य और वतमान—तीनो ही काल में विद्यमान रहता ह। किसी भी पदाथ की असलियत का सवथा अभाव कभी नहीं होता, क्योकि यह नियम ह कि जो वस्तुत सत ह उसका कभी अभाव नही होता और जो वस्तुत सत नहीं ह उसका भाव कभी नहीं होता पर तु हम सबका भाव अर्थात अस्तित्व प्रत्यक्ष मौजूद ह, अत हम लोगो का वस्तुत अभाव हो नही सकता। जीवात्मा का प्रत्येक स्थूल शरीर, पथ्वी, जल, तेज, वाय और आकाश रूप पच तत्त्वो का सम्मिश्रण होता ह, और वे पच तत्त्व शरीररूप होने के पहले तथा शरीर छूटने के बाद भी सदा विद्यमान रहते ह। शरीर छूट जाने पर भी पच तत्त्वो का नाश नही होता किन्तु उनका सम्मिश्रण एक नाम और एक रूप बदल कर दूसरा नाम और दूसरा रूप धारण कर लेता ह (गी० अ० २ श्लो० २२)। यदि स्थूल शरीरो को धारण करने वाले सूक्ष्म शरीर का विचार किया जाय तो वह स्थूल शरीरो को धारण करने के पहले और उनको छोडने के

बाद भी बना ही रहता है, और यदि सूक्ष्म शरीर के बीज—कारण शरीर का विचार किया जाय तो वह, स्थूल और सूक्ष्म, दोनो की अनुपस्थिति मे भी बीज-रूप से अपनी प्रकृति (स्वभाव) में बना ही रहता है। अव्यक्त कारण शरीर व्यक्त होकर सूक्ष्म रूप धारण करता है, और सूक्ष्म शरीर घनीभूत होकर स्थूल बन जाता है। फिर स्थूल उलट कर अपने कारण सूक्ष्म में और सूक्ष्म अपने बीज-रूप कारण में लय हो जाता है। इस तरह शरीरो की उत्पत्ति और लय होते रहते है (गी० अ० ८ श्लो० १८ १९)। जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर के, और स्वप्न में सूक्ष्म शरीर के व्यवहार होते है, और सुषप्ति अर्थात गाढ़ निद्रा में कारण शरीर अविद्या रूप तमोगण में विश्राम करता है। स्थूल से सूक्ष्म की स्थिरता अधिक है और सूक्ष्म से कारण की अधिक है, इसलिए ये उत्तरोत्तर एक दूसरे की अपेक्षा अधिक सत कहे जा सकते है परन्तु स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनो शरीरो को धारण करने वाला, अर्थात शरीर रूप बनने वाला व्यष्टि आत्मा (जीवात्मा), जिसको देही शरीरी अथवा क्षेत्रज्ञ भी कहते है, वह निरपेक्ष सत है, और वह सभी अवस्थाओ में इकसार अर्थात निर्विकार रहता है—उसमें सुख दुःख आदि द्वन्द्वो के कोई विकार वस्तुत नहीं होते (गी० अ० २ श्लो० २०से २४) क्योकि वह सर्वात्मा =परमात्मा अथवा ब्रह्म ही का व्यष्टि भाव है (गी० अ० १५श्लो० ७ से११तक)।

सर्वात्मा=परमात्मा अथवा ब्रह्म, स्वेच्छा से अपनी परा प्रकृति द्वारा व्यष्टि भावापन्न नाना जीव रूप होकर अपनी परिवर्तनशील त्रिगुणात्मक अपरा प्रकृति के विस्ताररूप सूक्ष्म, स्थूल एव कारण शरीरो तथा उनके समूह स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत की रचना, पालन और संहार करता है (गी० अ० ७ श्लो० ४ से ६)। वास्तव में व्यष्टि भावरूप जीव वस्तुत सर्वात्मा=परमात्मा अथवा ब्रह्म से भिन्न नहीं है, किन्तु वह सब ब्रह्म-रूप ही है (गी० अ० १३ श्लो० २२), परन्तु व्यक्तित्व के अहंकार और राग द्वेषादि द्वन्द्वो को स्वीकार कर लेने से वह अपने असली स्वरूप=सर्वात्म भाव को बिसार कर अपने को सुखी दुःखी परतन्त्र, अल्पशक्तिमान एव अल्पज्ञ मानता है (गी० अ० ७ श्लो० २७ अ० १३ श्लो० २० २१)। और जब वह अपने व्यक्तित्व के भाव के राग-द्वेषादि द्वन्द्वो के आवरण (परदे) से परे, अपने असली स्वरूप=सर्वात्म भाव का पुनः अनुभव कर लेता है तो अपने परमात्म भाव में स्थित हो जाता है (गी० अ० ४ श्लो० १०), क्योकि परमात्मा अथवा ब्रह्म तो वस्तुत वह है ही (गी० अ० ५ श्लो० १९ से २६)। जैसे सूत के ताने और बाने से भांति भांति के कपडो का बनाव होता है, परन्तु विचार कर देखा जाय तो कपडा वास्तव मे सूत के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता—केवल सूत ही होता है। उसी तरह जड और चेतन, व्यष्टि और समष्टि, परमात्मा अथवा ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नही है, वस्तुत सब एक ही है। (गी० अ० ७ श्लो० ७, अ० १० श्लो० ३९)।

जीवात्मा के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर, अथवा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ, अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान दशा की है क्योंकि इन अवस्थाओ में वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरो ही में अहभाव रखता है। इन तीन अवस्थाओ से परे चतुर्थ अवस्था निर्गुण आत्मानुभव की है, जिसको तुरीय अवस्था कहते है। यह ध्यानयोग अथवा ज्ञानयोग की समाधि अवस्था है (गी० अ० ६ श्लो० १८ से २८)। इस अवस्था में पिण्ड की दृष्टि से स्थूल सूक्ष्म और कारण—तीनो शरीर और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत का अपने आप=आत्मा में लय (एकीकरण) हो जाता है और आत्मा निरुपाधिक अर्थात निर्गुण भाव के स्वानुभव में स्थित रहता है।

निर्गुण और सगुण, समष्टि और व्यष्टि, चेतन और जड आदि द्वन्द्व एक ही आत्मा अथवा ब्रह्म के दो सापेक्ष—धनात्मक (Positive) और ऋणात्मक (Negative)—भाव है और एक की अपेक्षा से दूसरे का अस्तित्व है। आत्मा सगुण की अपेक्षा से निर्गुण और व्यष्टि की अपेक्षा से समष्टि कहा जाता है, अत वास्तव में वह सगुण होता हुआ भी निर्गुण है और व्यष्टि होता हुआ भी समष्टि है जगत के व्यवहार करता हुआ भी अकर्ता है, और कुछ नहीं करता हुआ भी सब कुछ करता है (गी० अ० ९ श्लो० ४ ५ अ० १३ श्लो० १२ से १७ अ० १५ श्लो० १५ से २०)। एक अखण्ड, एव सम आत्मा में दोनो विरोधी भावो का एकत्व होने से, दोनो म से एक का भी स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता, किन्तु दोनो शान्त हो जाते है और वह सम आत्म-तत्त्व, जो सबका अपना आप" है, स्वमहिमा में स्थित रहता है। **वस्तुत वह न सगुण है न निर्गुण, न व्यष्टि है न समष्टि, न जड है न चेतन, न एक है न अनेक, और न सत है न असत—जो कुछ है सो सब "अपना आप" ही है। वह पद वर्णनातीत, स्वय सवेद्य अर्थात केवल स्वानुभव का विषय है।** (गी० अ० १० श्लो० १२ से १५)।

जिस तरह बाइस्कोप के दिखाव में एक श्वेत और स्वच्छ परदा होता है उस पर पहले अधेरे की छाया डाली जाती है, फिर उस छाया में एक गोलाकार प्रकाश पडता है, और उस प्रकाश में भाति भाति के दिखाव प्रदर्शित होते है, उसी तरह निर्विकार आत्म तत्त्व रूपी शुद्ध परदे पर, जब उसकी इच्छा, अथवा प्रकृति का तमोगुण रूपी अधेरा होता है—वह कारण शरीर है, और उस अधेरे के अन्दर जो सत्वगुण रूपी प्रकाश पडता है—वह मनोमय सूक्ष्म शरीर है, और उस प्रकाश में नाना रजोगुण रूपी अनन्त प्रकार के चित्र दिखाई देते है—वह स्थूल शरीर है। परदे पर अधेरा, प्रकाश और भाति भाति के चित्र पडते तथा मिटते रहते है परन्तु परदा निर्विकार रहता है उस पर अधेरे, प्रकाश और चित्रो का कोई प्रभाव नहीं पडता, उसी तरह आत्मा पर तीनो शरीरो की अवस्थाओ

का वस्तुत कुछ भी प्रभाव नही पडता—वह सदा अलिप्त और निर्विकार रहता ह। बाइस्कोप के दष्टा त में श्वेत परदे पर छाया, प्रकाश और चित्र बाहर से पडते ह, परन्तु स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर, आत्मा से भिन्न नहीं ह—कि तु आत्मा ही की त्रिगुणात्मक प्रकृति के बनाव ह—अत वे आत्मा में ही उत्पन्न और लय होते ह—यह अ तर ह। दष्टा त और दार्ष्टा त में कुछ न कुछ अन्तर होता ही ह।

साराश यह ह कि आधिभौतिक, आधिदविक और आध्यात्मिक—तीनो दष्टियो से विचार किया जाय तो मरना-जीना वास्तव में कुछ ह नही। जन्म लेने और मरने का अथ यही ह कि "यष्टि भावापन्न जीवात्मा मनोमय सूक्ष्म शरीर से किसी विशेष नाम और विशेष स्वरूप के स्वाग को बदल कर दूसरा नाम और दूसरा रूप धारण करता ह। जिस तरह शरीर को बचपन, जवानी और बु ापा आता ह तब केवल अवस्थाओ का परिवतन होता ह, अर्थात 'बालक सज्ञा बदल कर 'जवान' कहलाने लगता ह और 'जवान' बदल कर 'बुडढा' कहलाने लगता ह, तथा 'बालक' का रूप बदल कर 'जवान' हो जाता ह और 'जवान का रूप बदल कर बुडढ का रूप हो जाता ह परन्तु जीवात्मा वही विद्यमान रहता ह। जिस तरह एक "यक्ति एक समय मे "यायाधीश का काम करता ह दूसरे समय में किसी सावजनिक सस्था की सेवा करता ह, तीसरे समय म किसी नाटक के अभिनय में भाग लेता ह, चौथ अवसर पर किसी "यापारी कम्पनी के सचालन (Directorship) का काय करता ह, अवकाश के समय किसी खेल में भाग लेता ह यद्यपि व्यक्ति तो एक ही ह, परन्तु भिन्न भिन्न कार्यों के अनुसार उसकी उपाधिया भिन्न भिन्न होती ह। जब "यायाधीश की पोशाक पहिन कर "यायासन पर बठता ह तो वह "यायाधीश कहा जाता ह, सस्था का काय करता ह तो उसका पदाधिकारी कहा जाता ह, नाटक में अभिनय करता ह तो अभिनेता कहा जाता ह कम्पनी का सचालन करता ह तो सचालक कहा जाता ह, खेल में भाग लेता ह तो खिलाडी कहा जाता ह, अपने घर जाता ह तब पिता का पुत्र, पत्नी का पति पुत्र का पिता नौकर का स्वामी आदि भिन्न भिन्न उपाधियाँ होती ह परन्तु वास्तव में "यक्ति एक ही होता ह। उसी तरह एक ही आत्मा की अनेक उपाधियाँ होती ह। जीवात्मा कभी स्थल शरीर रूप से, कभी सूक्ष्म शरीर रूप से और कभी कारण शरीर रूप से रहता ह। कभी किसी एक नाम और एक रूप का शरीर धारण कर लेता ह और कभी किसी दूसरे का। जिस तरह जल-तत्त्व कभी सूक्ष्म भाप-रूप हो जाता ह, कभी तरल पानी-रूप, और कभी जम कर स्थूल बफ बन जाता ह। यह केवल नाम और रूप का परिवतन होना ह, इस परिवतन से जल-तत्त्व का नाश नहीं होता। उसी तरह शरीरो के नामो और रूपो के दिखाव का परिवतन होते रहने पर भी उनके मूल भूत आत्म तत्त्व का कुछ भी बनना बिगडना नही। नाम और रूप कल्पित होते ह, और कल्पनाए अनन्त होती ह, इसलिए नाम रूप भी अनन्त होते ह। कल्पनाए समद्र की तरगो की तरह

एक के बाद दूसरी लगातार उठती और निरंतर बदलती रहती है—एक क्षण भर भी स्थिर नहीं रहती इसलिए वे सत नहीं होती और इस जगत की नाम रूपात्मक अनेकताएँ भी कल्पनाओ की सष्टि होने के कारण सत नही होती और सत नही होने के कारण वे भाव रूप भी नही होती अर्थात आत्मा से भिन्न उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। जिस तरह तरग एक दूसरी से भिन्न प्रतीत होती है परन्तु वास्तव में वे भिन्न नहीं होती—सब जल रूप ही होती है—जल के अस्तित्व से ही उनका अस्तित्व है, जल की प्रतीति ही उन की प्रतीति है, उसी तरह नाम रूपात्मक जगत का नानात्व सत नही है, सब एक ही आत्मा के अनेक रूप है—आत्मा के अस्तित्व से ही उनका अस्तित्व है और आत्मा की प्रतीति ही उनकी प्रतीति है।

ससार म अनन्त प्रकार के सुख दु खो की जो वेदनाए प्रतीत होती है वे शरीर और उससे सम्बन्ध रखने वाले पदार्थो के सयोग वियोग से उत्पन्न होती है, और जब शरीर तथा उसके सम्बन्धी पदार्थ एव विषय ही उत्पत्ति नाशवान एव प्रतिक्षण बदलने वाले होने के कारण कल्पित नामो और रूपो के दिखाव मात्र है, तो उनके सयोग वियोग से उत्पन्न होन वाले सुख दु खादि द्वन्द्व भी कल्पित अत अवास्तविक ही होते है। इसलिए शरीरो की पीडा, व्याधि और मरने आदि के कष्टो एव सयोग वियोग से व्याकुल होना बुद्धिमत्ता नही है। जो वास्तव मे बुद्धिमान होते है, वे शारीरिक सुख दु खो और सयोग वियोग को एक समान असत समझ कर अविचलित रहते है, और शरीरो को धारण करने वाले आत्मा को वे निर्विकार एव सदा एक सा रहने वाला समझते है इसलिए उनकी दृष्टि में मरना और मारना कुछ भी तथ्य नहीं रखते।

अस्तु, इस तथ्य को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि शरीरो के बनाव सब परिवर्तनशील एव नाशवान है, अत ये कभी स्थायी नहीं रह सकते, और इन शरीरो को धारण करने वाला जीवात्मा सत नित्य एव अविनाशी है, अत उसका कभी किसी से नाश नहीं हो सकता। इसलिए इन नाना भाति के दिखावो के परिवर्तन-रूप मरने-जीने के विषय म कुछ भी शोक और मोह न करके, सबको अपने-अपने नियत कर्म दृढतापूर्वक करते रहना चाहिए।

वासासि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा
न्यन्यानि सयाति नवानि देही॥ २२॥

अर्थ—पुराने (अनुपयुक्त) वस्त्रो को त्याग कर मनुष्य जैसे दूसरे नये वस्त्र धारण करता है, वैसे ही पुराने अर्थात अनुपयुक्त शरीरो को छोड कर, जीवात्मा दूसरे नये शरीरो को धारण किया करता है (२२)।

स्पष्टीकरण—जिस तरह नाटक के खेल में राजा, सिपाही, कैदी, धनी, निर्धन आदि के स्वाँग करने वाले पात्र, अपने-अपने स्वाँग की पोशाक पहिनते हैं, और जब तक अपना पार्ट बजाने के लिए वह उपयुक्त रहती है तब तक उसे रखते हैं, उपयुक्त न रहने पर उसको उतार देते हैं और जिस दूसरे स्वाँग का पार्ट लेते हैं, उसके उपयुक्त दूसरी पोशाक पहिन लेते हैं—पोशाक उतारने और बदलने से स्वाँग करने वाले एक्टर (पात्र) का कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं, एक पोशाक उतारने और दूसरी पहिनने में वह कुछ भी शोक नहीं करता; उसी तरह इस जगत्-रूपी नाटक में जीवात्मा-रूपी एक्टर (पात्र) शरीर-रूपी पोशाक धारण करता है, और जब तक वह उपयुक्त रहती है तब तक उसे रखता है, परन्तु जब वह अनुपयुक्त हो जाती है, तो उसको उतार कर दूसरी उपयुक्त पोशाक धारण कर लेता है। शरीर-रूपी पोशाक बदलने में जीवात्मा-रूपी एक्टर का कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। इसलिए शरीर के जन्मने-मरने को कपड़े बदलना समझ कर, शोक नहीं करना चाहिए।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २५॥

अर्थ—इस (शरीर धारण करने वाले जीवात्मा) को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी गला (सड़ा) नहीं सकता, (और) हवा सुखा नहीं सकती (२३)। यह न काटा जा सकता है, न जलाया जा सकता है, न गलाया (सड़ाया) जा सकता है और न सुखाया जा सकता है; यह नित्य, सबमें व्यापक, सदा स्थित, नाशरहित और अनादि है। तात्पर्य यह कि जो शरीरों में है, वही शस्त्रों में, तथा वही अग्नि, जल और हवा में है; उससे भिन्न कोई वस्तु है नहीं, फिर कौन किसको काटे, जलावे, गलावे या सुखावे (२४)। यह (शरीर धारण करने वाला जीवात्मा) अव्यक्त है, अर्थात् इन्द्रिय-गोचर नहीं होता; यह अचिन्त्य है, अर्थात् मन से इसका चिन्तन नहीं किया जा सकता; और यह अविकारी कहा गया है, अर्थात् वृद्धि, क्षय आदि विकारों से रहित है; इसलिए इसको ऐसा जान कर तुझे शोक नहीं करना चाहिए (२५)।

स्पष्टीकरण—जिस प्रकार खाँड के खिलौनों की तलवार, कटारी, बर्छी आदि, खाँड ही के स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी आदि को काट नहीं सकते; वे यदि आपस में टकरा जायँ, तो सभी खाँड-रूप हो जाते हैं, और पहले भी वास्तव में वे सब खाँड ही थे, अतः

वस्तुतः उनका नाश नहीं होता; उसी तरह एक ही आत्म-तत्त्व के अनेक नाम-रूपात्मक जड़ और चेतन पदार्थ आपस में किसी का वस्तुतः नाश नहीं कर सकते। इसलिए उनके विषय में शोक करना अयुक्त है।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ।। २६ ।।
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।। २७ ।।
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।। २८ ।।

अर्थ—और यदि तू (आधिभौतिकता ही को सत् और सब कुछ मानने वालों की तरह) इस (देहधारी जीवात्मा) को (शरीर के साथ) सदा जन्मने वाला और सदा मरने वाला मानता है, तो भी हे वीर! इस प्रकार शोक करना तुझको उचित नहीं (२६)। क्योंकि जन्मे हुए का मरण और मरे हुए का जन्म अवश्यम्भावी है, इस कारण अवश्य होनहार बात में तुझे शोक नहीं करना चाहिए (२७)। हे भारत! सभी भौतिक पदार्थ आदि में (अपनी उत्पत्ति से पहले) अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों के अगोचर रहते हैं, मध्य में व्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर होते हैं, और अन्त में फिर अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों के अगोचर हो जाते हैं; फिर इस विषय में शोक किस बात का (२८)?

स्पष्टीकरण—गीता, किसी भी दार्शनिक मत का सर्वथा तिरस्कार नहीं करती, क्योंकि उसमें सर्वत्र एकता ही का प्रतिपादन है, अतः वह उन सब का समन्वय कर देती है। प्रसंगवश जहाँ किसी मत का उल्लेख हुआ है, वहाँ जिस हद तक उस मत की पहुँच हुई है, वह दिखाकर कहती है कि 'यहीं मत ठहरो, इतना ही सब कुछ नहीं है, इससे आगे और बढ़ने की आवश्यकता है' यह कह कर जो सच्ची वस्तुस्थिति है वह स्पष्ट कर देती है। इस स्थल पर शरीर धारण करने वाले देही (जीवात्मा) के विषय में भौतिकवादियों का जो मत है उसको दिखा कर, गीता उसके अनुसार भी शोक करने की अयुक्तता सिद्ध करती है। भौतिकवादी लोग इन्द्रियगोचर पदार्थों ही को सत् मानते हैं, इन्द्रियातीत वस्तुओं का अस्तित्व नहीं मानते। इसलिए उनका मत है कि पंच भूतों के सम्मिश्रण से जब शरीर उत्पन्न होता है तब उसके साथ ही चेतना भी उत्पन्न हो जाती है, और शरीर के नाश के साथ चेतना का भी नाश हो जाता है—जीवात्मा शरीर से कोई भिन्न वस्तु नहीं है। अस्तु, भगवान् अर्जुन को कहते हैं कि यदि यह भी मान लिया जाय तो भी तुझे शोक नहीं करना चाहिए; क्योंकि इस दृष्टि से भी जो वस्तु उत्पन्न होती है उसका नाश होना निश्चित है, यह बात प्रत्यक्ष देखने में भी आती है; और जिस वस्तु का नाश होता है, उसका पुनः उत्पन्न

होना भी अवश्यम्भावी है, क्योंकि यदि कोई पदार्थ नष्ट होकर फिर से उत्पन्न न हो, तो नाश होते होते उसका सर्वथा अभाव हो जाय परन्तु सर्वथा अभाव किसी पदार्थ का होता नही दीखता, और उत्पत्ति का क्रम प्रत्यक्ष में जारी भी है। अतः जब यह माना जाय कि शरीर के साथ चेतना मरती रहती है, तो यह भी मानना होगा कि उसके साथ उत्पन्न भी अवश्य होती है। इसलिए शोक करने का कोई कारण नही है।

उत्पत्ति और नाश का द्वन्द्व भी सापेक्ष है। एक के होने के लिए दूसरे का होना आवश्यक है। दोनो मे से किसी एक का स्वतन्त्र अस्तित्व नही होता आत्मा मे दोनो सम अर्थात शान्त हो जाते है। इसलिए जन्मना मरना वास्तव मे कोई वस्तु है नही।

सभी भूत प्राणी स्थूल रूप से इन्द्रिगोचर होने के पहले, अर्थात अपनी उत्पत्ति से पहले, अव्यक्त यानी सूक्ष्म रूप मे रहते है—इन्द्रियो को प्रतीत नही होते, और उत्पत्ति के बाद, अर्थात पञ्च भूतो के आपस के सम्मिश्रण से स्थूल रूप धारण करने पर व्यक्त होते है, अर्थात इन्द्रियो द्वारा देखे, सुने सूघे, चखे और छुए जा सकते है और फिर जब इनका नाश होता है अर्थात जब पञ्च भूतो का सम्मिश्रण बिखर जाता है तब फिर अव्यक्त हो जाते है, यानी स्थूल शरीर रूपी पोशाक बदल कर सूक्ष्म हो जाने के कारण इन्द्रियो के अगोचर हो जाते है। ऐसी दशा मे जब भूत प्राणियो का व्यक्त और अव्यक्त होना ही जन्मना और मरना है तो शोक किस बात का ?

> आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन
> माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्य ।
> आश्चर्यवच्चैनमन्य शृणोति
> श्रुत्वाप्येन वेद न चैव कश्चित ॥ २९ ॥

अर्थ—इस (देह धारण करने वाले आत्मा) को, अर्थात जगत रूपी खेल के इस खिलाडी को, कोई आश्चर्यान्वित होकर देखता है, कोई आश्चर्यान्वित होकर (इसका) वर्णन करता है, कोई इसके विषय में [illegible] होकर सुनता है, और सुन कर भी कोई इसको जान नही सकता (२९)।

स्पष्टीकरण—जिस तरह जादू का खेल करने वाला ऐन्द्रजालिक (जादूगर), जब अनेक प्रकार के रूप धारण करता है और अनेक प्रकार के अदभुत बनाव एक ही काल में लोगो को दिखाता है, तब दर्शक लोग उसके असली स्वरूप को न जान कर आश्चर्य चकित हुए उस (जादूगर) के जादू के बनावो को देखते है, और उसके जादू के वास्तविक रहस्य को न जान कर आश्चर्यचकित हुए अनेक प्रकार की अटकले लगा लगा कर उसके विषय मे तरह तरह की बाते करते रहते है, और बहुत से लोग उन बातो के तथ्यातथ्य को न समझते हुए, आश्चर्यचकित होकर सुनते रहते है फिर भी उन देखने वालो, कहने

वालो और सुनने वालो मे से उस जादू के खेल के वास्तविक रहस्य को, अर्थात अदभुत जादूगर को यथाथ रूप से कोई विरला ही जान सकता है। क्योकि सब लोगो का ध्यान केवल उस खेल के भाति भाति के बनावो पर ही रहता है—उसके खिलाडी तक नही पहुचता। यदि वे खिलाडी का साक्षात्कार करले, तो फिर आश्चय मे डूबे न रहे। इसी तरह केवल भौतिक जगत के नानात्व ही मे उलझे रहने वाले लोग इस जगत रूपी इन्द्र जाल के जादूगर—आत्मा (वास्तविक अपने आप) को यथाथ रूप से न जान कर उसके खेल ही को आश्चर्यान्वित हुए देखते अनेक तरह की अटकले लगा लगा कर भाति भाति के वणन करते तथा सुनते रहते है और जब तक आधिभौतिकता के परदे को लाघ कर आध्यात्मिकता के सूक्ष्म विचार मे प्रवेश करके इस खेल के खिलाडी (आत्मा यानी अपने वास्तविक आप) को नही जान लेते तब तक आश्चय म ही पडे रहते है।

देही नित्यमवध्योऽय देहे सवस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्व शोचितुमहसि ॥ ३० ॥

अथ—हे भारत! सबके शरीरो मे (जो एक ही) देही (आत्मा है वह) कभी मारा जाने वाला नही है इस कारण तुझे किसी भी भूत प्राणी के विषय मे शोक नहीं करना चाहिए (३०)।

स्पष्टीकरण—ससार में तृण से लेकर सुमेर और हिमालय पयन्त तथा चीटी से लेकर ब्रह्मा पयन्त, छोटे बडे भाति भाति के जड और चेतन अगणित भौतिक शरीर है, वे सब अस्थायी—क्षण क्षण म बदलने वाले है परन्तु उनको धारण करने वाला देही (आत्मा) एक ही है और वह सदा एक सा रहने वाला अथात अपरिवतनशील तथा अविनाशी है। तात्पय यह कि एक ही अविनाशी आत्मा म जो नाम रूपात्मक नानात्व प्रतीत होता है, वह सब असत है और उसका एकत्व सत है, इसलिए इस नाम रूपात्मक असत नानात्व के विषय म शोक करना मूखता है।

× × ×

यहा तक स्वजन बान्धवा के मारे जाने, उनको पीडा होने तथा उनसे वियोग होने आदि के लिए जो शोक और मोह हुआ करते है उनकी निवृत्ति के लिए भगवान ने अजुन के प्रसग को लेकर ससार का ज्ञान का उपदेश दिया। जिससे शोक और मोह की निवृत्ति तो अवश्य होती है, परन्तु यह प्रश्न रह ही जाता है कि जब नाम रूपात्मक जगत का नानात्व असत है, तो इस झूठे प्रपच के लिए घोर पापात्मक कम किये ही क्यो जाय? इस शका का समाधान भगवान पहले उन्ही लोगो के मत से करते है, जो अजुन की तरह शास्त्रो की दुहाई देकर युद्धादिक कर्मों से इसलिए निवृत्त होना चाहते है कि 'ये कम करने से धम डूब जायगा पाप लगेगा तथा नरको मे गिरना होगा।" भगवान उन्ही लोगो के धार्मिक विश्वास के आधार पर सिद्ध करते है कि अपने कतव्य कम करने से पाप

नही लगता, कि तु उनके न करने से धम का विपर्यास होकर दुगति होती ह, इसलिए अपने कत य कम सब को अवश्य करना चाहिए ।

स्वधममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमहसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽ यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।। ३१ ।।
यदृच्छया चोपपन्न स्वगद्वारमपावृतम ।
सुखिन क्षत्रिया पाथ लभ ते युद्धमीदशम ।। ३२ ।।
अथ चेत्त्वमिम धम्य सग्राम न करिष्यसि ।
तत स्वधम कीर्ति च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।। ३३ ।।
अकीर्ति चापि भूतानि कथयिष्य ति तेऽव्ययाम ।
सभावितस्य चाकीर्तिमरणादतिरिच्यते ।। ३४ ।।
भयाद्रणादुपरत मस्य ते त्वा महारथा ।
येषा च त्व बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम ।। ३५ ।।
अवाच्यवादाश्च बहू वदिष्य ति तवाहिता ।
नि द तस्तव सामथ्य ततो दु खतर नु किम ।। ३६ ।।
हतो वा प्राप्स्यसि स्वग जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौ तेय युद्धाय कृतनिश्चय ।। ३७ ।।
सुखदु खे समे कृत्वा लाभालाभो जयाजयो ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नव पापमवाप्स्यसि ।। ३८ ।।

अथ—यदि तू अपने धम* को देखे तो भी तुझे विचलित होना उचित नहीं ह, क्योकि क्षत्रिय के लिए धम-युद्ध से अधिक श्रेयस्कर और कुछ भी नही ह (३१) । और हे पाथ ! अपने आप (बिना बुलाये) उपस्थित, एव खुले हुए स्वग के द्वार रूप इस तरह के युद्ध का अवसर पुण्यात्मा क्षत्रिय ही पाते ह (३२) । यदि तू यह धम-युद्ध न करेगा तो अपने (उक्त) धम और कीर्ति (प्रतिष्ठा) को खोकर पाप का भागी बनेगा (३३) । साथ ही जन-साधारण निरन्तर तेरी नि दा करते रहेगे, और माननीय पुरुष के लिए नि दा, मत्यु से भी बढकर होती ह (३४) । महारथी लोग तुझे डर के मारे युद्ध से हटा हुआ समझेंगे, और जिनकी दष्टि मे (आज तक) तू मा यवर था, उ ही की दष्टि में बहुत गिर जायगा (३५) । तेरे शत्रु लोग तेरे सामथ्य (बल) की नि दा करते हुए न कहने योग्य बहुत सी बाते तेरे विषय में कहेगे—इससे अधिक दु ख और क्या होगा (३६) ? यदि तू मारा

---

* आग तीसरे अध्याय के ३५ वे श्लोक का स्पष्टीकरण देखिए ।

गया तो स्वग पावेगा, और यदि जीत गया तो पथ्वी (का राज्य) भोगेगा इसलिए हे कौन्तेय ! तू निश्चय करके युद्ध के लिए उठ खडा हो (३७)। सुख दु ख हानि लाभ और जीत हार को समान मान कर युद्ध मे जुट जा, ऐसा करने से तुझे पाप नही लगेगा (३८)।

स्पष्टीकरण—अजन ने धमशास्त्र के आधार पर कहा था कि "युद्ध मे पूज्यो तथा स्वजन-बान्धवो की हिसा का पाप होगा कुल के नाश होने से कुल धम तथा जाति धम नष्ट होगे और सब नरक मे पडेगे, अत ऐसे युद्ध की अपेक्षा तो भीख माग कर निर्वाह करना ही श्रेयस्कर ह।" भगवान यहा पर उसी धमशास्त्र के अनुसार अजन को युद्ध करने की धार्मिकता बताते हुए कहते ह कि कौरवो द्वारा अन्याय से छीनी गई अपनी पतक सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए अनिच्छा से तुझे युद्ध करने के निमित्त उद्यत होना पडा ह, किसी के स्वत्व छीनने या किसी पर अन्याय करने के लिए तूने युद्ध नहीं ठाना ह, इस कारण तेरे लिए यह धम-युद्ध ह। इस तरह का धम-युद्ध करना, तथा दुष्ट आततायियो को दण्ड देने के लिए उनसे लडना, धमशास्त्रो ने क्षत्रियो का श्रेष्ठ धम माना ह। अत जिन शास्त्रो का तू आधार लेता ह, उन्ही के प्रमाणो से इस अवसर पर लडना तेरा परम पवित्र कतव्य ह। कुल और जाति के धम तो तेरे कथनानसार युद्ध में जब सब मारे जायगे तभी नष्ट होगे, और पाप भी (यदि होगा तो) उनके मारे जाने पर ही होगा परन्तु तेरा धम तो अपने इस कतव्य कम से विमुख होते ही उसी समय नष्ट हो जायगा, और जनता में तेरी इतनी निन्दा होगी कि तू जीता ही मुरदा हो जायगा और लोगो में मुह दिखाने लायक भी नही रहेगा, क्योकि बडे-बडे न्याय-कुशल पुरुष अपमानपूवक जीने की अपेक्षा मर जाना अच्छा समझते ह। इस धम-युद्ध से नरक मे पडने की बात ही क्या—धमशास्त्र तो ऐसे युद्ध में मारे जाने वालो के लिए स्वग का द्वार सदा खुला बताते ह। अत तू यदि युद्ध में मारा जायगा तो शास्त्रानुसार स्वग मिलना निश्चित ह, और यदि जीत गया तो दुष्ट आततातियो से पथ्वी को मुक्त करके स्वय सुखपूवक उसको भोगेगा और प्रजा को भी सुखी करेगा। शेष रही पाप लगने की बात, सो अपने व्यक्तिगत स्वाथ की आसक्ति न रख कर सबके हित के लिए अपने कतव्य कम करने में जो सुख, दु ख, हानि, लाभ, जय, पराजय, प्राप्त हो जाय, उनको एक समान जानते हुए, अपने कतव्य पर आरूढ रहने से तुझे कोई पाप नहीं लगेगा क्योकि अपने व्यक्तित्व के लिए सुख, जय और लाभ आदि की प्राप्ति की इच्छा से जो कम किये जाते ह, उन्हीं से पाप का बन्धन होता ह। सुख दु ख आदि पर लक्ष्य न रख कर अपने कतव्य की दष्टि से जो कम किये जाते ह, उनसे पाप का बन्धन नही होता। (प्रत्यक्ष मे भी देखने में आता ह कि व्यक्तिगत स्वाथ की आसक्ति बिना, अपनी डयूटी बजाने अर्थात कतव्य पालन करने में किसी से कोई हिंसा आदि हो जाती ह तो वह दण्ड का भागी नहीं होता।)

यहाँ पर यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि श्लोक ३३ से ३७ तक जो पुण्य, पाप,

कीर्ति, अकीर्ति, मान, प्रतिष्ठा, स्वग प्राप्ति और राज्य सुख भोगने आदि की बातें भगवान ने कही ह, वे सिद्धान्त रूप से नही कही ह, किन्तु अजन के कहे हुए धमशास्त्र के अनसार ही युद्ध करने की धार्मिकता और साथकता दिखाने के निमित्त कही ह क्योकि आगे चलकर भगवान राज्य और स्वर्गादि की प्राप्ति की व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के लिए कम करने का निषध करते ह, और जय पराजय, हानि अपहानि आदि म सम रहने का अजुन को बार बार उपदेश देते ह।

× × ×

भगवान ने अजन का शोक और मोह मिटाने के प्रसग मे पहले आत्मज्ञान का वणन किया, फिर अजन ही के माने हुए धमशास्त्रानसार उसे अपने धम पालन करने के लिए युद्ध करने की आवश्यकता बताकर युद्ध से होने वाली हिसा के पाप से बचने के लिए उसे सुख और दुख, हानि और लाभ जय और पराजय को एक समान समझ कर युद्ध करने अर्थात निष्काम कम करन का उपदेश दिया। परन्तु कोरे आत्मज्ञान से तथा कोरे धमशास्त्रो के प्रमाणो से एव कोरे निष्काम कम की व्यवस्था से अजन जसे विचक्षण काय कर्ताओ के अन्त करण का पूणतया समाधान होकर युद्धादि कम करन में उनकी प्रवत्ति नही हो सकती, क्योकि यद्यपि आत्मज्ञान से मरन-मारन का शोक और मोह मिट सकता ह, और धमशास्त्र के प्रमाणो से अपना धम पालन करन से पुण्य का सचय होने, एव राज्य तथा स्वर्गादि सुखो की प्राप्ति के निश्चय से युद्धादि कम करन की आवश्यकता और साथ कता भी मानी जा सकती ह परन्तु उन युद्धादि कर्मों से पाप लगन और नरक में पडन आदि का जो भय बना रहता ह उसको दूर करने के लिए भगवान, सुख, दुख, हानि, लाभ, जय, पराजय आदि में एक समान रह कर निस्वाथ भाव स कम करने को कहते ह अर्थात पहले राज्य और स्वग प्राप्ति का स्वाथ बता कर फिर निस्वाथ बन रहने की व्यवस्था देते ह। इन परस्पर विरोधी वचनो से उलझन और बढ जाती ह। इसके अतिरिक्त यह प्रश्न भी उठना स्वाभाविक ह कि किसी प्रकार के स्वाथ बिना किसी भी विचारवान व्यक्ति की कम करन मे प्रवत्ति नही हो सकती, क्योकि प्राणीमात्र की प्रत्येक चेष्टा किसी न किसी उद्देश्य को लेकर ही होती ह—निरथक चेष्टा तो कोई भी नही करता, और जब कम करन में किसी प्रकार की स्वाथ सिद्धि की इच्छा ही न हो तो कम किये ही क्यो जाय ? इस प्रकार की सभी उलझनो का एक साथ पूणतया समाधान करके, निश्चित रूप से श्रेय प्राप्ति का एकमात्र साधन, पूवकथित सवभूतात्मक्य ज्ञानयुक्त साम्य भाव से अपने अपने स्वाभाविक कतव्य कम करने का विधान ही हो सकता ह—इसके सिवाय दूसरा कोइ यथाथ एव निर्दोष उपाय नहा ह। क्योकि न तो कोरे (अव्यावहारिक) ज्ञान से ही मनुष्य श्रेय साधन कर सकता ह, और न कोरे (ज्ञानरहित) कम से ही—चाहे वह कम निष्काम हो या सकाम।

यदि सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान केवल समझ लेने या कहने-सुनने मात्र ही के लिए रहे, और व्यवहार उसके विपरीत, भेद-बुद्धि से राग-द्वेषपूर्वक होते रहें, तो बड़ी दुर्दशा होती है, जैसी कि वर्तमान में हमारे देशवासियों की हो रही है। उपनिषदों में भी अव्यावहारिक ज्ञान और ज्ञानरहित कर्म, दोनों ही हानिकारक बताये हैं (ईशोपनिषद् मं० ९; बृहदा० उ० अ० ४ ब्रा० ४ मं० १०)। इसलिए भगवान् अब उक्त सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान को कर्म में जोड़ने के समत्व-योग अर्थात् ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन आरम्भ करते हैं। यह ब्रह्मविद्या ही गीता का मूल प्रतिपाद्य विषय है और यही आर्य-संस्कृति का मूल आधार है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

अर्थ—यह (उपरोक्त) बुद्धि तुझे सांख्य के विषय में कही गई; अब योग के विषय में इस बुद्धि को सुन; अर्थात् इससे पहले तुझे आत्मज्ञान का उपदेश दिया गया, अब इससे आगे उसी आत्मज्ञान की साम्य-बुद्धि को सांसारिक व्यवहारों में जोड़ने के विषय में विचार किया जाता है, सो सुन। हे पार्थ! इस बुद्धि से युक्त होकर तू (कर्म करता हुआ भी) कर्मों के बन्धन से मुक्त रहेगा (३९)। इस (समत्व-योग) में लगने पर आरम्भ का नाश नहीं होता, अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से व्यवहार करना आरम्भ करने के बाद फिर वह व्यर्थ नहीं जाता ; न इसमें कोई विघ्न होता है, और न इसका प्रत्यवाय अर्थात् उलटा परिणाम ही होता है; (और) इस धर्म का थोड़ा भी आचरण महान् भय से मुक्त करता है (४०)।

स्पष्टीकरण—इस अध्याय में श्लोक १२ से ३० तक जो आत्मज्ञान का वर्णन किया गया है उसमें एक ही आत्मा को सब भूत-प्राणियों में एक समान व्यापक बताया गया है, अर्थात् यह कहा गया है कि सारी चराचर सृष्टि, एक ही आत्मा (जो सबका 'अपना आप' है) के अनेक रूप हैं—उससे पृथक् कुछ भी नहीं है। अब भगवान् उस आत्मज्ञान को व्यवहार में जोड़ने के समत्व-योग, अर्थात् सबके साथ अपनी एकता का ज्ञान रखते हुए, दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की आसक्ति से रहित होकर, साम्य-भावयुक्त जगत् के व्यवहार यथायोग्य करने का विधान करते हैं; और इस सम्बन्ध में सबसे पहले उस समत्व-योग का थोड़ा-सा माहात्म्य कहते हैं।

उपरोक्त आत्मज्ञान के अभ्यास से मनुष्य को शनैःशनैः अपने आपके और जगत् के असली स्वरूप, यानी सच्चिदानन्द, सर्वव्यापक, नित्य एवं मक्त आत्मा की एकता

एव परिपूणता का अनुभव होने लगता ह, और उस अनुभव सहित अपने कतव्य कम करने मे कर्मों की अधीनता का बधन नही रहता, क्योकि सारे कर्मों का प्ररक आत्मा ह, इसलिए कम आत्मज्ञानी के अधीन रहते ह। जिसका आत्मज्ञान का अभ्यास जितना ही अधिक बढा हुआ होता ह, उतना ही वह कर्मों की अधीनता से अधिक मुक्त होता ह, और अभ्यास बढाते-बढाते अत मे सर्वात्म भाव मे दढ स्थिति हो जाने पर वह पूण स्वतत्र यानी जीवनमुक्त हो जाता ह। तात्पय यह कि इस समत्व योग का आचरण एक बार आरम्भ करने के बाद फिर वह निरथक नही जाता, उससे कर्मों पर यथायोग्य थोडा या बहुत आधिपत्य अवश्य ही प्राप्त होता ह।

इसके आचरण म किसी प्रकार की त्रुटि, भूल या कमी रह जाने से कोई उलटा फल भी नही होता, अर्थात दूसरे धर्मो अथवा साधनो की तरह इसमे ऐसी सामग्रियो के जुटाने की आवश्यकता नहीं ह कि जिनके बिना इसकी सिद्धि न हो, और न कोई ऐसी क्रिया या विधि ही ह कि जिसके पूण न होने से दुष्परिणाम हो, न इसमे किसी व्यक्ति की सहायता की आवश्यकता ह कि जिसके बिना इसम कोई विघ्न पडने की सम्भावना हो। इसम एक बार लगने से उत्तरोत्तर उन्नति ही होती ह। किसी भी देश मे किसी भी काल म कोई भी व्यक्ति इसका आचरण कर सकता ह, और इस धम का पहले थोडा भी आचरण किया जाय तो मनष्य निभय हो जाता ह अर्थात पहले थोडे लोगो से, यानी अपन कुटम्ब जाति, ग्राम आदि के साथ एकता के प्रेम भाव म जुड कर समता का व्यवहार करने से भी बहुत आत्मबल आ जाता ह, और इसका जितना अधिक आचरण किया जाता ह, उतनी ही अधिक स्वतत्रता और निर्भयता बढती जाती ह। इसमे लगा हुआ मनुष्य कभी पीछा नहीं गिरता।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनदन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम ॥ ४१ ॥
यामिमा पुष्पिता वाच प्रवदन्त्यविपश्चित ।
वेदवादरता पाथ नान्यदस्तीति वादिन ॥ ४२ ॥
कामात्मान स्वगपरा जन्मकमफलप्रदाम ।
क्रियाविशेषबहुला भोगैश्वयगति प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्वयप्रसक्ताना तयापहृतचेतसाम ।
व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

अथ—हे कुरुनदन! इस विषय में, अर्थात मन-अनात्मस्य ज्ञान से साम्य भावयुक्त ससार के व्यवहार करने में, निश्चयात्मिका व्यावहारिक बद्धि एक ही होती ह, यानी इस तरह (आत्मज्ञान युक्त) कम करने वालो का एक यही निश्चय रहता ह कि यह

जगत एक ही आत्मा के अनेक रूप है। परन्तु जो इस आत्मज्ञान से व्यवहार नही करते, उनकी बुद्धि की बहुत शाखाए होकर वह (बुद्धि) अनन्त प्रकार की हो जाती है (४१)। हे पार्थ! वेदो के अर्थवाद के (रोचक) वाक्यो मे उलझे हुए तथा "इनके अतिरिक्त और कुछ नही है" ऐसा कहने वाले, कामनाओ मे आसक्त, और स्वर्ग ही है अन्तिम लक्ष्य जिनका ऐसे विचारहीन लोग, भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के निमित्त, बहुत से कर्मकाण्डो के प्रपच कराने वाली एव जन्म और कर्म रूप फल को देने वाली मनलुभावनी बाते किया करते है। उन बातो से जिनका चित्त हर लिया गया है, उन भोग और ऐश्वर्य मे अत्यन्त आसक्त लोगो की निश्चयात्मक बुद्धि समाधि अर्थात साम्य भाव मे स्थित नही होती। तात्पर्य यह कि जो विचारहीन लोग कर्मकाण्डात्मक वेदादि शास्त्रो के भेद प्रतिपादक रोचक और भयानक वचनो मे ही उलझे हुए रहते है और उन्हीं को सब-कुछ मानते है और 'जो कुछ है सो ये ही है इनके सिवाय और कुछ नही है' ऐसा कहते है, उनका अन्त करण नाना प्रकार की सासारिक कामनाओ से भरा हुआ रहता है उनका सबसे अन्तिम ध्येय मरने के बाद स्वर्ग में जाकर नाना प्रकार के विषय भोगने का ही रहता है, ऐसे अज्ञानी लोग नाना भाति के विषय भोग धन सम्पत्ति, सत्ता, मान प्रतिष्ठा आदि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए उक्त वेदादि शास्त्रोक्त (अग्निहोत्र, बलि वैश्वदेव देवकर्म, पितृकर्म नित्य नैमित्तिक कर्म, षोडश सस्कार आदि) कर्मकाण्डो की विविध प्रकार की क्रियाओ के करने मे प्रीति बढाने के निमित्त उनकी प्रशसा की अतिशयोक्तियो से मन को लुभाने वाले व्याख्यान दिया करते है। भोग और ऐश्वर्य के मोह में गर्क रहने वाले मूढ लोग उन सुहावनी बातो से मोहित होकर सकाम कर्मकाण्डो में लगे रहते है जिनसे बार बार जन्म और उनमें होने वाले कर्म एव उन कर्मों के फलस्वरूप फिर जन्म और फिर कर्म, इस तरह जन्म कर्म के चक्कर मे पडे हुए वे लोग गोते खाते रहते है। ऐसे मूर्ख लोगो की निश्चयात्मक बुद्धि, सबकी एकता के साम्य भाव मे कभी स्थित नहीं होती (४२-४४)।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान ॥ ४५ ॥
यावानर्थ उदपाने सर्वत सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानत ॥ ४६ ॥

अर्थ—हे अर्जुन! (कर्मकाण्डात्मक) वेद तीन गुणो को ही विषय करते है, तू तीन गुणो से ऊपर उठ और द्वन्द्वो से परे, नित्य सत्त्व मे स्थित और

योग क्षेम से रहित होकर (अपने वास्तविक स्वरूप) आत्मा का अनुभव कर। तात्पर्य यह कि भेद प्रतिपादक कर्मकाण्डात्मक वेदादि शास्त्र त्रिगुणात्मक प्रकृति के नाना नामो और रूपो के बनावो मे ही उलझाये रखने वाले वर्णनो से भरे पडे है। तू अपने को उन त्रिगुणात्मक प्रकृति के बनावो से ऊपर, प्रकृति का स्वामी अनुभव कर, और सुख दु ख आदि नाना प्रकार के द्वन्द्वो से परे, नित्यसत्त्वरूप सबके एकत्व भाव में स्थित होकर, तथा अपने से पृथक किसी भी पदार्थ की प्राप्ति और स्थिति की चिन्ता से रहित होकर सर्वत्र अपने आप अर्थात आत्मा ही को परिपूर्ण अनुभव कर (४५)। सब ओर पानी ही पानी हो जाने पर जितना प्रयोजन कुएँ से रह जाता है, उतना ही प्रयोजन (उक्त) ब्रह्मज्ञानी को सब वेदो से रहता है। तात्पर्य यह कि आत्मज्ञानी महापुरुष को वैदिक कर्मकाण्डो से कोई प्रयोजन नहीं रहता (४६)।

स्पष्टीकरण—जो लोग [illegible] ससार के व्यवहार करते है अर्थात "एक ही अज, अमर अनादि अनन्त सच्चिदानन्द आत्मा—जो सबका अपना आप है—सब भूत प्राणियो म समान भाव से व्यापक है' इस निश्चय से अपने अपने कर्तव्य कर्म सबके साथ अपनी एकता के साम्य भाव से करते है, उनकी बुद्धि का एक ही निश्चय रहता है। जगत के सभी पदार्थों, सभी व्यवहारो सभी विचारो के मूल म उनको एकत्व ही प्रतीत होता है। उनकी बुद्धि मे भेद भाव को स्थान नही रहता, अत वे किसी से राग द्वेष नही करते। परन्तु जो लोग जगत के नानात्व को सत्य मान कर दूसरो को अपने से भिन्न मानते है उनकी बुद्धि निरन्तर व्यक्तित्व के अहकार और व्यक्तिगत स्वार्थों ही में उलझी रहती है, और "वे व्यक्तिगत स्वार्थ अपने से भिन्न कही अन्यत्र से प्राप्त होगे" ऐसे निश्चय से वे लोग निरन्तर व्याकुल रहते है जिससे उनके अन्तकरण में अनन्त प्रकार की कामनाए एव तरह तरह की श्रद्धाए उत्पन्न होती रहती है। [illegible] भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के निमित्त वे लोग एक दूसरे से भेद रखने वाले नाना धर्म (मजहब), नाना पन्थ, नाना सम्प्रदाय और नाना मत बना लेते है जिनकी अनन्त शाखाए हो जाती है, और अपने अपने मतो की पुष्टि के लिए नाना प्रकार के भेद पैदा करने वाले शास्त्र रच कर वे लोग एक दूसरे से द्वेष करते है तथा स्वर्ग [illegible] आदि परोक्ष व्यक्तिगत स्वार्थो की सिद्धि ही को पुरुषार्थ की परमावधि मान कर उन भेद प्रतिपादक शास्त्रो मे अन्ध श्रद्धा रखने से, उनके रोचक भयानक वचनो में भ्रान्त हुए नाना प्रकार की धार्मिक क्रियाए स्वय करते तथा दूसरो से करवाते रहते है। परन्तु उन

क्रियाओ से सच्चा सुख कभी नही होता, अत जब वे लोग दुखी होते ह तो एक निश्चय छोड कर दूसरे पर श्रद्धा करते ह फिर दूसरा छोड कर तीसरे पर विश्वास करते ह। इस तरह उनकी बुद्धि निरन्तर विक्षिप्त रहती ह—कभी एक निश्चय पर स्थिर नही रहती। फलत उन लोगो की सारी आयु इसी खींचातानी मे व्यथ बीत जाती ह—सच्ची सुख शान्ति कभी प्राप्त नही होती।

इसलिए भगवान अजुन को लक्ष्य करके सबको उपदेश देते ह कि प्रकृति के तीनो गणो के परस्पर के गणन से उत्पन्न अनन्त प्रकार की कल्पित भिन्नताओ ही का वणन जिन कमकाण्डात्मक वेदादि शास्त्रो मे ह उनके मन लुभावने वचनो के फेर मे पडकर उनके दास मत बनो। शास्त्र तुम्हारे लिए ह तुम शास्त्रो के लिए नही हो। अनन्त प्रकार के झूठे नानात्व मे जो सच्चा एकत्व ह, उसको "अपना आप" समझो, और सुख दुख, हानि लाभ धम अधम, पाप पुण्य, मान अपमान, निन्दा स्तुति, प्रिय अप्रिय, उत्पत्ति नाश तथा प्राप्ति अप्राप्ति आदि सब प्रकार के द्वन्द्वो को अपना ही खेल जान कर, स्वय अपने आप मे परिपूण हो जाओ अर्थात ऐसा अनुभव करो कि "म परिपूण हू, मुझसे अतिरिक्त अन्य कुछ ह ही नही"। ऐसा करने से इन वेदादि शास्त्रो मे वर्णित इहलौकिक तथा पारलौकिक सारे सुख स्वय तुम्ह अपने आप ही म दीखने लगगे, क्योकि जिसको सारा जगत आत्मस्वरूप प्रतीत होता ह, उससे अलग कोई भी वस्तु बाकी रह ही नही जाती। जिस तरह जब सवत्र जल ही जल हो जाता ह, तब कुएँ, बावडी, तालाब आदि सभी जलाशय उसके अन्दर आ जाते ह, उसी तरह आत्मज्ञानी सारी सष्टि को अपने अन्दर अपने ही स्वरूप मे अनुभव करता ह।

> कमण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कम फलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकमणि॥ ४७॥
> योगस्थ कुरु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा धनञ्जय।
> सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा समत्व योग उच्यते॥ ४८॥

अथ—कम ही मे तेरा अधिकार ह, फल मे कदापि नही, तेरे कम फल के उद्देश्य से न होवे और कम न करने मे तेरी आसक्ति न होवे। तात्पय यह कि ऊपर के दो श्लोको में कहे अनुसार तू कमरूप प्रकृति का स्वामी ह अत कर्मो के स्वामी भाव से उन्हे करने का तेरा अधिकार ह—वे तुझे अवश्य करने चाहिए, और फल कम के साथ ही रहता ह अर्थात जसा कम होता ह, उसी के अनसार उसका फल स्वत ही होता ह, इसलिए कम से पथक फल पर किसी का कोई अधिकार नही होता,

अत तेरे कम किसी प्रकार की यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के निमित्त को लेकर नहीं होने चाहिए, और अपन कत य कम दु ख रूप अथवा ब धन रूप होने की आशका से उ हे छोड कर अकर्मी होन का भाव भी तेरे अ त करण मे नही होना चाहिए क्योंकि कम तेरे से पथक नही ह (४७)। हे धनजय! योग मे स्थित होकर तथा सङ्ग छोड कर एव सिद्धि और असिद्धि मे सम होकर कम कर, समत्व ही योग कहा जाता ह। तात्पय यह कि सबके साथ अपनी एकता के अनुभव-युक्त साम्य भाव से अपनी योग्यता के कत य कम कर और उसके करने मे यक्तित्व का अहकार और यक्तिगत स्वाथ सिद्धि का भाव मत रख, तथा उनकी सफलता और असफलता मे एक समान निर्विकार रह। इस श्लोक के आरम्भ मे 'योग" मे स्थित होकर कम करने को कहा ह, उस "योग" श द के अथ का खुलासा श्लोक के अन्त मे करते ह कि सबकी एकता के साम्य भाव (Sameness) को "योग' कहते ह। (४८)।

स्पष्टीकरण—कम जड ह वह चेतन कर्ता के आश्रय और अधिकार में रहता ह, पर तु अधिकार का तारतम्य कर्ता की चेतनता अर्थात आत्मविकास के अनसार होता ह। मनुष्यो म आत्मविकास की अन त श्रेणिया ह नीच की श्रेणी के आत्मविकास वाले यक्तियो का कम पर अधिकार कम होता ह ऊची श्रेणी वालो का क्रमश उत्तरोत्तर अधिक होता ह और जिनका पूण आत्मविकास हो जाता ह वे पूण रूप से कम के अधिपति हो जाते ह। कम और फल का जोडा होता ह अर्थात कम की प्रतिक्रिया फल ह, अत फल कम के साथ ही रहता ह। जसा कम होता ह वसा उसका फल साथ ही उत्पन्न हो जाता ह। इसलिए कम से भिन्न फल पर किसी का अधिकार नही होता। यदि कोई कम फल को अ यथा करना चाहे तो नही हो सकता। जसा कम होता ह उसी के अनुसार उसका फल अवश्य उत्पन्न होता ह। प्रत्येक यक्ति अपने कर्मों के अनुसार अपनी सष्टि निर्माण करके उनका फल भोगता ह और जब कि कम करने मे स्वत त्रता ह तथा फल कम ही से उत्पन्न होता ह, तो कम के द्वारा फल पर भी अधिकार होता ह, स्वत त्र फल पर अधिकार नही होता—यही 'फल पर अधिकार नही ह कहने का यही तात्पय ह।

जिन बढे हुए आत्मविकास वाले सज्जनो को सवभूतात्मक्य साम्य भाव का पूरा अनुभव हो जाता ह, वे अपने यक्तित्व को दूसरो से पथक नही समझते, और न उनके कम दूसरो से पथक अपने यक्तिगत स्वाथ के लिए ही होते ह कि तु उनके सब यवहार लोक-सग्रह यानी सबके हित के लिए होते ह अत उनके कर्मों के फल सबको प्राप्त होते ह। उन आत्मज्ञानी महापुरुषो की दष्टि में यह जगत प्रपच उनके ही समष्टि भाव की इच्छा या माया की रचना अर्थात कर्मों का विलास होता ह। इसलिए वे अपने समष्टि भाव के इस खेल में स्वत त्रतापूवक अपने शरीर की योग्यता के कम साम्य भाव से करते रहते ह।

इसी अभिप्राय को लेकर भगवान अजुन को श्लोक ४५ ४६ म सर्वात्म भाव मे स्थित होने का उपदेश देकर, उक्त (ब्राह्मी) स्थिति म जगत के व्यवहार करने के लिए कहते ह कि 'यह कम रूप जगत तेरे ही समष्टि भाव की इच्छा का खेल होने के कारण इस पर तेरा अधिकार ह। तू दूसरो से पथक अपने व्यक्तित्व के अहकार और दूसरो से पथक अपनी व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि की आसक्ति छोडकर, साम्य भाव से स्वतन्त्रतापूवक इस ससाररूपी खेल मे अपने शरीर की योग्यता के कम करने रूप अपना पाट अच्छी तरह बजा। इस खेल मे जो नाना भाति के सुख दु ख आदि द्वद्व प्रतीत हो उनकी कुछ परवाह मत कर, क्योकि यह सब तेरी ही कल्पना ह, अत इन द्वद्वो से विचलित न होकर इनमे एक समान (सम) बना रह।'

निवत्ति-माग के टीकाकार श्लोक ४७ का यह अथ निकालते ह कि अजन अज्ञानी था इस कारण उसका अधिकार कम करने ही का था इसलिए भगवान ने उसे (अज्ञान अवस्था मे ही) कम करते रहने का उपदेश दिया ह। परन्तु पूर्वापर के सम्बन्ध पर ध्यान रखने से यह अथ ठीक नहीं बठता, क्योकि श्लोक ११ से ३० तक भगवान ने पहले आत्म-ज्ञान के वणन से उपदेश का आरम्भ करके श्लोक ३१ से ३८ तक कम करने की आवश्यकता बता कर श्लोक ३९ ४० म आत्मज्ञान सहित जगत के व्यवहार करने का माहात्म्य कहा। फिर श्लोक ४१ से ४४ तक दूसरो से पथक अपनी व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के लिए काम्य कर्मों के करने की निन्दा करके अन्त में श्लोक ४५ ४६ म भेद भाव के शास्त्रो की उलझन से ऊपर उठकर तथा द्वद्वो से रहित एव योग क्षेम की चिन्ता से परे होकर अपने आप में परिपूणता के अनुभव करने का उपदेश दिया। अब श्लोक ४७ ४८ में सवभूतात्मक्य साम्य भाव से कम करने को कहते ह। इन सब वचनो की सगति करके विचार करन से अजुन को अज्ञान अवस्था ही म, फल त्याग कर कम करने का उपदेश देना नही पाया जाता किन्तु सबकी एकता के साम्य भाव में जड कर, व्यक्तित्व की आसक्ति के बिना अपनी प्रकृति के स्वामी भाव से, जगत रूपी खेल म ना ग ग ग न अपनी-अपनी योग्यता के कम करने का उपदेश देना पाया जाता ह।

गीता के मूल प्रतिपाद्य विषय का आरम्भ वस्तुत यहीं से होता ह अत कहना चाहिए कि श्लोक ४५ से ४८ तक चार श्लोक गीता ज्ञान के मूल मन्त्र ह इन्ही चार श्लोको की विस्तत व्याख्या आगे की गई ह। इन श्लोको में सबकी एकता के अनुभव युक्त साम्य भाव से ससार के व्यवहार करने का ही स्पष्ट विधान ह, इससे यह स्वत सिद्ध ह कि गीता का मूल प्रतिपाद्य विषय समत्व-योग ही ह।

जिनको सवभूतात्मक्य अर्थात सबकी एकता का ज्ञान नहीं होता, वे व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के लिए कम करते ह और जिन कर्मों से किसी प्रकार की व्यक्तिगत स्वाथ-सिद्धि नही होती उनको निरथक बोझ रूप अथवा दु ख रूप समझ कर छोड देते ह।

परन्तु जिनको सर्वभूतात्मैक्य ज्ञान होता है उनको पृथक व्यक्तित्व का अहंकार न रहने के कारण कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं रहता, किन्तु वे जगत को अपने समष्टि भाव का खेल समझ कर उस खेल ही की सिद्धि के लिए अर्थात लोक संग्रह के लिए, स्वेच्छा से कर्म किया करते हैं। उनका लक्ष्य कर्म फल पर नहीं रहता, क्योंकि उनकी दृष्टि में कर्म और फल 'अपने आप (आत्मा)" से भिन्न नहीं होते। जिनको व्यक्तित्व का अहंकार होता है उनके कर्म अपने व्यक्तित्व के लिए होते हैं, अतः उनको कर्मों का फल स्वयं भोगना पडता है परन्तु जिनके सर्वात्म भाव होता है उनके कर्म सबके लिए होते हैं, अतः उनके फल भी सबके लिए होते हैं। आत्मज्ञानी सारे कर्मों को अपना खेल समझते हैं, इसलिए उन्हें कर्म बोझ रूप या दुःख रूप प्रतीत नहीं होते, न वे उनको निरर्थक ही समझते हैं क्योंकि वे कर्म उस खेल के उपयोगी होते हैं, इसलिए कर्म न करने का भाव उनके अन्तःकरण में उत्पन्न नहीं होता। इस तरह स्वाधीनतापूर्वक जगत के व्यवहार स्वतन्त्रतापूर्वक करने का उपदेश भगवान अर्जुन को निमित्त करके सबको देते हैं।

जिस तरह एक स्वाधीन राष्ट्र की राज्य व्यवस्था में उस राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र का अंग होता है राष्ट्र से वह भिन्न नहीं होता, किन्तु वह अपने को राष्ट्र रूप ही समझता है और उस राष्ट्र को सुव्यवस्थित रखने के लिए जो जो कर्म उसने अपने जिम्मे लिये हों, उनको वह स्वयं अपना कार्य समझ कर बहुत अच्छी तरह करता है, राष्ट्र के हित में अपना हित समझता है राष्ट्र से अलग अपना व्यक्तित्व नहीं समझता, राष्ट्र के स्वार्थ के अन्तर्गत अपना स्वार्थ समझता है। उसी तरह समष्टि आत्मा=परमात्मारूपी स्वाधीन राष्ट्र के संसाररूपी राज्य में प्रत्येक व्यष्टि भावापन्न व्यक्ति, समष्टि आत्मा यानी परमात्मा का ही व्यष्टि रूप है, उससे भिन्न नहीं है। अतः अपने समष्टि आत्मा के साम्राज्यरूपी इस जगत को अच्छी तरह चलाने के लिए जो जो कर्तव्य व्यष्टि भाव से अपने जिम्मे लिये हों, उन्हें स्वयं अपने कार्य समझ कर अच्छी तरह करना चाहिए। अपने व्यक्तित्व को जगत* से अलग नहीं समझना चाहिए, और अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को जगत* के स्वार्थों से अभिन्न, अर्थात उनके अन्तर्गत समझना चाहिए। जगत के हित में ही अपना हित जानना चाहिए। जिस तरह स्वाधीन राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक अपने को स्वाधीन समझता है, और अपने कर्तव्य कर्म स्वाधीनतापूर्वक स्वामी भाव से करता है, उनको त्याग कर राष्ट्र की हानि करने की इच्छा नहीं करता, उसी तरह प्रत्येक व्यक्ति को इस जगत में अपने आपको स्वाधीन समझ कर, जगत के व्यवहार स्वाधीनतापूर्वक कर्तव्यों के स्वामी भाव से करना चाहिए—गुलामी के तौर पर नहीं। और अपने कर्तव्यों

---

*यहां जगत से तात्पर्य अपने अपने कार्यक्षेत्र की सीमा में आने वाले तथा उससे सम्बन्ध रखने वाले लोगों से समझना चाहिए।

को त्यागने की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए; क्योंकि जिस तरह व्यक्तियों का समष्टि-भाव ही राष्ट्र होता है, और राष्ट्र-संचालन का कार्य यथायोग्य सभी व्यक्तियों का कर्तव्य होता है— वह कार्य उन व्यक्तियों से अलग नहीं हो सकता; उसी तरह व्यष्टि भावों का सम्मिलित (एकत्व) भाव ही परमात्मा है और उसका व्यक्त स्वरूप ही संसार है, अतः इसका यथायोग्य संचालन करना प्रत्येक व्यष्टि-भावापन्न व्यक्ति का कर्तव्य है; क्योंकि प्रत्येक व्यष्टि-भावापन्न व्यक्ति के कार्य पर ही इसका अस्तित्व निर्भर है। इसलिए संसार रूपी कर्म से कोई भी अलग नहीं हो सकता। यह संसार समष्टि आत्मा यानी परमात्मा की इच्छा का खेल है, और समष्टि के कार्य को व्यष्टि मिटा नहीं सकती। इसलिए कोई भी व्यक्ति संसार के व्यवहार को त्याग नहीं सकता। और जब व्यष्टि भाव सर्वथा मिटकर पूर्ण समष्टि भाव हो जाता है, तो त्यागने या रखने का प्रश्न ही नहीं रहता, क्योंकि उस दशा में अपने से पृथक् त्यागने को कुछ रहता ही नहीं। अतएव भगवान् का सबको उपदेश है कि जगत् के व्यवहाररूपी कर्म करना सबका अधिकार है; अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहंकार से तुम उसे छोड़ नहीं सकते (गी० अ० १८ श्लोक ५९), इसलिए सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से अपने-अपने कर्तव्य-कर्म करो, और उन कर्मों के करने तथा न करने में व्यक्तित्व का अहंकार और उन कर्मों से व्यक्तिगत स्वार्थ, अर्थात् "इन कर्मों से मुझे सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि फल प्राप्त होंगे" ऐसी भावना मत रक्खो; क्योंकि कर्म तुम से भिन्न नहीं, और कर्मों के फल भी तुम से भिन्न नहीं। इसलिए व्यक्तित्व का अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना आत्मज्ञानी के चित्त में उत्पन्न ही नहीं होनी चाहिए। आत्मज्ञानी को कुछ भी अप्राप्त नहीं है और न उससे कुछ पृथक् ही है। इसलिए वह किस पदार्थ की प्राप्ति की इच्छा करे और किससे अलग होने की?

सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय, हर्ष-शोक, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, राग-द्वेष, प्रकाश-अन्धकार, उत्पत्ति-विनाश, संयोग-वियोग आदि द्वन्द्वों का जोड़ा होता है और वे दोनों साथ रहते हैं; अर्थात् एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं, एक के अस्तित्व के लिए दूसरे का होना आवश्यक है; जितनी मात्रा में एक उत्पन्न होता है, उतनी ही मात्रा में दूसरा उसी समय उत्पन्न हो जाता है—चाहे वह किसी व्यक्ति-विशेष को उसी समय और उसी स्थल पर प्रतीत हो या न हो। यदि एक का अस्तित्व सच्चा माना जाय तो दूसरे का भी सच्चा मानना आवश्यक है। आत्मज्ञानी लोगों को उनकी एकता का ज्ञान रहता है, अतः उनकी दृष्टि में ये परस्पर विरोधी भाव एक समान मिथ्या, अर्थात् प्रभाव-रहित अतः सम होते हैं। जिस तरह एक साम्राज्य के किसी एक प्रदेश में बर्फ़ से लदे हुए बड़े-बड़े ऊँचे पहाड़ होते हैं जिनमें से नदियाँ निकलती हैं, दूसरे प्रदेश में नीची भूमि बिलकुल सूखी होती है; एक प्रान्त में कृषि अधिक होती है, दूसरे प्रान्त की भूमि में खनिज पदार्थ और क्षार आदि होते हैं; एक प्रान्त में खाद्य पदार्थ

बहुतायत से उपजते ह, दूसरे प्रात के लोगो के कला कौशल मे उन्नत होन के कारण उसम कारीगरी की चीज तयार होती ह एक प्रात के निवासी विद्या, बद्धि और व्यवसाय में चतुर होते ह, दूसरे प्रात वालो मे शारीरिक बल अधिक होता ह, इस तरह प्रकृति के तीन गणो के सम्मिश्रण के तारतम्य से भिन्न भिन्न प्रदेशो की अपनी अपनी विशेषताए और अपनी-अपनी न्यूनताए होती ह और जब तक प्रत्येक प्रात के निवासी एक दूसरे प्रात के निवासियो के साथ सहयोग रखते हुए, एक दूसरे की आवश्यकताए पूरी करते रहते ह, और अपनी विशेषताओ से दूसरो की न्यूनताए मिटाते रहते ह, तब तक वह साम्राज्य अपने आपमें परिपूर्ण रहता ह समष्टिभाव से तो उसमे पूण समता विद्यमान थी ही, परन्तु व्यष्टिभाव से भी समता हो जाती ह—सब विषमताए आपस मे मिल कर परिणाम म समता हो जाती ह। उसी तरह जगत के किसी विशेष प्रदेश तथा विशष व्यक्तियो म एक प्रकार की विशेषता और दूसरे प्रकार की न्यूनता होती ह, और अन्य प्रदेश मे तथा अन्य व्यक्तियो म किसी अन्य प्रकार की विशेषता तथा अन्य प्रकार की न्यूनता होती ह। इस तरह तीन गुणो के तारतम्य से अनन्त प्रकार की विशेषताए और अनन्त प्रकार की न्यूनताए होती ह, परन्तु उन सबका योग कर देने अर्थात मिला देने से कोई विशषता या न्यूनता शेष नही रहती—विशषताओ से न्यूनताओ की पूर्ति होकर सवत्र समता हो जाती ह। यदि सब व्यक्ति अपने-अपन हिस्से के काय करते हुए तथा पारस्परिक एकता के निश्चय से आपस में सहयोग रखते हुए एक दूसरे की आवश्यकताए पूरी करन में सहायक हो तो किसी में भी विशेषता या न्यूनता न रहे—सवत्र समता हो जाय। परन्तु जो लोग इस तरह एकता के भाव से व्यवहार न करके अपने पथक व्यक्तित्व के अहकार और अपनी पथक व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के लिए खीचातानी करते ह, वे ही विषमता उत्पन्न करते ह और उसी से सुख दु ख आदि द्वद्व होते ह।

दूरेण ह्यवर कम बुद्धियोगाद्धनजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणा फलहेतव ॥४९॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योग कमसु कौशलम ॥५०॥
कमज बुद्धियुक्ता हि फल त्यक्त्वा मनीषिण।
[illegible] पद गच्छन्त्यनामयम ॥५१॥

अथ—हे धनजय! कम, दूर होने के कारण बुद्धि योग की अपेक्षा निकृष्ट ह, अर्थात कम कर्ता की बुद्धि के अधीन [illegible] ही कम होते ह, और उनका फल भी कर्ता की बुद्धि पर निभर रहता ह, इसलिए कर्मो पर बुद्धि की प्रधानता ह (अत) तू बुद्धि का आश्रय ले अर्थात सवभूतात्मक्य साम्य भाव की बुद्धि से

कर्म कर; फल की इच्छा से कर्म करने वाले कृपण अर्थात् दीन होते हैं (४९)। जिसकी आत्मनिष्ठ (समत्व) बुद्धि होती है, वह इस लोक में पाप और पुण्य दोनों से अलग अर्थात् अलिप्त रहता है, इस कारण तू (सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भावरूप) योग में स्थित होकर व्यवहार कर; क्योंकि (सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भावरूप) योग ही कर्म-कौशल (कर्मों पर आधिपत्य) है; अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से कर्म करने वाला कर्मों का स्वामी* होता है (५०)। साम्य-बुद्धियुक्त व्यवहार करने वाले ज्ञानी पुरुष, कर्मों के अच्छे-बुरे फल से परे होकर, तथा जन्म-मरण आदि बन्धनों से मुक्त होकर, (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक) दुःखों से रहित पद को प्राप्त हो जाते हैं (५१)।

स्पष्टीकरण—कर्म, बुद्धि (विचार) के अधीन हैं, क्योंकि कर्म करने का विचार पहले अन्तःकरण में उठता है, पीछे कर्म किये जाते हैं। कर्मों का फल भी कर्ता की बुद्धि पर निर्भर रहता है। निरे जड़ कर्मों में अच्छे-बुरे फल देने की शक्ति नहीं होती, किन्तु उनमें चेतन पुरुष की बुद्धि का संयोग होने से अच्छा-बुरा फल उत्पन्न होता है। कर्ता की जैसी बुद्धि होती है उसी के अनुसार कर्म का फल होता है। निर्बुद्धि लोगों के कर्मों का फल बुद्धिमानों जैसा नहीं होता। अतः बुद्धि की अपेक्षा कर्म निकृष्ट हैं। जो लोग बुद्धि से काम न लेकर केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही कर्म करते हैं, वे बड़े कंजूस एवं दीन होते हैं; क्योंकि विवेकहीन कंजूस मनुष्य दिन-रात केवल अपने स्वार्थों में ही लगा रहता है—अपने स्वार्थ के बिना वह कुछ भी नहीं करता और न वह किसी के काम में आता है। वह सदा अपने को दीन ही अनुभव करता है। परन्तु जो लोग समत्व-बुद्धि से व्यवहार करते हैं, उनकी कर्मों के फल में कुछ भी आसक्ति नहीं रहती, वे बहुत उदार एवं सब कर्मों के स्वामी होते हैं; अतः उनको पुण्य और पाप दोनों का बन्धन नहीं होता; न उनको जन्म-मरण आदि किसी प्रकार का क्लेश ही होता है। वे अपने आपको सब प्रकार से परिपूर्ण अनुभव करते हुए स्वेच्छा से स्वतन्त्रतापूर्वक लोक संग्रह के सांसारिक व्यवहार करते हैं। सारांश यह कि साम्य-भाव से संसार के व्यवहार करना ही कर्मों में कुशलता है और यही परम श्रेयस्कर है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।। ५२ ।।

*जिस तरह कोई मनुष्य किसी विशेष कला में पूर्ण कुशल अर्थात् निपुण होता है तो वह उस कला का स्वामी (Master) होता है। उसी तरह समत्व-बुद्धि से व्यवहार करने वाला मनुष्य पूर्णतया व्यवहार-कुशल होता है, अतः वह सारे व्यवहारों अर्थात् कर्मों का स्वामी (Master of actions) होता है।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अथ—जब तेरी बुद्धि (सवभूतात्मक्य ज्ञान मे स्थित होकर) मोह (अज्ञान) के दल दल से पार हो जायगी, तब जो कुछ (भेद वाद के शास्त्रो के वचन) तूने सुने ह, और भविष्य मे जो कुछ सुनेगा, उन (सब) के प्रभाव से तू रहित हो जायगा, अर्थात तू उन भेद वाद के शास्त्रो के रोचक भयानक वचनो की उपेक्षा कर देगा (५२)। कमकाण्डात्मक वेदादि शास्त्रो के भेद वाद के नाना भाति के वाक्यो से विचलित होकर भटकती हुइ तेरी बुद्धि जब सवभूतात्मक्य साम्य भाव के एक निश्चय पर अचल अटल हो जायगी, तब तुझे समत्व योग प्राप्त होगा, अर्थात उस समय तू सव भूतात्मक्य साम्य भावयुक्त व्यवहार करने मे पूणतया कुशल होगा (५३)।

स्पष्टीकरण—ससार के व्यवहार करने मे जिस समय कोई विकट समस्या सामने उपस्थित होती ह और दो या उससे अधिक विरोधी धर्मो के सघष का अवसर आ जाता ह—जसा कि अजन के सम्मख आया था जब कि एक तरफ युद्ध करन से पूज्यो तथा स्वजन बान्धवो की हत्या का पाप और दूसरी तरफ युद्ध न करने से क्षात्र धम का नाश दाखता था—ऐसा [illegible] म मनुष्य किंकर्तव्य विमूट होकर मोह क दल्दल म फस जाता ह, जिससे निकलने के लिए वह नीति और धमशास्त्रो की शरण में जाता ह। परन्तु उन शास्त्रो के भद वाद के—अनेक स्थलो पर परस्पर विरोधी— वचनो से उलझनें और बढ जाती ह, क्योकि उनमें कहीं पर किसी धम की विशेषता, और कहीं पर उसके विरुद्ध धम की विशषता की परस्पर विरोधी व्यवस्थाए मिलती ह। कही दया और अहिसा की महिमा गायी गई ह तो कहीं दुष्टो को दण्ड देना यद्ध म शत्रुओ को मारना और यज्ञ म पशुओ का वध करना परम धम माना गया ह। कही सत्य के बराबर दूसरा कोई धम ही नही माना ह, तो दूसरे स्थल पर छलियो और दुराचारियो के साथ छल करना न्यायसगत माना ह। कही दान का बडा माहात्म्य गाया गया ह तो कहीं दान देने से दुगति बताई ह। कहीं पर प्राणी मात्र के साथ मत्री भाव रखने को कहा गया ह, तो कही पर शठ—दुजनो के साथ उनके योग्य ही शठता आदि का बर्ताव करने की व्यवस्था दी गई ह। कहीं पर आबाल ब्रह्मचय का अखण्ड व्रत पालन करने की बहुत बडाई की गई ह, तो कही पर सतान पदा न करन वालो के लिए नरक में पडना अनिवाय बताया गया ह। कहीं पर माता पिता की भक्ति की महिमा गाई ह, तो कहीं पर उनक प्रतिकूल आचरण करन वाला का बडी प्रशसा का गई ह। किसी जगह भ्रात स्नेह को बहुत सराहा ह तो किसी जगह भ्रात द्रोहियो का बडा आदर किया गया ह। इस

तरह अनन्त प्रकार के भ्रम उत्पन्न करने वाले परस्पर विरोधी वाक्य भेद वाद के शास्त्रो में पाये जाते ह और ज्या ज्या अधिक छानबीन की जाती ह त्यो-त्यो उलझनें बढती जाती ह, जिनसे मनुष्य का बुद्धि अत्यन्त निर्विग्न हो जाती ह और एक निश्चय पर पहुँचना असम्भव हो जाता ह। इस महान उलझन से पार होकर एक निश्चय पर पहुचने का एकमात्र उपाय, बुद्धि को सबकी एकता के साम्य भाव में स्थित करना ह, अर्थात सदा यही विचार करते रहना कि एक ही आत्मा सब चराचर भूत प्राणियो मे समान भाव से व्यापक ह, उससे भिन्न कुछ नही ह जो छोटे से छोटे जन्तु मे ह वही बडी से बडी देह में ह, जो एक तण में ह वही ब्रह्माण्ड मे ह, जो मुझमे ह वही दूसरो मे ह इस तरह से अभ्यास करते करते बुद्धि जब सवभूतात्मक्य साम्य भाव में जुडकर निश्चल हो जाती ह तब वह भेद वाद की उलझनो वाले शास्त्रो के वाक्यो से विचलित नही होती, क्योकि उन शास्त्रो का उस पर कोई प्रभाव नही रहता और तब सब समस्याए स्वत ही हल हो जाती ह, और तब उस आत्म ज्ञानी पुरुष के सभी व्यवहार सवभूतात्मक्य साम्य भाव से होने लग जाते ह जिनसे किसी प्रकार का क्लेश अथवा बन्धन नहीं होता किन्तु सदा-सवदा आनन्द का साम्राज्य रहता ह। प्रथम अध्याय के ४४वे श्लोक में अजुन न कहा था कि जिन मनुष्यो के कुल धम नष्ट हो जाते ह उनका निश्चय ही नरक में जाना पडता ह, ऐसा मने (शास्त्रो में) सुना ह, उसी का स्पष्ट खण्डन भगवान ने इन दो श्लोको में किया ह।

× × ×

समत्व-योग अर्थात सवभूतात्मक्य-साम्य भावयुक्त व्यवहार करने के इतने महत्व और इतनी आवश्यकता के वचन सुन कर यह जानने की उत्कण्ठा सहज ही उत्पन्न होती ह कि उस समत्व योग का स्वरूप और उसकी विधि क्या ह ? और जिसकी बुद्धि साम्य भाव में स्थित हो जाती ह, उस पुरुष के क्या लक्षण होते ह, और उसके आचरण कसे होते ह ? इसी का खुलासा करवाने के लिए अजुन का प्रश्न अगले श्लोक मे ह, जिसके उत्तर में भगवान उसका खुलासा करते ह।

अजुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधी कि प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम। ५४॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान।
आत्मन्येवात्मना तुष्ट स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ ५५॥
दु खेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पह।
वीतरागभयक्रोध स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ ५६॥

य मवत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥
यदा सहरते चाय कूर्मोऽङ्गानीव सवश ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥
विषया विनिवतन्ते निराहारस्य देहिन ।
रसवज रसोऽप्यस्य पर दष्टवा निवतते ॥ ५९ ॥
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चित ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभ मन ॥ ६० ॥
तानि सर्वाणि सयम्य युक्त आसीत मत्पर ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥
ध्यायतो विषयान्पुस सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सजायते काम कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥
क्रोधाद्भवति समोह [illegible] ।
स्मतिभ्रशाद [illegible] बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥
रागद्वेषवियुक्तस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥
प्रसादे सवदु खाना हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धि पयवतिष्ठते ॥ ६५ ॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयत शान्तिरशान्तस्य कुत सुखम ॥ ६६ ॥
इन्द्रियाणा हि चरता यन्मन। [illegible] ।
तदस्य हरति प्रज्ञा वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगहीतानि सवश ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

अथ—अजुन ने पूछा कि हे केशव ! साम्य भाव में जिसकी बुद्धि स्थित (हो जाती) ह, उस स्थितप्रज्ञ पुरुष का क्या लक्षण ह ? और उस अविचल-बुद्धि वाले पुरुष की बोल चाल, रहन-सहन (एव) हलचल कसी होती ह* (५४) ? भगवान ने कहा कि हे पाथ !

---

*यहा पर समाधि शब्द का जो अथ किया गया ह वह दूसरी टीकाओ से कुछ विलक्षण प्रतीत होगा। दूसरी [illegible] अथ योग की समाधि अवस्था'

जब (मनुष्य) व्यक्तिगत स्वार्थ की सब कामनाओं के संकल्प मन से त्याग देता है, और अपने आप ही में सन्तुष्ट रहता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। तात्पर्य यह कि सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-बुद्धि वाला व्यक्ति सब भूतों को अपने में और अपने को सब भूतों में अनुभव करता है, अपने से भिन्न कोई पदार्थ उसकी दृष्टि में नहीं रहता, इसलिए दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व का भाव और दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की कामनाएँ उसके मन में शेष नहीं रहतीं—वह अपने आप में ही परिपूर्ण रहता है (५५)। दुःखों से जिसके मन में उद्वेग नहीं होता, सुखों के लिए जो लालायित नहीं होता, और जो राग, भय एवं क्रोध से ऊपर है, ऐसा ज्ञानी पुरुष स्थितप्रज्ञ कहा जाता है (५६)। जिसकी किसी पदार्थ में स्नेह की आसक्ति नहीं रहती ; शुभ अर्थात् अनुकूल की प्राप्ति में जिसको हर्ष नहीं होता, और अशुभ अर्थात् प्रतिकूल की प्राप्ति में जिसको विषाद नहीं होता, उसकी बुद्धि (साम्य-भाव में) ठहरी हुई है (५७)। और जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को सब ओर से अपने अन्दर सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब मनुष्य सब ओर से इन्द्रियों को उनके बाह्य विषयों से समेट कर अपने अन्दर (अन्तर्मुख) कर ले, तब उसकी बुद्धि स्थिर है (ऐसा समझना चाहिए) (५८)। विषय तो निराहारी पुरुष के भी छूट जाते हैं, परन्तु उनका रस अर्थात् चाह नहीं छूटती; परमात्मा के दर्शन होने पर अर्थात् आत्मा-परमात्मा की एकता का अनुभव होने पर उनकी चाह भी निवृत्त हो जाती है (५९)। हे कौन्तेय ! ये इन्द्रियाँ ऐसी प्रबल हैं कि प्रयत्न करते हुए विद्वान् पुरुष के मन को भी बलात्कार से खींच लेती हैं (६०)। इसलिए मेरे परायण होकर, उन सबको वश में करके, युक्त अर्थात् साम्य-भाव में स्थित होना चाहिए; जिसकी इन्द्रियाँ अपने वश में होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है (६१)। विषयों का चिन्तन करने वाले मनुष्य का उनमें संग अर्थात् आसक्ति हो जाती है, संग से (उक्त विषयों की प्राप्ति की) कामना उत्पन्न होती है, कामना से (प्राप्ति में बाधा पड़ने पर, अथवा विषयों का वियोग होने से, अथवा विषयों से तृप्ति न होने से, अथवा उनका दुष्परिणाम होने से) क्रोध उत्पन्न होता है; क्रोध से संमोह अर्थात् किंकर्तव्य-विमूढ़ता होती है; संमोह से स्मृति बिगड़ जाती है, अर्थात् पूर्व अनुभव की यथार्थ स्मृति नहीं रहती; स्मृति के बिगड़ने से बुद्धि अर्थात् विचार-

---

किया गया है, परन्तु योग की समाधि में बोलना, चलना आदि सब व्यवहार बन्द रहते हैं, इसलिए अर्जुन का यह प्रश्न ही नहीं बन सकता था, और भगवान् ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया है—"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः" तथा "यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्" आदि— वह भी योग की समाधि अवस्था पर नहीं घट सकता, क्योंकि उस अवस्था में सुख-दुःख और भले-बुरे आदि की प्राप्ति ही नहीं होती। इसी अध्याय के ४४वें श्लोक में "समाधि" शब्द आया है, वहाँ कई टीकाकारों ने उसका अर्थ "आत्माकार-वृत्ति" किया है, और आत्मा सम है, इसलिए इसका अर्थ "साम्य-भाव" ही उचित है।

शक्ति नष्ट हो जाती ह, ार ििनार ििनि के नष्ट हो जान से ििनाा ाा जाता ह (६२ ६३)। पर तु जिसका मन आत्मा यानी अपने आप में स्थिर ह, वह पुरुष राग द्वेष से रहित होकर अपने अधीन की हुई इद्रियो से विषयो को भोगता हुआ भी बहुत प्रसन्न रहता ह (६४)। चित्त की प्रसन्नता से उसके सब दु खो का अभाव हो जाता ह, क्योकि जिसका चित्त प्रसन्न ह, उसकी बद्धि तत्काल ही स्थिर हो जाती ह (६५)। समत्व योग से रहित पुरुष की बुद्धि (निश्चयात्मक) नही होती, और न समत्व-योग रहित पुरुष म भावना अर्थात आत्मज्ञान में श्रद्धा ही होती ह, श्रद्धा विहान पुरुष को शान्ति नही होती और अशान्त को सुख कहा ? अर्थात जिसके मन में सशय और विक्षेप बने रहते ह वह सुखी नहीं हो सकता (६६)। क्योकि जो मन विषयो मे बतनेवाली इद्रियो के पीछे लगा रहता ह वह मनुष्य की बद्धि को उसी प्रकार डावाडोल कर देता ह जिस प्रकार हवा नाव को पानी में (डावा डोल कर देती ह) (६७)। इसलिए हे महाबाहु ! जिसकी इद्रिया सब प्रकार विषयो से निग्रह की हुई, अर्थात अपन वश म की हुई ह उसी की बुद्धि निश्चल होती ह (६८)।

स्पष्टीकरण—सवभूतात्मक्य साम्य भाव मे जिसकी बुद्धि स्थित हो जाती ह, उस स्थितप्रज्ञ का सबसे पहला चिह्न भगवान यह बताते ह कि वह अपन आपम परिपूण होता ह, अपने से भिन्न किसी पदाथ की प्राप्ति का उसके मन मे सकल्प नही उठता क्योकि वह सबको "अपने आप' म और अपन आप' को सबमे अनुभव करता ह (गी०अ० ६ श्लोक २९ ३०)। इसलिए अपने से भिन्न कोई अप्राप्त वस्तु उसकी दष्टि में नही रहती अत वह पूण स तुष्ट रहता ह। यह बात साधारण लोगो में भी प्रत्यक्ष देखने म ाना ि ि ििाा ि ाााा ां के साथ अपनी एकता का ज्ञान होता ह, अर्थात जो यक्ति जितने पदाथ अपने मानता ह उनकी प्राप्ति का उम ाकाक्षा ाा रहाा। उस विषय में उस हद तक वह अपन को पूण समझ कर स तुष्ट रहता ह। जिस यक्ति के पास प्रचर सम्पत्ति, पर्याप्त शक्ति और अनकूल परिवार होता ह वह उस हद तक अपने को पूण मानता ह, और उन ाान ाा ाा के विषय में उसकी इच्छा शान्त हो जाती ह। उसी तरह आत्मज्ञानी को अखिल विश्व के साथ अपनी एकता का अनुभव हो जाने के कारण वह जगत के सब पदार्थों को अपने समझता ह, अत उसना िमा पा । ा ा प्रािि ना ा ाा नही रहती। उसकी पूणता असीम होती ह किसी भी विषय म वह अपूण नही रहता।

सुख दु ख अच्छे-बुरे, अनकूल प्रतिकूल सयोग वियोग आदि द्व द्व आत्मज्ञानी को विचलित नही करते क्योकि उसकी दष्टि म उनका पथक अस्तित्व नही होता। प्रत्यक द्व द्व के दोनो भाग अ योन्याश्रित होते ह जितनी मात्रा म एक का अस्तित्व होता ह उतनी ही मात्रा म उसके जोडे के विरोधी भाव का अस्तित्व होता ह। आत्मज्ञानी का सर्वात्म भाव होन के कारण उसका दष्टि में दाना सम होकर शा त हो जाते ह, इसलिए किसी एक का भी प्रभाव उस मन पर ाहा पाा ाा िमा म ा मना अना ा प्रिा ा ाा रहती,

से सर्वथा हटा लेने अर्थात् इन्द्रियों के व्यवहार ही बन्द करने की अस्वाभाविक चेष्टा करता है। ऐसा करने की आवश्यकता ही वह नहीं समझता; क्योंकि वह जानता है कि इन्द्रियाँ और उनके विषय, सब आत्मा अर्थात् अपने आपके ही खिलवाड़ हैं—अपने से भिन्न कुछ नहीं हैं। अपने ही संकल्प से इन्द्रियाँ और उनके विषयों की सृष्टि होती है। एक तरफ मन का संकल्प व्यष्टि-भाव से इन्द्रिय-रूप होता है और दूसरी तरफ समष्टि-भाव से विषय-रूप बनता है। मन का संकल्प एक तरफ तेजात्मक होकर नेत्र-रूप से देखता है और दूसरी तरफ दृश्य-रूप बनता है—देखना और दृश्य दोनों ही तेज के गुण हैं। मन का संकल्प एक तरफ आकाशात्मक होकर श्रोत्र-रूप से शब्द सुनता है और दूसरी तरफ शब्द-रूप बनता है—शब्द और सुनने की क्रिया दोनों ही आकाश के गुण हैं। इसी तरह सभी इन्द्रियों और उनके विषयों की एकता है। मन ही समष्टि-भाव से विषय-रूप बनता है और वही व्यष्टि-भाव से इन्द्रिय-रूप होकर उन्हें भोगता है। भोक्ता-भोग्य दोनों एक हैं। यह सबका प्रत्यक्ष अनुभव है कि जब मन इन्द्रियों के साथ रहता है तभी इन्द्रियों को विषय-रस का भान होता है, यदि मन ठिकाने न हो तो इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध होते हुए भी उनका भान नहीं होता। आँखों के सामने कितने ही प्रकार के दृश्य आवें, कानों के पास कितने ही शब्द होते रहें, जीभ कितने ही रसों को चखती रहे, नाक में कितनी ही तेज गन्ध आती रहे, स्पर्श-इन्द्रिय कितने ही अनुकूल-प्रतिकूल स्पर्श करती रहे, परन्तु मन की अनुपस्थिति में किसी भी इन्द्रिय को अपने विषय का ज्ञान नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि न तो इन्द्रियों में स्वयं विषय भोगने की योग्यता है और न विषयों में अपना निज का कोई रस ही है। मन की अनुकूलता-प्रतिकूलता के अनुसार ही विषय अच्छे-बुरे प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त यदि विचार कर देखा जाय तो केवल इन्द्रियाँ ही विषयों को नहीं भोगतीं, किन्तु विषय भी इन्द्रियों को भोगते हैं; और इन्द्रियाँ विषयों को जितना भोगती हैं, उतना ही विषय भी इन्द्रियों को भोगते हैं। यह नियम है कि जो जिसको जितना भोगता है, उतना ही वह स्वयं भोगा जाता है—क्रिया की प्रतिक्रिया होना अनिवार्य है। सभी पदार्थ एक दूसरे के भोक्ता-भोग्य हैं (बृ० उ० अ० २ ब्रा० ५)। तात्पर्य यह कि इन्द्रियों और उनके विषयों में वास्तव में कोई भेद नहीं है—वे एक ही आत्मा के अनेक रूप हैं। इसलिए आत्मज्ञानी की दृष्टि में विषयों के त्याग और भोग का प्रश्न कोई तथ्य नहीं रखता। जिस तरह एक पिता के बालक, पिता की उपस्थिति में आपस में खेलते हैं तो उनके खेलने से पिता के चित्त में कोई विक्षेप उत्पन्न नहीं होता, वह उनको खेलने से मना नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि खेलना बालकों का स्वभाव है, और उनके लिए खेलना आवश्यक भी है, बालक यदि न खेलें तो उनको हानि होती है; अतः वह उनके खेलने में वात्सल्य भाव से प्रसन्नतापूर्वक सहायक होता है। परन्तु साथ ही वह उनको यह स्वतन्त्रता नहीं दे देता कि खेल में वे इतने आसक्त हो जायें कि दिन-रात उसी में लगे रहें, अथवा इस तरह का कोई खेल खेलें कि जिसका दुष्परिणाम हो, और वर्तमान में अथवा

भविष्य में कोई हानि पहुँचे, अथवा आपस में विरोध उत्पन्न हो, अथवा उनके खेल से अन्य लोगों को पीड़ा या असुविधा हो। इसी तरह स्थितप्रज्ञ, इन्द्रियों और उनके विषयों को अपनी ही रचना समझता है, और बच्चों के खेल की तरह उनका पारस्परिक व्यवहार स्वाभाविक एवं आवश्यक जानता हुआ उसमें रुकावट नहीं डालता। इन्द्रियों का विषयों में वर्तना स्वाभाविक धर्म है और अपने धर्म के अनुसार वर्तना सबके लिए श्रेयस्कर होता है (गी० अ० ३ श्लो० ३३ से ३५)। अस्वाभाविक इन्द्रिय-निरोध से आत्मा के सगुण रूप इस संसार के खेल में विशृंखलता आती है, क्योंकि इसके सभी अंग अपना-अपना पार्ट यथा-योग्य बजावें, यानी अपने-अपने धर्मों का ठीक-ठीक आचरण करें, तभी यह सुव्यवस्थित रूप से चलता है। परन्तु उनका आचरण ऐसा न होना चाहिए कि जिससे परस्पर में विरोध अर्थात् विषमता उत्पन्न हो, अथवा दूसरों को अपने धर्म पालन करने में बाधा पहुँचे, अथवा भविष्य में उसका दुष्परिणाम हो, अथवा संसार रूपी खेल में अव्यवस्था आ जाय। इसलिए स्थितप्रज्ञ इन्द्रियों को उनके विषय भोगने में स्वतन्त्र अर्थात् निरंकुश नहीं कर देता, किन्तु उन्हें अपने अधीन रख कर उनसे इस तरह आचरण करवाता है कि जिससे किसी प्रकार का अनर्थ न हो। इन्द्रियों को मन के अधीन, मन को बुद्धि का अनुगामी और बुद्धि को आत्मनिष्ठ रखते हुए, वह राग-द्वेष रहित होकर प्रसन्न चित्त से लोक-संग्रह के लिए विषयों में वर्तता है। यदि इन्द्रियाँ मन के अधीन न रह कर उलटा मन इन्द्रियों का अनुगामी हो जाय, तो वे दोनों बुद्धि को आत्म-विमुख कर दें। और जिस तरह रथ के घोड़े स्वामीभक्त सारथी की लगाम में चलते हैं तभी रथ की यात्रा ठीक-ठीक होती रहती है; उसी तरह स्थितप्रज्ञ के शरीर-रूपी रथ के इन्द्रिय-रूपी घोड़े आत्मनिष्ठ बुद्धि-रूपी सारथी की मन-रूपी लगाम में चलते हैं, जिससे उसके व्यवहार यथार्थ होते हैं। स्थितप्रज्ञ की शरीर-यात्रा अज्ञानी लोगों की तरह व्यष्टि-भाव से नहीं होती, किन्तु सबके हित के लिए अर्थात् लोक-संग्रह के निमित्त होती है। इसलिए इन्द्रियों के व्यवहारों में उसे कोई व्यक्तित्व का अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ अर्थात् विषय-भोग की आसक्ति नहीं रहती, किन्तु संसार-चक्र को यथावत् चलाने अर्थात् लोकसंग्रह के लिए ही वह सब प्रकार से बर्तता है (गी० अ० ३ श्लो० ९ से ३०)। यद्यपि वह देखना, सूँघना, सुनना, स्पर्श करना, खाना, चलना, सोना, जागना, बोलना, लेना, देना आदि सभी प्रकार के व्यवहार करता है, परन्तु अन्य लोगों की तरह वह केवल अपनी भोग-इच्छा से उन्हें नहीं करता, किन्तु लोक-संग्रह के लिए ही उसके सब व्यवहार होते हैं। अतः इन्द्रियों का उनके विषयों में बर्तने का उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु गुण ही गुणों में बर्तते हैं, यही भाव उसके चित्त में रहता है। इसलिए वह सदा मुक्त और प्रकृति का स्वामी होता है (गी० अ० ५ श्लो० ७ से २१)।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ ६९॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।। ७० ।।
विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।। ७१ ।।
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।। ७२ ।।

अर्थ—जो सब भूत-प्राणियों की रात होती है, उसमें स्थितप्रज्ञ जागता है, और जिसमें सब भूत-प्राणी जागते हैं, ज्ञानवान् को वह रात दीखती है। तात्पर्य यह कि जिस तरह निशाचरों की आँखें सूर्य के प्रकाश को सहन नहीं कर सकतीं, इसलिए वे दिन में काम नहीं कर सकते, किन्तु रात के समय उन्हें प्रकाश दीखने के कारण वे रात ही में सब व्यवहार करते हैं, उसी तरह भौतिकता में आसक्त, स्थूल इन्द्रियों ही के ज्ञान को सत्य मानने वाले अज्ञानी लोगों की बुद्धि, सूक्ष्म आत्मज्ञान को ग्रहण नहीं कर सकती, इसलिए आत्म-ज्ञानियों के साम्य-भावयुक्त व्यवहारों के रहस्य को वे समझ नहीं सकते—अपने अविद्या-अन्धकार में किये हुए व्यवहारों ही को वे ठीक मानते हैं, परन्तु आत्मज्ञानी स्थितप्रज्ञ जानता है कि वे लोग अविद्या-अन्धकार से ग्रसित हैं (६९)। जिस तरह सदा परिपूर्ण—भरे हुए तथा अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में चारों ओर से पानी आने पर भी वह अपनी मर्यादा से अविचल रहता है, उसी तरह सब कामनाओं (विषयों) के प्राप्त होने पर भी जो पुरुष अविचल रहता है, केवल उसे ही सच्ची शान्ति प्राप्त होती है—कामनाओं की चाह रखने वाले को नहीं (७०)। जो पुरुष सब कामनाओं से रहित होकर एवं व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ की लालसा को छोड़ कर वर्तता है, अर्थात् जगत् के व्यवहार करता है, उसे ही शान्ति मिलती है (७१) हे पार्थ ! यही ब्राह्मी अर्थात् ब्रह्मभाव की स्थिति है, इसे प्राप्त होकर मनुष्य मोह में नहीं फँसता, और अन्तकाल में भी इसमें स्थित होकर ब्रह्म-निर्वाण-पद को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि स्थितप्रज्ञ केवल जीवन-काल ही में व्यष्टि (जीव) भाव से रहित नहीं होता, किन्तु सदा के लिए व्यष्टि (जीव) भाव से रहित होकर ब्रह्म-रूप हो जाता है (७२)।

स्पष्टीकरण—जगत् के भौतिक नानात्व को सत्य मान कर उसमें उलझे हुए भेदवादी लोगों की राजसी-तामसी समझ (गी० अ० १८ श्लो० २१-२२) समत्वयोगी के सर्वभूतात्मैक्य सात्विक ज्ञान (गी० अ० १८ श्लो० २०) को ग्रहण नहीं कर सकती। यह बात उनकी स्थूल बुद्धि में बैठ ही नहीं सकती कि एक, सत्य और अव्यक्त आत्मा में अनेक, मिथ्या और व्यक्त

भाव किस तरह हो सकते हैं ; और जो पदार्थ प्रत्यक्ष रूप से अलग-अलग दीख रहे हैं, वे वस्तुतः एक कैसे हो सकते हैं, और जगत् की इतनी भिन्नता में एकता का व्यवहार कैसे बन सकता है ? इन्द्रियों के विषयों में ही आसक्त रहने वाले उन अज्ञानी लोगों को, विषय-सुख की प्राप्ति अपने आप से बाहर ही होने का विश्वास रहता है, अतः वे सदा परावलम्बी और दीन बने रहते हैं। शरीर, इन्द्रियाँ, उनके विषय तथा विषयों के साधन आदि अनेक प्रकार की पराधीनताओं में वे जकड़े रहते हैं, और संसार के प्रायः सभी व्यवहारों में अपनी परवशता का सदा अनुभव करते हैं; इसलिए समत्वयोगी के अपनी प्रकृति के स्वामी-भाव से स्वाधीनतापूर्वक किये हुए सात्विक आचरणों के रहस्य को वे समझ नहीं सकते, क्योंकि वे उसको भी अपने जैसा ही एक तुच्छ व्यक्ति मानते हैं। अतः उसके परमात्म-भाव को वे सहन नहीं कर सकते और उसके साथ द्वेष करते हैं। स्थितप्रज्ञ जिन व्यवहारों को तत्त्वज्ञान की दृष्टि से लोगों के लिए कल्याणकर समझता है, उनको वे तामसी बुद्धि के लोग अधर्म मानते हैं (गी० अ० १८ श्लो० ३२)। स्थितप्रज्ञ अपनी सात्विकी बुद्धि (गी० अ० १८ श्लो० ३०) से निर्णय करके कभी सत्य, दया, क्षमा, अहिंसा आदि सात्विक माने जाने वाले भावों के विपरीत आचरण करना लोक-हितकर समझता है, और कभी काम, क्रोध आदि राजसी-तामसी माने जाने वाले भावों को वर्तना उचित समझता है, क्योंकि वह सब भावों का स्वामी होता है, अतः आवश्यकतानुसार यथायोग्य उनके सदुपयोग द्वारा लोक-हित करता है; परन्तु तत्त्वज्ञान-शून्य मूढ़ लोग उसके उक्त आचरणों का विरोध करते हैं। उनमें यह समझने की योग्यता नहीं होती कि व्यक्तित्व के भाव से किये जाने पर साधारणतया सात्विक माने जाने वाले गुणों का भी दुरुपयोग होकर वे हानिकर हो जाते हैं, और सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से करने पर साधारणतया राजस-तामस माने जाने वाले भावों का भी सदुपयोग होकर वे हितकर हो जाते हैं। वे केवल उसके आचरणों के बाह्य रूप से ही उनके अच्छे-बुरेपन का निर्णय कर लेते हैं। जिस बात को तत्त्वज्ञानी ग्राह्य समझता है, उसे अज्ञानी लोग हेय मानते हैं; और जिसको तत्त्वज्ञानी हेय मानता है, उसे वे ग्राह्य समझते हैं। संसार में अधिक संख्या अज्ञानियों की होती है, ज्ञानी कोई विरला ही होता है (गी० अ० ७ श्लो० ३ और १९)। यद्यपि लिखे-पढ़े लोगों की जगत् में काफी संख्या है; शास्त्रों के ज्ञाता भी बहुत से हैं; जप, तप, दान, पूजा, पाठ, यज्ञ, अनुष्ठान आदि शास्त्रोक्त क्रियाएँ करने वालों की भी कमी नहीं है; और ज्ञान एवं धर्मनीति की बातें बनाने वाले भी अनेक हैं; परन्तु सर्वभूतात्मैक्य व्यावहारिक ज्ञान के बिना उन विद्वानों और शुभ माने जाने वाले कर्म करने वालों को भी कर्तव्याकर्तव्य का यथार्थ बोध नहीं होता (गी० अ० ४ श्लो० १६)। वे लोग भी स्थितप्रज्ञ के "एक में अनेक

और अनेको मे एक के ज्ञान (गी० अ० ४ श्लो०१८) युक्त आचरणो के रहस्य को नही जान सकते, और अपनी उलटी समझ के अनुसार उस पर आक्षेप करते रहते ह। स्थितप्रज्ञ के उपरोक्त इद्रिय सयम को वे उसकी विषय लपटता बतात ह। यदि वह भद वाद के शास्त्रो की मर्यादाओ और लौकिक रूढियो पर कट्टरता न रख कर सबके साथ समता का व्यवहार करता ह, तो वे लोग उसको अधर्मी कहते ह, और यदि वह धार्मिक कमकाण्ड की क्रियाओ की उपक्षा करता ह, तो वे उसे नास्तिक मानते ह, उसका सत्य आचरण उनकी दष्टि मे मिथ्याचार और पाखण्ड होता ह। तात्पय यह कि वे अपनी पथकला की बुद्धि ही से काम लेते ह, सबकी एकता के साम्य भाव तक उनकी बुद्धि पहुचती ही नहीं, इसलिए स्थितप्रज्ञ के आचरणो के विषय मे वे अधेरे ही मे रहते ह। परन्तु स्थितप्रज्ञ उन भौतिक दष्टि के लोगो के भेद भावयुक्त राजसी-तामसी व्यवहारो को अधकार रूप अविद्या का काय समझता ह, अत वह उन लोगो के आचरणो की उपेक्षा करता ह, और उनके विरोध, निन्दा अथवा अपमान आदि से कभी विचलित नहीं होता। उसकी स्थिति उन सबसे ऊपर रहती ह (गी० अ० ६ श्लो० ४६)।

यद्यपि ससार के सभी पदाथ स्थितप्रज्ञ के सम्मुख सदा उपस्थित रहते ह परन्तु जिस तरह वर्षा ऋतु म नदियो का अनन्त जल वेग से समद्र म जाने पर भी समद्र अपनी अखण्ड मर्यादा म एक समान स्थित रहता ह—उसम घटा बढी नही होती उसी तरह पदार्थो के आते रहने पर भी स्थितप्रज्ञ के मन म उनका कोई हष या प्रमाद नहीं होता, किन्तु वह निश्चल और निर्विकार बना रहता ह क्योकि उसकी दष्टि में सब पदार्थों का अपार एव अक्षय भण्डार तो वह आप होता ह—पदार्था की स्थिति के लिए उसके आपके सिवाय दूसरा कोई स्थान ही नही होता। जिस तरह नदियो का जल समद्र से ही उठता और पीछा समुद्र म ही प्रविष्ट होता ह, उसी तरह सभी पदाथ आत्मज्ञानी के सकल्प से ही उत्पन्न होते ह उसी में रहत ह और उसी मे लय होते ह—उससे भिन्न कुछ भी नही होता। और स्थितप्रज्ञ को किसी भी वस्तु की बाहर से प्राप्ति की इच्छा नहीं रहती, अत उसका आचरण [illegible] व्यक्तिगत स्वाथ से रहित होता ह। शरीर के रहत और उसको छोडते समय भी उसकी यही आत्मनिष्ठ ब्राह्मी स्थिति निरन्तर बनी रहती ह। जगत के किसी भी पदाथ और व्यवहार के विषय में वह मोहित नहीं होता। इसी ब्राह्मी स्थिति में वह सब प्रकार के व्यवहार करता ह, और उस पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पडता।

॥ दूसरा अध्याय समाप्त ॥

तीसरा अध्याय

गीता का प्रतिपाद्य विषय—अपनी अपनी योग्यता के सासारिक व्यवहार सबकी एकता की साम्य बद्धि से करने का विधान—जो सक्षेप में सूत्र रूप से भगवान ने दूसरे अध्याय मे कहा ह उसको अच्छी तरह समझाने के लिए उसी की विस्तत व्याख्या शेष सोलह अध्यायो मे विविध प्रकार से की गई ह। उक्त व्याख्या का प्रारम्भ करने के लिए इस तीसरे अध्याय के आरम्भ मे अजुन के प्रश्न रूप से पूव-पक्ष उठाया गया ह । जिसके उत्तर मे भगवान पहले उक्त साम्यभावयुक्त जगत के व्यवहार करने रूपी यज्ञ की अवश्य कतव्यता का निरूपण करते ह।

अजुन उवाच

ज्यायसी चेत्कमणस्ते मता बुद्धिजनादन ।
तत्कि कमणि घोरे मा नियोजयसि केशव ॥ १ ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धि मोहयसीव मे ।
तदेक वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम ॥ २ ॥

अथ—अजुन ने कहा कि हे जनादन ! यदि आपके मत में कम की अपेक्षा बुद्धि ही श्रेष्ठ ह तो आप मुझ इस (युद्ध के) घोर (हिंसात्मक) कम म क्यो लगाते हो ? (१) मिले हुए से (द्विविध) वचनो से आप मेरी बद्धि को मोहित करते हो—एसा मुझे प्रतीत हो रहा ह, इसलिए निश्चय करके वह एक ही माग या विधि बताइए कि जिससे मुझे श्रेय की प्राप्ति हो (२)।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन साख्याना कमयोगेन योगिनाम ॥ ३ ॥
न कमणामनारम्भान्नैष्कम्य पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्यसनादेव सिद्धि समधिगच्छति ॥ ४ ॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकमकृत ।
कायते ह्यवश कम सव प्रकृतिजगुणै ॥ ५ ॥
कर्मेन्द्रियाणि सयम्य य आस्ते मनसा स्मरन ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचार स उच्यते ॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।। ७ ।।
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ।। ८ ।।
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।। ९ ।।
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।। १० ।।
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।। ११ ।।
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ।। १२ ।।
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।। १३ ।।
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।। १४ ।।
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।। १५ ।।
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।। १६ ।।
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।। १७ ।।
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।। १८ ।।
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।। १९ ।।
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ।। २० ।।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन ।
स यत्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवतते ॥ २१ ॥
न मे पार्थास्ति कतव्य त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्य वत एव च कमणि ॥ २२ ॥
यदि ह्यह न वर्तेय जातु कमण्यतन्द्रित ।
मम वर्त्मानुवतन्ते मनुष्या पार्थ सवश ॥ २३ ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्या कम चेदहम ।
सकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमा प्रजा ॥ २४ ॥
सक्ता कमण्यविद्वासो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वास्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसग्रहम ॥ २५ ॥
न बुद्धिभेद जनयेदज्ञाना कर्मसङ्गिनाम ।
जाघयेत्सवकर्माणि विद्वान्युक्त समाचरन ॥ २६ ॥
प्रकृते क्रियमाणानि गुण कर्माणि सवश ।
अहकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकमविभागयो ।
गुणा गुणेषु वतन्ते इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥
प्रकृतेगुणसमूढा सज्जन्ते गुणकमसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दा कृत्स्नविन्न विचालयेत ॥ २९ ॥
मयि सर्वाणि कर्माणि । । । ।
निराशीर्निममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वर ॥ ३० ॥

अथ—श्रीभगवान बोले कि हे अनघ ! मने पहले इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा (स्थिति) कही—साख्यो (तत्त्वज्ञानियो) की ज्ञान योग (आत्मज्ञान) के अवलम्बन युक्त और (समत्व) योगियो की कम योग के अवलम्बन युक्त (३) । कम का आरम्भ न करने ही से मनुष्य निष्कर्मी नही हो जाता, और न सन्यास ले लेने ही से सिद्धि मिलती ह (श्रेय साधन होता ह) (४) । क्योकि कम किये बिना क्षण भर भी कभी कोइ रह नही सकता, प्राकृतिक अर्थात अपने अपने स्वाभाविक गुणो से विवश होकर सब को (सदा कुछ न कुछ) कम करना ही पडता ह (५) । जो मूख कर्मेन्द्रियो (हाथ, पर आदि) को रोक कर, मन से इन्द्रियो के विषयो का चिन्तन करता हुआ बठा रहता ह, वह

मिथ्याचारी (दम्भी) कहा जाता है (६)। परन्तु हे अर्जुन! जो इन्द्रियों का मन से नियन्त्रण करके अनासक्त बुद्धि से कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म योग का आरम्भ करता है, अर्थात सबकी एकता के भाव से जगत के व्यवहार करता है—वही श्रेष्ठ है (७)। तू (अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार) नियत कर्म* अर्थात अपने कर्तव्य कर्म कर, कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। कर्म न करने से तो तेरी शरीर यात्रा भी नहीं हो सकेगी, अर्थात कर्म किये बिना शरीर का निर्वाह ही नहीं हो सकता (८)। यज्ञ के लिए, अर्थात संसार चक्र को अच्छी तरह चलाने में सहयोग देने के लिए किये जाने वाले कर्तव्य कर्मों के अतिरिक्त, (केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए) जो कर्म किये जाते हैं, उनसे ही ये लोक बंधते हैं। तू संग रहित होकर अर्थात दूसरों से पृथक अपने व्यक्तित्व के अहंकार और दूसरों से पृथक अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति छोड कर, उपरोक्त यज्ञ के लिए कर्म अच्छी तरह करता रह (९)। आरम्भ में (सृष्टि रचना के अधिदेव, समष्टि-संकल्परूप) प्रजापति (ब्रह्मा) ने यज्ञ सहित अर्थात अपने अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार अपने अपने हिस्से के कर्तव्य कर्म—जगत अथवा समाज की सुव्यवस्था, भलाई एवं उन्नति रूप लोक संग्रह के लिए—करने के विधान सहित प्रजा को रच कर कहा (प्रेरणा की) कि इस यज्ञ चक्र के द्वारा तुम्हारी वृद्धि होवे अर्थात तुम इससे फलो फूलो, वह यज्ञ चक्र तुम्हारे इच्छित पदार्थों को देने वाला (कामधेनु) होवे। तात्पर्य यह कि संसार स्वभाव से ही यज्ञमय है और यज्ञ पर ही निर्भर है, अर्थात संसार की यह स्वाभाविक व्यवस्था है कि सब कोई अपने अपने कर्तव्य पालन करके एक दूसरे की आवश्यकताएं पूरी करे तभी वह सुख समृद्धि सम्पन्न रह सकता है (१०)। तुम इस (यज्ञ) से देवताओं को पुष्ट करो और वे देवता तुम्हें पुष्ट करें, इस तरह आपस में एक दूसरे को पुष्ट करते हुए तुम परम श्रेय को प्राप्त होवोगे। तात्पर्य यह कि संसार में सभी पदार्थ एक दूसरे के उपकारी उपकार्य हैं अतः प्रत्येक व्यक्ति के अपने अपने हिस्से के कर्तव्य कर्म करने के योग से, जगत को धारण एवं पालन करने वाली समष्टि दैवी शक्तियां पुष्ट (पूरित) होती हैं, और उन समष्टि शक्तियों के पुष्ट होने से ही प्रत्येक व्यक्ति की सब

---

*अपने शरीर के स्वाभाविक गुणों के अनुसार जिन कर्मों के करने की योग्यता हो वे ही अपने लिए नियत कर्म हैं। परन्तु यह आ [illegible] साथ शरीर उत्पन्न होता है वे ही सदा बने रहें। मनुष्य शरीर में शिक्षा, संग और अनुभव आदि के प्रभाव से अपने स्वभाव (प्रकृति) को बदलने की भी योग्यता होती है। इसलिए जिस अवस्था में जिसके जो स्वाभाविक गुण हों उन्हीं के अनुसार उसके नियत कर्म होते हैं।

प्रकार की आवश्यकताएं पूरी होती हैं। इस तरह आपस में एक दूसरे के उपकार अथवा सेवा करते रहने से सबका कल्याण होता है (११)। यज्ञ से पुष्ट होकर देवता लोग तुमको तुम्हारे इच्छित भोग देंगे परन्तु उन (देवताओं) का दिया हुआ पीछा दिये बिना जो व्यक्ति (सब भोग्य पदार्थ) केवल आप ही भोगता है वह निश्चय ही चोर है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य कर्म अच्छी तरह करने से जगत को धारण पोषण करने वाली समष्टि दैवी शक्तियां परिपुष्ट होती हैं तब उनसे प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ उत्पन्न होते हैं अर्थात संसार के सभी भोग्य पदार्थ सब की सम्मिलित शक्ति के योग से उत्पन्न होते हैं, परन्तु जो व्यक्ति उन सार्वजनिक पदार्थों से केवल अपनी ही व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति करके दूसरों को उनसे वञ्चित रखता है वह सबकी चोरी करता है (१२)। यज्ञ से बचे हुए भाग को भोगने वाले सज्जन पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाते हैं, परन्तु जो केवल अपने लिये ही पकाते हैं वे पापी पाप को भोगते हैं। तात्पर्य यह कि अपने-अपने कर्तव्य कर्म अच्छी तरह करने से जो पदार्थ प्राप्त हों, उनसे दूसरों की आवश्यकताएँ यथायोग्य पूरी करते हुए जो सज्जन अपनी आवश्यकतानुसार उन्हें भोगते हैं वे पाप के भागी नहीं होते, परन्तु जो दूसरों की आवश्यकताओं की उपेक्षा करके केवल अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही काम करते हैं वे पाप कमाते हैं (१३)। अन्न* अर्थात भोग्य पदार्थों से भूत प्राणी होते हैं, पर्जन्य* अर्थात समष्टि उत्पादक (दैवी) शक्ति से अन्न अर्थात भोग्य पदार्थ होते हैं, यज्ञ* से समष्टि उत्पादक (दैवी) शक्ति होती है, और यज्ञ कर्म से अर्थात सबके अपनी अपनी योग्यता के कर्तव्य-

---

*प्रायः दूसरी टीकाओं में अन्न शब्द का अर्थ वर्षा से उत्पन्न होने वाले खाद्य पदार्थ, और पर्जन्य शब्द तथा यज्ञ शब्द का अर्थ अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मकाण्ड किये गये हैं परन्तु ये अर्थ बहुत ही संकुचित हैं। क्योंकि सारे भूत प्राणी केवल वृष्टि जन्य अन्न से ही नहीं होते किन्तु बहुत से प्राणी मांसाहारी हैं और अनेक प्राणी पृथ्वी जल अग्नि अथवा वायु से ही होते एवं उन पर निर्भर रहते हैं। जगत में सभी पदार्थ परस्पर में भोक्ता भोग्य अर्थात एक दूसरे की खुराक हैं। वर्षा का होना भी केवल अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मकाण्डों पर ही निर्भर नहीं है। जिन देशों में ये कर्मकाण्ड नहीं होते वहां भी वर्षा बहुतायत से होती है। इसलिए अन्न शब्द का व्यापक अर्थ सभी भोग्य पदार्थ —चाहे वे वर्षा से उत्पन्न हों या और तरह से तथा पर्जन्य शब्द का व्यापक अर्थ समष्टि उत्पादक शक्ति —चाहे वह वर्षा रूप में हो अथवा अन्य रूपों में और यज्ञ शब्द का व्यापक अर्थ सभी के अपने-अपने कर्तव्य कर्म करना अधिक उपयुक्त है। सबके अपने-अपने कर्तव्य कर्म करने ही से जगत की समष्टि उत्पादक शक्ति बनती है जिससे प्राणीमात्र के भोग्य पदार्थ होते हैं।

कम यथावत करने से होता ह (१४) । कम को प्रकृति रूप ब्रह्म से और प्रकृति को अक्षर अर्थात समष्टि आत्मा=परमात्मा से उत्पन्न हुई जान, इसलिए सवव्यापक प्रकृति रूप ब्रह्म सदा ही यज्ञ मे अर्थात ससार चक्र को चलाने में स्थित ह । (१५) इस तरह, (जगत क धारणाथ) प्रवत्त हुए यज्ञ चक्र के अनुसार जो इस जगत मे नही वतता, उसकी आयु पाप रूप ह और उस इद्रिय आरामी का जीना व्यथ ह । तात्पय यह कि जो व्यक्ति इस ससार क खेल मे अपने व्यक्तित्व एव व्यक्तिगत स्वार्थो की सबके साथ एकता करके अपने हिस्से के स्वाभाविक कतव्य कम करने द्वारा दूसरो की [illegible] करने में सहायक होकर ससार चक्र को चलाने में योग नही देता, [illegible] आराम क लिए [illegible] जीवन व्यतीत करता ह, उसका जीना निरथक ह (१६) । परन्तु जो मनुष्य केवल आत्मा मे ही रत और आत्मा ही मे तप्त एव आत्मा ही मे सन्तुष्ट रहता ह, अर्थात जिसको सवत्र एक आत्मा यानी अपने आपके एकत्व भाव का अनुभव हो जाता ह उसके अपने लिए (कोई) काय (अवश्य कतव्य) नही रहता । न तो ससार में कुछ करने से ही उसका अपना कोई प्रयोजन होता ह और न नही करने से ही, तथा सम्पूण [illegible] प्राणियो से उसका व्यक्तिगत स्वाथ कुछ भी नही रहता । तात्पय यह कि जिसको आत्मज्ञान हो जाता ह उसको अपने स्वाथ के लिए कुछ भी करना नहीं पडता, किन्तु वह इस जगत रूपी अपन खेल के लिए स्वतन्त्रता से लोक हित के व्यवहार करता ह। उसके व्यवहारो में कमरूपता नही रहती क्योकि उसको अपने व्यक्तित्व के लिए कुछ भी [illegible] । और अपने से भिन्न कर्ता, कम, क्रिया आदि के भाव भी उसम नही रहते (१७ १८) । इसलिए तू दूसरो से पथक अपने व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति से रहित होकर (सबके साथ एकता के साम्य भाव से) अपने स्वाभाविक गणों की योग्यतानसार अपन कतव्य कम सदव अच्छी तरह तत्परता से करता रह, क्योकि व्यक्तित्व क भाव की आसक्ति से रहित होकर कम करन वाला मनुष्य परमात्म भाव में स्थित होता ह (१९) । जनक आदि (अनेक ज्ञानी पुरुष इस प्रकार) कम करते हुए ही (आत्मानभवरूपी) परम सिद्धि में स्थित रहे ह अर्थात सर्वात्म भाव से जगत के व्यवहार करत रहे ह, अत लोक सग्रह की दष्टि से अर्थात जगत और समाज की सुव्यवस्था के लिए तुझे भी कम करना ही योग्य ह (२०) । श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ करता ह, [illegible] साधारण मनुष्य भी उसी के अनसार किया करते ह वह (श्रेष्ठ पुरुष) जिसे प्रमाण (मान कर) करता ह (दूसरे) लोग उसी का अनुकरण करत ह (२१) । हे पाथ ! मेरे लिए तीनो लोको में कुछ भी कतव्य नही ह, और न मुझे कोई अप्राप्त वस्तु ही प्राप्त करनी ह, तो भी म कम करता ही रहता हू (२२) । क्योकि यदि म कभी तत्परता से कम न करू, तो हे पाथ ! लोग सब प्रकार से मेरे ही माग का अनसरण करने लग जायँ, अर्थात सब लोग काम करना छोड दें (२३) । (अत) यदि म कम न करू तो ये सारे लोक नष्ट हो जाय, और वणसकरता

उत्पन्न करने वाला तथा इन प्रजाओ को बिगाडने वाला म ही होऊ। तात्पय यह कि यदि म तत्परता से कम न करू तो मेरा अनुसरण करके लोग अपने अपने वण के कम छोड दे, जिससे सारी प्रजा नष्ट हो जाय (२४)। हे भारत ! अज्ञानी लोग (पथक व्यक्तित्व के भाव की) आसक्तिपूवक (पराधीनता से) जिस तरह कम किया करते ह, ज्ञानी पुरुष व्यक्तित्व की आसक्ति के बिना, लोक सग्रह अर्थात जगत अथवा समाज की सुव्यवस्था की इच्छा से, (स्वाधीनतापूवक) उसी तरह कम करे (२५)। विद्वान पुरुष (स्वय कम करना छोड कर), कर्मो मे आसक्ति रखने वाले अज्ञानियो की बुद्धि मे भेद अर्थात विपर्यास उत्पन्न न करे, किन्तु (स्वय सबके साथ अपनी एकता के साम्य-भाव से) युक्त होकर (सब प्रकार के कम) अच्छी तरह तत्परतापूवक करता हुआ उनको भी सारे कामो मे लगावे (२६)। सभी कम प्रकृति क गुणो द्वारा होते ह अर्थात सबके स्वाभाविक गुणो के परस्पर गुणन से ही सब प्रकार के कम हुआ करते ह पर दूसरो से पथक अपने व्यक्तित्व क अहकार मे डूबा हुआ मूढ पुरुष ऐसा मानता ह कि 'म ही करता हू' (२७)। परन्तु हे महाबाहो ! गुण-कम विभाग के रहस्य का ज्ञाता (तत्त्वज्ञानी) पुरुष यह जान कर कि गुण गुणो म वत रहे ह, कर्मों मे आसक्त नहा हाना अर्थात आत्मज्ञानी पुरुष [illegible] सबकी सम्मिलित समष्टि प्रकृति के तीनो गुणो के तारतम्य से उत्पन्न अनन्त प्रकार के स्वभाव वाले शरीरो द्वारा ही उक्त तीनो गुणो क तारतम्य के अनन्त प्रकार के कम होते ह। यानी कर्ता और कम सब त्रिगुणमय ह (गी० अ० १८ श्लो० २३ से २८) इसलिए गुण ही गुणो मे वत रहे ह—अपने आप (आत्मा) को वह इन सबका आधार सबका प्रेरक और सबका स्वामी जानता ह—अत वह कर्मों के अधीन नहीं होता, किन्तु अपनी त्रिगणात्मक प्रकृति के इस खेल की सुव्यवस्था के लिए [illegible] कम किया करता ह (२८)। अज्ञानी लोग प्रकृति के गुणो के उक्त रहस्य को नहीं जानते, इसलिए वे गुणो और कर्मो म उलझे हुए (उनके अधीन) रहते ह उन अल्पज्ञ मन्दबुद्धि लोगो को तत्त्वज्ञानी सवज्ञ पुरुष (कम करने से) विचलित न करे (२९)। श्लोक १९ से २९ तक का तात्पय यह ह कि जिनको आत्मज्ञान नही होता, वे स्थूल, सूक्ष्म एव कारण शरीरो ही में अहभाव रखते ह यानी शरीरो ही को "अपना आप" मानत ह, इसलिए उनकी अपने व्यक्तित्व के अहकार और व्यक्तिगत स्वार्थो मे आसक्ति रहती ह और उस आसक्तिपूवक ही वे सासारिक व्यवहार करते ह। उनको इस बात का ज्ञान नही होता कि यह जगत सबके एकत्व भाव यानी समष्टि-आत्मा=परमात्मा के स्वभाव (प्रकृति) के तीन गुणो का खेल ह, अर्थात एक ही सच्चिदानन्द आत्मा की इच्छा रूप प्रकृति के गुणो के परस्पर गुणन से जगत के सब कम होत ह। इस रहस्य को न जान कर एव पथकता को सच्ची मान कर, वे अपने व्यक्तित्व को ही कर्मों का कर्ता मानत ह और इस कर्तापन के अहकार के कारण कर्मों को दु ख और बन्धन

रूप मान कर वे उन्हें छोड़ कर संन्यास लेने में प्रवृत्त होते हैं। परन्तु आत्मज्ञानी पुरुष की सर्वात्म-भाव में स्थिति होने के कारण उसकी दृष्टि में अपने आप (आत्मा) से भिन्न कुछ भी नहीं रहता, न अपने (आत्मा) से भिन्न उसका कोई स्वार्थ ही शेष रहता है। इसलिए वह केवल लोक-संग्रह के निमित्त लोगों को पथप्रदर्शन कराने के लिए स्वतन्त्रतापूर्वक कर्म किया करता है। यद्यपि आत्मज्ञानी को अपने लिए न तो कोई कर्म करना ही आवश्यक होता है और न कर्म छोड़ने ही का कोई प्रयोजन रहता है। वह कृत-कृत्य होता है, इसलिए शरीर के रहने व न रहने से भी उसका कोई प्रयोजन अथवा हानि-लाभ नहीं होता। परन्तु जिन लोगों को आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, उनके लिए तो अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता के अनुसार सब प्रकार के कर्म करना ही आवश्यक होता है; क्योंकि आत्मज्ञान की प्राप्ति का साधन शरीर है, और शरीर का निर्वाह सबके अपने-अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यता के कर्म करने द्वारा समाज और जगत् के सुव्यवस्थित रहने पर ही निर्भर रहता है; और यदि आत्मज्ञानी कर्म करना छोड़ दे तो अज्ञानी लोग भी—यह समझ कर कि जब आत्मज्ञानी लोग कर्म नहीं करते तो कर्म न करने ही में सुख अथवा कल्याण होगा—उन (आत्मज्ञानियों) की देखादेखी अपना-अपना स्वाभाविक कर्म छोड़ दें, जिससे बड़ा अनर्थ हो जाय; क्योंकि शरीर के रहते कर्म सर्वथा छूट तो सकते नहीं। अतः जब देहाभिमानी अज्ञानी लोग अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता के कर्म करना छोड़ दें, तो या तो वे विवश होकर दूसरे विरुद्धाचरण करने में प्रवृत्त हो जायँ अथवा निरुद्यमी, आलसी एवं प्रमादी बन जायँ, जिससे जगत् और समाज की घोर अव्यवस्था होकर, कल्याण के साधन—शरीरों का निर्वाह होना ही असम्भव हो जाय। इसलिए तत्त्वज्ञानी महापुरुष कर्म करना छोड़ कर अज्ञानी लोगों को विरुद्धाचरण में प्रवृत्त करने तथा आलसी एवं प्रमादी बनाने का कारण उत्पन्न नहीं करते, किन्तु स्वयं अपने शरीरों की योग्यतानुसार सब प्रकार के कर्म अनासक्त बुद्धि से करते हुए दूसरे को भी अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार उसी तरह कर्म करने का आदर्श दिखाते रहते हैं। कर्म न करने के लिए तो किसी पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता नहीं रहती, परन्तु ज्ञानपूर्वक कर्म करने के लिए तत्त्वज्ञानी लोगों के आचरण ही अनुकरणीय होते हैं (२५ से २९)।

(इसलिए) तू सब कर्मों का अध्यात्म-बुद्धि से मुझ (सर्वात्मा=परमात्मा) में संन्यास करके, आशा और ममता से रहित होकर, एवं शोक-सन्ताप छोड़ कर युद्ध कर। तात्पर्य यह कि तू आत्मज्ञान से युक्त होकर यानी सबके साथ अपनी एकता का अनुभव करता हुआ अपने पृथक् व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ कर तथा कर्मों से केवल व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि की आशा, एवं शरीर के सम्बन्धियों की ममता से रहित होकर, जगत की सुव्यवस्था एवं सबके हित के लिए, युद्धरूपी अपना कर्तव्य-कर्म

(मरने, मारने अधम, पाप एव नरक आदि सब प्रकार की) चिन्ता छोड कर अच्छी तरह उत्साहपूर्वक कर (३०)।

स्पष्टीकरण—दूसरे अध्याय में भगवान ने पहले आत्मज्ञान का निरूपण किया जो केवल बुद्धि का विषय ह, फिर अपने अपने कम अर्थात कतव्य कम पालन करने की आवश्यकता बता कर सबके साथ अपनी एकता की साम्य बुद्धि से कम करने का विधान करके सवत्र बद्धि ही की प्रधानता का प्रतिपादन किया। इस पर यह शका सहज ही उठती ह कि जब सारा दार-मदार बुद्धि पर ही ह तो फिर कम करने की आवश्यकता ही क्या ह ? केवल बुद्धि को आत्मज्ञान मे स्थित करके सब कुछ छोड छाड कर शान्ति से बठे हुए अपना श्रेय साधन ही क्यो न किया जाय ? इसके अतिरिक्त सबकी एकता के साम्य भाव में बुद्धि को स्थित करने के उपदेश के साथ लडाई जसे घोर हिंसात्मक कम करने का विधान अत्यन्त विरुद्ध प्रतीत होता ह, अत इन विरोधी भावो का मेल कसे हो सकता ह ? युद्ध जसा घोर कम करते हुए बुद्धि साम्य भाव म स्थित कसे रह सकती ह ? इन दोनो विरोधी मार्गों मे से वास्तविक श्रेयस्कर माग कौन सा ह—इसका यथाथ निणय होना नितान्त ही आवश्यक ह। अजन के इस आशय के प्रश्न के उत्तर मे भगवान विस्तारपूवक कम करने की आवश्यकता और अनिवायता का निरूपण करते हुए कहते ह कि मने जो पहले आत्म ज्ञान का और फिर साम्य-बुद्धि से कम करने का वणन किया ह उसका अभिप्राय अलग अलग निष्ठाओ अर्थात शरीर यात्रा के जुदे जुदे मार्गो के विधान करने का नहीं ह किन्तु एक ही ब्राह्मी स्थिति अर्थात ब्रह्मविद्या को अच्छी तरह समझाने के लिए पहले तत्त्वज्ञानियो का निणय किया हुआ आत्मज्ञान कह कर फिर उसी आत्मज्ञानयुक्त सासारिक व्यवहार करने अर्थात ज्ञानयुक्त कम करने (ज्ञान कम-समुच्चय) का विधान कहा ह। तात्पय यह कि ज्ञान और कम की अलग अलग कतव्यता नहीं कही ह किन्तु एक ही व्यावहारिक ब्राह्मी स्थिति अथवा यथाथ ब्रह्मनिष्ठा कही ह। ज्ञान और कम का विरोध नहीं ह किन्तु ये एक दूसरे के सहायक ह, क्योकि बुद्धि का धम (सूक्ष्म) विचार करना ह और इन्द्रियो का धम (स्थूल) कम करना। अस्तु, बुद्धि ज्ञान (विचार) में लगी रहे और इन्द्रिया बुद्धि के निणयानसार अपने अपने कम करती रहें—इस तरह ज्ञानयुक्त कम होते ह। बुद्धि युक्त प्राणियो के कम ज्ञान सहित ही होते ह—चाहे वह ज्ञान यथाथ हो या अयथाथ। जिनकी बुद्धि आत्मनिष्ठ होती ह उनके सभी व्यवहार सबके साथ एकता के साम्य भाव से होते ह—उनमे उनके पथक व्यक्तित्व का भाव और व्यक्तिगत स्वाथ नहीं रहता, अत न तो उनकी किसी से प्रीति होता ह और न विरोध। वे जो कुछ करते ह वह सबके हित के लिए होता ह इसलिए उनके कम घोर (हिसात्मक) होते हुए भी वास्तव में सौम्य (अहिंसात्मक) ही होते ह। कर्मां में स्वय अच्छापन या बुरापन कुछ भी नही ह—अच्छापन या बुरापन कर्ता के भाव पर निभर रहता ह। सबके साथ अपनी एकता के भाव से किये

हुए कर्म, स्थूल दृष्टि से बुरे प्रतीत होते हुए भी वास्तव में बुरे नहीं होते, किन्तु अच्छे ही होते हैं; और पृथक्ता के भाव से किये हुए कर्म, ऊपर से अच्छे प्रतीत होते हुए भी वास्तव में अच्छे नहीं होते, किन्तु बुरे ही होते हैं। आत्म-ज्ञान की समत्व-बुद्धि का कर्मों से कोई विरोध नहीं है, चाहे वे कर्म घोर (हिंसात्मक) हों या सौम्य (अहिंसात्मक); और न आत्म-निष्ठ बुद्धि पर कर्मों का कोई प्रभाव ही पड़ता है। इसके अतिरिक्त जिन लोगों की सबके साथ एकता के साम्य-भाव में पूर्ण स्थिति हो जाती है, उनकी दृष्टि में अपने से भिन्न कुछ रहता ही नहीं, अतः उनके लिए कर्म करने अथवा छोड़ने के लिए कुछ भी नहीं रहता। यह जगत-प्रपंच उनके समष्टि भाव की त्रिगुणात्मक प्रकृति का मायिक खेल होता है, अतः वे सब कुछ करते हुए भी कुछ भी नहीं करते। परन्तु जिन लोगों को यह आत्मज्ञान नहीं है, वे यदि हाथ-पैर बाँध कर निकम्मे बैठे रहें अथवा संन्यास लेकर लौकिक व्यवहार छोड़ दें, तो भी कर्म-त्याग का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता; क्योंकि लौकिक व्यवहार न करके निकम्मे बैठे रहना तथा व्यवहार छोड़ना भी तो कर्म ही है, और जब कर्म न करने अथवा त्याग देने के व्यक्तित्व का अहंकार बना हुआ है, तब न तो कुछ त्यागा गया और न यथार्थ ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति ही हुई। ब्राह्मी स्थिति तो पृथक् व्यक्तित्व की सबके साथ एकता करने से, अर्थात् भिन्नता के भाव मिटाने से होती है, न कि भेद-भावयुक्त त्याग करने से। शरीर और जगत् अथवा पिण्ड और ब्रह्माण्ड परमात्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति का मायिक खेल है, अतः इस खेल में तीनों गुणों का तारतम्य बना रहना अनिवार्य है। इनमें से किसी एक का भी सर्वथा अभाव हो नहीं सकता। सत्वगुण ज्ञानात्मक और सुखात्मक है, रजोगुण रागात्मक और क्रियात्मक, तथा तमोगुण जड़ात्मक है; इसलिए त्रिगुणात्मक प्रकृति के इस खेल में कोई भी व्यक्ति कुछ-न-कुछ किये बिना कभी रह ही नहीं सकता—अपने-अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार कर्म सबको करने ही पड़ते हैं, चाहे वह हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों द्वारा करे, अथवा आँख, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा, अथवा मानसिक संकल्प-विकल्पों द्वारा, अथवा बुद्धि के विचारों द्वारा करे—शरीर के रहते कर्म सर्वथा छूट नहीं सकते। यदि कोई व्यक्ति संन्यास लेकर एकान्त स्थान में जा बैठे, तो भी अपने खाने-पीने आदि के व्यवहार तो विवश होकर उसे भी करने ही पड़ते हैं; क्योंकि त्रिगुणात्मक प्रकृति-जन्य शरीर के स्वाभाविक धर्म—भूख, प्यास आदि तो शरीर के रहते छूट ही नहीं जाते। यदि हठ से शरीर के प्राकृतिक वेगों को रोका जाय, तो मन से तो उनका चिन्तन छूट ही नहीं सकता; और अपनी व्यक्तिगत कल्याण की कामना भी बनी ही रहती है। तात्पर्य यह कि अपने व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के कर्म तो शरीर से अथवा मन से होते ही रहते हैं, केवल दूसरों की सेवा के अथवा लोक-संग्रह अर्थात् संसार-चक्र को सुव्यवस्थित रूप से चलाने में योग देने के कर्म छूटते हैं; परिणाम यह होता है कि व्यक्तित्व के अहंकार से संन्यास लेने वाला पुरुष अपने शरीर की आवश्यकताएँ तो दूसरों

की सेवा द्वारा पूरी कराता है, परन्तु स्वयं दूसरों के लिए कुछ भी नहीं करता। यह मिथ्याचार अथवा पाखण्ड है। इसलिए सबसे श्रेष्ठ बात यह है कि आत्मज्ञान से इन्द्रियों को अपने वश में रखते हुए, अपने शरीर के स्वाभाविक गुणों के अनुसार जिन कर्मों के करने की योग्यता हो उनको, जगत् के व्यवहार यथायोग्य चलाने रूपी यज्ञ के लिए सबको अवश्य करते रहना चाहिए। यदि संसार-चक्र को चलाने में योग देने के लिए अपने-अपने कर्तव्य-कर्म न किये जायँ, तो अपने शरीर का भी निर्वाह नहीं हो सकता—चाहे कोई गृहस्थ हो या संन्यासी। क्योंकि संसार में जितने चेतन एवं जड़ पदार्थ हैं, वे एक दूसरे के उपकारी-उपकार्य अथवा भोक्ता-भोग्य (एक दूसरे के काम में आने वाले) एवं अन्योन्याश्रित (एक दूसरे पर निर्भर रहने वाले—सेवक-सेव्य) हैं, अर्थात् आपस में एक दूसरे की सेवा करें तभी सबका निर्वाह हो सकता है; इसलिए यदि कोई व्यक्ति अपने व्यष्टि अहंकार से अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म न करे, तो दूसरों से अपनी शारीरिक आवश्यकताएँ पूरी कराके जीवित रहने का उसे कोई अधिकार नहीं रहता, क्योंकि यदि इस तरह सब कोई अपने-अपने कर्म करना छोड़ दें तो फिर किसी का भी जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता।

जड़ सृष्टि और पशु-पक्षी आदि तो सर्वथा प्रकृति के अधीन रहते हैं, अतः वे स्वभाव ही से अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं। उनमें न तो प्रकृति के विरुद्ध कर्म करने की और न अपने स्वाभाविक कर्तव्यों की अवहेलना करके उन्हें छोड़ने की योग्यता ही होती है। वे अपने शरीरों को भी प्राकृत अवस्था में रखते हैं, और अपने शरीरों की सब प्रकार की आवश्यकताओं के लिए प्रकृति पर ही निर्भर रहते हैं। परन्तु मनुष्य (स्त्री-पुरुष) के शरीर में आत्मविकास की विशेषता होने के कारण वह प्रकृति के सर्वथा अधीन नहीं रहता, किन्तु उस पर शासन करने के प्रयत्न में लगा रहता है। वह प्रकृति को अपने अधीन करके उससे काम लेता है। वह अपने शरीर को प्राकृत अवस्था में ही रख कर संतोष नहीं करता, किन्तु नाना प्रकार के उपचारों से वह उसके रंग-रूप में ही नहीं, किन्तु बनावट में भी फेर-फार करता रहता है, और शरीर के स्वाभाविक गुणों को भी बदलता रहता है। शरीर की आवश्यकताओं के लिए वह सर्वथा प्रकृति पर ही निर्भर नहीं रहता, अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों को वह उनकी प्राकृत अवस्था में ही उपयोग में लेकर सन्तोष नहीं करता, किन्तु उनका प्रकृति द्वारा ही अच्छी तरह संस्कार करके उन्हें काम में लेता है; और अनेक पदार्थों को वह अपनी इच्छा से प्रकृति द्वारा उत्पन्न भी करवाता है। खाद्य पदार्थ जितने और जिन रूपों में प्रकृति द्वारा स्वतः उपजते हैं, उन्हें पशु-पक्षियों की तरह वह उतने ही और उसी अवस्था में नहीं खा लेता, किन्तु खेती आदि व्यवसायों से विविध प्रकार के खाद्य पदार्थ प्रकृति द्वारा उत्पन्न कराता है, और उनका विविध प्रकार से योग करके, तथा भाँति-भाँति की क्रियाओं से संस्कार करके खाता है। शरीर को सुरक्षित रखने के लिए वह प्राकृतिक आश्रयों में ही नहीं रहता, अर्थात् वह गुफाओं, कन्दराओं अथवा वृक्षादि की ओट में

ही शरीर की रक्षा नहीं करता और न नंगा ही रहता है, किन्तु प्राकृतिक द्रव्यों के उपयोग से विशाल भवन आदि बना कर उनमें रहता है, तथा भाँति-भाँति के वस्त्र बना कर पहिनता है। जो जितना ही अधिक उन्नत होता है, उतना ही अधिक वह प्रकृति पर विजय पाता है। मनुष्य-देह में इतनी योग्यता है कि वह अपने पुरुषार्थ से प्रकृति पर पूर्ण विजय प्राप्त करके उस पर आधिपत्य कर सकता है, और सर्वात्म-भाव से उसका समावेश भी "अपने आप" में कर सकता है। परन्तु समष्टि-भाव में पूर्ण रूप से स्थित होने से, अर्थात् सबके साथ पूर्ण एकता होने से ही ऐसा हो सकता है। जब तक व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति रहती है, तब तक प्रकृति की अधीनता से छुटकारा नहीं हो सकता—चाहे कोई गृहस्थाश्रम में रह कर सांसारिक व्यवहार करे अथवा संन्यास लेकर काम करना छोड़ दे। तात्पर्य यह कि अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर्म किये जायँ अथवा छोड़े जायँ, दोनों ही अवस्थाओं में वे बन्धन के हेतु होते हैं; परन्तु संसार-चक्र को चलाने रूपी यज्ञ में योग देने के लिए, सबके साथ सहयोग रखते हुए, एवं सबके साथ शृंखलाबद्ध होकर अपने-अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म करने से कोई बन्धन नहीं होता; और न उनसे कोई पाप ही लगता है—चाहे वे कर्म घोर (हिंसात्मक) हों या सौम्य (अहिंसात्मक); क्योंकि जगत् की रचना स्वभाव से ही यज्ञमय है, अर्थात् सबके अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म करने से ही जगत् बनता और स्थिर रहता है।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि प्रत्येक भौतिक द्रव्य का और जगत् की प्रत्येक हलचल का सूक्ष्म समष्टि (एकत्व) भाव, उसका अधिदेव अर्थात् देवता कहा जाता है। इसी तरह प्रत्येक व्यक्ति के आँखों से देखने, कानों से सुनने, नाक से सूँघने, त्वचा से स्पर्श करने, जिह्वा से स्वाद लेने, मुख से खाने, वाणी से बोलने, बुद्धि से विचार करने एवं हाथों से काम करने आदि प्रत्येक व्यष्टि व्यवहार-शक्ति का सूक्ष्म समष्टि (एकत्व) भाव उसका अधिदेव अर्थात् देवता होता है—जैसे आँखों से देखने की शक्ति का समष्टि-भावापन्न देवता आदित्य, कानों से सुनने का देवता दिक्पाल, नाक से सूँघने का देवता अश्विनीकुमार, त्वचा से स्पर्श करने का देवता वायु, जिह्वा से स्वाद लेने का देवता वरुण, मुख से खाने का देवता अग्नि, वाणी से बोलने का देवता सरस्वती, बुद्धि से विचार करने का देवता बृहस्पति एवं हाथों से काम करने का देवता इन्द्र माना जाता है, इत्यादि। इस तरह अनन्त प्रकार के व्यष्टि व्यवहारों के समष्टि-भावापन्न अगिणत देवता हैं। इन समष्टि शक्तियों रूपी देवताओं के अपने-अपने व्यापार करने से सारे जगत् अर्थात् ब्रह्माण्ड का धारण, पोषण एवं संचालन होता है; और प्रत्येक व्यक्ति अर्थात् पिण्ड की व्यष्टि शक्तियों के व्यापारों के योग ही से ब्रह्माण्ड की समष्टि शक्तियों के व्यापार होते हैं, क्योंकि सब पिण्डों का योग ही ब्रह्माण्ड है, अतः पिण्डों के व्यापारों के योग ही ब्रह्माण्ड के व्यापार हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता होने के कारण जो कुछ प्रत्येक व्यष्टि शरीर अर्थात् पिण्ड

में व्यष्टि रूप से है, वही अखिल जगत अर्थात ब्रह्माण्ड मे समष्टि रूप से है। तात्पय यह कि व्यष्टि अर्थात प्रत्येक व्यक्ति के कर्मों के योग से समष्टि जगत पूरित होता है और समष्टि जगत से व्यष्टि जगत का धारण पोषण एव सचालन होता है, अर्थात प्रत्यक व्यक्ति की आवश्यकताए पूरी होती है। अत सबके यथायोग्य कम करने से ही यह ससार चक्र ठीक ठीक चलता रहता है।

जिस तरह समष्टि जगत (ब्रह्माण्ड) का अस्तित्व सब (प्रत्येक पिण्ड) के अपने अपने कर्तव्य कम करने रूपी यज्ञ पर निभर है उसी तरह मानवाय जगत अर्थात मनुष्य समाज का अस्तित्व भी प्रत्येक व्यक्ति के अपने अपने स्वाभाविक गुणो* की योग्यतानुसार, अपने अपने हिस्से के कर्तव्य कम करने रूपी यज्ञ पर ही निभर रहता है। सत्व रज मिश्रित गुणो की प्रधानता वाले मनष्य (स्त्री पुरुष) ज्ञान और विज्ञान आदि की शिक्षा सम्बन्धी काय का सम्पादन करे रज सत्व मिश्रित गणो की प्रधानता वाले, शासन और रक्षा का काय करे, रज तम मिश्रित गणो की प्रधानता वाले पदार्थो को उपजाने और उनके व्यवसाय एव विनिमय का काय करे, और तम रज मिश्रित गणो की प्रधानता वाले शारीरिक श्रम से कला-कौशल और सेवा आदि का काय करे, तथा उपरोक्त सभी वर्गो के लोग जीवन के प्रथम भाग मे ब्रह्मचय व्रत से रह कर शारीरिक एव मानसिक बल सम्पादन करते हुए अपने अपने स्वाभाविक गुणो के अनसार विद्याध्ययन करे जीवन के द्वितीय भाग मे गहस्थाश्रम मे रह कर अपनी अपनी योग्यतानसार जगत के उपरोक्त व्यवहार करे, जीवन के ततीय भाग में अपनी अपनी योग्यतानसार विशेषतया समाज सेवा के काय करे, और जीवन के चतुथ भाग मे अपनी विद्या-बुद्धि एव तीनो अवस्थाओ में सचित किये हुए अनुभव का लाभ, लोगो को सदुपदेश एव सत्परामश देने द्वारा पहुचाव तभी समाज सुव्यवस्थित रह सकता है। मनुष्य समाज इसी यज्ञ के आधार पर निर्मित एव अवस्थित है, और यह यज्ञ सबके हित के लिए अवश्य कर्तव्य है। यदि मनुष्य अपने अपने स्वाभाविक गुणो की योग्यतानुसार, अपने-अपने कर्तव्य कम न करे तो समाज नष्ट हो जाय। शिक्षक वग के लोग ज्ञान और विज्ञान का प्रचार और उन्नति न करे तो अशिक्षित जनता में किसी भी काम के करने की योग्यता न रहे रक्षक वग के लोग शासन और रक्षा का काम न करे तो समाज में उच्छखलता आ जाय और अपने-अपने कम करने के लिए किसी को भी सुविधा न रहे व्यवसायी लोग पदाथ उत्पन्न करके उनके क्रय विक्रय आदि का व्यवसाय न करे तो लोगो को [illegible] के लिए आवश्यक पदाथ ही न मिले, और श्रमी लोग यदि शिल्प और सेवा का काय न करे तो दूसरे वग वालो का कोई भी काय सम्पादन

* गणो के अनुसार काय विभाग की चतुवण व्यवस्था का विशेष खुलासा १८वे अध्याय के श्लोक ४१ से ४४ तक के तात्पय मे किया गया है।

न हो सके। इसी तरह प्रत्येक मनुष्य के लिए अपने-अपने जीवन की चारो अवस्थाओ मे उपरोक्त चारो आश्रमो के ॅयवहार करना भी आवश्यक ह। तात्पय यह कि अपने अपने कतव्य कम आपस की एकता के सहयोग से यथावत करन से ही समाज की स्थिति रह सकती ह, और जिस तरह मनष्य समाज की स्थिति के लिए सब वर्गों के लोगो को अपना अपना कतॅय पालन करना आवश्यक ह उसी तरह जगत की स्थिति के लिए भी सबको ाग ा ग्ना कतॅय पालन करना आवश्यक ह, क्योकि सबके अपने अपने कतॅय कम आपस की एकता के भाव से करने रूपी यज्ञ से सब भोग्य पदाथ उत्पन्न होते ह और भोग्य पदार्थो पर ही सारे भूत प्राणियो का अस्तित्व निभर ह। जिस तरह शरीर के भिन्न भिन्न अग अपने अपन स्वाभाविक काय, आपस की एकता के सहयोग से करे तभी शरीर का निर्वाह हो सकता ह। उसी तरह सब स्थावर जगम भूत प्राणी जगत रूपी शरीर के अग ह और वे सभी अपने-अपन स्वाभाविक काग—मग्ना एकता के सहयोग से—जगत के हित को लक्ष्य म रखते हुए करें, तभी यह ससार चक्र ठीक ठीक चल सकता ह।

इस ससार चक्र को चलाने रूपी यज्ञ के लिए अपने अपने कतॅय कम अपने अपने स्वभाव के अनसार होते ह इसलिए अपना स्वभाव अर्थात प्रकृति सब कर्मो का कारण ह, और सबके स्वभाव अर्थात समष्टि प्रकृति का आधार सबका एकत्व भाव अर्थात समष्टि-आत्मा=परमात्मा ह। अत जो कोई सबके एकत्व भाव के इस यज्ञ की अवहेलना करके दूसरो से पथक अपनी व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के लिए ही काम करता ह अथवा उॅह छोड देता ह, वह चोर होता ह। जगत मे सभी पदाथ एक दूसरे के सहयोग एव सबकी सम्मिलित शक्ति से उत्पन्न होते ह। उन सावजनिक पदार्थो के उपयोग से दूसरो को वञ्चित रख कर जो उनको केवल अपनी स्वाथ सिद्धि के काम में लेता ह, वह दूसरो का हक छीनता ह, इसलिए वह चोरी करने का अपराधी ह। यदि कोई इस ससार चक्र को चलाने म अपने अपने कतॅय कम करने का योग न देकर अपने ॅयक्तिगत आराम अथवा शाॅति के लिए आलसी और निरुद्यमी होकर बठ जाय, तो उसका मनष्य होना न होन के बराबर ह,

---

* यद्यपि समाज की सुॅयवस्था के लिए चार प्रकार की प्रधान आवश्यकताए होन के कारण मनुष्य समाज को स्वाभाविक गुणो की प्रधानता के अनसार चार वर्गो म विभक्त किया गया ह जिसको आय मस्ट्टति म वर्णाश्रम ॅयवस्था कहते ह परॅतु सत्व रज और तम भद से तीन गुणो के सम्मिश्रण का अनॅत प्रकार का तारतम्य होता ह और इसी तार तम्य के अनुसार मनुष्यो म कम करने की योग्यता की भी अनॅत श्रणिया होती ह। इसलिए प्रत्येक वग के काय करन -- ॅ के तारतम्य के अनुसार अनक श्रणियाँ होती ह अत अपने-अपन गुणो के तारतम्य के अनुसार अपनी अपनी योग्यना के कतॅय कम करना सबके लिए आवश्यक ह।

क्योकि अपने शरीर निर्वाह के कम तो उसको भी करने ही पडते ह—केवल दूसरो के लिए काम करन से वह जी चुराता ह—अत वह स्वाथपरता ह। अपने पथक व्यक्तित्व का भाव तो पशु पक्षियो मे भी होता ह और अपने अपने शरीरो की आवश्यकताए प्राकृतिक पदार्थो से वे भी पूरी करते ह—इतना ही नहीं किन्तु वे दूसरो के उपयोग मे भी आते ह परन्तु मनुष्य शरीर मे सर्वात्म भाव का ज्ञान प्राप्त करके प्रकृति पर शासन करने की योग्यता होते हुए भी व्यक्तित्व के भाव से प्रकृति के अधीन रहना, व्यथ ही मनुष्य जीवन बिताना ह ।

इसलिए जगत के व्यवहार व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति छोड कर, सब के साथ एकता के साम्य भाव से करने का उपदेश भगवान अर्जुन को निमित्त करके सब को देते ह, और पूव काल में इस तरह आचरण करने वाले, राजा जनक को आदि लेकर आत्मज्ञानियो के उदाहरण पहले देकर फिर स्वय अपना उदाहरण देते ह कि यद्यपि मेरे लिए कुछ भी कतव्य नही ह और न मझे किसी भी प्रकार की स्वाथ सिद्धि की आवश्यकता ही ह परन्तु क्योकि श्रेष्ठ पुरुष जसा आचरण करते ह और जिस बात को प्रमाण मानते ह अन्य साधारण लोग भी उन्ही का अनुसरण करते ह, अत यदि आत्मज्ञानी महापुरुष लौकिक व्यवहार करना छोड दें तो साधारण जनता कर्मों को बन्धन और दु ख रूप निश्चय करके उनकी देखा देखी काम करना छोड बठे, तब केवल समाज ही नही किन्तु सारी सष्टि का क्रम ही नष्ट हो जाय इसीलिए म भी कम करता ही रहता हू ।* इसके अतिरिक्त अज्ञानी लोगो के व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति कम

---

*भगवान न जो यह कहा ह कि तत्त्वज्ञानी लोग यदि लौकिक व्यवहार न करे तो दूसरे लोग भी उनका अनुकरण करके अपने कतव्य कम छोड द जिससे लोको का नाश हो जाय—ठीक यही हालत इस समय इस देश की हो रही ह । जिन लोगो को थोडा या बहुत तत्त्वज्ञान होता ह वे अधिकतर अपनी व्यक्तिगत सुख शान्ति के लिए लौकिक व्यवहारो से विरक्त होकर सन्यास ले लेते ह अथवा भक्त बन बठते ह और उनकी देखा देखी बहुत से दूसरे लोग भी विरक्त अथवा भक्त होन के लिए काम काज छोड कर आलसी एव निरुद्यमी बन बठते ह [illegible] करते ह वे गुण कम के तत्त्व से अनभिज्ञ रहते ह जिससे [illegible] की योग्यता के अनसार काय विभाग के सिद्धान्त का पालन नही करते । अधिकतर लोग तो अपन वश परम्परागत कर्मो म ही लग रहते हैं—गुणो की योग्यता की आवश्यकता नही समझते और कई लोग गुणो की अवहेलना करके अपन मनमान कम करन लग जाते ह । इसके अतिरिक्त कम करने मे जसी तत्परता रखनी चाहिए वसी नही रखते । परिणाम यह हुआ ह कि इस देश के लोगो की सब प्रकार से अवनति हो गई ह और वतमान की सकटापन्न अवस्था देखते हुए भविष्य बहुत ही

करने ही से कम होती है, क्योंकि वे लोग अपने शरीरों के अतिरिक्त अपने कुटुम्ब तथा समाज आदि में ममत्व के कारण उनके लिए भी कर्म करते हैं, जिससे उनके व्यक्तित्व का भाव कम होता जाता है, परन्तु यदि ज्ञानी लोग सांसारिक कर्म करना छोड़ दें तो उनका अनुकरण करके अज्ञानी भी कर्म त्याग ही को प्रमाण मान कर जगत के व्यवहार करना छोड़ दें और ऐसा करने से उनके व्यक्तित्व का भाव पुष्ट ही नहीं होता किन्तु उसमें वृद्धि होती है। इसलिए ज्ञानी पुरुष लौकिक व्यवहार छोड़ कर अज्ञानी लोगों को पथ भ्रष्ट नहीं करते, किन्तु स्वयं अनासक्ति पूर्वक अच्छी तरह तत्परता से कर्म करके दूसरों को भी उसी तरह कर्म का मार्ग दिखाते रहते हैं। गुण कर्म के विभाग को जानने वाला तत्त्वज्ञानी महापुरुष तो जानता है कि कर्म सब अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति का खेल है, और गुण ही गुणों में वर्त कर यह खेल कर रहे हैं अर्थात जगत में सब कोई अपने-अपने गुणों की योग्यता के अनुसार आचरण करके एक दूसरे के साथ बर्ताव करते हैं ऐसा समझ कर वे तीनों गुणों के सम्मिश्रण के इस खेल में आसक्त नहीं होते*। परन्तु अज्ञानी लोग प्रकृति के गुणों के उपरोक्त रहस्य को नहीं जानते अतः उनकी बुद्धि में यह बात नहीं बैठ सकती कि कर्मों का खेल सबके स्वाभाविक गुणों के तारतम्य द्वारा ही हो रहा है, किन्तु अपने व्यक्तित्व के अहंकार के कारण वे अपने (व्यक्तित्व) को ही कर्मों का कर्ता मानते हैं, और जो लोग कर्तापन के अहंकार में आसक्त होते हैं, उनको कर्म छोड़ने का अहंकार और भी अधिक होता है, इसलिए तत्त्वज्ञानी पुरुष उनको अपने स्वाभाविक कर्म करने से विचलित करके उनके व्यक्तित्व का अहंकार बढ़ाने में सहायक नहीं होते।

सारांश यह कि आत्मा यानी अपने आप से भिन्न कहीं अन्यत्र से स्वार्थ सिद्धि होने की आशा से, तथा आत्मा यानी अपने आप से भिन्न पदार्थों में ममत्व की आसक्ति से रहित होकर अपने अपने शरीरों के स्वाभाविक गुणों के अनुसार लौकिक व्यवहार—चाहे वे घोर हिंसात्मक हो या [illegible]—[illegible] साथ एकता के साम्य भाव से, सबके साथ सहयोग रखते हुए चिन्ता और भय छोड़ कर प्रसन्नता एवं तत्परता पूर्वक सबको करना चाहिए।

भयंकर प्रतीत होता है। इस समय जो उन्नत देश हैं उनमें तत्त्वज्ञानी लोग स्वयं पूर्णतया तत्परता के साथ लौकिक व्यवहार करके साधारण लोगों को मार्ग दिखाते रहते हैं और साधारण लोग उनका अनुकरण करके अपने-अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार लौकिक व्यवहार करते हैं। इसी कारण वे लोग सुख-समृद्धि-सम्पन्न हैं। इस देश के निवासियों को यदि जीवित रहना है तो भगवान के बताये हुए मार्ग पर चलना चाहिए।

*दूसरे अध्याय के अन्त में स्थितप्रज्ञ के आचरण का स्पष्टीकरण देखिए।

ये मे मतमिद नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवा ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभि ॥ ३१ ॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम ।
सर्वज्ञानविमूढास्तान्विद्धि नष्टानचेतस ॥ ३२ ॥
सदृश चेष्टते स्वस्या प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रह कि करिष्यति ॥ ३३ ॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुण परधर्मात्स्वनुष्ठितात ।
स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह ॥३५ ॥

अर्थ—जो लोग दोष दृष्टि से रहित होकर श्रद्धापूर्वक मेरे इस नित्य अर्थात सब काल, सब देश और सबके लिए अनुसरणीय एव हितकर मत (सिद्धान्त) के अनुसार आचरण करते ह वे भी कर्मों के बन्धन से छूट जाते ह (३१)। परन्तु जो दोष दृष्टि करके मेरे (इस नित्य) सिद्धान्त के अनुसार आचरण नही करते उन विवेकहीन सर्व ज्ञान विमूढ अर्थात निरे मूर्खो को नष्ट हुए जानो (३२)। ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार चेष्टा करता ह (और) भूत प्राणी (सभी) अपनी अपनी प्रकृति अर्थात स्वभाव के वश म रहते ह वहा (जबर्दस्ती) निग्रह क्या करेगा? तात्पर्य यह कि जब कि आत्मज्ञानी पुरुष के लिए परवशता से कुछ भी कर्तव्य न होने पर भी वह अपने स्वभाव के अनुसार शारीरिक व्यवहार करता रहता ह, तो भौतिक शरीरो में आसक्ति रखने वाले अज्ञानी पुरुष, जो प्रकृति के अधीन रहते ह, वे कर्मों से रहित कसे हो सकते ह? (३३) प्रत्येक इन्द्रिय का अनुकूल विषय में राग और प्रतिकूल विषय मे द्वेष स्वभाव से ही नियत ह, (परन्तु मनुष्य को) उनके वश मे नही होना चाहिए, क्योकि वे ही इस (मनुष्य) के शत्रु ह। तात्पर्य यह कि इन्द्रियो की अनुकूल विषय में प्रीति और प्रतिकूल विषय में द्वेष होना स्वाभाविक ह, वे मिट नही सकते परन्तु मनुष्य उनमे आसक्त होकर उनके अधीन न होवे, किन्तु इन्द्रियो को अपने वश मे रखता हुआ विषयो मे वरते, राग-द्वेष के अधीन होने से ही दुर्दशा होती ह (३४)। दूसरो के धर्म का आचरण यदि उत्तम (प्रतीत होता) हो, और अपना धर्म उसकी अपेक्षा हीन (प्रतीत) हो तो भी वही श्रेष्ठ ह, अपने धर्म मे (व्यक्तित्व का भाव मिटाने रूप) मर जाना श्रेयस्कर ह, पराया धर्म भयानक होता ह। तात्पर्य यह कि दूसरो के स्वाभाविक गुणो की योग्यता के अनुसार जो कर्म उनके लिए नियत हो, वे यदि सौम्य, उत्तम एव

निर्दोष प्रतीत हों, और अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यता के अनुसार नियत कर्म उनकी अपेक्षा क्रूर, बुरे, दोषयुक्त एवं हीन दीखते हों, तो भी अपने लिए अपने ही स्वाभाविक कर्म श्रेष्ठ होते हैं । इसलिए अपने व्यक्तित्व का भाव मिटा कर अर्थात् व्यष्टि-भाव को समष्टि में जोड़ कर सबके साथ एकता के ज्ञान-युक्त अपने स्वाभाविक कर्म करना ही श्रेयस्कर होता है। अपने स्वाभाविक कर्म करने में यदि मृत्यु भी हो जाय तो वह भी कल्याण-कर होती है; परन्तु अपने कर्म छोड़ कर दूसरों के कर्मों में पड़ने से दुर्गति होती है (३५)।

स्पष्टीकरण—इस अध्याय में श्लोक ३ से आरम्भ करके भगवान् ने पहले देहधारी (चाहे वह ज्ञानी हो या अज्ञानी) के लिए कर्म करना आवश्यक ही नहीं, किन्तु अनिवार्य बता कर, फिर तत्त्वज्ञानी लोग जगत् के व्यवहार सर्वभूतात्मैक्य (सबकी एकता) के ज्ञानयुक्त, लोक-संग्रह अर्थात् जगत् अथवा समाज की सुव्यवस्था के लिए किस तरह किया करते हैं कि जिससे वे सब कुछ करते हुए भी कर्मों के बन्धनों से सदा मुक्त रहते हैं—इस विषय का संक्षेप में वर्णन करते हुए, अर्जुन को निमित्त करके सबको उसी तरह लोक-संग्रह के लिए अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करने का उपदेश श्लोक ३० तक दिया। अब उपरोक्त विधि से अर्थात् सबके साथ अपनी एकता के निश्चय-युक्त अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार जगत् के व्यवहार यथायोग्य करने का माहात्म्य, तथा उनके न करने से हानि बताते हैं। भगवान् कहते हैं कि जिन लोगों की आत्मज्ञान में स्थिति नहीं हुई है, वे भी मेरे (सर्वात्म-भावापन्न भगवान् श्रीकृष्ण के) इस सार्वभौम, सार्वजनिक एवं सदा एक समान उपयोगी, सनातन उपदेश में विश्वास करके श्रद्धापूर्वक एवं दोष-दृष्टि से रहित होकर इसके अनुसार वरतें, यानी जगत् की एकता के विश्वास सहित सबके साथ साम्य-भाव से, अपने व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थों को अपने कार्य-क्षेत्र की सीमा में आने वाले सब लोगों के साथ जोड़ कर तथा सबके साथ सहयोग रखते हुए अपने-अपने कर्तव्य-कर्म यथायोग्य करें, तो उनको भी कर्मों का कोई बन्धन नहीं होता। जो कर्म दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए व्यक्तित्व के अहंकार से किये जाते हैं, उन्हीं के अच्छे-बुरे परिणाम कर्ता को भोगने पड़ते हैं, क्योंकि व्यक्तित्व की आसक्ति ही से बन्धन होता है। परन्तु संसार-चक्र को चलाने में योग देने के लिए, सर्वात्म-भावापन्न महापुरुषों की शिक्षानुसार जो अपने कर्तव्य-कर्म, दूसरों के साथ एकता एवं सहयोगपूर्वक किये जाते हैं, उनका उत्तरदायित्व कर्म करने वाले पर नहीं रहता। प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है कि जिसके जिम्मे जो कर्तव्य होता है, उसको यथायोग्य श्रद्धापूर्वक बजाने में जो बुरा भला हो जाय उसका जिम्मेवार वह नहीं होता। इसी तरह जगत् का व्यवहार चलाने में योग देने के लिए अपना कर्तव्य-कर्म श्रद्धापूर्वक करने वाले को कर्मों के अच्छे-बुरे फल का बन्धन नहीं होता।

परन्तु जो मूर्ख लोग, (भगवान् के) इस सर्व-लोक-हितकर उपदेश की अवहेलना

करके और इसमें दोषारोपण करके अपने व्यक्तित्व के अहकार और अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए ही निरन्तर कर्म करते रहते ह अथवा दूसरो से अपने पथक व्यक्तित्व के भाव के कारण, कर्मो को दु ख रूप, बोझ रूप अथवा बन्धन रूप समझ कर छोड देते ह, यानी ससार के व्यवहारो को त्याग कर निठल्ले बन जाते ह, वे अवश्य ही नष्ट हो जाते ह।

सब शरीरा की अपनी-अपनी प्रकृति अर्थात स्वभाव होता ह—चाहे शरीर ज्ञानी का हो या अज्ञानी का ओर अपने-अपने स्वभाव के अनुसार शारीरिक चेष्टाए सभी करते ह, परन्तु ज्ञानी अपनी इद्रियो को वश मे रखता हुआ स्वतन्त्रता से चेष्टाए करता ह, अत वह सदा मक्त रहता ह और अज्ञानी उनके वश म होकर बधता ह—यही अन्तर ह।

पिण्ड (शरीर) और ब्रह्माण्ड (जगत) आत्मा की त्रिगणात्मक प्रकृति का बनाव ह अत शरीर के प्रत्यक अग एव जगत के प्रत्यक पदार्थ का अपने अपने स्वाभाविक गुणो के तारतम्य के अनसार स्वाभाविक धम होता ह जो उसके साथ ही रहता ह। जिस तरह मन का स्वाभाविक धम सकल्प विकल्प करना बुद्धि का स्वाभाविक धम विचार करना, चित्त का चिन्तन करना, अहकार का अभिमान करना आखो का देखना, कानो का सुनना नाक का सघना जिह्वा का स्वाद लेना त्वचा का स्पश करना वाणी का बोलना, मुख का खाना पाना हाथो का काम करना, परो का चलना गुह्य इद्रियो का मल त्याग करना, दातो का काटना या चबाना नखो का खुरचना इत्यादि। इस तरह सूक्ष्म, स्थूल कोमल कठोर, पवित्र, मलिन आदि भेद से प्रत्येक अग का अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यतानुसार अलग अलग चेष्टाए करना और अपने अनुकूल विषय में राग एव प्रतिकूल विषय म द्वष होना स्वाभाविक धम होता ह। सारे अगो का समूह ही शरीर ह, अत सबकी अपनी अपनी स्वाभाविक चेष्टाओ ही से शरीर का व्यवहार होता ह, अर्थात जब प्रत्येक अग—चाहे वह सूक्ष्म हो या स्थूल, कोमल हो या कठोर पवित्र हो या मलिन—अपने अपने स्वाभाविक धर्मानुसार यथायोग्य चेष्टाए, एक दूसरे के साथ एकता के सहयोग से करता ह तभी शरीर का व्यवहार ठीक ठीक चल सकता ह। यदि इनम से कोई भी अग अपने स्वाभाविक धम के अनुसार चेष्टा न करे तो शरीर का निर्वाह होना कठिन हो जाय। इसलिए शरीर-यात्रा की सिद्धि के लिए जितनी आवश्यकता बुद्धि से विचार करने, मन से सकल्प करने आदि सूक्ष्म इद्रियो के व्यवहारो की ह, उतनी ही हाथो से काम करने परो से चलने आदि स्थूल इद्रियो के व्यवहारो की ह, और जितनी आवश्यकता आखो से देखने, कानो से सुनने, जिह्वा से स्वाद लेने नाक से सूघने, त्वचा से स्पश करने, वाणी से बोलने, मुख से खाने पीने आदि कोमल एव पवित्र इद्रियो के व्यवहारो की ह, उतनी ही दातो से काटने नखो से खरचने, गह्य इद्रियो से मल त्यागने आदि कठोर एव मलिन अगो के व्यवहारो की ह। सभी अग एक दूसरे के

उपकारा उपकाय ह । इसलिए प्रत्यक के अपने अपन स्वाभाविक धम सबके लिए हितकर होते ह ।

स्थूल पदार्थों की अपेक्षा सूक्ष्म पदार्थो मे सत्व गुण की अधिकता होने के कारण उनकी स्वाभाविक योग्यता स्थूल पदार्थो के ऊपर रहने एव उन पर शासन करन की होती ह । इसलिए स्थूल अगो के ऊपर सूक्ष्म इद्रिया, इद्रियो के ऊपर उनसे सूक्ष्म मन और मन के ऊपर उससे भी अधिक सूक्ष्म बुद्धि ह तथा इन सबके ऊपर, इन सबका सूक्ष्म सार, इन सबको धारण करन वाला, सबमे एक समान व्यापक सबका एकत्व भाव चेतन आत्मा ह जिसका सभी पर आधिपत्य ह । वह सबका उपादान एव निमित्त कारण ह, इसलिए उसका स्वभाव शरीर के सब अगो को एकता के सूत्र म पिरोये हुए सबको चेतना युक्त रखते हुए, तथा सबकी चेष्टाओ म सत्ता एव स्फूर्ति देते हुए भी उनमे अलिप्त अर्थात निस्सग राग-द्वषादि विकारो से रहित अर्थात निर्विकार सदा एकसार अर्थात सम एव अकर्ता बने रहना ह उसकी कभी उत्पत्ति नाश एव परिवतन नहीं होता । अत बुद्धि आत्माभिमुख अर्थात सबके स्वामी सवव्यापक आत्मा के ज्ञानयुक्त (सबकी एकता के निश्चययक्त) होकर कतव्याकतव्य का निणय करती रहे मन बुद्धि का अनुगामी रहता हुआ उसके निणयानसार इद्रियो का सचालन करे और इद्रिया मन के अधीन रहती हुई अपन-अपने विषयो म वरते—इस तरह प्रत्येक अग दूसरे अगो के साथ सहयोग रखते हुए एक दूसरे से शृखलाबद्ध होकर अपनी अपनी योग्यतानुसार अपन-अपने स्वाभाविक धम का आचरण करे तभी शरीर यात्रा उत्तमता से हो सकती ह । यदि शरीर का कोई भी अग अपन स्वाभाविक धम को निन्दनीय एव दोषयुक्त समझ कर उसकी अवहेलना करके उच्छृङ्खल हो जाय और दूसरो के धम का आचरण करने लग जाय अर्थात रज एव तम प्रधान अग सत्व प्रधान अगो की अवहेलना करे, तथा कठोर एव मलिन अग अपना अपनी स्वाभाविक योग्यता के व्यवहार, कोमल और पवित्र अगो की अपेक्षा दूषित और हीन मान कर उन्हें छोड दें और दूसरे अगो के व्यवहार करने की चेष्टा करे, तो बडा अनथ हो जाय, क्योकि न तो उनमें दूसरो के धम पालन करने की योग्यता होती ह और न दूसरो में उनके धम पालन की । एसी दशा मे विश्रृखलता होकर सारा शरीर ही नष्ट हो जाय ।

तात्पय यह कि सभी अगो के समूह-रूप शरीर का निर्वाह और उसकी स्वस्थता सभी अगो की पथक-पथक क्रियाओ (स्वाभाविक चेष्टाओ) पर निभर ह और प्रत्येक अग की स्वाभाविक चेष्टा, सभी अगो के समूह रूप शरीर की स्वस्थता और उसकी सामूहिक क्रियाशालता पर निभर ह। अत प्रत्येक अग और प्रत्येक शरीर का अपने अपने स्वाभाविक गुणो के तारतम्य का योग्यतानुसार व्यवस्थित रूप से अपने-अपने व्यापार में लगे रहना ही श्रेयस्कर होता ह ।

आत्मा अपनी इच्छा रूप प्रकृति से नाना भाव धारण करता हुआ और सभी अगो के समूह-रूप शरीर को चेतना (क्रिया) युक्त करता हुआ अर्थात उसके द्वारा अनेक प्रकार की चेष्टाए करवाता हुआ भी वस्तुत अद्वत निर्विकार एव सम रहता ह, इसलिए वह सदा अकर्ता अर्थात कम अकम आदि द्वन्द्व भाव से रहित होता ह। परन्तु उसम अकर्मी होने (अर्थात क्रियारहित होने) का विशेष गुण (विशेष धम) आरोप करके उक्त अकम शीलता के धम को शरीर के कमशीलता के धम से श्रेष्ठ मान कर शरीर से अकर्मी होने के लिए उसके स्वाभाविक धम (सासारिक व्यवहार) छोड देने का प्रयत्न किया जाय तो उससे उलटी दुदशा होती ह। शरीर और आत्मा अथवा कम और अकम की भिन्नता के राजस ज्ञानयुक्त, व्यक्तित्व के अहकार से अपने स्वाभाविक धम (सासारिक व्यवहार) छोड देने से शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति नहीं हो सकती। सच्ची शान्ति, पुष्टि और तुष्टि तो कम अकम का द्वत भाव मिटा कर आत्मज्ञान के साम्य भावयुक्त अपने शरीर की योग्यता के स्वाभाविक धम (सासारिक व्यवहार) मे प्रवत्त रहने से होती ह (गी० अ० ४ श्लो० १८ से २४, अ० ५ श्लो० २ से ७)।

व्यष्टि रूप से जो व्यवस्था प्रत्येक शरीर (पिण्ड) की ह वही समष्टि रूप से प्रत्येक समाज अथवा राष्ट की और वही अखिल जगत (ब्रह्माण्ड) की ह। जिस तरह शरीर (पिण्ड) आत्मा की त्रिगणात्मक व्यष्टि प्रकृति (व्यक्तिगत स्वभाव) का बनाव ह उसी तरह समाज, राष्ट और जगत (ब्रह्माण्ड) आत्मा की त्रिगणात्मक समष्टि प्रकृति (सबके स्वभाव) का बनाव ह, और जिस तरह तीन गुणो के तारतम्य (कमीबेशी) युक्त नाना अगो का समूह शरीर ह, उसी तरह तीन गुणो के तारतम्ययुक्त अनेक शरीरो (व्यक्तियो) का समूह समाज राष्ट और जगत ह, और जिस तरह शरीर के प्रत्येक अग के अपने-अपने स्वाभाविक धर्मानुसार चेष्टाए करने से शरीर यात्रा उत्तमता से होती ह, [illegible] पुष्टि और तुष्टि मिलती ह, उसी तरह प्रत्यक शरीर (व्यक्ति) के अपने-अपने स्वाभाविक धर्मानुसार सासारिक व्यवहार करने से समाज, राष्ट्र और जगत का धारण एव पोषण होता ह, जिससे सबको शान्ति, पुष्टि और तुष्टि अर्थात श्रेय की प्राप्ति होती ह। जगत के सभी बनावो में तीनो गुणो का तारतम्य (कमीबेशी) बना रहता ह, इसलिए इसमे सूक्ष्म स्थूल, सौम्य, क्रूर, पवित्र, मलिन आदि सभी तरह के व्यवहारो का होना अनिवाय ह, और वे सभी व्यवहार एक दूसरे पर निभर अर्थात एक दूसरे के उपकारी उपकाय ह, अत अपने-अपने स्थान मे सभी श्रेष्ठ और सबके लिए हित कर ह। सासारिक व्यवहार के लिए सत्वगुण प्रधान लोगो के बौद्धिक विचार के सूक्ष्म एव सौम्य कर्मो की जितनी आवश्यकता ह उतनी ही रजोगुण प्रधान लोगो के युद्धादिक क्रूर एव हिसात्मक कर्मो की, और उतनी ही तमोगण प्रधान लोगो के स्थूल एव मलिन कर्मों की आवश्यकता ह। कम सब एक ही आत्मा की प्रकृति के अनेक भाव होने के कारण

उनमे वस्तुत अच्छापन या बुरापन, उत्तमता अथवा निकृष्टता कुछ भी नही ह। अच्छापन या बुरापन उत्तमता अथवा निकृष्टता कर्ता के भाव से उत्पन्न होती ह। दूसरो से पथक अपनी व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के लिए, "यक्तित्व के अहकारयक्त किये जाने पर उत्तम सौम्य एव पवित्र माने जाने वाले कम भी वास्तव मे निकृष्ट क्रूर एव दूषित होते ह, और दूसरो के साथ एकता के निश्चय से अपने-अपने कायक्षेत्र की सीमा म आने वाले जगल के हित के लिए किय जाने वाले अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता के धम अर्थात अपने कत"य कम, यदि घोर—हिंसात्मक अथवा हीन एव मलिन माने जाते हो तो भी वे बहुत श्रेष्ठ एव पवित्र होते ह। त्रिगुणात्मक जगत के "यवहार मे यदि घोर—हिंसात्मक कर्मो तथा मले साफ करने के मलिन कर्मो को नि"दनीय एव निकृष्ट मान कर छोड दिया जाय तो ससार चक्र चल ही नही सकता। जगत मे राजसी-तामसी प्रकृति के भूत प्राणी भी होते ह और वे घोर—हिसात्मक कर्मो ही से शासित हो सकते ह एव उपद्रव करने से रोके जा सकते ह। इसी तरह शरीरो से उत्पन्न मलिनताओ को साफ करने ही से लोग सुखपूवक रह सकते ह। यदि घोर—हिसात्मक कर्मो को कोई न करे तो क्रूर आसुरी स्व भाव के प्राणी जनता को रहने ही न दे और यदि मला साफ करने का काम कोई न करे तो मुर्दा लाशो एव कूड ककट से जनपद अर्थात शहर और गाव इतने गदे हो जाय कि प्रजा का जीना ही कठिन हो जाय, तथा उत्तम और पवित्र माने जाने वाले "यवहार बनना भी असभव हो जाय। तात्पय यह कि अपने-अपने स्वाभाविक गुणो की योग्यतानुसार सबके धम अर्थात कत"य कम अपन-अपने स्थान म लोकोपकारी ह—अत वे सभी श्रय स्कर ह। किसी को भी अपने अथवा दूसरो के स्वाभाविक धम अर्थात कत"य कर्मों को निकृष्ट मान कर उनसे घणा तिरस्कार एव ग्लानि करने का कोई अधिकार नहीं ह। यदि अपन स्वाभाविक धम अर्थात कत"य कर्मो को दूसरो से निकृष्ट एव दोषयुक्त मान कर, उन्हे छोड कर दूसरो के धम अर्थात दूसरो के स्वाभाविक कत"य कम, जो अपने स्व भाव के अनकूल न हो स्वीकार किये जाय तो उनसे बडा अनथ होता ह क्योकि दूसरो के कत"य कम करन की योग्यता अपने मे नही होती, इसलिए उनका तो अच्छी तरह सम्पादन नहीं हो सकता और अपने कम छोड दिये जाय तब दोनो से भ्रष्ट होना पडे, जिससे अपना भयानक पतन होने के साथ साथ समाज अथवा राष्ट मे भी अ"यवस्था उत्पन्न हो जाय तथा उसके प्रभाव से ससार चक्र मे भी उस हद तक त्रटि आ जाय। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपन-अपने स्वाभाविक धम अर्थात कत"य-कम करने मे अपने व्यक्तित्व को मिटा देना चाहिए, अर्थात अपन पथक "यक्तित्व की अपने काय क्षेत्र की सीमा में आने वाले जगत के साथ एकता करके उसके हित मे अपना हित और उसके स्वाथ मे अपना स्वाथ समझते हुए, अपने-अपने शरीरो की स्वाभाविक योग्यतानुसार अपने-अपने कतव्य कम करते रहना चाहिए।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽय पाप चरति पूरुष ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजित ॥३६॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वरिणम ॥३७॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम ॥३८॥
आवृत ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम ॥४०॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मान प्रजहि ह्येन ज्ञानविज्ञाननाशनम ॥४१॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य पर मन ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे परतस्तु स ॥४२॥
एव बुद्धे पर बुद्ध्वा सस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रु महाबाहो कामरूप दुरासदम ॥४३॥

अथ—अजुन ने पूछा कि हे कृष्ण ! तो फिर मनुष्य इच्छा नही करता हुआ भी किसकी प्रेरणा से पापाचरण करता ह, मानो कोई जबदस्ती उससे करवा रहा ह। तात्पय यह कि जबकि अपने स्वाभाविक धम यानी कतव्य कम को छोड कर दूसरो के धम (कतव्य कम) का आचरण भयावह (पाप-रूप) होता ह, तो फिर मनुष्य (नहीं चाहता हुआ भी) बलात उसमें क्यो लगता ह—अपनी इच्छा से तो भयावह कम में कोई भी प्रवत्त नहीं होता (३६)। भगवान बोले कि रजोगुण से उत्पन्न यह काम यह क्रोध, जो बहुभोजी (कभी तप्त न होने वाला) और महापापी ह इसी को तू इस विषय में (अपना) बरी जान। तात्पय यह कि विषय सुखो धन, मान, कीर्ति, परिवार, स्वग एव मोक्ष की प्राप्ति आदि अनन्त प्रकार की कामनाए, जो दूसरो से अपनी पथकता के राजस ज्ञान से उत्पन्न होती ह, और जो कभी शान्त नही होती तथा जिनकी पूर्ति न होने से क्रोध उत्पन्न

होकर बडे-बडे अनथ होते ह, वे ही मनुष्य को अपने धम से विमुख करती ह (३७)। जिस तरह धुए से अग्नि आच्छादित होती ह, और जिस तरह मल से दपण और झिल्ली (जरायु चम) से गभ ढका रहता ह उसी तरह इस (काम) से यह (आत्मज्ञान) ढका हुआ ह (३८)। हे कौन्तेय ! ज्ञानी की इस सदा की शत्रु, कभी तृप्त न होने वाली काम रूपी अग्नि से ज्ञान ढका हुआ ह। तात्पय यह कि कभी शान्त न होने वाले काम यानी व्यक्तिगत स्वार्थो की तरह-तरह की कामनाए ही आत्मज्ञान को घेरे रखती ह, इसलिए सवभूतात्मक्य (सबकी एकता के) ज्ञान की प्राप्ति के माग मे यह (काम) सदा ही विघ्न करता ह (३९)। इद्रिया, मन और बुद्धि इसके रहने के स्थान कहे जाते ह, इन्ही के द्वारा आत्मज्ञान को आच्छादित करके, यह जीवात्मा को मोहित करता ह। तात्पय यह कि यह काम ही इद्रियो, मन और बुद्धि म रह कर इनको बहिमख रखता ह जिससे जीवात्मा को अपन वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होने पाता (४०)। इसलिए हे भरतश्रेष्ठ ! तू पहले इद्रियो को अपने वश मे करके, (आत्म) ज्ञान और (लौकिक) विज्ञान का नाश करने वाले इस पापी को मार (४१)। (स्थूल देह से) इद्रिया परे अर्थात ऊपर कही जाती ह इद्रियो से परे मन और मन से परे बद्धि ह तथा जो बुद्धि से भी परे ह वह (आत्मा) ह (४२)। हे महाबाहो ! इस प्रकार बद्धि से परे (अपन आत्मा) को जान कर, बुद्धि से मन को वश म करके कामरूपी दुजय शत्रु को मार (४३)।

स्पष्टीकरण—३५वें श्लोक म भगवान न व्यक्तित्व के भाव से रहित होकर अपने स्वाभाविक धम (कतव्य-कर्मो) का आचरण करना श्रेयस्कर और पराये धर्मो का आचरण भयावह बताया। यहा पर यह प्रश्न स्वभावत उठता ह कि जब अपने स्वाभाविक कतव्य कम हीन एव सदोष हो तो भी कल्याणकर होते ह, और दूसरो के धम उत्तम हो, तो भी वे भयानक पाप रूप होते ह तो फिर अपने कम छोड कर दूसरो के कम करने रूपी पापो म लोगो की प्रवत्ति क्यो होती ह ? जानबूझ कर दु खदायक पापाचरण में पडना तो कोई नहीं चाहता। यद्यपि स्वय अजन की भी पापाचरण करने की इच्छा बिल्कुल नहीं थी फिर भी वह विवश होकर युद्ध करने के अपने क्षात्र धम को छोड कर भिक्षावत्ति से निर्वाह करने आदि पराये धम को स्वीकार करने को उद्यत क्यो हो रहा था ? इस विवशता का क्या कारण ह ? इस विषय का विशेष रूप से खलासा करने के लिए, अजुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान कहते ह कि रजोगुण से उत्पन्न काम और उसकी प्रतिक्रिया क्रोध ही सम्पूण अनर्थों का कारण ह, अर्थात जगत की अनन्त प्रकार की भिन्नताओ को सच्ची मानने के अयथाथ राजस ज्ञान से मनुष्य अपने को दूसरो से पथक मान कर स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीरो में अहभाव यानी देहाभिमान कर लेता ह, और उन शरीरो के लिए अनन्त प्रकार की अस्वाभाविक एव अनावश्यक उपाधिया अपने (आत्मा) से भिन्न कहीं अन्यत्र से प्राप्त करने की कामनाएँ करता रहता ह, इसी से विरुद्धाचरण होते

है। यदि विचार कर देखा जाय तो शरीरो की वास्तविक आवश्यकताए तो भूख प्यास आदि प्राकृतिक वेगो को शान्त करने मात्र की होती है, जिनकी पूर्ति के साधन सहज ही उपलब्ध हो जाते है। प्राकृतिक आवश्यकताए और उनकी पूर्ति के साधन (समष्टि) प्रकृति साथ ही उत्पन्न कर देती है जो अपने-अपने स्वाभाविक धर्म यानी कर्तव्य-कर्म करने से अनायास ही प्राप्त हो जाते है। परन्तु अधिकाश लोग केवल शरीरो की प्राकृतिक आवश्यकताओ की पूर्ति मात्र ही से सन्तोष नहीं करते किन्तु इन्द्रियो से नाना प्रकार के अनावश्यक विषय भोगने की कामनाए करते है मन से धन परिवार पद प्रतिष्ठा, प्रभाव आदि उपाधियो की कामनाएँ करते है और बुद्धि से सामाजिक साम्प्रदायिक एव धार्मिक आचरणो द्वारा इस लोक मे कीर्ति एव मरने के बाद परलोक में भोग्य पदार्थों एव स्वर्गादि सुखो अथवा मुक्ति—अपने आप—आत्मा से भिन्न कहीं अन्यत्र से—प्राप्त करने की कामनाए करते रहते है। ससार में उक्त कल्पित विषय भोग तथा उपाधिया एव सुख आदि असीम एव अनन्त है अत उनकी प्राप्ति की चाहनाओ का कोई अन्त नही आता—उत्तरोत्तर एक के बाद दूसरी लगातार उत्पन्न होती रहती है। उनसे कभी तृप्ति नहीं होती और न किसी मनुष्य की सभी चाहनाओ की पूर्ति ही होती है। अत उक्त चाहनाओ रूपी काम की प्रतिक्रिया से राग उत्पन्न हो जाता है। फिर लोभ और क्रोध मनुष्य का विवेक दबा देते है फलत वह अनेक प्रकार के कुकर्म करने मे प्रवृत्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि राजस काम (पृथकता के ज्ञान से व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि की चाहना) ही सब अनर्थों का मूल है। इसी से मनुष्य अपने स्वाभाविक कर्तव्य कर्म (धर्म) को छोड कर दूसरो के धर्म का आचरण करने का पाप करता है। अर्जुन को भी पृथकता के राजस ज्ञान से उत्पन्न काम से ही अपना क्षात्र धर्म छोड कर भिक्षा आदि दूसरो के धर्म में प्रवृत्त होने की इच्छा हुई थी। यद्यपि वह बडा बुद्धिमान मनुष्य था इसलिए इन्द्रियो के विषयो और मानसिक (कल्पित) उपाधियो को तुच्छ समझ कर उनकी चाहनाओ में तो आसक्त नहीं था परन्तु धर्म-नाश के दोष एव हिंसा के पाप तथा नरक प्राप्ति के भय से बचने के विचार से वह युद्ध से हटना चाहता था। दूसरे शब्दो मे सामाजिक एव साम्प्रदायिक धर्म की रक्षा करने से, एव अहिंसा आदि के पुण्य से उत्पन्न स्वर्ग एव कल्याण की प्राप्ति की व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि की कामना जो उसकी बुद्धि को घेरे हुए थी उसी के कारण वह अपने स्वाभाविक कर्तव्य-कर्म को छोड कर पर धर्म स्वीकार करने को उद्यत हुआ था। साराश यह कि दूसरो से अपनी पृथकता के राजस ज्ञान से उत्पन्न व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि की कामना ही सारे अनर्थो का कारण है। यदि अर्जुन स्थूल शरीर और सूक्ष्म इन्द्रियो, मन एव बुद्धि से भी सूक्ष्म और इन सब पृथकताओ से परे, सर्वव्यापक सर्वज्ञ, नित्य, सदा एकसा रहने वाले एकत्व भाव, सबके अपने वास्तविक आप—आत्मा के सत्य (सात्विक) ज्ञान में स्थिति कर लेता तो वह जगत की सारी पृथकताओ को एक ही आत्मा

के अनेक नाम और रूपो का कल्पित बनाव अर्थात अपना ही खेल जान लेता, और तब उसे अपने से भिन्न धम, पुण्य, स्वग एव कल्याण आदि की अ यत्र से प्राप्ति की कामना नही रहती, और न अपने शरीर के स्वाभाविक धम (कत य कम) छोडने का भाव ही उसके अन्त करण में उत्पन्न होता। इसलिए अजन को निमित्त करके भगवान सबको उपदेश देते ह कि बुद्धि से भी परे जो सबका एकत्व भाव—अपना वास्तविक आप=आत्मा ह, उसमे अर्थात सवभूतात्मक्य ज्ञान में स्थिति करके सब अनर्थो के कारण इस राजस काम पर विजय प्राप्त करो। इद्रियो मन और बुद्धि पर इस (काम) का प्रभाव रहता ह परन्तु इन सबसे परे, सबके स्वामी आत्मा के ज्ञानयुक्त बुद्धि से मन को वश मे करके इस काम पर विजय प्राप्त हो सकती ह। जिस तरह किसी प्रबल शत्र पर विजय पाने के लिए उससे भी अधिक प्रबल शक्ति की सहायता लेना आवश्यक होता ह उसी तरह राजस काम रूपी महाबली शत्र पर विजय पाने के लिए आत्मज्ञान रूपी सबसे अधिक बलवान शक्ति का आश्रय लेना ही एकमात्र उपाय ह। तात्पय यह कि सवभतात्मक्य ज्ञान ही से मनष्य अपना धम यथायोग्य ठीक-ठीक पालन कर सकता ह इसलिए सबकी एकता का सात्विक ज्ञान प्राप्त करना सबसे प्रथम और आवश्यक कत य ह। यहा जो कामरूपी शत्र को मार डालने को कहा ह उसका तात्पय काम का वस्तुत अभाव कर देना नही ह कि तु उसका राजसीपन अर्थात दूसरो से पथक व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि का भाव जो सब अनर्थों का हेतु ह उसको पलट कर सबका एकता के सात्विक ज्ञान-यक्त सबके हित-सपादन के काम में परिणत कर देना ह। गणी का विशेष गण पलट देना ही उसको मार देना ह। किसी भी पदाथ का वस्तुत अभाव हो नही सकता। धम के अविरुद्ध सात्विक काम को तो भगवान ने अपनी विशष विभूतियो म गिनाया ह (गी० अ० ७ श्लो० ११)। सबका एकना क सात्विक ज्ञान-यक्त अपने-अपन स्वाभाविक धम (कत य कम) पालन करन के लिए सासारिक पदार्थों के उपयोग की इच्छा—सात्विक काम ह। इस सात्विक काम से कोई अनथ नहीं होता किन्तु जगत के यवहार अर्थात लोक-सग्रह के लिए यह आवश्यक होता ह।

॥ तीसरा अध्याय समाप्त ॥

चौथा अध्याय

दूसरे और तीसरे अध्याय मे कथित समत्व-योग की प्राचीनता, नित्यता एव उसका महत्त्व आगे के तीन श्लोको में भगवान कहते ह ।

श्रीभगवानुवाच

इम विवस्वते योग प्रोक्तवानहमव्ययम ।
विवस्वा मनवे प्राह मनुरिश्वाकवेऽब्रवीत ।।१।।
एव परम्पराप्राप्तमिम राजषयो विदु ।
स कालेनेह महता योगो नष्ट पर तप ।।२।।
स एवाय मया तेऽद्य योग प्रोक्त पुरातन ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्य ह्येतदुत्तमम ।।३।।

अथ---श्रीभगवान बोले कि यह अविनाशी समत्व-योग मने विवस्वान---सूय से कहा, सूय ने मनु से और मनु ने इक्ष्वाकु से कहा (१) । इस तरह (उत्तराधिकार की) परम्परा से प्राप्त इस (समत्व योग) को राजर्षियो ने जाना । हे पर तप ! वह समत्व योग दीघ काल पाकर इस लोक (मनुष्य समाज) से नष्ट (लुप्तप्राय) हो गया था (२) । यह वही प्राचीन समत्व-योग ह जो अब मने तुझे बतलाया ह क्योकि तू मेरा भक्त और सखा (मित्र) ह , यह (समत्व-योग) अत्य त ही उत्तम रहस्य अर्थात तत्त्वज्ञान का मम ह (३) ।

स्पष्टीकरण---सबका ात्मा परमात्मा अपनी एक विशेष विभक्ति---सूय रूप से समत्व-योग के आचरण द्वारा जगत का धारण पोषण करता ह अत जगत में सूय द्वारा इस समत्व-योग का प्रचार हुआ और सूय द्वारा ही यह समत्व-योग जगत में सदा विद्यमान रहता ह । सूय स्वभाव ही से सदा नियमित रूप से सारे ब्रह्माण्ड को समान भाव से प्रकाशित करता और गति देता ह । उसके व्यवहार में किसी प्रकार की विषमता नहीं ह न उसका किसी के साथ राग अथवा द्वेष ह । वह सदा अपने केन्द्र पर अविचल रहता हुआ निर तर प्रकाश और उष्णता फेंकता रहता ह---जिसकी जसी योग्यता हो उसके अनुसार उनका उपयोग करे---इससे सूय में कोई विकार नहीं होता । वह अपना कत य नियमित रूप से पालन करन मे अटल रहता ह, कभी त्रुटि नहीं करता । ऊच नीच, अच्छे-बरे, उत्कृष्ट निकृष्ट पवित्र मलिन आदि में वह भेद नही करता सब पर एक समान प्रकाश डालता और जीवन देता ह । वह किसी में ममत्व की आसक्ति नहीं रखता न कोई

उसका निज का स्वाथ ही होता ह केवल लोक सग्रह अर्थात जगत को धारण करने के लिए ही उसका अस्तित्व ह। तात्पय यह कि सूय म स्वभाव ही से समत्व-योग के आचरण का आदश ह और इस प्रत्यक्ष आदश द्वारा समत्व-योग का उपदेश सब कोई ग्रहण कर सकते ह। इसलिए जब तक सूय ह तब तक यह समत्व योग भी जगत मे विद्यमान ह। देश भेद काल भेद और समाज भेद से वह बदलता हुआ भिन्न भिन्न रूपो मे भले ही रहे पर तु वह सवथा नष्ट कभी नहीं हो सकता।

सूय से उक्त समत्व-योग को मानव समाज के गा‍ि ‍्‍ग ‍्‍गापत्र एव सबसे पूव वर्ती राजा मनु न ग्रहण करके इसके आधार पर मनष्य समाज को सु यवस्थित रखने की योजना की। मन से इक्ष्वाकु को प्राप्त हुआ और इक्ष्वाकु से उसके पीछे के राजाओ म वश और राज्य-परम्परा से यह प्रचलित रहा। तात्पय यह कि मनुष्य समाज की यवस्था के आरम्भ ही से यह समत्व-योग प्रधानतया राजाओ की विद्या चली आ रही ह, क्योकि निर्दोष राज्य शासन के लिए इस विद्या का होना अत्य त ही आवश्यक ह। जिस तरह सूय समत्व-योग के आचरण द्वारा स्वभाव ही से सबको उसी समत्व-योग का उपदेश देता ह उसी तरह राजा भी सूय का अनुकरण करके स्वय इस समत्व योग के आचरण द्वारा अपनी प्रजा मे इसका प्रचार करता रहे तभी राज्य और समाज की सु यवस्था रह सकती ह, इसलिए राजा के लिए इस समत्व-योग अर्थात ब्रह्म विद्या का जानना अत्य त आवश्यक ह। पर तु ससार के परिवतनशील स्वभ ाव के कारण काल पाकर यह समत्व-योग समाज विशेष से लुप्त हो जाया करता ह जिससे उस समाज म बहुत विशृ्खलता आ जाती ह। द्वापर-युग म इस देश म यही अवस्था हो गई थी जिसके परिणामस्वरूप सब लोग बहुत दु खी हो गय थे, तब सबके अन्त करण की सम्मिलित प्रेरणा के फल-स्वरूप, सर्वात्मा = परमात्मा ने अपनी एक विशेष विभूति भगवान श्रीकृष्ण के रूप मे अवतार धारण करके उसी समत्व-योग का पुन प्रचार करने के लिए अजन को निमित्त बना कर ससार को फिर से उसका उपदेश दिया। उस समत्व योग के रहस्य को अच्छी तरह समझने और उसके अनुसार आचरण करने के लिए प्रथम श्रद्धा विश्वासपूवक सदगुरु से उपदेश लेने की, और नि सकोच होकर प्रश्न करके चित्त के स देह मिटा कर उस उपदेश को अच्छी तरह समझने और धारण करने की और फिर उसके अनुसार आचरण करने की योग्यता अवश्य होनी चाहिए। अजन में इन सभी बातो की योग्यता थी। भगवान श्रीकृष्ण का वह भक्त था इसलिए उनके उपदेश मे उसकी श्रद्धा थी साथ ही साथ उनसे मित्रता का भाव होने के कारण नि सकोच होकर खूब अच्छी तरह प्रश्न करके सब प्रकार के स देह मिटाने की योग्यता भी उसम थी, और काय-कुशल एव वीर क्षत्रिय होने के कारण समत्व-योग का आचरण भी वह यथायोग्य अच्छी तरह कर सकता था, इसलिए वह इस उपदेश का पूण अधिकारी था।

उपयुक्त प्रसग को लेकर अजुन के पूछने पर भगवान सवव्यापक आत्मा की नित्यता, अपने सर्वात्म ईश्वर भाव, तथा जीवात्मा और परमात्मा के कल्पित भेद एव वास्तविक अभेद का खुलासा करके फिर कम करन म मनुष्यो की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन आगे करते ह।

अजुन उवाच

अपर भवतो जन्म पर जन्म विवस्वत ।
कथमेतद्विजानीया त्वमादौ प्रोक्तवानिति ।।४।।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चाजुन ।
तान्यह वेदसर्वाणि न त्व वेत्थ परन्तप ।।५।।
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन ।
प्रकृति स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ।।६।।
यदा यदा हि धमस्य ग्लानिभवति भारत ।
अभ्युत्थानमधमस्य तदात्मान सजाम्यहम ।।७।।
परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम ।
धमसस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे ।।८।।
जन्म कम च मे दिव्यमेव यो वेत्ति तत्त्वत ।
त्यक्त्वा देह पुनजन्म नति मामेति सोऽर्जुन ।।९।।
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिता ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागता ।।१०।।
ये यथा मा प्रपद्यन्ते तास्तथव भजाम्यहम ।
मम वर्त्मानुवतन्ते मनुष्या पाथ सवश ।।११।।
काक्षन्त कमणा सिद्धि यजन्त इह देवता ।
क्षिप्र हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कमजा ।।१२।।
चातुवण्य मया सष्ट गुणकमविभागश ।
तस्य कर्तारमपि मा विद्धयकर्तारमव्ययम ।।१३।।
न मा कर्माणि लिम्पन्ति न मे कमफले स्पहा ।
इति मा योऽभिजानाति कमभिन स बध्यते ।।१४।।

एव ज्ञात्वा कृत कम पूर्वैरपि मुमुक्षुभि ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्व पूव पूवतर कृतम ।।१५।।

अथ—अजन ने कहा कि आपका जन्म तो अब हुआ ह और सूय बहुत पहले का ह, अत म कसे जानू कि यह (समत्व-योग) आप ही ने पहले कहा ह (४) । श्री भगवान बोले कि हे अजुन ! मेरे और तेरे बहुत से जन्म बीत चुके ह, उन सबको म जानता हू, परन्तु हे परतप ! तू नहीं जानता । तात्पय यह कि परमात्मभाव मे स्थित मुझको अपने स्वरूप यानी सबके वास्तविक अपने आप-आत्मा की एकता, नित्यता एव सवव्यापकता का पूण-रूप से अनुभव होने के कारण म सवज्ञ हू, अत भूत, भविष्य और वतमान तीनो काल की सब बातो को म जानता हू इसलिए तेरे और मेरे अनेक जन्मो का मुझे ज्ञान ह परन्तु तू अपने व्यक्तित्व के भाव जन्य देहाभिमान म आसक्ति रखने के कारण अल्पज्ञ ह, इसलिए तुझे अपने पूवजन्मो का ज्ञान नहीं ह (५) । म (सबका) आत्मा जन्म से रहित, निर्विकार और सब भूत प्राणियो का ईश्वर (स्वामी) होता हुआ भी, अपनी प्रकृति मे अधिष्ठित होकर, अपनी (योग) माया से (विशष रूपो मे) प्रकट होता हू । तात्पय यह कि म सबका अपना आप—समष्टि आत्मा वास्तव में अनादि अजन्मा और निर्विकार होता हुआ भी अपने स्वभाव ही से सब भूत प्राण्यिो के स्वामी भाव से अपनी इच्छानुसार [illegible] अनेक विशेष रूप धारण करता हू (६) । हे भारत ! जब जब धम की ग्लानि होकर अधम बढ जाता ह, तब-तब म अपन विशष रूप को रचता हू अर्थात विभूति सपन्न रूप धारण किया करता हू । भले आदमियो की रक्षा और दुष्टो के नाश तथा धम की (पुन) अच्छी तरह स्थापना करने के लिए म यग-युग में प्रकट हुआ करता हू । तात्पय यह कि जब जब लोगो में सवभूतात्मक्य साम्य भाव कम होकर पथक व्यक्तित्व के भाव अत्यन्त बढ जाने के कारण अधिकतर मनुष्य (स्त्री पुरुष) अपने अपने धम ([illegible] कतव्य-कम) छोड कर दूसरो के धम* का आचरण करने रूपी अधम में विशेषतया प्रवत्त हो जाते ह और अनीति एव अत्याचार करते ह जिससे जगत में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती ह तब म (सबका आत्मा) परिस्थिति के अनुसार स्वेच्छा से विशेष रूपो में प्रकट होकर अपने कतव्यो पर आरूढ रहने वाले श्रेष्ठ लोगो की रक्षा और कतव्य विमुख दुराचारियो का नाश करके जगत और समाज की सुव्यवस्था रखने वाले धम की पुन स्थापना किया करता हू (७ ८) । मेरे दिव्य जन्म और कम के रहस्य को जो इस प्रकार तत्त्व से जानता ह वह शरीर का अभिमान छोड कर फिर जन्म नहीं लेता, किन्तु मुझमें मिल जाता ह । तात्पय यह कि जो इस रहस्य को अच्छी तरह तात्त्विक विचार करके समझ लेता ह कि [illegible] आत्मा— परमात्मा स्वेच्छा से स्वतन्त्रतापूवक जन्म धारण

* तीसरे अध्याय के श्लोक ३२ से ३५ तक का स्पष्टीकरण देखिए ।

करता और सब प्रकार के कर्म करता हुआ भी वास्तव में अजन्मा, अकर्ता, निर्लेप और निर्विकार ही रहता है, दूसरे शब्दों में जो अपने वास्तविक आप—आत्मा के असली स्वरूप (समष्टि-भाव) को यथातथ्य जान लेता है, वह स्वयं सर्वात्म-भावापन्न परमात्म-स्वरूप हो जाता है यानी उसका जीव-भाव मिट जाता है—फिर वह अज्ञानी जीवों की तरह परवशता से जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आता (९)। बहुत से लोग मेरे (सर्वात्मा=परमात्मा के) साथ तन्मय होकर, अर्थात् मन को सबके अपने आप=आत्मा में जोड़ कर, मेरे आश्रय से अर्थात् आत्म-विश्वास से राग, भय और क्रोध से रहित होकर एवं आत्म-ज्ञान रूपी तप से पवित्र होकर, मेरे भाव में आ मिले हैं। तात्पर्य यह कि अनेक लोग मेरा अवलम्बन करके, द्वैत-भाव छोड़ कर अपने वास्तविक आप—सच्चिदानन्द, सर्वव्यापक एवं नित्य आत्मा के एकत्व-भाव के अनुभव द्वारा मुझ (परमात्मा) में समा गये हैं। सारांश यह कि आत्मा जैसी इच्छा करता है वैसा ही हो जाता है—चाहे वह व्यक्तित्व के भाव से जीव होकर परवशता से जन्मे-मरे और कर्मों के बन्धनों में बँधा रहे, अथवा समष्टि-भाव से परमात्म-स्वरूप होकर स्वेच्छानुसार स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार करे (१०)। जो मुझ (सबके अपने-आप, सर्व-व्यापक आत्मा) को जिस तरह का मान कर बर्ताव करते हैं, (उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप) मैं (सर्वव्यापक आत्मा) उनके साथ उसी तरह वर्तता हूँ। हे पार्थ! मनुष्य सब प्रकार से मेरे अर्थात् सबके अपने-आप सर्वव्यापक आत्मा ही के मार्ग का अनुसरण करते हैं। तात्पर्य यह कि जो लोग व्यष्टि-भाव में अहंकार करके अपने-आप (आत्मा) को जिस तरह का मान कर आचरण करते हैं, उसी के अनुसार वे हो जाते हैं और उसी के अनुसार उनके इर्द-गिर्द के जगत् के बनाव बन जाते हैं, और जगत्-रूपी जगदीश्वर उसी के अनुसार उनके साथ बर्ताव करता है (११)। यहाँ (मनुष्य-देह) में कर्मों की सिद्धि चाहने वाले लोग देवताओं का पूजन करते हैं; मनुष्य-लोक में कर्मों के फल शीघ्र ही उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य यह कि कई लोग अपने कर्मों की सिद्धि के लिए दैवी शक्तियों को आत्मा से भिन्न मान कर उनकी उपासना करते हैं; उनको उस उपासना में लगे हुए अपने मन की भावना और एकाग्रता के प्रभाव से अपने-अपने कर्मों के अनुसार बहुत जल्दी सफलता मिलती है। वास्तव में मनुष्य (स्त्री-पुरुष) की देह में बुद्धि का विशेष विकास होने के कारण कर्म करने में स्वतन्त्रता है, अतः यह कर्म-भूमि है; और इसी देह में मनुष्य अपने भविष्य का स्वयं निर्माण करता है। इस देह में जितने ही अधिक मनोयोग से कर्म किये जाते हैं, उतनी ही जल्दी और उतनी ही अधिक उन कर्मों के अनुसार सफलता प्राप्त होती है (१२)। मेरे (समष्टि-भावापन्न आत्मा के) द्वारा गुणों के अनुसार कर्मों के विभाग से चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का निर्माण हुआ है। उस (व्यवस्था) का कर्ता होते हुए भी मुझ (सबके आत्मा) को निर्विकार एवं अकर्ता ही जान। मुझ (सबके आत्मा) को कर्मों का कोई लेप नहीं होता; (क्योंकि) मुझ (सबके आत्मा) को कर्मों के फल की

चाह नही रहती। इस तरह जो मुझ (सबके अपने आप—आत्मा) को यथाथतया जानता ह, वह उपरोक्त वण व्यवस्था के अनुसार कम करता हुआ कर्मो के बन्धन म नही बधता अर्थात कर्मो के अधीन नहीं होता। पूवकाल मे भी कर्मो के बन्धनो से मुक्त रहन की इच्छा रखने वालो ने इसी तरह उपरोक्त वण व्यवस्था के रहस्य को जान कर प्रधान गा तरह ज्ञान-युक्त कम किय ह। अत जिस तरह पहले वालो ने बहुत पहले कम किये ह, उसी तरह तू भी अपने वण के स्वाभाविक कम ही कर। तात्पय यह कि यद्यपि जगत और समाज की सुव्यवस्था के निमित्त शरीरो के भिन्न भिन्न स्वाभाविक गुणो की योग्यता के अनुसार कम करन की चातुवण्य व्यवस्था सर्वात्म भावापन्न महापुरुष द्वारा निर्मित हुई ह, क्योकि सर्वात्म भावापन्न [illegible] और सबका सम्मिलित शक्ति एव सबके सम्मिलित ज्ञान का केन्द्र होता ह इसलिए जो जो व्यवस्थाए समष्टि समाज के लिए समय-समय पर आवश्यक उपयोगी और हितकर होती ह उन्हे सर्वात्म भावापन्न महापुरुष ही निर्माण करता ह परन्तु यह सब कुछ करता हुआ भी वास्तव में वह निर्विकार—अकर्ता ही रहता ह क्योकि सवव्यापक आत्मा म कर्ता कम और कम फल की काई भिन्नता नहीं रहती। इसलिए जिसको उक्त सर्वात्म भाव का अनभव हो जाता ह उसे किसी कम के फल की इच्छा नही रहती अत उपरोक्त वण व्यवस्था के अनसार सब कम करते हुए भी उसको कर्मो का कोई बधन नहीं होता (१३ से १५)।

स्पष्टीकरण—भगवान न जब यह कहा कि इस समत्व योग (ब्रह्म विद्या) का उपदेश मन ही पहले पहल सूय द्वारा लोगो को दिया था तो इस पर स्थूल (भौतिक) दष्टि के (देहाभिमानी) साधारण लोगो को इस शका का होना स्वाभाविक ही ह कि भगवान श्रीकृष्ण तो द्वापर-युग के अन्त मे वसुदेवजी के घर जन्मे थे, और सूय एव मनु आदि बहुत पहले ही हो चुके थे फिर भगवान श्रीकृष्ण ने इस ब्रह्म विद्या का उपदेश सबसे पहले कसे दिया? इस शका के समाधान के निमित्त, अजुन द्वारा किये गये प्रश्न के उत्तर में भगवान गीता के दूसरे अध्याय के श्लोक १२ से ३० तक कहे हुए आत्मज्ञान के आधार पर इस विषय का खलासा करते ह। भगवान कहते ह कि एक ही अज, अविनाशी, सम सव व्यापक, सच्चिदानन्द ब्रह्म अथवा आत्मा अपनी स्वाभाविक इच्छा से अनेक रूप धारण करता ह। व्यष्टि भाव से वह नाना जीव रूप होकर पथक व्यक्तित्व का अहकार करके अनेक प्रकार के कर्मो द्वारा जीव रचित सष्टि निर्माण करके अपन को उन्हा कर्मो के अधीन मानता ह, और अपने असली सच्चिदानन्द स्वरूप को भूल कर देह मे अभिमान करके अपने को अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान उत्पत्ति नाशवान सदा परिवतनशील, एव सुख दु ख आदि द्वन्द्वो से यक्त मानता ह, और वतमान शरार के ज्ञान के अतिरिक्त भूत और भविष्य का ज्ञान साधारणतया नहीं रखता, और वही ब्रह्म अथवा आत्मा समष्टि परमात्म भाव से अपने वास्तविक सवव्यापक, सवज्ञ, सवशक्तिमान स्वरूप का यथाथ अनुभव रखता

इसलिए सब कुछ करता हुआ भी वह उन कर्मो के सम्बन्ध म वस्तुत अकर्ता ही रहता ह, और श्रेष्ठ तथा दुष्ट सबको अपनी प्रजा ही समझता ह । इसी तरह समष्टि ात्म शक्ति अथवा परमात्मा, जगत अथवा समाज को धारण करन और उसे सुव्यवस्थित रखने के लिए परिस्थिति के उपयुक्त अपने एक विशेष अश से किसी विशेष व्यक्ति के रूप मे प्रकट होकर आवश्यकतानुसार आचरण करता ह, तो भी उसकी सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता और सर्व शक्तिमत्ता आदि सर्वात्म भाव मे कोई फर्क नही आता और न उसे कर्मो का कोई बन्धन ही होता ह, क्योकि उसके कर्म किसी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए नही होते, किन्तु समष्टि हित के लिए होते ह इसलिए वास्तव मे वह अकर्ता ही रहता ह और दुष्टो का दमन एव सज्जनो की रक्षा करता हुआ भी वह उन दुष्टो तथा सज्जनो अथवा जगत के किसी भी पदार्थ को अपने से भिन्न नही समझता, किन्तु सबको अपने ही विराट शरीर के अनेक अग अनुभव करता ह ।*

जिस तरह व्यष्टि भाव म अत्यन्त आसक्त लोग अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए दूसरो को हानि पहुचाने के अपराध मे जेल जाते ह और जेलखाने मे कैदी की हैसियत से बन्धन म रहते ह तथा जेल के क्लेश भोगते ह और कभी कभी राजा भी जेल की सुव्यवस्था के उद्देश्य से जेलखाने के अन्दर जाता ह और उसके प्रबन्ध म यदि गडबड देखता ह तो ठीक करता ह । इस प्रकार जेलखाने के अन्दर अपराधी कैदी भी जाता ह और राजा भी और वहा जाना या न जाना कैदी के भी अधिकार म ह और राजा के भी अधिकार म ह, अन्तर इतना ही ह कि कैदी अपने व्यक्तित्व के भाव के कारण कुकर्म करके अपने लिए पहले बन्धन उत्पन्न कर लेता ह फिर उनका फल भोगने के लिए परवशता से जेल जाता ह और राजा अपनी सारी प्रजा की एकता के भाव से, सबके हित के लिए जेल की सुव्यवस्था करने को स्वतन्त्रतापूर्वक जाता ह । इसलिए कैदी जेल जाना दुःख और बन्धन रूप समझता ह परन्तु राजा को कोई दुःख या बन्धन प्रतीत नही होता । इसी तरह व्यष्टि भावापन्न जीवात्मा व्यक्तित्व के अहकार से व्यक्तिगत स्वार्थो के लिए नाना प्रकार की वासनाओ के बन्धन मे बध कर अपनी वासनानुसार नाना शरीरो को धारण करता और छोडता ह, जिसको वह अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान के कारण परवशता से जन्मना मरना और नाना प्रकार के क्लेश भोगना मानता ह, परन्तु सर्वात्म भावापन्न महापुरुष को अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता ह अत वह अपनी इच्छा से स्वतन्त्रता पूर्वक शरीर धारण करता और छोडता ह, और ऐसा करने म उसको कोई क्लेश या बन्धन प्रतीत नहीं होता ।

---

*इस विषय का विशेष खुलासा भगवान ने गीता के १०वे और ११वे अध्याय में किया ह ।

यद्यपि ʼयष्टि भावापन्न प्रत्येक जीवात्मा म भी वही सर्वात्म भाव की शक्ति अʼयक्त रूप से मौजूद ह परʼतु जब तक वह अपने आपको पथक शरीरो के सकुचित भाव में सीमाबद्ध मानता ह तब तक अल्पज्ञ, अल्पʼक्तिमान परवश एव तुच्छ जीव रहता ह। जब यह ʼयष्टि भाव की माʼयता दूर करके अपन असली सवात्म भाव का पुन अनुभव कर लेता ह, तब परमात्म-स्वरूप हो जाता ह। जिस तरह (१) एक बीज के अʼदर वक्ष होने की शक्ति सूक्ष्म रूप से मोजूद रहती ह और जब तक उक्त शक्ति का विकास नही होता तब तक वह एक छोटा सा बीज ही रहता ह परʼतु जब उस शक्ति का विकास हो जाता ह तब वही अनʼत बीजो का आधार वक्ष हो जाता ह, उसी तरह छोटी-सी जीव-शक्ति मे महान परमात्म शक्ति मौजूद ह अर्थात अʼतवान व्यष्टि शरीरो मे अनʼत समष्टि आत्म शक्ति मौजूद ह—उसका जसा ओर जितना विकास होता ह उतनी ही वह ʼयक्त और विस्तत हो जाती ह। अथवा जिस तरह (२) एक राष्टीय राज्य के प्रत्येक ʼयक्ति में समष्टि राज्य सत्ता मोजूद रहती ह और उसको सारे राज्य शासन मे योग देने के पूण अधिकार प्राप्त होत ह यदि वह अपने ʼयक्तित्व का भाव कम करके अपन राष्ट की एकता के कार्या म योग देने लगे तो राज्य शासन के सभी काय कर सकता ह और जितना ही व्यक्तित्व का भाव कम करके राष्टीय एकता का भाव अधिक करता ह तथा राष्ट्र के लिए अधिक स्वाथ-त्याग करता ह उतना ही राज्य शासन के उच्च अधिकार प्राप्त करता ह, और अपने ʼयक्तित्व को पूणतया राष्ट के अपण कर देन से वह राष्टपति भी हो सकता ह उसी तरह जीवात्मा अपने ʼयक्तित्व का भाव ज्यो ज्यो कम करता ह त्यो-त्यो कम रूप जगत पर अधिक आधिपत्य प्राप्त करता ह, ओर जो अपन ʼयक्तित्व को अपन समष्टि-भाव के ʼयक्त स्वरूप जगत से पूण एकता कर देने द्वारा अपन असली स्वरूप का पूण अनुभव कर लेता ह वह स्वय परमात्म-स्वरूप हो जाता ह।

जीवात्मा वस्तुत परमात्मा ही का ʼयष्टि भाव होने के कारण जसी इच्छा करता ह वसा ही स्वय बन जाता ह और अपनी इच्छा क अनुसार ही कर्मो द्वारा अपनी सष्टि निर्माण करके उसमे वतता ह तथा अपनी निर्माण की हुई कम रूप सष्टि के भोग भोगता ह। यह कहावत ठीक ह कि 'जिसकी जसी मति होती ह वसी ही उसकी गति होती ह" यानी अपने से सम्बʼध रखने वाली अपने इद गिद की सष्टि अपनी ही भावना क अनुसार बन जाती ह—अपनी सष्टि का रचयिता मनुष्य आप ही ह। जिस तरह मकडी आप ही तार फला कर उसके ऊपर चलती ह उसी तरह मनुष्य सब प्रकार से अपने आत्मा ही के रचे हुए जगत मे ʼयवहार करता ह आप ही अपने को एक विशेष ʼयक्ति मान कर अपने लिए शरीर रचता ह ओर उस शरीर के लिए आचरणीय कम नियत करता ह, परन्तु अपने असली सच्चिदानʼद स्वरूप की विस्मति के कारण उन कर्मो से ʼयक्तिगत स्वाथ सिद्धि की कामना करता ह, और उस स्वाथ सिद्धि क लिए [illegible]

मान कर उनकी सहायता प्राप्त करने के लिए उनकी उपासना करता है तब उस उपासना में अपने मनोयोग की दृढता एवं तीव्रता के प्रभाव से सफलता जल्दी मिल जाती है। परन्तु उस सफलता का कारण स्वयं अपने-आपके सिवाय दूसरा कोई नहीं होता क्योंकि अपना मन जब एकत्व भाव में जुड़ता है तभी सफलता होती है। मन को एकता में जोडने की योग्यता केवल मनुष्य देह में ही है। मनुष्य योनि के सिवाय अन्य योनियो में विचार शक्ति का विकास न होने के कारण कर्म करने की स्वतन्त्रता नहीं है, उनकी सभी चेष्टाएं स्वाभाविक होती हैं उनमें न तो कर्तापन का अहंकार रहता है, न कर्म करने की जिम्मेवारी अतः वह केवल भोग भूमि है। परन्तु मनुष्य देह में विचार शक्ति का विकास होने के कारण कर्म करने में स्वतन्त्रता है। इस देह में जीवात्मा अपने को प्रकृति के सर्वथा अधीन नहीं मानता, किन्तु वह प्रकृति के ऊपर शासन करने का प्रयत्न करता है और दूसरो से पृथक अपने कर्तापन के व्यक्तित्व का अहंकार करता है इसलिए वह अपने कर्मो का जिम्मेवार होता है और अपने कर्मो के शुभाशुभ फल भी उत्पन्न करता है। इसलिए यह कर्म भूमि है। इस देह में कर्मो की सिद्धि के पांच कारणो (गी० अ० १८ श्लो० १३ से १५) की [illegible] अच्छी तरह विधिवत किये हुए कर्मो की सिद्धि अवश्य होती है। परन्तु जो लोग कर्मो के फल के लिए दैवी शक्तियो की उपासना करते हैं वे अपने मनोयोग की शक्ति के प्रभाव से फल जल्दी उत्पन्न कर लेते हैं। जैसे तेज मसाले की शक्ति के उपयोग से वनस्पतियो के फल जल्दी उत्पन्न किये जाते हैं उसी तरह मानसिक शक्ति से कर्मों के फल जल्दी उत्पन्न किये जा सकते हैं। सारा जगत प्रपंच मन के संकल्पो की रचना है अतः एकाग्र किये हुए मन के तीव्र संकल्प से कर्मों की सिद्धि तत्काल ही हो सकती है। साराश यह कि जो अपने-आपको जैसा मानता है वैसा ही वह बन जाता है। यदि अपने को एक स्थूल शरीर का पुतला अथवा एक तुच्छ अल्पज्ञ कर्मों के बन्धनो से बंधा हुआ जीव मानता है और परमात्मा को अपने से भिन्न—कोई विशेष व्यक्ति मानता है तो उसके लिए वैसा ही हो जाता है क्योंकि सृष्टि कल्पनामय है जैसी कल्पना होती है वैसा ही बनाव बन जाता है। मनुष्य देह में ही यह योग्यता है कि जीवात्मा अपना भविष्य निर्माण करके चाहे जैसा बन जाय। यदि अपने लिए आधिभौतिक और आधिदैविक सुखो की प्राप्ति के निमित्त देवताओ की उपासना करता है, तो अपनी भावना के अनुसार उन्हीं द्वारा उसका फल उत्पन्न करके भोगता है* और यदि अपने वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्द आत्मा का अनुभव कर लेता है तो परमात्म-स्वरूप हो जाता है।

जगत अथवा समाज की सुव्यवस्था के लिए, मनुष्य (स्त्री-पुरुषो) के शरीरो के

---

*देवताओ की उपासना से कामनाओ की सिद्धि होने का विशेष खुलासा सातवें अध्याय के श्लोक २० से २३ तक में किया गया है।

प्राकृतिक गणो की योग्यतानुसार काय विभाग की व्यवस्था सर्वात्म भावापन्न महापुरुषो ने बनाई ह। जिस तरह व्यष्टि शरीर के सत्वगण प्रधान अग—मस्तक मे बद्धि और ज्ञानेन्द्रियो का निवास होने के कारण वह ज्ञान का केन्द्र होता ह रजोगण प्रधान अग—भुजाओ मे बल का निवास होने के कारण उनमें शासन और रक्षण की विशेष योग्यता होती ह, रजोगुण और तमोगण प्रधान अग—जघाओ और परो में चलने फिरने आदि क्रियाओ की विशेष शक्ति होने के कारण उनमे व्यवसाय और श्रम द्वारा ऊपर के अगो की आवश्यकताए पूरी करने की योग्यता होती ह उसी सिद्धान्त पर समाज-रूपी विराट शरीर के भी चार प्रकार के काय विभाग किये गय ह*, और उन चार विभागो की क्रमश ब्राह्मण, क्षत्रिय वश्य और शूद्र सज्ञा रखी गई ह।

अत जो लोग इस गुण कम विभाग के अनुसार चातुवर्ण्य व्यवस्था निर्माण के तत्त्व को अच्छी तरह समझ कर सबके हित के लिए (जिसमें वे स्वय भी शामिल ह) सबके साथ एकता के भाव से सबके साथ सहयोग रखते हुए एव सबके साथ शृखलाबद्ध होकर अपने अपने शरीरो के गुणो की ~~~ अपने-अपने हिस्से के कतव्य कम करते रहते ह, दूसरो से पथक अपने व्यक्तित्व के अहकार और व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि की आसक्ति नही रखते उनको उक्त कर्मो का कोई बन्धन नहीं होता, किन्तु वे सब प्रकार से उन्नति करते हुए सुख समद्धि सम्पन्न होते ह, और जिस समाज के लोग उपरोक्त गुण कम विभाग के सिद्धान्तानुसार आचरण करते ह वह समाज अवश्य ही उन्नत और सुख समद्धि-सम्पन्न होता ह।

इसलिए भगवान अजन को निमित्त करके सबको कहते ह कि पहले भी सच्ची सुख शान्ति और स्वतन्त्रता की इच्छा रखने वाले लोगो ने इसी तरह आत्मज्ञानयक्त अपने-अपने वण के कतव्य कम किये ह और अब भी धर्माधम, पुण्य पाप, सुख दुःख आदि द्वन्द्वो से मुक्त रहने और सब प्रकार की उन्नति की इच्छा रखने वालो को इसी तरह सबकी एकता के साम्य भाव से अपने वण के कतव्य कम करते ही रहना चाहिए। मोक्ष और बन्धन सब अपनी इच्छा और आचरण पर ही निभर ह। मनुष्य अपने भाग्य का विधाता आप ही ह।

× × ×

श्लोक ५ से १५ तक भगवान ने प्रसगानुसार अपने अर्थात समष्टि भावापन्न परमात्मा के जन्म (शरीर धारण करने) और कम (लौकिक व्यवहार करने), तथा व्यष्टि भावापन्न जीवो के जन्म और कम के भेद का खुलासा करने के अनन्तर यह स्पष्ट

*गुणो के अनुसार काय विभाग की व्यवस्था के आधार पर चारो वर्णों के अलग अलग कर्मो का वणन अठारहवे अध्याय के श्लोक ४१ से ४४ तक के अथ म देखिए।

किया कि जीवात्मा और परमात्मा मे वस्तुत कोई भेद नही ह। जीव म भी परमात्म शक्ति बीज रूप मे विद्यमान रहना ह पर तु यक्तित्व का भाव रखने से वह स्वय ही अपनी शक्ति को परिमित कर लेता ह। वास्तव म वह अपन कर्मो का आप ही स्वामी ह, अर्थात कम करने मे स्वत त्र ह—जसी इच्छा करता ह वसा ही अपने कर्मा द्वारा बन जाता ह।

फिर भगवान ने जगत के यवहार की सु यवस्था के लिए अर्थात जगत के धारणाथ गुणो के अनसार कर्मा का विभाग करने द्वारा चातुवण्य यवस्था की योजना का सिद्धा त समझा कर उसके अनुसार अपने अपन कत य कम सबके साथ एकता के साम्य भाव से यक्तिगत स्वाथ की आसक्ति के बिना सबके हित के लिए करने का उपदेश दिया। अब भगवान कम करने अथवा न करने के मूल प्रश्न को लेकर कम की तात्त्विक मीमासा करते ह।

कि कम किमकर्मेति क्वयेऽप्यत्र मोहिता ।
तत्ते कम प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात ॥१६॥
कमणो ह्यपि बोद्धव्य बोद्धव्य च विकमण ।
अकमणश्च बोद्धव्य गहना कमणो गति ॥१७॥
कमण्यकम य पश्येदकमणि च कम य ।
स बुद्धिमा मनुष्येषु स युक्त कृत्स्नकमकृत ॥१८॥
यस्य सर्वे समारम्भा [illegible] ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माण तमाहु पण्डित बुधा ॥१९॥
त्यक्त्वा कमफलासङ्ग नित्यतप्तो निराश्रय ।
कमण्यभिप्रवत्तोऽपि नव किंचित्करोति स ॥२०॥
निराशीयतचित्तात्मा त्यक्तसवपरिग्रह ।
शारीर केवल कम कुवन्नाप्नोति किल्बिषम ॥२१॥
[illegible] द्व द्वातीतो विमत्सर ।
सम सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतस ।
यज्ञायाचरत कम समग्र प्र[illegible]ने ॥२३॥
ब्रह्मापण ब्रह्महविब्रह्माग्ना ब्रह्मणा हुतम ।
ब्रह्मव तेन ग त य ब्रह्मकमसमाधिना ॥२४॥

अथ—कम (का स्वरूप) क्या ह और अकम (का स्वरूप) क्या ह, इस विषय में बडे बडे बुद्धिमान पण्डित भी भ्रम में पडे हुए ह।

म तुझे वह कम (का रहस्य) बतलाऊगा जिसे जान कर तू अशभ से छूट जाएगा अर्थात तेरा मोह दूर हो जायगा। कम (साधारणतया कम का व्यापक स्वरूप) अवश्य जानना चाहिए, विकम (न करने योग्य—निषिद्ध अथवा त्याज्य कम का स्वरूप) भी जानना चाहिए और अकम (कम से सवथा रहित होन अर्थात कम शून्यता का स्वरूप) भी जानना चाहिए क्योकि कम की गति गहन ह। जो कम मे अकम और अकम मे कम देखता ह, अर्थात जो कम रूप जगत की निरन्तर परिवर्तनशील झूठी भिन्नता मे अकम रूप सच्चा एकत्व भाव (सवत्र एक आत्म तत्त्व—अपने आप) का अनुभव करता ह, ओर अकम रूप सत्य, नित्य, अपरिवर्तनशील एकत्व भाव (एक आत्म तत्त्व—अपने आप) मे कम रूप विश्व की कल्पित एव परिवर्तनशील भिन्नता का बनाव देखता ह—इस तरह जो कम अकम मे अभेद देखता ह—वही मनुष्यो मे बुद्धिमान ह ओर वही समत्वयोगी सम्पूण कर्मा का कर्ता (कर्मो का स्वामी) ह। तात्पय यह कि मनुष्यो की कौन कौन सी चेष्टाए कम रूप ह जिनके अच्छे बुरे फल (शभाशुभ परिणाम) में मनष्य बधता ह और कौनसी चेष्टाए अकम-रूप ह जिनसे मनष्य कम के शुभाशुभ परिणाम से मुक्त रहता ह—इस विषय को अर्थात कर्मो मे फसने और उनसे मुक्त होने के असली रहस्य को आत्मज्ञान के बिना केवल सासारिक विषयो म निपुण बद्धिमान एव शास्त्रज्ञ पण्डित लोग भी यथाथतया नहीं जानते। बहुत से लोग तो सासारिक (गहस्थी के) व्यवहार करने मात्र ही को बन्धन रूप कम समझते ह—चाहे वे व्यवहार शभ हो या अशुभ विहित हो या निषिद्ध, चाहे वे पूव कथित चातुवण्य व्यवस्थानुसार लोक सग्रह के लिए किय जाय या व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के लिए, और चाहे वे व्यक्तित्व के भाव सहित किय जाय या व्यक्तित्व का अहकार छोड कर और उक्त चातुवण्य व्यवस्थानसार सब सासारिक (गहस्थी के) व्यवहार छोड छाड कर सन्यास धारण कर लेने अथवा उद्यम हीन होकर ध्यान म निमग्न हो जाने, अथवा समाधि लगाने अथवा भजन, स्मरण आदि ईश्वराराधना मे निरन्तर लगे रहने आदि को अकम अर्थात कर्मो से रहित होना मानते ह। परन्तु यह समझ ठीक नही किन्तु भ्रमात्मक ह। भगवान अजुन को कहते ह कि तू भी उसी भ्रम मे पड कर गुण-कम विभाग के सिद्धान्तानुसार अपने हिस्से मे आये हुए कतव्य कम (क्षात्र धम) को बन्धन रूप कम समझ कर उसे छोड कर अकर्मी बनने के मोह में पडा हुआ ह इसलिए म तुझे कम का असली तत्त्व बताता हू जिसे जानने से तेरा यह दुखदायी मोह दूर हो जायगा। यह विश्व सब कम रूप ह इसलिए कम किए बिना कोई भी रह नही सकता और सबके कर्मो का प्रभाव एक दूसरे पर पडता ह, इसलिए कर्मो की गति अर्थात कर्मों का पसारा, प्रभाव और पहुच अत्यन्त ही गहरी अर्थात जगत म सूक्ष्म

रूप से अत्यन्त व्यापक ह। अत कम और अकम के रहस्य को यथाथतया जानने के लिए, पहले कम के इस स्वाभाविक एव व्यापक स्वरूप को अच्छी तरह समझना चाहिए। फिर जिस विधि से कम करने से बधन होता ह उस निषिद्ध अर्थात न करने योग्य (त्याज्य) कम—जिसको विकम कहते ह—उसका स्वरूप जानना चाहिए, और जिस विधि से कम करने से कुछ भी बधन नहीं होता, उस अकम का स्वरूप भी जानना चाहिए। ससार कममय होने के कारण कुछ न कुछ करना प्रत्येक देहधारी का स्वाभाविक धम ह, परतु किस अवस्था म किस प्रकार से की हुई चेष्टाए, बधन करने वाले निषिद्ध कम अथवा (न करन योग्य) विकम रूप होती ह और किस अवस्था मे किस प्रकार से की हुई चेष्टाए अकम (कुछ भी न करने यानी निष्कम) रूप हो जाती ह—इस रहस्य को जानना प्रत्येक कायकर्ता के लिए अत्यत आवश्यक ह। भद वाद के शास्त्रो के विद्वान लोग इस मम को समझ नहीं सकते कि जगत की भिन्नता को सच्ची मानने के मिथ्या ज्ञानयुक्त किये हुए कम चाहे बाहरी स्थूल दष्टि से विहित अथवा शभ प्रतीत हो तो भी वे निषिद्ध अथवा अशुभ विकम-रूप होते ह। इसी तरह भिन्नता के मिथ्या ज्ञानयक्त, शरीरो के गुणो की योग्यता के स्वाभाविक एव आवश्यक कतव्य कर्मों का ममता और अहकार से त्याग भी विकम-रूप हो जाता ह। अत इस प्रकार भिन्नता के भाव से कम करना और त्यागना दोनो ही निषिद्ध एव बधन रूप होते ह—इसलिए दोनो ही से रहित होना चाहिए और सवत्र एकता को सच्ची मानने के सत्य ज्ञान से ममता और अहकार के बिना किये हुए सब प्रकार के कम चाहे बाहरी स्थूल दष्टि से बधन रूप अथवा निषिद्ध एव अशुभ विकम-रूप प्रतीत होते हो तो भी वास्तव में वे निबधन अकम-रूप ही होते ह—इसलिए उन्हें अवश्य करना चाहिए। इस रहस्य को वही महापुरष ठीक ठीक जानता ह जो विश्व की कल्पित भिन्नता मे सच्ची एकता का अनुभव करता ह यानी इस जगत को सबके अपने-आप सबके आत्मा=परमात्मा ही के अनेक रूप समझता ह—अपने-आप से भिन्न कुछ भी नहीं देखता। वही समत्वयोगी सच्चा बुद्धिमान ह सारे कम उसी के किये हुए ह, यानी वह सम्पूण कर्मो का कर्ता—सब कर्मो से उत्तीण—कर्मो का स्वामी ह, और कम के रहस्य को यथाथतया जानने वाला भी वही ह (१६, १७, १८)। जिसके सभी व्यवहार अपनी पथक व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि की कामना के सकल्प से रहित होते ह, अर्थात जिसके मन मे दूसरो से पथक अपनी व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि का भाव ही उत्पन्न नहीं होता, और (सवत्र एकत्व भाव के) आत्म ज्ञान रूपी अग्नि से जिसके कम भस्म हो गये ह, अर्थात शभाशुभ फल से शून्य अत बधनरहित हो गये ह [illegible] सच्चा विद्वान कहते ह (१९)। कर्मो के फल में [illegible] अपनी व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि का ही भाव न रख कर (अपने आप में) सदा तप्त अर्थात अपने आप को सदा परिपूण अनुभव करने वाला, और (अपने से भिन्न किसी अन्य पर) निभर न रहने

वाला (स्वावलम्बी पुरुष), कर्मों मे अच्छी तरह प्रवत्त होता हुआ भी (वास्तव मे) वह कुछ भी नहीं करता (२०)। (जो दूसरो से पथक अपनी व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि की) आशा से रहित ह और जिसने मन और बुद्धि को अपने वश मे कर लिया ह तथा पदार्थों के सग्रह मे जिसका ममत्व छूट गया ह वह (अपने स्वाभाविक गुणो की योग्यतानुसार) अपने शरीर के स्वाभाविक कतव्य-कम करता हुआ भी पाप का भागी नहीं होता (२१)। (उपरोक्त रीति से कम करने से) जो कुछ सहज ही लाभ हो जाय उसी म सन्तुष्ट (हष शोक मान-अपमान निन्दा-स्तुति सुख दु ख आदि) द्वन्द्वो से परे अर्थात इनसे ऊपर उठा हुआ ईर्ष्या-द्वष आदि से रहित और कर्मो की सफलता अथवा असफलता म एक समान निर्विकार रहने वाला अर्थात हानि लाभ जय-पराजय आदि से विचलित न होने वाला पुरुष (सब प्रकार के कम) करता हुआ भी बन्धन से सवथा रहित होता ह (२२)। सवत्र एकत्व भाव रूपी आत्मज्ञान मे स्थित चित्त वाले आसक्ति रहित मुक्त पुरुष के, यज्ञ (लोक-सग्रह) के निमित्त किये हुए सारे कम विलीन हो जाते ह अर्थात अकम रूप हो जाते ह। अपण अर्थात मन, बुद्धि, इन्द्रिया और कम करने के हथियार आदि साधन ब्रह्म ह, हवि अर्थात कम करने का द्रव्य (व्यवसाय की वस्तु) ब्रह्म ह, अग्नि, अर्थात जिसके उद्देश्य से कम किया जाता ह वह ब्रह्म ह, और होता अर्थात कम का कर्ता ब्रह्म ह, इस तरह कम करने मे जिसका सवत्र ब्रह्म भाव होता ह, उसकी स्थिति ब्रह्म ही मे होती ह अर्थात वह स्वय ब्रह्म स्वरूप होता ह। तात्पय यह कि जिनको आत्मज्ञान होता ह उनके चातुवण्य व्यवस्थानुसार सभी व्यवहार केवल लोक-सग्रह रूपी-यज्ञ के लिए होते ह उनमें व्यक्तित्व का भाव कुछ भी नहीं रहता और सब व्यवहारो मे उनको सवत्र ब्रह्म अथवा अपने वास्तविक आप का ही अनुभव होता ह। सब वर्णों तथा सब व्यवसायो (पेशो) के करने वालो, उनके व्यवसायो, व्यवसाय करने के साधनो तथा जिन वस्तुओ या पदार्थो के व्यवसाय किये जाते ह उनको, और जिन लोगो से उनके व्यवसायो का सबध होता ह उन सबको वे एक ही आत्मा के अनेक रूप समझते ह अत वे स्वय और उनके सब कम ब्रह्म अथवा आत्म-स्वरूप ही होते ह। उनके लिए कर्मो के बन्धन का प्रश्न ही नहीं रहता—जहा एक से अनेक होने का भाव होता ह वही बन्धन होता ह (२३ २४)।

स्पष्टीकरण—तीसरे अध्याय के आरम्भ मे अजन ने पूछा था कि मेरे लिए अपने क्षात्र धर्मानुसार युद्धादिक घोर (हिंसात्मक) कम करना कल्याणकर ह या सब कर्मो को छोड कर अकर्मी हो जाना और आत्मज्ञान मे लग जाना ठीक ह उसके उत्तर में भगवान ने सबके लिए, अपने-अपने शरीरो के स्वाभाविक गुणो की योग्यता के कम, चातुवण्य व्यवस्थानुसार, आत्मज्ञान-युक्त साम्य भाव से करना श्रेयस्कर बताया। अब भगवान

कम (कम करने) और अकम (कम से रहित होन) का तात्त्विक विवेचन करके अजुन का सशय अच्छी तरह मिटाते ह । भगवान कहते ह कि आत्मा (सबके अपने वास्तविक आप) की क्रिया-शील त्रिगणात्मक प्रकृति का नाना भावो युक्त ग्गान—क्रिया प्रतिक्रिया स्वरूप यह विश्व—कम रूप ही ह अर्थात समष्टि (सबके) स्वाभाविक कर्मो ही से विश्व का अस्तित्व ह, और इस (विश्व) में सवत्र वास्तविक एकता होने के कारण प्रत्येक कम का प्रभाव जगत में सूक्ष्म रूप से अत्यत विस्तत होता ह । किसी भी यक्ति के कर्मो का सबध और प्रभाव किसी देश विशेष काल विशेष अथवा यक्ति विशेष तक ही परि मित नही रहता, कितु सबके कर्मा का सबध और प्रभाव स्थूल अथवा सूक्ष्म (दष्ट अथवा अदष्ट) रूप से जगल मे अत्यत यापक और विस्तत होता ह । अत कम अकम का यथाथ रहस्य सवभूतात्मक्य—आध्यात्मिक ज्ञान के बिना केवल आधिभौतिक ओर आधि दविक भद भाव की दष्टि से जाना नही जा सकता—चाहे भेद भाव के शास्त्रो का कितना ही अध्ययन किया जाय और उन पर कितना ही विचार किया जाय। जगत की नाना प्रकार की भिन्नताओ को सच्ची मानन वाले भेदवादी विद्वान लोग कम अकम का निणय कम के स्थूल रूप और उससे होन वाले प्रत्यक्ष के यक्तिगत हानि लाभ की दष्टि से अथवा भेद वाद के शास्त्रो म वणित मरने के बाद प्राप्त होन वाले सुख दु ख अथवा स्वग नरक आदि के विचार ही से करते ह—कर्मो के सूक्ष्म एव अप्रत्यक्ष प्रभाव और उनसे होन वाले दष्ट व अदष्ट समष्टि हिताहित का सूक्ष्म एव यापक विचार वे नही करते। उनम से बहुत से विद्वान लोग तो ससार अथवा गहस्थी के यवहार मात्र ही को बधन रूप कम समझते ह—चाहे कोई यवहार शभ हो या अशुभ, विहित हो या निषिद्ध और चाहे वह किसी भी विधि से और किसी भी भाव से किया जाय—उनकी दष्टि म सभी यवहार बधन के हेतु होते ह, और ससार अथवा गहस्थी के सारे यवहारो को छोड कर निरुद्यमी हो जाना अर्थात सयास ले लेना ही वे मोक्ष का साधन—अकम समझते ह, क्योकि उनके मतानुसार यह दु खदायी एव बधन रूप जगत कर्मों पर ही निभर होन के कारण, जब तक जगत को बनाये रखन के हेतु भूत कम किये जाते ह तब तक न तो यह जजाल मिटता ह और न इससे छटकारा ही होता ह, इसलिए कर्मो को सवथा त्याग दने से जगत रूपी जजाल से मनष्य का सबध विच्छेद हो जाता ह तब शरीर छूटने (मरन) के बाद मक्ति प्राप्त हो जाती ह—फिर जन्म मरण के चक्कर मे आना नही पडता। दूसरे पण्डित लोग यह कहते ह कि यज्ञादिक धार्मिक एव साम्प्रदायिक कमकाण्ड दान पुण्य आदि परोपकार के काय और ईश्वरोपासना, जप तप पूजा पाठ सत्य, शौच दया, अहिसा आदि शुभ कर्मो को कभी नही छोडना चाहिए (गी० अ० १८ श्लो० ३)। उनके मत में इन शुभ कर्मों से बधन नहीं होता कितु इनसे पुण्य उत्पन्न होकर मरन के बाद स्वर्गादि सुखो की प्राप्ति रूप मुक्ति हो जाती ह, इसलिए ये कम बधन के हेतु नहीं, कि तु मोक्ष के हेतु—

अकम ह। कई विद्वान कहते ह कि किसी प्रयोजन सिद्धि की कामना से जो कम किये जाते ह उन्ही से ब धन होता ह इसलिए एसे काम्य कर्मो को सवथा छोड देना ही मोक्ष का हेतु—अकम ह। और कई बद्धिमान कहते ह कि कम करन मे कोई ब धन नही ह ब धन कम के फल मे ह इसलिए कम का फल छोड देना ही अकम ह (गी० अ० १८ श्लो० २)। भगवान कहते ह कि कम-अकम का उपयुक्त विवेचन आ यात्मिक विचार की सच्ची कसौटी पर जाच करने पर ठीक नहीं उतरता। कम अकम का यथाथ निणय करन के लिए सबसे पहले इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि चनन्ग ुत्त शरीर (पिण्ड) और जगत (ब्रह्माण्ड) सभी कम मय ह क्योकि चेतना क्रिया शील ह इसलिए कोई भी सचेतन पदाथ कम करने से सवथारहित हो नही सकता। अपन अपने शरीरो के स्वभाव (प्रकृति) के अनसार सा ारणनया कुछ न कुछ चेष्टाए सब को करनी होती ह चाहे कोई कितना ही त्यागी हो या ज्ञानी अथवा स यासी (गी० अ० ३ श्लो० ३३)। कई लोगो का मत ह कि ाराार ार जान कम मय ह तो भले ही हो—हमे उनसे क्या मतलब ? हम तो अपनी मक्ति से प्रयोजन ह सो सब कम छोड छाड कर जगत और शरीर से पथक होने से वह प्राप्त हो जायगी हमारे कम न करने से शरीर छूट जायगा अथवा जगत का प्रलय हो जायगा तो सारा झझट ही मिट जायगा। पर तु यह समझ गलत ह क्योकि दूसरो से पथक यक्तित्व के भाव से न तो कोई जगत से अलग हो सकता ह और न मर कर मुक्ति ही प्राप्त कर सकता ह। पथकता के भाव से जगत का प्रलय भी कोई नहीं कर सकता क्योकि पथकता का भाव ही तो जगत की भिन्नता का बनाव ह और वही ब धन एव दु खरूप प्रतीत होता ह। ब धन और मोक्ष सापेक्ष द्व द्व ह अर्थात जब ब धन माना जाता ह तब उससे छटकारा पान को मोक्ष कहते ह। जीवात्मा जब अपने को दूसरो से पथक यक्ति मानता ह तभी वह अपन लिए ब धन उत्पन्न करता ह और जब उस पथकता के भाव को मिटा कर पूण एकता का अनभव कर लेता ह तब (अपन वास्तविक स्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न) ब धन मिट जाने से अपने को मुक्त मानता ह। प्रकृति और पुरुष के सयोग से होनेवाले इस जगत के सभी बनाव द्व द्व अर्थात जोडे के रूप मे ह और सभी द्व द्व अर्थात जोड सापेक्ष एव सम ह यानी एक ही वस्तु के दो रूप होने के कारण वे समान परिमाण म रहते ह। उनम से किसी का भी पृथक अस्तित्व नही होता। जो इन जोडो की आपस की भिन्नता एव विषमता को सच्ची मानता ह वह इनके ब धन म बधता ह पर तु जो इनको एक ही वस्तु के दो रूप समझता ह अर्थात इनकी वास्तविक एकता का अनभव करता ह, उसकी दष्टि म य द्व द्व सम होकर शा त हो जाते ह यानी उसको इनसे कोई विक्षेप नही होता अत वह सदा मुक्त रहता ह। तात्पय यह कि मुक्ति कोई स्वतत्र या पथक पदाथ नही ह कि जिसकी प्राप्ति किसी विशेष क्रिया के करन अथवा न करने से होती ह, अथवा जिसके लिए किसी विशेष देश (गो लोक ब्रह्म लोक आदि लोका तर) मे जाना पड अथवा किसी काल-

विशेष की प्रतीक्षा करनी पडे, अथवा किसी एक शरीर को छोड कर दूसरा रूप धारण करने की आवश्यकता पडे। मुक्ति के लिए न किसी से अलग होने की आवश्यकता ह, न सबको मटियामेट करके सुनसान कर देने ही की जरूरत ह। मक्ति अथवा स्वत‍त्रता का अनुभव तो अपने आपके वास्तविक स्वरूप के यथाथ ज्ञान से, यहा का यहा इसी शरीर में, जगत में रहते हुए और सब ‍यवहार करते हुए ही होता ह। दूसरे शब्दो में अपने आपके वास्तविक स्वरूप का यथाथ ज्ञान ही मुक्ति ह। द्वत भाव जितना ही अधिक मिट कर दूसरो के साथ एकता का अनुभव होता ह, और जितना ही अधिक दूसरो के साथ एकता का ‍यवहार होता ह, उतना ही अधिक स्वत‍त्रता या मुक्ति का अनुभव होता ह। जब सारा द्वत भाव मिट कर सवत्र एकता का पक्का अनुभव हो जाता ह और उसके परिणामस्वरूप पूण साम्य भावयुक्त आचरण होने लगते ह तब सारा जगत अपना ही स्वरूप दीखने लगता ह। फिर अपने से भिन्न न किसी बाधने वाली वस्तु का भ्रम रहता ह और न किसी मक्त करने वाली का। न कुछ त्यागने को रहता ह और न ग्रहण करने को। सवत्र अपना आप ही रहता ह जो न ब‍धन का विषय ह और न मोक्ष का। यदि मनुष्य शरीर के रहते ही अपने आपके परिपूण सर्वात्म भाव का अनभव न हुआ, और पथक ‍यक्तित्व के भाव को सर्वात्म भाव म लय नही किया अर्थात सबको अपना ही स्वरूप नहीं जाना, तो मरने के बाद मुक्ति किस साधन से होगी और उस मुक्ति का स्वरूप क्या होगा ? मन और बद्धि के ‍यवहार न रहन से मक्ति का अनुभव ही किस साधन से होगा ? कुछ भी न रहने की शू‍यता तो मुक्ति ह ही नही ! न जडता ही मक्ति ह ! बेहोशी अथवा सुषुप्ति अथवा जड अवस्था मे भी मन और बुद्धि के ‍यवहार नही होते और न क्लेशो की प्रतीति ही होती ह, पर‍तु वह मक्ति नहीं ह। मुक्तावस्था तो वह ह कि जिसमें निरपेक्ष एव देश काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित, पूण आन‍द रहे और जिस आन‍द की प्रतिक्रिया न हो। मरने के बाद की जिस मक्ति अथवा सुख शा‍ति अथवा स्वग की आशा की जाती ह वे तो काल परिच्छेद, देश परिच्छद और वस्तु परिच्छेद वाले ह, अर्थात वे वतमान काल में, इसी लोक में और इसी शरीर में नहा ट्रा। वतमान की सारी आयु तो ग्रहण और त्याग विधि और निषेध एव दूसरो की दासता तथा खशामद आदि के ब‍धनो और ग्गारारि‍ कष्टो मे बिताई जाय, और फिर मरने के बाद मुक्ति की आशा रखी जाय, यह कोरा भ्रम ह।

यज्ञादिक धार्मिक एव साम्प्रदायिक कम काण्ड, दान पुण्य आदि परोपकार के काय, और जप तप पूजा, पाठ सत्य, शौच दया और अहिसा आदि शभ कम अज्ञानी लोगो की आधिभौतिक दष्टि से श्रेष्ठाचार अवश्य माने जाते ह, और आधिदविक दष्टि से ‍यक्तिगत पारलौकिक सुखो के साधन माने जाते ह पर‍तु उनमें पथक ‍यक्तित्व का भाव, कर्तापन का अ‍काग न ग फला‍क्ति आदि बने रहने के कारण वे अकम रूप नही ह।

इन शुभ कर्मों के फलस्वरूप मरने के बाद स्वग की प्राप्ति होकर जब पुण्य क्षीण हो जाता ह तब फिर वहा से गिरावट होता ह ऐसा माना जाता ह (गी० अ० ९ श्लो० २६)। इसके अतिरिक्त सभी धार्मिक एव साम्प्रदायिक कमकाण्ड अथवा दान-पुण्य आदि परोपकार के काय, अथवा जप तप, पूजा पाठ सत्य शौच दया अहिंसा आदि सदा सवदा शभ कम नहीं माने जाते क्योकि यज्ञ दान और तप सात्विक राजस और तामस भेद से तीन प्रकार के होते ह (गी० अ० १७ श्लो० ११ से २२), इनमे से सात्विक यज्ञ, दान और तप ही शुभ कम ह दूसरे नहीं।

इसी तरह पथकता के भाव से किया हुआ काम्य कर्मो का और सारे कम फलो का त्याग भी अकम नही ह क्योकि यक्तित्व के भाव से किया हुआ किसी भी प्रकार का त्याग वास्तव म त्याग नहीं होता (गी० अ० १८ श्लो० ८)। कम करने मे कामना का सवथा त्याग हो भी नहीं सकता क्योकि बिना उद्देश्य के कोई भी चेष्टा नहीं होती। बुद्धियुक्त प्राणी की प्रत्येक चेष्टा कुछ न कुछ उद्देश्य लेकर ही होती ह। इसी तरह कम फल का भी सवथा त्याग नही हो सकता क्योकि कम और फल का जोडा ह अत कम के साथ फल और फल के साथ कम बने ही रहते ह। प्रत्यक कम का कुछ न कुछ फल अवश्य ही होता ह। पर तु जो लोग केवल अपनी स्वाथ सिद्धि के उद्देश्य से कम करते ह और कम फलो से केवल अपना ही स्वाथ साधन करते ह वे ही कर्मो मे बधते ह। जो सबके हित के उद्देश्य से अपने शरीर की योग्यता के कम करते ह और उनके फल से सबको लाभ पहु चाते ह वे नही बधते—वे वास्तव मे अकर्मी ह। यद्यपि मा गरणनग्रा अज्ञानी लोगो को कर्मों के फल भोगने मे स्वत त्रता प्रतीत नही होती पर तु जिनको सवभूतात्मक्य ज्ञान होता ह वे इस विषय मे पूण स्वत त्र होते ह। उनकी सर्वात्म भाव में स्थिति हो जाने के कारण उनके कर्मो के फल किसी यक्ति विशेष तक ही परिमित नहीं रहते किन्तु उनमें सब का साझा होता ह। उनके कर्मो के अच्छे (अनुकूल) फल म पुण्यात्माओ का साझा होता ह और बुरे (प्रतिकूल) फल में पापात्माओ का। जो यह कहा जाता ह कि प्रार ध कर्मों के फल ज्ञानवानो को भी भोगने पडते ह सो भी पूणतया ठीक नहीं ह क्योकि सवभूतात्मक्य ज्ञान होने पर सारे कम भस्म हो जाते ह, चाहे वे सचित हो या प्रार ध, क्रियमाण हो या आगामी (गी० अ० ४ श्लो० ३७)। तात्पय यह कि ज्ञानी को कर्मो के फल की अनकूलना प्रतिकूलता कुछ भी नहीं रहती अत वे उस पर कुछ भी प्रभाव नही डालते। उसके सभी कर्मो के फल वास्तव में सबके लिए होते ह, इसलिए वह स्वय पूण स्वतत्र रहता ह। कम-फल भोगने मे थोडी या बहुत स्वत त्रता तो साधारण लोगो को भी ह। जब अच्छे कर्मों के फलस्वरूप अच्छे-अच्छे मिष्ठान्न भोजन आदि भोग्य-पदाथ प्राप्त हो तो उनको भोगे या न भोगे—अपने अधिकार की बात ह। यह बात प्रत्यक्ष ह कि राजस-तामस आहार से तथा राजस-तामस अ य पदार्थो के भोग से रोगादि अनेक उपाधिया उत्पन्न होती ह,

यदि कोई व्यक्ति अपने मन को वश मे रख कर राजस तामस भोगो को न भोगे तो वह उन दुःखो से भी बच जाता है। इस तरह से अच्छे और बुरे दोनो प्रकार के फल भोगने मे, मन के सयम की कमी-बेशी के अनुसार थोडी या बहुत स्वतन्त्रता सब को है। जब कि साधारण अज्ञानी लोगो को भी फल भोगने मे कुछ स्वतन्त्रता है तो फिर आत्मज्ञानी तो सारे कर्मों का स्वामी होता है उसको अच्छे और बुरे फल भोगने व न भोगने मे पूर्ण स्वतन्त्रता होने मे सन्देह ही क्या हो सकता है? सभी शरीर उसी के है। जिस शरीर की जैसी योग्यता हो उससे उसी तरह के भोग भोगता हुआ भी वास्तव मे वह कुछ भी नही भोगता—सर्वथा अभोक्ता रहता है। यह बात अवश्य है कि सर्वभूतात्मैक्य साम्य भाव अर्थात आत्मज्ञान मे जितनी अधिक स्थिति होती है उतनी ही अधिक स्वतन्त्रता कर्म और फल के विषय मे होती है। परन्तु फल रहित कोई कर्म नही होता और न कर्म फल को सर्वथा त्याग देने की आवश्यकता ही है।

साराश यह कि चेतनायुक्त सभी सृष्टि कर्ममय होने के कारण जगत मे कर्म सर्व व्यापक है उससे सर्वथा रहित होकर कोई अकर्मी नही हो सकता। और स्वाभाविक कर्मों मे साधारणतया कोई बन्धन और मोक्ष की शक्ति भी नही है। बन्धन और मोक्ष कर्ता के भाव और करने की विधि पर निर्भर है। अब देखना चाहिए कि किस भाव और किस विधि से किये हुए अथवा न किये हुए कर्म दुःख-रूप एव बन्धन के हेतु होते है—जिनकी विकर्म सज्ञा है और किस भाव एव किस विधि से किये हुए अथवा न किये हुए कर्म निर्बन्धन—अकर्म रूप होते है।

कर्म करना—प्रवृत्ति और न करना अथवा त्यागना—निवृत्ति भी सात्विक राजस और तामस भेद से तीन प्रकार की होती है। राजस और तामस प्रवृत्ति अर्थात पृथकता के राजस और विवेकशून्य तामस ज्ञान से (गी० अ० १८ श्लो० २१ २२) अयथार्थ और विपरीत निर्णय करने वाली राजस एव तामस बुद्धि (गी० अ० १८ श्लो० ३१ ३२) तथा राग, द्वेष और प्रमाद के राजस एव तामस भाव (गी० अ० १८ श्लो० २७ २८) युक्त फलासक्त और विषाद पूर्ण राजस एव तामस धृति (गी० अ० १८ श्लो० ३४ ३५) द्वारा, व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए अथवा कोरी मूढता से किये जाने वाले राजस और तामस कर्म (गी० अ० १८ श्लो० २४ २५) बन्धन के हेतु—विकर्म होते है। इसी तरह राजस और तामस निवृत्ति अर्थात कर्मों को दुःख और कष्टदायक जान कर अथवा निरी मूर्खता से किया हुआ राजस अथवा तामस कर्म त्याग (गी० अ० १८ श्लो० ७ ८) भी बन्धन का कारण—विकर्म होता है। दूसरी तरफ सात्विक प्रवृत्ति अर्थात सबकी एकता के सात्विक ज्ञान से (गी० अ० १८ श्लो० २०), यथार्थ निर्णय करने वाली सात्विक बुद्धि (गी० अ० १८ श्लो० ३०) तथा असग अनहकार धैर्य उत्साह और अविचलता के सात्विक भाव (गी० अ० १८ श्लो० २६) युक्त सब व्यवहार यथायोग्य साम्य भाव से धारण

करने की सात्विक धति (गी० अ० १८ श्लो० ३३) द्वारा, व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि की कामना से रहित होकर किये जान वाले सात्विक कम (गी० अ० १८ श्लो० २३) वास्तव में अकम ह। यही सच्चा सात्विक त्याग अर्थात सच्ची निवत्ति ह (गी० अ० १८ श्लो ९ से ११)।

यह पहले कह आये ह कि जगत की भिन्नता को सच्ची मानने वाले भेदवादी विद्वान लोग कर्मो के बाहरी स्थल रूप और उनसे होन वाले प्रत्यक्ष के व्यक्तिगत हानि लाभ ही को अधिक महत्त्व देते ह क्योकि उनकी दृष्टि व्यक्तित्व के भाव तक ही सकुचित रहती ह, अत प्रत्येक कम का प्रभाव विशेष व्यक्तिया तक ही सीमाबद्ध मान कर वे कम अकम का निणय करते ह अर्थात किसी कम का प्रत्यक्ष हानि लाभ, उस कम के करने वाले और जिनसे उस कम का प्रत्यक्ष सम्पक दीखता हो उनको क्या होता ह—इसी बात को अथवा भेद वाद के शास्त्रो म वर्णित उन कर्मा के फलस्वरूप मरन के बाद स्वग नरक आदि सुख दु ख की प्राप्ति के विचार को ही वे विशष महत्त्व देते ह समष्टि जगत अथवा समाज की व्यवस्था पर उस कम का सूक्ष्म प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से क्या पडगा इस बात पर वे ध्यान नही देते। परिणाम यह होता ह कि कर्मो के बाह्य रूप पर ही विहित अथवा शभ कम एव निषिद्ध अथवा अशुभ—विकम का स्वरूप वे सदा के लिए निश्चित कर लेते ह और विहित अथवा निषिद्ध कुछ भी न करने को अकम मान लेते ह। उदाहरणाथ — (१) चातुवण्य व्यवस्थानसार व्यवसाय करना वे केवल इसीलिए विहित मानते ह कि उनसे उन व्यवसायो के करने वालो तथा उनके कुटम्ब आदि की आजीविका और अर्थोपाजन होत ह। इसके अतिरिक्त जगत अथवा समाज की सुव्यवस्था के समष्टि हित का भाव उनके मन म नही रहता फलत वे गणो की योग्यतानुसार काय विभाग के सिद्धात पर स्थिर न रह कर जिस राति से द्रव्योपाजन अधिक हो वही काम करन लग जाते ह। यदि वश परम्परागत व्यवसाय करन से अधिक धन प्राप्त हो तो वही करते ह, नहीं तो जिन कामो से द्रव्योपाजन अधिक होता हो उन्ह करने लग जाते ह। इस तरह वण व्यवस्था को बिगाड कर उसके असली प्रयोजन और उसके वास्तविक लाभ से वञ्चित रहते ह। (२) सत्य बोलना हिसा न करना, किसी का धन न छीनना क्षमा करना शद्धता रखना इन्द्रियो का निग्रह करना आदि सदाचारो को वे इसलिए श्रेष्ठ धम मानते ह कि इनका आचरण करने वाला पुण्य का भागी होता ह उसका अन्त करण शद्ध होता ह, वह श्रेष्ठ माना जाता ह, और जिनके साथ उक्त सदाचारो का सबध होता ह उनको सुख होता ह। परन्तु उनके सिवाय दूसरे लोगो को उन व्यवहारो से हानि लाभ—प्रत्यक्ष में अथवा अप्रत्यक्ष मे सूक्ष्म रूप से क्या होगा इसका वे समचित विचार नही करते। इन सदाचारो को वे प्रत्येक अवस्था म श्रेष्ठ और नित्य धम-रूप—अवश्य कतव्य मानते ह। यद्यपि साधारणतया इन सदाचारो से लोगो को बहुत लाभ होता ह, इसलिए ये वास्तव म

ही शुभ कम ह। परन्तु अनेक अवसर एसे भी आते ह जब कि - ा ा ाा ा भाव से करने पर इन सदाचारो से जनता को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से बहुत हानि पहुचती ह और जगत अथवा समाज म अव्यवस्था उत्पन्न होती ह—इस विषय की वे भदवादी विद्वान लोग उपेक्षा करते ह। (३) काम क्रोध लोभ दम्भ, भय, अभिमान हिंसा आदि को वे इसलिए निषिद्ध एव पाप रूप मानते ह कि इनके आचरण करने वाले को पाप लगता ह, दु ख होता ह और उसका अन्त करण मलिन होता ह, और इनके आचरण का जिनसे सबध होता ह उनको भी हानि और कष्ट होता ह। यद्यपि साधारणतया इनके आचरण से लोगो को हानि और कष्ट अवश्य ही होता ह इसलिए ये त्याज्य ह। परन्तु अनेक अवसर ऐसे आते ह कि जगत और समाज की सुव्यवस्था के लिए सात्विक भाव से किया हुआ इनका आचरण लोगो के लिए हितकर होता ह अत वह अवश्य कतव्य होता ह क्योकि ऐसे अवसरो पर इनके बिना लोगो का बडा अहित होता ह। इस बात को वे लोग कुछ भी महत्त्व नहीं देते। (४) धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक कमकाण्ड पूजा पाठ, जप तप, दान आदि धार्मिक कृत्यो को वे इसलिए अवश्य कतव्य नित्य धम मानते ह कि उनकी मान्यता नुसार इनके करने वालो को सदगति मिलती ह यानी मरने के बाद स्वर्गादि ऊध्व लोक प्राप्त होते ह उनकी आत्मिक उन्नति होती ह और अन्त म उनकी मक्ति हो जाती ह लोगो में वे धर्मात्मा कहलाते ह और दूसरे लोग भी उनका अनकरण करके व्यक्तिगत लाभ उठाते ह। कई व्यक्तियो को इन कृत्यो से आर्थिक लाभ भी होता ह और इन कृत्यो को न करन वालो की दुगति होती ह वे नरक में पडते ह और अधर्मी एव नास्तिक कहलाते ह। इस बात पर वे ध्यान नहीं देते कि अनेक अवसरो पर य धार्मिक कृत्य बड-बड अनर्थों अत्याचारो और भयानक विप्लवो के कारण हो जाते ह और समाज के विध्वस के हेतु बन जाते ह।

परन्तु जिनको सवभूतात्मक्य ज्ञान अर्थात सारे जगत की एकता का यथाथ अनु भव होता ह, वे कर्मों के उक्त बाह्य रूप से तथा व्यक्तिगत हानि लाभ के विचार से ही उनके अच्छ-बुरेपन अथवा धम अधम अथवा शुभ अशुभ, अथवा विहित निषिद्ध का निणय नहीं कर लेते, किन्तु उन कर्मो का प्रभाव प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष रूप से समष्टि जगत और समाज की व्यवस्था पर क्या पडगा इस एकत्व भाव की व्यापक दष्टि से निणय करते ह। इस सिद्धान्तानमार व्यष्टि हानि लाभ के विचार समष्टि हानि लाभ के अन्तगत रहते ह, क्योकि जगत में सवत्र वस्तुत एकता होने के कारण कोई भी व्यक्ति दूसरो को हानि करके आप अकेला लाभ नहीं उठा सकता, दूसरो का अहित करके अकेला अपना हित नहीं कर सकता, और दूसरो को दु खी करके अकेला सुखी नही हो सकता। यदि ऐसा अस्वाभाविक प्रयत्न किया जाता ह तो क्रिया की प्रतिक्रिया होकर इस तरह के प्रयत्न करने वाले को ही हानि पहुचती ह। वास्तविक लाभ, हित अथवा सुख तो सबके साथ

एकता का अनुभव करने अर्थात अनेको में एक और एक में अनेक" देखने से होता ह, इसलिए आत्मज्ञानी महापुरुष इसी एकता के अनभव से गुणो के अनुसार काय विभाग के सिद्धा त पर चातुवण्य व्यवस्था का आचरण, समष्टि व्यष्टि यानी जगत और समाज की सु यवस्था के निमित्त करते ह। जब तक वश परम्परागत व्यवसाय (पेशा) करने के गुणो की योग्यता शरीर में होती ह तब तक वह व्यवसाय करते ह पर तु जिस समय शरीर में उक्त गुणो की योग्यता न रहे अथवा उस व्यवसाय की समाज को आवश्यकता न रहे तब गुणो की योग्यता और परिस्थिति की आवश्यकतानसार व्यवसाय बदल कर शरीर के वतमान गुणो की योग्यता का व्यवसाय स्वीकार करन म कोई सकोच नही करते। जिससे सच्ची लोक सेवा होती हो और समाज की सु यवस्था बनी रहती हो, वही ऊँचा अथवा नीचा माना जाने वाला व्यवसाय आवश्यकतानसार बडी प्रसन्नता से कर लेते ह— किसी वण विशेष के व्यवहारो ही में आसक्ति नहीं रखते।

सत्य, अहिंसा अस्तेय, क्षमा शौच इद्रिय निग्रह आदि सदाचार जब तक सूक्ष्म विचार से सबके लिए हितकर होत ह तब तक वे उन्हें अवश्य करते ह परन्तु जब कभी समष्टि दष्टि से वे हानिकारक या अहितकर होते ह तब वे उन सदाचारो की उपेक्षा कर देते ह ऐसी दशा मे वे उनको निषिद्ध अथवा त्याज्य विकम समझते ह, चाहे स्थूल दष्टि से वे विशेष व्यक्तियो के लिए लाभकारी अथवा सुखदायक क्यो न दीखते हो। इसी तरह काम क्रोध दम्भ मान लोभ भय, हिंसा आदि निषिद्ध माने जाने वाले आचरण यदि समष्टि दष्टि से समाज की सु यवस्था के लिए आवश्यक एव व्यष्टि हितकर हो तो उनको विहित कम समझ कर वे अवश्य करते ह उनसे व्यक्तिगत हानि अथवा क्लेश होने की परवाह नहीं करते। (इस विषय का विशेष खुलासा प्रसगानुसार यथास्थान आगे किया जायगा)।

इस प्रकार आत्मज्ञानी महापुरुष ही ठीक-ठीक जानते ह कि किस अवस्था में और किस भाव से किया हुआ अथवा न किया हुआ कम विकम होता ह और किस अवस्था में और किस भाव से किया हुआ अथवा न किया हुआ कम, अकम होता ह।

जो इस तरह 'अनेको में एक और एक में अनेक" अर्थात कल्पित पथकता के भाव में सच्चे एकत्व भाव के यथाथ ज्ञान से प्रवत्ति और निवत्ति, अथवा कम-योग और सन्यास के अभेद (गी० अ० ५ श्लो० ३ से ५) के रहस्य को यथातथ्य जानता ह, वह सारे कर्मों से पारगत, सब कर्मो का अधिष्ठाता, सब कर्मों का स्वामी और कम के सिद्धान्त को यथाथ जानने वाला सच्चा पण्डित होता ह और वही कम-अकम के विषय में सच्चा निर्णायक और आदश दिखाने वाला होता ह। वह सर्वात्म भाव के समत्व योग मे स्थित महापुरुष ससार के सब प्रकार के अच्छे और बुरे माने जाने वाले कम करता हुआ भी वास्तव में कुछ नहीं करता (गी० अ० १८ श्लो० १७)। वह महाकर्ता और साथ ही महा भोक्ता होता

है। उसकी दृष्टि में कर्ता, कर्म, करण देश काल वस्तु आदि सब ब्रह्म रूप अथवा अपने आपके स्वरूप होते हैं। इसलिए उसके व्यवहारो में कर्म रूपता कुछ भी नही रहती। लौकिक स्थूल दृष्टि से उसके व्यवहार शुभ हो या अशुभ विहित हो या निषिद्ध उच्च हो या नीच लाभदायक हो या हानिकारक पवित्र हो या मलिन पुण्य हो या पाप—वह महापुरुष भेद-बुद्धि से रहित होने के कारण इन द्वन्द्वो से परे होता है, और सर्वत्र एकत्व भाव के सहित नानात्व सासारिक व्यवहार करने का ज्ञान यज्ञ करता रहता है।

× × ×

ससार के कर्म-रूप होने के कारण अर्थात सबके कर्मो पर निर्भर रहने के कारण सबके कर्म ससार को धारण करने वाले यज्ञ होते है परन्तु यज्ञ भी सात्विक राजस और तामस भेद से कई प्रकार के होते है। श्लोक २४ तक भगवान ने एकत्व भाव के सात्विक ज्ञानयुक्त सात्विक यज्ञ अथवा ज्ञान यज्ञ का स्वरूप और उसकी महिमा कही। अब व्यष्टि भाव से किये जाने वाले दूसरे प्रकार के यज्ञो का थोडा सा उल्लेख करके बताते है कि यद्यपि ये भी यज्ञ ही माने जाते है परन्तु सच्चा यज्ञ ज्ञान यज्ञ ही है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

अर्थ—दूसरे कर्मयोगी (कर्मो में लगे हुए लोग) दैव यज्ञ को ही करते है, अर्थात सासारिक सुखो के लिए देवताओ की उपासना करते है और दूसरे ब्रह्माग्नि में यज्ञ को यज्ञ से ही होमते है, अर्थात कई लोग ब्रह्म को अपने से भिन्न मान कर उसकी प्राप्ति के लिए अपने यज्ञो को उस ब्रह्म के अर्पण करने रूपी यज्ञ करते है (२५)। कई लोग कान आदि इन्द्रियो को सयमरूपी अग्नि में होमते है और कई शब्द आदि विषयो को इन्द्रियरूपी

अग्नि में होमते हैं। तात्पर्य यह कि कई लोग इन्द्रियो के नियन्त्रण यानी उनको अपने विषयो से हटाने रूपी यज्ञ करते हैं और कई लोग इन्द्रियो के विषयो को विधिवत भोगते रहने का यज्ञ करते हैं (२६)। और कई लोग इन्द्रियो और प्राणो के सारे व्यापारो को ज्ञान से प्रकाशित अन्तःकरण के सयम रूप योग-अग्नि में होमते हैं, अर्थात आत्म विचारपूर्वक मन को सब इन्द्रियो और प्राणो की क्रियाओ से हटा कर उसे एकाग्र करने के प्रयत्न मे लगे रहते हैं (२७)। कई द्रव्य यज्ञ अर्थात परोपकार के लिए द्रव्यादि को लगाने रूप सात्विक दान देने कई तप यज्ञ (सत्रहवे अध्याय मे वर्णित सात्विक तप करने), कई योग यज्ञ (पातजल राज-योग का अभ्यास करने) कई स्वाध्याय यज्ञ (पढने पढाने), और कई ज्ञान यज्ञ (आत्मा का विचार करने) में यत्नशील होकर अत्यन्त दृढ व्रत से लगे रहते हैं (२८)। कई लोग प्राण अर्थात श्वास को अन्दर खींचने और अपान अर्थात श्वास को बाहर छोडने की गति को रोकने द्वारा प्राणायाम करके अपान को प्राण में और प्राण को अपान में होमते हैं अर्थात श्वास लेना और छोडना कुछ समय के लिए रोक कर प्राण और अपान की एकता करके, प्राणायामरूपी यज्ञ करते हैं (२९)। कई नियत आहार करने वाले कर्मयोगी प्राणो को प्राणो में होमते हैं अर्थात नियमित भोजन करके श्वास प्रश्वास की गति पर ध्यान लगाने द्वारा मन और इन्द्रियो का नियन्त्रण करने रूपी यज्ञ करते हैं। यज्ञो द्वारा पाप नाश किये हुए ये सभी लोग यज्ञ के जानने वाले हैं, अर्थात उपर्युक्त चेष्टाएं करने वाले लोग इन सब क्रियाओ को यज्ञ समझ कर ही करते हैं और ऐसा मानते हैं कि इनसे हमारे पाप नष्ट हो जावेंगे (३०)।

× × ×

अब भगवान उपर्युक्त विविध प्रकार के यज्ञो की अपेक्षा सर्वभूतात्मैक्य ज्ञान सहित किये जाने वाले यज्ञ की श्रेष्ठता और उसकी अकर्म रूपता का प्रतिपादन करके, उक्त ज्ञान की प्राप्ति के साधन और उसका माहात्म्य कह कर फिर उस ज्ञानयुक्त, अपने स्वाभाविक कर्म करने के उपदेश को दुहराते हुए इस अध्याय का उपसहार करते हैं।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्य कुरुसत्तम ॥३१॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥
श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञ परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन ॥३४॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेव यास्यसि पाण्डव ।
येन भूता यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्म यथो मयि ।।३५।।
अपि चेदसि पापेभ्य सर्वेभ्य पापकृत्तम ।
सव ज्ञानप्लवेनव वजिन सतरिष्यसि ।।३६।।
यथधासि समिद्धोऽग्निभस्मसात्कुरुतेऽजुन ।
ज्ञानाग्नि सवकर्माणि भस्ममात्कुरुते तथा ।।३७।।
न हि ज्ञानेन सदश पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वय योगससिद्ध कालेनात्मनि विदति ।।३८।।
श्रद्धावाल्लभते ज्ञान तत्पर सयतेंद्रिय ।
ज्ञान लब्ध्वा परा [illegible] ।।३९।।
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च सशयात्मा विनश्यति ।
नाय लोकोऽस्ति न परो न सुख सशयात्मन ।।४०।।
योगस यस्तकर्माण ज्ञानसछिन्नसशयम ।
आत्मव त न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।।४१।।
तस्मादज्ञानसम्भूत हृत्स्थ [illegible] ।
छित्त्वन सशय यागमानिष्ठात्तिष्ठ भारत ।।४२।।

अथ—यज्ञ के अवशिष्ट (परिणामरूप) अमत को भोगन वाले मनष्य (स्त्री पुरुष) सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते ह। (पर तु) हे कुरुओ म श्रेष्ठ ! यज्ञ से रहित (मनुष्य) का यह लोक भी नही ह, तो दूसरा कहा ? तात्पय यह कि अपने अपने शरीर की योग्यता नुसार अपना अपना कत य कम, सबकी एकता के ज्ञान-युक्त, लोक सग्रह यानी समाज अथवा जगत की सु यवस्था के लिए करने रूपी यज्ञ से जो कुछ पदाथ प्राप्त हो, उनसे दूसरो को यथायोग्य लाभ पहुचाते हुए जो उनको अपने उपयोग मे लेते ह वे सनातन ब्रह्म रूप हो जाते ह। पर तु जो इस तरह लोक-सग्रह के लिए अपन कत य कम रूपी यज्ञ नहीं करते, कि तु आलस्य और प्रमाद म पड रहते ह अथवा पशु पक्षियो की तरह केवल अपने शारीरिक सुखो के लिए ही दौड धूप करते रहते ह वे लोग इस लोक मे भी किसी योग्य नहीं रहते न किसी प्रकार की उन्नति कर सकते ह न सुख शान्ति की प्राप्ति ही, तो फिर इस शरीर के छूटने के बाद परलोक में उनको सुख अथवा मुक्ति की प्राप्ति [illegible] ? ऐसे अवनत सस्कारो के लोग मरने के बाद मूढ योनियो में जाते ह, जहाँ कुछ भी करने की योग्यता नहीं रहती (३१)। इस तरह बहुत प्रकार के यज्ञो का वणन विद्वानो द्वारा वेदादि शास्त्रो में विस्तार से किया हुआ ह, उन सबको कम जन्य जान, एसा जानन से तू मुक्त

होगा। तात्पय यह कि जगत में अनेक प्रकार के यज्ञो ना ना नि न प्रचार ह और वे सब यन कम करन हा म सम्पा न हान न, इसलिए वे भी सब कम-मय ह अर्थात अकम रूप नहीं होते। कम की यापकता का रहस्य इस तरह जान लेने से अपने कत य कम करने अथवा न करने के यक्तित्व का अहकार मिट जाता ह फिर उन कर्मो से कोई ब धन नहीं होता (३२)। हे परन्तप! द्र य मय यज्ञ से ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ ह क्योकि हे पाथ! सारे कम ज्ञान म पूणतया समाप्त हो जाते ह। तात्पय यह कि पदार्थो को अग्नि में होमने, या दान देने अथवा शरीर की नाना प्रकार की क्रियाओ से होने वाले द्रव्य-मय यज्ञो की अपेक्षा सव भूतात्मक्य ज्ञान युक्त अपने-अपने कत य कम करन रूपी ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ होता ह। सवत्र एकता के ज्ञान-युक्त किये जान पर सम्पूण कर्मो का कमत्व समूल नष्ट हो जाता ह (३३)। (अहकार रहित नम्रता और सरलतापूवक) दण्डवत प्रणाम करके एव सेवा भाव से यक्त विधिवत पूछने (सच्ची जिज्ञासा करने) द्वारा तू उस (ज्ञान) को जान, तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुझे (उस) ज्ञान का उपदेश करेगें। तात्पय यह कि अनक प्रकार की शारीरक उपाधियो के अहकार की आसक्ति से रहित होकर अत्य त नम्रता और सरलतापूवक लोक सेवा करते रहने से जब सच्ची जिज्ञासा उत्पन्न होती ह तव तत्त्वज्ञाना महात्मा लोगो के उपदेश से सवभूतात्मक्य नान प्राप्त हाना ह (३४)। जिसे जान लेन पर, हे पाण्डव! तुझ फिर इस प्रकार का मोह नहीं होगा उस ज्ञान से सारे भूत प्राणियो को तू अपने-आप मे और मुझमें देखेगा। तात्पय यह कि उक्त ज्ञान की प्राप्ति होने पर तू सारे विश्व को अपने आपको और मुझ को एक ही आत्मा के अनेक रूप समझगा, यानी सवत्र एकत्व भाव हो जायगा, तब फिर कत याकत य के विषय में मोह (३५)। यदि तू सारे पापियो से भी बढ कर पाप करने वाला ह तो भी ज्ञान रूपी नौका से तू सारे पापो को तर जायगा। तात्पय यह कि सवभूतात्मक्य ज्ञान-युक्त कम चाहे कितने ही धा मि म अथवा पापात्मक हो वास्तव मे वे पाप रूप नहीं होते, क्योकि पाप-पुण्य आदि के भाव भेद बद्धि से होते ह जब सब भेद मिट कर सवत्र एकता हो जाती ह, तब सभी द्व द्व शा त हो जाते ह फिर पाप पुण्य का प्रश्न ही नही रहता (३६)। हे अजुन! जिस तरह प्रज्वलित अग्नि लकडियो को भस्मीभूत कर देती ह, उसी तरह (एकत्व भाव की) ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती ह, अर्थात एकत्व भाव के ज्ञान-युक्त किये हुए कर्मों का कमत्व कुछ भी नहीं रहता (३७)। इस ससार में ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं ह और वह (ज्ञान) समत्व-योग म पूणता प्राप्त पुरुष, समय पाकर स्वय ही अपने-आप मे पा लेता ह। तात्पय यह कि जब तक भेद-बुद्धि से स्थूल शरीरो में अहभाव रहता ह तब तक ही मलिनता रहती ह, परन्तु जब एक ही आत्मा के सवत्र समान भाव से यापक होने के अभेद ज्ञान द्वारा अन्त करण शुद्ध हो जाता ह तब फिर किसी भा अप्र क्रा अपवित्रता क ि न स्थान नहा रहना। इस अभेद-ज्ञान का उपदेश ३४वें श्लोक में कथित विधि से तत्त्वदर्शी महात्माओ से लेकर,

फिर उसके अनुसार सवत्र एकता के साम्य भाव से (समत्व योग द्वारा) आचरण करने के अभ्यास में उन्नति करते करते जब समय पाकर सम्पूण व्यवहार उक्त साम्य भावयक्त निरन्तर होने लग जाते ह तब सारे विश्व की अपने आप ही म एकता का पूण अनुभव हो जाता ह। साराश यह कि आत्मज्ञान कही बाहर से प्राप्त नही होता किन्तु समत्व योग के आचरण से अपने-आप ही म उसका अनभव हो जाता ह क्योकि यह अपने आप ही का यथाथ अनुभव ह। पहले पहल सर्वात्म साम्य भाव में स्थित महापुरुषो से श्रद्धापूवक उपदेश लेकर और उस उपदेश को मन मे अच्छी तरह धारण करके, उस ज्ञान-युक्त आचरण करन मे लगना चाहिए क्योकि केवल उपदेश सुन लेने अथवा समझ लेने मात्र से ही सव भूतात्मक्य ज्ञान म स्थिति नही हो जाती किन्तु उसके अनसार आचरण करने से उसमें स्थिति होती ह। इसलिए यद्यपि महात्माओ से सुना हुआ अथवा पुस्तको म पढा हुआ परोक्ष ज्ञान समत्व-योग के आचरण का साधन ह परन्तु अपने-आप (आत्मा) के ज्ञान म पूण रूप से दढ स्थिति, समत्व-योग के आचरण से ही होती ह। इस तरह समत्व योग के आचरण का कारण परोक्ष आत्म ज्ञान ह और फिर अपरोक्ष आत्म ज्ञान मे दढ़ स्थिति होन क लिए समत्व-योग का आचरण ही परम आवश्यक ह अत य दोनो एक दूसरे के साधक ह (३८)। श्रद्धावान और तत्परता से लगने वाला जितन्द्रिय पुरुष ज्ञान को पाता ह और ज्ञान को पात ही उसी क्षण परम शान्ति को प्राप्त होता ह। तात्पय यह कि तत्त्वज्ञानी महापुरुषो के उपदेशो में श्रद्धा करके उनके अनुसार आचरण करने के अभ्यास में दढता पूवक निरन्तर लग रहन से तथा इन्द्रियो को वश म रखन से ही आत्म ज्ञान म स्थिति होता ह, और आत्म ज्ञान में स्थिति होने पर फिर शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति में कुछ भी देर नहीं लगती—उसी क्षण हो जाती ह क्योकि वास्तव में आत्मज्ञान ही शान्ति, पुष्टि और तुष्टि ह (३९)। यथाथ ज्ञान से रहित और श्रद्धा से शून्य पुरुष सशय में ग्रस्त रह कर नष्ट हो जाता ह, सशयशील का न तो यह लोक ह ओर न परलोक, और न उसे सुख ही होता ह। ना [illegible] ह और न तत्त्व ज्ञानी महापुरुषो के उपदेशो में श्रद्धा हो, वह सदा सशय म ही रहता ह—किसी एक निश्चय पर नहीं ठहरता, उसका मन सदा डावाडोल रहता ह, कभी कुछ मानता ह कभी कुछ, इसलिए उसकी बडी दुदशा होती ह। जो सदा सशय ही में पडा रहता ह वह इस लोक अर्थात वतमान शरीर म कोई काय सुसम्पन्न करक अपना जीवन सफल नही कर सकता, और न वह अपना परलोक ही सुधार सकता ह अत उसका यह लोक और परलोक दोनो ही बिगड जाते ह—तीन काल म भी उसको सुख नहीं होता (४०)। जिसने समत्व-योग में कर्मो का सन्यास कर दिया ह और सवभतात्मक्य ज्ञान से जिसके सशय कट गये ह हे धनञ्जय! उस आत्मज्ञानी को कम बाध नहीं सकते। तात्पय यह कि जिस पुरुष के सभी कम सबकी एकता के साम्य भावयक्त लोक-सग्रह क लिए होते ह और अपने आप—आत्मा का

यगा ग ज्ञान गा जान म निम र नार सशय मिट गये ह, वह कर्मो के बन्धनो से सदा मुक्त ह (४१)। इसलिए हे भारत ! (अपने यथाथ स्वरूप के) अज्ञान से उत्पन्न, अन्त करण मे स्थित इस सशय को, आत्म ज्ञान रूपी तलवार से काट कर समत्व योग मे लगने के लिए उठ खडा हो । तात्पय यह कि आत्मा के यानी अपने आप के विषय मे यथाथ ज्ञान न होने के कारण जो तरे अन्त करण में यह सशय उत्पन्न हुआ ह कि मेरे लिए यद्ध करना श्रयस्कर ह अथवा न करना ?" उस सन्देह को उपरोक्त सवभूतात्मक्य ज्ञान से दूर करके सबके साथ एकता के साम्य भाव से अपने कत्तव्य कम—युद्ध करने क लिए उठ खडा हो (४२)।

स्पष्टीकरण—भगवान कहते ह कि इस बात को खूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि दव यज्ञ से लेकर जो-जो यज्ञ श्लोक २५ से ३० तक कहे ह तथा उनके अतिरिक्त जो अन्य अनक प्रकार क यन्ग न्गा बहुत सा जि गान गान्ग में न्गि ग गया ह वे सभी किसी न किसी प्रकार की क्रिया करने से ही सिद्ध होते ह। अभिप्राय यह कि कम तो सभी दशाओ में करने ही पडते ह बिलकुल क्रिया रहित होने से कुछ भी नहीं होता। इसलिए समाज और जगत की सुव्यवस्था अर्थात लोक सग्रह के लिए अपन अपने शरीरो की स्वाभाविक योग्यता के कम करने रूपी यज्ञ करना ही श्रेष्ठ ह, जिससे सबके हित के साथ-साथ अपना भी वास्तविक हित होता ह। इसी यज्ञ से मनुष्य-जन्म साथक होता ह क्योकि यह जगत सबके एकत्व भाव=समष्टि आत्मा की इच्छा (स्वभाव) का बनाव अथवा खेल ह और यह खेल व्यष्टि आत्मा (जीवात्माओ) के कर्मों से ही सम्पादित होता ह और मनुष्य की दह में बुद्धि के रूप में आत्मा का विशेष विकास होता ह जिससे उसे कम करन अथवा न करन की स्वतन्त्रता ह, इसलिए अपनी अपनी योग्यता क कत्तव्य कम करने द्वारा जगत को धारण करने मे सहायक होने की उसकी विशेष जिम्मेवारी होती ह। आलस्य नींद अथवा अपनी व्यक्तिगत शान्ति में पडे रहना अथवा अपन व्यक्तिगत सुखो के लिए ही चेष्टाए करना तो जड पदार्थों और पशु पक्षियो का भी स्वाभाविक धम ह परन्तु मनुष्य की देह म यही तो विशेष योग्यता ह कि वह दूसरो के साथ सहयोग करके सबके हित के लिए समाज और जगत के धारणाथ व्यवहार करे। एसा करने से ही वह सब प्रकार की उन्नति करता हुआ सबकी एकता का पूण ज्ञान हो जाने पर अपने असली स्वरूप—शान्ति पुष्टि तुष्टिरूप परमात्म भाव में स्थित हो जाता ह। जो लोग मूढतावश निरुद्यमी होकर उपरोक्त लोक सग्रह के यज्ञ नहीं करते किन्तु आलस्य और प्रमाद में अथवा व्यक्तिगत शान्ति में पडे रहते ह, अथवा केवल अपने व्यक्तिगत सुखो के लिए ही दौड धूप करते रहते ह, अथवा मरने के बाद विषय-सुख अथवा मोक्ष की प्राप्ति की आशा लगाये बठे रहते ह वे किसी भी योग्य नहीं रहते। जब कि मनुष्य दह में सब प्रकार के साधन और योग्यताओ के होते हुए भी वे

अपने असली स्वरूप—परमात्म भाव में स्थिति नहीं कर सकते और न किसी प्रकार की उन्नति ही कर सकते ह—जड पदार्थो और पशु पक्षियो की तरह ात्र ग्नान कर देते ह—तो फिर मरने के बाद क्या कर सकगे ? जो लोग तामस ज्ञान से आलस्य और प्रमाद क वश निरुद्यमी बन रहत ह वे इस जन्म मे तो जड पदार्थो की तरह दूसरो क आश्रित रहत ह और मरने के बाद जड (स्थावर) सष्टि मे जा मिलते ह तथा जो लोग दूसरो से अपनी पथकता से राजस ज्ञान से केवल अपने ही स्वार्थों के लिए उद्योग करत हुए दूसरो के स्वार्थों को हानि पहुचाते ह, वे इस जन्म मे तो दूसरो के अधीन होकर अपने सब स्वत्व एव अधि कार खो देते ह एव दूसरो से सताये जाते ह और मरने के बाद पशु पक्षियो की योनि धारण करते ह जहा कुछ भी उन्नति करने की योग्यता नही रहती। साराश यह कि जो लोग अपने शरीरो की स्वाभाविक योग्यता के कम लोक-सग्रह के लिए नहीं करते उनका यह लोक तथा परलोक, दोनो बिगड जाते ह।

यद्यपि उक्त लोक सग्रह के सासारिक व्यवहार करने से मनुष्य की सब प्रकार की उन्नति तो अवश्य होती ह परन्तु पूण पद की प्राप्ति अर्थात ब्राह्मी स्थिति तब ही होती ह, जब कि सबके साथ अपनी एकता का दढ ज्ञान हो जाता ह, और उक्त दढ ज्ञानयक्त सब प्रकार के व्यवहार लोक सग्रह के लिए स्वत ही होने लगत ह क्योकि कोरे शारीरिक अथवा मानसिक कर्मो की अपेक्षा बुद्धि द्वारा विचार करके किये जाने वाले कर्मो की योग्यता अधिक होती ह और बद्धि जब सवभूतात्मक्य ज्ञान म स्थित होती ह तब सभी कम अकम रूप हो जाते ह और वही निद्वन्द्व ब्राह्मी स्थिति ह।

वह सवभूतात्मक्य ज्ञान तब प्राप्त होता ह जब कि मनुष्य (स्त्री पुरुष) अपने जाति कुल पेशे वण, आश्रम, पद प्रतिष्ठा धन, ऐश्वय कुटुम्ब परिवार, विद्या, बुद्धि बल, काय कुशलता रूप यौवन सभ्यता सदाचार, धम सम्प्रदाय भजन, कीतन, पूजा, पाठ तप दान कम काण्ड परोपकार त्याग वराग्य एव सन्यास आदि सभी प्रकार की शारीरिक उपाधियो क अभिमान से रहित होकर लोक सेवा के काय करता हुआ अत्यन्त नम्रता एव सरलतापूवक निष्कपट भाव से उन लक्षणो वाले तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषो की शरण म जाकर आत्मज्ञान के उपदश की जिज्ञासा करे, जिनका विवरण गी० अ० २ श्लोक ५५ से ७२ तक स्थित प्रज्ञ के वणन में, तथा गी० अ० ३ श्लोक १७ से ३० तक व गी० अ० ४ श्लोक १८ से २४ तक व गी० अ० ५ श्लोक ७ से १० तक व श्लोक १७ से २८ तक व गी० अ० ६ श्लोक २९ से ३२ तक समत्वयोगी के वणन म, तथा गी० अ० १२ श्लोक १३ से २० तक भक्त के वणन मे तथा गी० अ० १३ श्लोक ७ से ११ तक ज्ञान के वणन म, तथा गी० अ० १४ श्लो० २२ से २६ तक गणातीत के वणन म तथा गी०अ० १६ श्लो० १ से ३ तक में दवी सम्पत्ति के वणन में किया गया ह, क्योकि (सवभूतात्मक्य) आत्म ज्ञान अपने-आपके अनुभव और उस अनभव से सबके साथ एकता के साम्य भाव-युक्त आचरण करने का

विषय है, इसलिए इसका उपदेश वही तत्त्वज्ञानी महापुरुष दे सकते है जिनको स्वयं वह अनुभव हो गया है, और जो उस अनुभव-युक्त सबके साथ अपनी वास्तविक एकता के साम्य भावयुक्त आचरण करके आदर्श दिखाते है। परन्तु जिनको जीव जगत और ब्रह्म के एकत्व भाव, अथवा पुरुष और प्रकृति की अभिन्नता दूसरे शब्दों में सबके साथ अपनी एकता का यथार्थ ज्ञान नहीं होता उन भेदवादी लोगो के आचरण सर्वभूतात्मैक्य साम्य भाव युक्त नहीं हो सकते अतः वे इस विषय का उपदेश नही दे सकते। क्योंकि जो वस्तु जिसके पास होती है वही उसे दे सकता है—जिसके पास जो वस्तु होती ही नहीं वह उसे दूसरे को कैसे दे सकता है? इसलिए इस तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति के लिए, गुरु तलाश करने मे बहुत सावधानी रखने की आवश्यकता है । जब तक उपरोक्त लक्षणो वाला सच्चा तत्त्वदर्शी आत्मज्ञानी गुरु न मिले तब तक यह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता ।

इसी तरह जब तक उपदेश लेने वाला भी अपने शरीर की उपाधियो के बडप्पन का अभिमान रखता है, तब तक उसे यह उपदेश नहीं मिल सकता क्योंकि वह अपने को दूसरों से बडा और ऊंचा मानता है इसलिए वह जन-साधारण से अलग रहता है और तत्त्वज्ञानी महापुरुषो के सत्सग में, जहा छोटे-बडे ऊंच नीच कुलीन-अकुलीन, धनी निर्धन पवित्र पतित, विद्वान मूर्ख आदि किसी भी प्रकार के भेद बिना सबके साथ समानता का वर्ताव होता है, वहा जाना और उनके सामने नम्रता प्रकट करना वह अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझता है, और इस तरह के देहाभिमानी लोगो में सेवा भाव का तो प्रायः अभाव ही होता है।

दूसरी तरफ आत्मज्ञानी महापुरुषो को न तो धन की परवाह होती है न मान की, और न उन्हें किसी भी प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक विषय-सुखो अथवा सेवा शुश्रूषा की इच्छा होती है, क्योंकि वे अपने-आप में परिपूर्ण होते है। उनका न किसी से राग होता है न द्वेष, वे न किसी का भय करते है न किसी की खुशामद। वे तो सम द्रष्टा होते है, अतः सबको एक समान उपदेश देते है। परन्तु व्यक्तिगत स्वार्थों मे आसक्त उपरोक्त देहाभिमानी लोग, यदि कभी उनके पास जाते है तो वहा किसी भी प्रकार का मूल्य चुकाये बिना, अर्थात धन की भेंट अथवा शरीर से सेवा किये बिना तथा किसी भी प्रकार के तप आदि के कष्ट भोगे बिना मिलने वाले समत्व योग के उपदेशो मे न तो उनकी श्रद्धा होती है और न वे उन्हे अच्छी तरह समझ कर धारण ही कर सकते है, क्योंकि जो घट स्थूल एवं भारी पदार्थो से भरा होता है, उसमें सूक्ष्म एवं हल्की वस्तु समा नहीं सकती। इस तरह के देहाभिमानी लोगो की राजस तामस अन्ध-श्रद्धा तो नाशवान एवं तुच्छ शारीरिक सुखो तथा धन मान, कुटम्ब आदि की प्राप्ति कराने और मरने के बाद स्वर्ग में ले जाने, अथवा अपने से भिन्न ईश्वर के निकट पहुचाने रूपी मक्ति आदि के सरसब्ज बाग दिखाने वाले भेद-वाद के शास्त्रो के रोचक वचनो मे ही होती है (गी०अ० २ श्लो० ४२ से ४४), और ऐसे लोगो का मन भी एक निश्चय पर नहीं ठहरता, किन्तु सदा

सशय-ग्रस्त ही रहता ह, इसलिए न तो उनको इहलौकिक अभ्युदय प्राप्त होता ह और न पारलौकिक सुख शाति ही। क्योकि इस जन्म मे जिसकी जिन विषयो में आसक्ति रहती ह और जिन वासनाओ में वह उलझा रहता ह, मरने क बाद उनके अनुसार ही उसक लिए बनाव बन जाते ह। साराश यह कि जब इसी जन्म में सख शाति प्राप्त होन का नकद सौदा हाथ न लगा, तो मरने के बाद परलोक का उधार सौदा क्या हाथ लगेगा ?

इसलिए भगवान अजुन को निमित्त करके सबको कहते ह कि तत्त्व दर्शी आत्मज्ञानी महापुरुषो के उपदेश को श्रद्धापूवक सुन कर, उसे अच्छी तरह विचारपूवक धारण करके, उसके अनुसार एकता के ज्ञान युक्त अपने अपने गरीरा की योग्यता के व्यवहार, सशय रहित होकर उत्साह और तत्परतापूवक करने में सदा प्रवत्त रहना चाहिए। इस तरह आचरण करते-करत काल पाकर जब दढ अभ्यास हो जाता ह तब अपने वास्तविक स्वरूप सवभूतात्मक्य भाव में पूण रूप से स्थिति हो जाती ह, फिर उस जीवनमुक्त अवस्था की ब्राह्मी स्थिति से कभी पतन नही होता और न अपने कतव्याकतव्य के विषय में कभी मोह ही होता ह किन्तु लोक हित के सासारिक व्यवहार पूण रूप से स्वत ही होते रहत ह। उस स्थिति में कर्मां का पाप पुण्य रूप कोई बधन भी नही रहता क्योकि सब कम अपने-आपक एकत्व भाव में [illegible] जान ह। [illegible] रहता।

॥ चौथा अध्याय समाप्त ॥

पाँचवाँ अध्याय

जब किसी मनष्य के चित्त में मोह वश कोई बात जम जाती ह अथवा कोई मत जच जाता ह तो उसका बदलना बहुत कठिन हो जाता ह। उसके विरुद्ध उसे जो भी कुछ कहा जाता ह उसमे उसे सशय बना रहता ह और अपने मन में जमी हुई बात को सहसा बदलने को उसका दिल नहीं चाहता। अजन के चित्त में यह बात जम गई थी कि लडाई जसे घोर हिसात्मक कम से अपने स्वजन बा धवो की हत्या करवा कर अपना क्षात्र धम पालन करने की अपेक्षा सब-कुछ छोड छाड कर, अर्थात स यास लेकर, भीख माग के खाना अच्छा ह इसलिए दूसरे तीसरे और चौथे अध्यायो में भगवान ने जो समत्वयोग अर्थात सवभूतात्मक्य-साम्य भाव से अपनी अपनी योग्यता के सासारिक यवहार करने का स्पष्ट विधान किया, उसमें उसे सशय बना रहा।

सशय बना रहने का एक बहुत बडा कारण यह भी ह कि सवभूतात्मक्य साम्य भाव से कम करने का सिद्धान्त इतना सूक्ष्म एव गहन ह कि उसका अच्छी तरह हृदयगम हो जाना सहल नही ह। इसलिए बहुत से लोगो को कम (सासारिक यवहार) करने में तो कतव्याकत य पुण्य पाप आदि के विचार, तथा शारीरिक कष्ट एव परिश्रम आदि अनेक प्रकार के झझट और बखेड प्रतीत होते ह पर तु कर्मों को छोड कर स यास ले लेने पर उ हे सब झझट और बखेडो से रिहाई मिल जाने तथा आत्मज्ञान होकर मोक्ष प्राप्त हो जाने की विश्वासपूण आशा बनी रहती ह अत कम करना छोड कर स यास ले लेने की तरफ उनका झकाव सहज ही अधिक होता ह। अतएव कम स यास और कम योग का तुलनात्मक विवेचन करके कम-योग की विशेषता और उसके महत्त्व आदि का अधिकाधिक स्पष्टीकरण करने तथा उसे बार-बार समझाने की अत्य त आवश्यकता रहती ह। इसी अभिप्राय को लेकर इस (पाचव) अध्याय के प्रथम श्लोक मे अजन का प्रश्न ह जिसके उत्तर मे भगवान श्रीकृष्ण आगे के अध्यायो मे कम स यास की अपेक्षा कम योग की विशेषता और उसकी आवश्यकता पर फिर से स्पष्ट श दो म जोर देते हुए सव भूतात्मक्य ज्ञानयुक्त साम्य भाव से ससार के यवहार करने की यारया और उसका महत्व, तथा उक्त ज्ञान सहित साम्य भाव से जगत के यवहार करने वाले समत्वयोगियो के लक्षण उनके आचरण एव उनकी ब्राह्मी स्थिति का वणन करने के साथ साथ सव भूतात्मक्य ज्ञान की प्राप्ति और उसमें स्थिति के साधन आदि विषयो का निरूपण विविध प्रकार से विस्तारपूवक करते ह।

अर्जुन उवाच

सन्यास कमणा कृष्ण पुनर्योग च शससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेक त मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

सन्यास कमयोगश्च नि श्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥
ज्ञेय स नित्यसन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुख ब धात्प्रमुच्यते ॥३॥
साख्ययोगौ पथग्बाला प्रवदन्ति न पण्डिता ।
एकमप्यास्थित सम्यगुभयोर्विन्दते फलम ॥४॥
यत्साख्य प्राप्यते स्थान तद्योगरपि गम्यते ।
एक साख्य च योग च य पश्यति स पश्यति ॥५॥
सन्यासस्तु महाबाहो दु खमाप्तुमयोगत ।
योगयुक्तो मुनिब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥
योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रिय ।
सवभूतात्मभूतात्मा कुवन्नपि न लिप्यते ॥७॥
नव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित ।
पश्यऽश्रण्व स्पशञ्जिघ्रन्नश्नन्गाच्छ स्वपञ्श्वसन ॥८॥
प्रलपन्विसजन्गह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वतन्त इति धारयन ॥९॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा करोति य ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥
कायेन मनसा बुद्धया केवलरिन्द्रियरपि ।
योगिन कम कुवन्ति सङ्ग त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥
युक्त कमफल त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नष्ठिकीम ।
अयुक्त कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥
सवकर्माणि मनसा सन्यस्यास्ते सुख वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नव कुवन्न कारयन ॥१३॥

न कतत्व न कर्माणि लोकस्य सजति प्रभु ।
न कमफलसयोग स्वभावस्तु प्रवतते ॥१४॥
नादत्ते कस्यचित्पाप न चव सुकृत विभु ।
अनानेनावत ज्ञान तेन मुह्यन्ति जन्तव ॥१५॥
ज्ञानेन तु तदज्ञान येषा नाशितमात्मन ।
तेषामादित्यवज्ज्ञान प्रकाशयति तत्परम ॥१६॥
तदबुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणा ।
गच्छ त्यपुनरावृत्ति ज्ञाननिर्धूतकल्मषा ॥१७॥

अथ—अजन बोला कि हे कृष्ण! आप कर्मा के सयास की और फिर (कम) योग की प्रशसा करत हो, इन दोनो मे से जो एक वास्तव मे श्रेयस्कर हो, वही मझे अच्छी तरह निश्चय करके बतलाइए (१)। श्री भगवान बोले कि (यद्यपि) सयास और कमयोग, दोनो ही नि श्रेयसकर ह परन्तु इन दोनो मे से कम सयास की अपेक्षा कम योग ही की विशेषता ह, अर्थात कम योग ही अधिक श्रेष्ठ ह। तात्पय यह कि नि श्रेयस अर्थात आध्यात्मिक अथवा पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति तो ज्ञानसहित सयास से अर्थात आत्मज्ञान हो जाने पर घर-गहस्थी से अलग होकर तथा चातुवण्य व्यवस्था के कम छोड कर आध्यात्मिक विचार मे लग रहने से और ज्ञानसहित कम योग से, अर्थात गहस्थी मे रहते हुए [illegible] युक्त चातुवण्य यवस्थानुसार सासारिक व्यवहार करते रहने से—दोनो ही से होती ह, परन्तु कम योग की यह विशेषता ह कि इसमें अभ्युदय अर्थात आधिभौतिक सुख समद्धि और नि श्रेयस अर्थात आध्यात्मिक अथवा पारलौकिक कल्याण, दोनो ही प्राप्त होते ह। सयास निष्ठा में जगत की भौतिकता को मिथ्या एव तुच्छ समझ कर उसका तिरस्कार किया जाता ह, इसलिए उससे आधिभौतिक अर्थात इस लोक की उन्नति कुछ भी नहीं हो सकती परन्तु कम-योग निष्ठा में सारे जगत को एक आत्मा अथवा अपने आप के अनक कल्पित रूप होने के निश्चय युक्त नामरूपात्मक भिन्नताओ को मिथ्या और सबकी एकता को सत्य जानते हुए सासारिक व्यवहार किये जाते ह, इसलिए इसमे आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनो प्रकार की उन्नति करने की योग्यता रहती ह। इस त्रिगुणात्मक जगत के खेल में दोनो प्रकार की उन्नति आवश्यक ह तथा आधिभौतिक उन्नति के बिना आध्यात्मिक उन्नति हो भी नही सकती इसलिए कम-योग ही की विशेषता ह (२)। जो न द्वेष करता ह और न आकाक्षा (अभिलाषा) रखता ह, उसे नित्य सयासी समझना चाहिए, अर्थात वही सच्चा सयासी ह, क्योकि हे महाबाहो! द्वद्वो से

रहित हुआ वह सहज ही बन्धन से छूट जाता है। तात्पर्य यह कि जगत् की पृथक्ता को सच्ची मान कर कर्मों से द्वेष करके, गार्हस्थ्य को छोड़ कर वनवासी हो जाने से, अथवा एक वेष और एक नाम को छोड़कर दूसरे वेष और दूसरे नाम को गृहण कर लेने से सच्चा संन्यास नहीं होता; किन्तु राग-द्वेष, अनुकूल-प्रतिकूल, सुख-दुःख, ग्रहण-त्याग, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ, बन्ध-मोक्ष आदि सब प्रकार के द्वन्द्वों से ऊपर उठने, यानी भिन्नता के भावों में एकता के अनुभवपूर्वक आचरण करने से ही सच्चा संयास होता है और उसी से सब प्रकार के बन्धनों की निवृत्ति होती है। वेष का संन्यासी तो घर छोड़ कर वनवासी होने पर होता है, परन्तु द्वैत-भाव को छोड़ कर एकत्वभाव से आचरण करने वाला जीवनमुक्त समत्वयोगी सदा ही संन्यासी होता है (३)। सांख्य, अर्थात् घर-गृहस्थी से अलग होकर अध्यात्म-विचार में लगे रहने की संन्यास-निष्ठा, और योग, अर्थात् घर-गृहस्थी में रहते हुए सर्वभूतात्मैक्य-साम्य भाव से जगत् के व्यवहार करने की कर्म-निष्ठा को बेसमझ अर्थात् अज्ञानी लोग पृथक्-पृथक् कहते हैं; पंडित अर्थात् ज्ञानी (ऐसा) नहीं (कहते)। जो दोनों में से किसी (एक निष्ठा) में भी पूर्णतया भलीप्रकार से विधिवत् स्थित हो जाता है, उसे दोनों का फल मिल जाता है (४)। जिस स्थान को सांख्य (पूर्ण अवस्था की संन्यास-निष्ठा वाले) प्राप्त होते हैं, वहीं योगी (पूर्ण अवस्था की कर्म-निष्ठा वाले) भी जाते हैं; जो सांख्य अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञानयुक्त संन्यास-निष्ठा, और योग अर्थात् सर्वाभूतात्मैक्य-साम्य-भाव युक्त कर्म-निष्ठा की एकता देखता है अर्थात् जो इनमें अभेददर्शी है, वही (वास्तव में) देखता है, यानी वही यथार्थदर्शी है (५)। परन्तु हे महाबाहो! कर्म-योग के बिना अर्थात् साम्य-भाव से घर-गृहस्थी के व्यवहार किये बिना संन्यास की प्राप्ति बहुत ही दुःख से होती है अर्थात् अत्यन्त कठिन है; कर्म-योग में लगा हुआ मुनि (विचारशील मनुष्य) तुरन्त ब्रह्म-भाव को प्राप्त होता है (६)। श्लोक ४ से ६ तक का तात्पर्य यह है कि सबके साथ अपनी एकता का ज्ञान हो जाने पर मनुष्य, चाहे सबके हित के लिए यानी लोक-संग्रह के लिए गृहस्थ के स्वाँग में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार सांसारिक व्यवहार करे, अथवा संन्यासी के स्वाँग में आध्यात्मिक विचारों में लगा रहे तथा उनके प्रचार आदि का कार्य करे, पूर्ण अवस्था में दोनों की योग्यता एक समान है,; स्वाँग दोनों ही एक समान कल्पित होते हैं; शरीर दोनों के स्वभाव से ही क्रियाशील होते हैं, अतः शारीरिक चेष्टाएँ दोनों ही अपनी-अपनी योग्यतानुसार लोक-संग्रह के लिए करते रहते हैं; सबकी एकता का आत्मज्ञान दोनों को एक समान होता है, अतः दोनों को एक ही आध्यात्मिक स्थिति अथवा पद प्राप्त है, अर्थात् सबके साथ अपनी एकता के आत्मानुभव की ब्राह्मी स्थिति दोनों की एक ही है; और यदि दूसरों से अपनी पृथक्ता के

राजस ज्ञान से व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए गहस्थी के यवहार किये जाय अथवा उनका त्याग करक स यास लिया जाय, उस दशा मे दोनो ही एक समान ब धन-रूप एव दु खदायी ह। इसलिए तत्त्वत स यास ओर कम-योग म कोई अ तर नही ह। जो इस अभद-तत्त्व को ठीक ठीक जानते ह वे ही सच्चे ज्ञानी ह। वे ग्रहण अथवा त्याग किसी में भी आसक्ति नहीं रखते, अत शरीरो क स्वाभाविक व्यवहार छोडने का प्रश्न उनके नजदीक उपस्थित नहीं होता। सवभूतात्मक्य साम्य भाव मे स्थिति हुए बिना वास्तविक स यास नहीं होता और उक्त साम्य भाव मे स्थिति के सरल साधन गहस्थी के व्यवहार ही ह। गहस्थ अपने पर निभर रहन वाले कुटुम्बी जनो तथा अ य सम्ब ध रखन वालो को अपना मान कर उनके लिए उद्यम करता ह जिससे उसके व्यक्तित्व का भाव कम होकर एकता का अभ्यास बढता ह और उसके चित्त मे आत्मज्ञान की जिज्ञासा उत्पन्न होने क कारण भी उत्पन्न होते रहते ह। (गी० अ० ६ श्लो० ३ दखिए), तथा मन, इद्रियो और शरीर के प्राकृतिक वेग शान्त करन के साधन सहज ही उपल ध होन क कारण उसे मन को टिकाने (सयत करने) में भी सुभीता रहता ह। अत अभ्यास करते-करते क्रमोन्नति करता हुआ समय पाकर वह सबके साथ अपनी एकता का पूणतया अनुभव प्राप्त कर सकता ह और तब वह ब्रह्मरूप हो जाता ह, पर तु अज्ञान अथवा अल्पज्ञान की दशा में स यास का स्वाग धारण कर लने पर फिर सवभतात्मक्य ज्ञान में स्थिति होना महान दुलभ होता ह क्योकि स यास का स्वाग धारण कर लेने मात्र ही से मन और इद्रियो के स्वाभाविक धम नष्ट नही हो जाते, अत प्राकृतिक वेग शान्त करने के साधन उपल ध न होन के कारण जब मन और इद्रियाँ चचल हो जाती ह तब वे अनेक प्रकार के प्रलोभनो में फस कर बहुत अनथ करती ह। साराश यह कि गभीरता से विचार करने पर कम स यास की अपेक्षा कम-योग ही श्रष्ठ सिद्ध होता ह (४ ६)। सबकी एकता के साम्य भाव में जुडा हुआ, (एव दूसरो से पथक अपने व्यक्तित्व के अहकार से रहित) शद्ध अ त करण वाला मन पर विजयप्राप्त, इद्रियजीत पुरुष सब भूतो का आत्मभूत—आत्मा होता ह अर्थात अपन आपको सार जगत में और सार जगत को अपने में अनुभव करता ह, (अत वह जगत के सब प्रकार के व्यवहार) करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता। तात्पय यह ह कि सबके साथ अपनी एकता का अनुभव होने से आत्मज्ञानी कमयोगी के मन बुद्धि, चित्त, अहकार एव इद्रियो आदि का इतना सयम हो जाता ह कि कर्मों म उसकी आसक्ति नहीं रहती और कर्ता कम करण आदि त्रिपुटियो में वह अभेद देखता ह, इसलिए कर्तापन का अहकार उसके अ त करण मे नहीं रहता अत वह सब कुछ करता हुआ भी वास्तव म अकर्ता ही रहता ह (७)। उपरोक्त समत्व-योग में जुडा हुआ तत्त्वज्ञानी पुरुष देखता हुआ, सुनता हुआ स्पश करता हुआ, सूघता हुआ खाता हुआ चलता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ बोलता हुआ, छोडता अथवा देता हुआ ग्रहण करता अथवा लेता हुआ, आखें खोलता और मूदता हुआ भी यही मानता ह कि म कुछ भी

नहीं करता, इन्द्रियाँ इन्द्रियों के अर्थों (विषयों) में वर्त रही हैं, यही धारणा रखता है। तात्पर्य यह कि सर्वत्र एकता के भाव में स्थिति हो जाने से तत्त्वज्ञानी समत्वयोगी की दृष्टि में इन्द्रियाँ और उनके विषय एक ही वस्तु अर्थात् आत्मा अथवा अपने-आपके अनेक रूप होते हैं और आत्मा अथवा अपने-आपको वह उन कल्पित रूपों का आधार अर्थात् उनकी असलियत अथवा वास्तविकता मानता है, इसलिए अपने उन कल्पित बनावों में उसकी आसक्ति नहीं होती। इन्द्रियों के स्वाभाविक व्यवहारों में न तो उसको अपने व्यक्तित्व का अहंकार होता है और न उसे किसी विषय में सुख-प्राप्ति की आकांक्षा ही रहती है। इसलिए उसकी इन्द्रियों से स्वाभाविक व्यवहार होते हुए भी उनसे किसी तरह के अनर्थ नहीं होते और न उसे इन्द्रियों के स्वाभाविक व्यवहार त्याग देने की आवश्यकता ही रहती है।* (८-९)

कर्मों को ब्रह्म में अर्पण करके अर्थात् कर्मों को सबके अपने-आप—आत्मा से अभिन्न समझ कर, उनमें सङ्ग अर्थात् कर्ता और कर्म की पृथकता की आसक्ति से रहित होकर, जो (उन्हें) करता है: वह पापों से उसी तरह अलिप्त रहता है जिस तरह कमल का पत्ता जल से। तात्पर्य यह कि जो कर्ता, कर्म, करण आदि में सबके एकत्व-भाव=ब्रह्म अथवा सबके अपने-आपको देखता है (गी० अ० ४ श्लो० २४), वह अभेददर्शी समत्वयोगी दूसरों से पृथक् अपने कर्तापन के व्यक्तित्व का अहंकार नहीं रखता, अतः वह यदि लोक-संग्रह के लिए हिंसा आदि पापरूप प्रतीत होने वाले कर्म भी करता है तो भी पापों से सर्वथा रहित रहता है, क्योंकि पाप-पुण्य आदि की संभावना भेद-बुद्धि से व्यक्तित्व के अहंकार-युक्त व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर्म करने पर ही होती है; परन्तु जहाँ अपने से भिन्न कुछ रहता ही नहीं वहाँ पाप-पुण्य के लिए अवकाश नहीं रहता (१०)। समत्वयोगी लोग संग अर्थात् व्यक्तित्व की आसक्ति से रहित होकर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए शरीर से, मन से, बुद्धि से (एवं) केवल इन्द्रियों से भी कर्म किया करते हैं। तात्पर्य यह कि आत्म-ज्ञानी समत्वयोगी शरीर के स्वाभाविक कर्म अर्थात् लोक-संग्रह के सांसारिक व्यवहार छोड़ कर, एवं निरुद्यमी बन कर दूसरों पर अपने जीवन-निर्वाह का बोझ डालने, और साथ ही साथ गृहस्थाश्रम, जो सबका उत्पादक और पालक है, उसे दुःखरूप समझ कर हठात् उसका तिरस्कार करने रूपी भेद-भाव की मलिनता से अपने अन्तःकरण को दूषित नहीं करते, किन्तु शरीर के जिस अंग की जैसी स्वाभाविक योग्यता होती है उसी के अनुसार उसके द्वारा सांसारिक व्यवहार लोक-संग्रह के लिए व्यक्तित्व की आसक्ति से रहित होकर करते रहते हैं जिससे उनका अन्तःकरण उक्त द्वैत-भाव रूपी मलिनता से रहित—निर्मल

---

* गी० अ० २ श्लो० ५५ से ६८ के स्पष्टीकरण में स्थितप्रज्ञ के आचरणों का खुलासा देखिए।

रहता ह (११)। युक्त अर्थात सबके साथ अपनी एकता के साथ साम्य भाव मे स्थित कमयोगी कमफल को त्याग कर नष्ठिकी अर्थात अटल शान्ति को प्राप्त होता ह (पर तु) अयुक्त अर्थात जो एकता के साम्य भाव मे स्थित नही हुआ ह वह अज्ञानी पुरुष कामना करके फल मे आसक्त हुआ ब धायमान होता ह। तात्पय यह कि सबके साथ अपनी एकता का अनुभव करने वाले समत्वयोगी को अपने आपकी परिपूणता का अनुभव रहता ह, इसलिए उसके अपने पथक यक्तिगत स्वाथ कही अ यत्र से सिद्ध करने बाकी नहीं रहते अत उसके अन्त करण म कभी अशा ति नही होती कि तु उनका स्वाभाविक शान्ति सहज ही बनी रहती ह पर तु पथकता के ज्ञान से जगत के पदाथ अथवा इहलौकिक एव पारलौकिक सुख अथवा मुक्ति कही बाहर से प्राप्त करने की कामना रखन वाले को अपन व्यक्तिगत स्वार्थों मे आसक्ति रहती ह इसलिए वह सदा कामनाओ के ब धनो म जकडा रहता ह (१२)। नियामक देही अर्थात मन, बद्धि चित्त अहकार एव इ द्रियादि सबका प्रेरक एव सबका शासन करने वाला सबका स्वामी—आत्मा सब कर्मो का मन से स यास करके न कुछ करता हुआ और न कुछ कराता हुआ, (दो आखे दो कान दो नासिकाए एक मख और दो मल मूत्र त्यागने के द्वार इस तरह) नव द्वारो के (शरीर रूपी) नगर में सुख से रहता ह। तात्पय यह कि सबका आधार, सबका प्रेरक, सबका स्वामी, सबका नियामक, सव यापक सच्चिदान द आत्मा यष्टि भाव से शरीर म रहता हुआ और सब चेष्टाए करवाता हुआ भी कर्ता कम करण आदि भेदो से रहित अपने सहज-स्वभाव आन द स्वरूप मे स्थित रहता ह। इसलिए आत्मज्ञानी समत्वयोगी जो सबका आत्मभूत आत्मा होता ह (गी० अ० ५ श्लो० ८), वह पिण्ड और ब्रह्माण्ड रूप सारे सघात के नियामक रूप से स्वेच्छापूवक नव दरवाजो वाले इस भौतिक शरीर में स्थित हुआ और इसके द्वारा सब कुछ करता कराता हुआ भी वास्तव में न कुछ करता ह और न कुछ कराता ह, कि तु पूण रूप से शा त रहता ह, क्योकि उसके मन मे कर्मो के कर्तापन का कोई अहकार नहीं होता और न किसी कम के फल मे उसकी आसक्ति रहती ह, यह जगत प्रपच उसको केवल अपना खिलवाड मात्र प्रतीत होता ह (१३)। प्रभ अर्थात परमात्मा लोगो के कर्तापन कर्मों और कर्मो के फल के सयोग की रचना नहीं करता, कि तु (सबका अपना-अपना) स्वभाव ही वत रहा ह, अर्थात लोग अपने ही स्वभाव अथवा अपने मन के सकल्पो से कर्मों, उनके कर्तापन के अहकार और कर्मो के फल की प्राप्ति की रचना करते रहते ह (१४)। सर्वव्यापक आत्मा अथवा परमात्मा न तो किसी के पापो को लेता ह और न किसी के पुण्य को ही, ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा पडा हुआ ह उसी से जीव मोहित हो रहे ह, अर्थात अविचार के कारण लोग अपने वास्तविक स्वरूप—सबकी एकता को भले हुए ह उसी से यह भ्रम हो रहा ह कि कर्मों और उनके फल आदि की रचना कोई दूसरा करता ह (१५)। परन्तु जिनका यह अज्ञान [illegible] अध्यात्म विचार से नष्ट हो गया ह उनका (वह)

आत्मज्ञान, उस परमतत्त्व अर्थात सबके अपने आपकी [illegible] एकत्व भाव को सूय की तरह प्रकाशित करता ह। तात्पय यह कि अध्यात्म विचार से जब द्वत भावरूपी पर्दा हट जाता ह तब जिस तरह सूय के प्रकाश से जगत के सारे पदाथ प्रत्यक्ष दष्टिगोचर होते ह, उसी तरह आत्मज्ञान के प्रकाश से अपने वास्तविक स्वरूप—सबके एकत्व भाव का प्रत्यक्ष अनुभव होता ह (१६)। जिनकी बुद्धि उस (परमतत्त्व अर्थात सबके एकत्वभाव) म स्थित हो जाती ह, और जो उस (परमतत्त्व अर्थात सबके एकत्व भाव) को ही अपना आत्मा अनभव करते ह, तथा उसी (परमतत्त्व अर्थात सबके एकत्वभाव) में जिनकी दढ स्थिति हो जाती ह और जो उसी (परमतत्त्व अर्थात सबके एकत्वभाव) परायण अर्थात तद्रूप हो जाते ह उनका द्वत भावरूपा मल (उक्त एकता के) ज्ञान से धुल जाता ह और वे उस पद को पहुचते ह जहा से लौटना नही होता (१७)। श्लो १४ से १७ तक का तात्पय यह ह कि आत्मज्ञान से शय लोगो को यह मिथ्या विश्वास रहता ह कि अपने से भिन्न परमात्मा अथवा ईश्वर कर्मो को रच कर उनके पीछे लगा देता ह। और उन कर्मो के अच्छ-बरे फल उनको देता ह इसलिए वे परवशता से कर्मों के बधनो से बधे हुए दुख पाते ह और पुण्य अथवा पाप के फल भोगते ह। भगवान कहते ह कि लोगो का यह कोरा भ्रम ह। सर्वात्मा=परमात्मा किसी व्यक्ति के लिए विशष कम और उन कर्मों का कर्तापन तथा उन कर्मो के अच्छे-बुरे फलो की प्राप्ति का आयोजन नहीं करता किन्तु लोग अपन अपने स्वभाव से अर्थात अपने पथकता के भाव से ही अपने लिए कम और उनका कर्तापन और उनके अच्छे-बुरे फल उत्पन्न करके अपने आपको उनसे बधा हुआ और सुखी अथवा दुखी मानते ह। वास्तव म परमात्मा अथवा ईश्वर लोगो से कोई भिन्न ता [illegible] कि जो कही अलग बठा हुआ उनके लिए कर्मो और [illegible]यता और उनके फल की योजना करता रहे। सबका आत्मा अर्थात सबका समष्टि भाव ही परमात्मा ह, इसलिए कम और कर्मों की कतव्यता एव कर्मों के फल की प्राप्ति सबके अपने आपकी ही रचना होती ह। पाप पुण्य, दुख, सुख बधन मोक्ष आदि भी सब अपन अपने स्वभाव अर्थात पथक व्यक्तित्व के भाव की ही रचनाए होती ह किसी दूसरे की नहीं। जब तक अपन वास्तविक स्वरूप के अज्ञान से पथक व्यक्तित्व का भाव बना रहता ह, तब तक यह भ्रम बना रहता ह कि कर्मो का रचने वाला अपने से भिन्न कोई दूसरा ह, पर जब अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात सबकी एकता का ज्ञान होकर सर्वात्म भावरूपी परमतत्त्व में पूणतया स्थिति हो जाती ह तब कर्ता, कम और कम फलादि सबकी एकता हो जाती ह, अर्थात सबका अपने आप में समावेश हो जाता ह तब न कोई पाप रहता ह, न कोई पुण्य, न सुख रहता ह न दुख, न कोई बधन रहता ह न मोक्ष, और न कुछ ग्रहण करने को रहता ह और न त्यागने को। सब अपने-आपके ही अनेक रूप हो जाते ह, उस स्थिति पर आरूढ़ होन से फिर द्वतभाव का मोह कभी उत्पन्न नहीं होता। साराश यह कि जो लोग कम करने

और उनके फल भोगने में पूण रूप से परतन्त्रता मानते ह और अपने से भिन्न किसी दूसरी शक्ति पर निभर रह कर स्वावलम्बी, निरुद्यमी एव उत्साहहीन बने रहते ह वे मोह (भ्रम) म पड हुए अपना पतन करते ह। मनुष्य सब आप ही करता ह और आप ही भोगता ह। अपने भाग्य का विधाता वह स्वय आप ही ह (गी० अ० ४ इलो० ११ १२ और अ० ६ इलो० ५ ६ का स्पष्टीकरण देखिए) (१४ से १७)।

स्पष्टीकरण—अजुन के प्रश्न के उत्तर मे भगवान यहा सन्यास और कम-योग का तुलनात्मक विवेचन करते ह। इस विवेचन का यह आशय ह कि यदि केवल आध्यात्मिक दष्टि से विचार किया जाय तो सन्यास ओर कम-योग दोनो ही श्रेष्ठ ह, इतना ही नही किन्तु दोनो एक ही ह क्योकि जिनको पूणरूप से सवभूतात्मक्य ज्ञान हो जाता ह उनको अखिल विश्व के साथ अपनी एकता का अनुभव हो जाता ह, अर्थात वे सबको अपने में और अपने को सब मे अनभव करते ह और सारा जगत उनको अपना ही रूप प्रतीत होता ह अत जगत की सुव्यवस्था के निमित्त चाहे वे गहस्थाश्रम म रहते हुए आत्म ज्ञान-युक्त साम्य भाव से [illegible] यथायोग्य सासारिक व्यवहार करके दूसरो को सच्ची कम निष्ठा का आदश दिखाते हुए सबके हित मे लग रहे अथवा सन्यासी का वेष जो कि देहाभिमान के परिच्छिन्न अहकार को जला कर सबके साथ एकता के समष्टि [illegible] का सूचक ह उसे धारण करके एक छोट से परिवार के बदले "वसुधव कुटम्बकम अर्थात अखिल विश्व को अध्यात्म दष्टि से अपना परिवार समझते हुए देशभेद जातिभेद धमभेद सम्प्रदायभद वणभेद आश्रमभेद पदभद आदि सब प्रकार के भेदभावो से ऊपर उठ कर, तथा विधि निषेध राग-द्वष, ग्रहण त्याग आदि सब प्रकार के द्वन्द्वो से परे होकर सब लोगो के कल्याण के लिए तत्त्वज्ञान के प्रचार द्वारा लोगो की आध्यात्मिक उन्नति म सहायक होवे—यह उनकी इच्छा पर निभर होता ह क्योकि वे पूण रूप से स्वतन्त्र होते ह अत उनके नजदीक सन्यास अथवा कम-योग का भेद कुछ भी नही [illegible] निषेध उन पर लागू नहीं होते। साराश यह कि पूर्णावस्था की स्थिति मे सन्यास और कमयोग दोनो एक ही ह। गाहस्थ्य और सन्यास के स्वाग दोनो ही एक समान कल्पित ह और लोक-सग्रह के लिए दोनो ही अपने-अपने स्थान म एक समान आवश्यक एव उपयोगी ह। सच्चा सन्यास तो राग-द्वेष, ग्रहण त्याग आदि द्वन्द्वो से परे होने से होता ह चाहे गहस्थ के स्वाग मे हो या सन्यासी के स्वाग मे। इसलिए पूर्णावस्था की सन्यास निष्ठा और कम-योग निष्ठा मे भेद समझ कर एक को श्रेष्ठ और दूसरी को निकृष्ट मानना मूखता ह।

परन्तु उक्त आध्यात्मिक पूर्णावस्था तक लाखो-करोडो में कोई बिरला ही पहुचता ह और उन महापुरुषो के लिए इन निष्ठाओ की भिन्नता कोई तथ्य नहीं रखती। साधारण जनता में तो अधिकाश लोग अज्ञानी हुआ करते ह। हजारो में कोई एक-आध

तत्त्वज्ञान का जिज्ञासु होता ह और उन तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओ मे भी बहुत थोडो को यत्किचित तत्त्वज्ञान होता ह । ये अज्ञानी अथवा अल्पज्ञानी लोग सासारिक व्यवहारो को दु ख एव ब धनरूप मान कर, अपनी व्यक्तिगत सुख शाति की प्राप्ति के उद्देश्य से, घर-गहस्थी को छोड कर स यास का स्वाग धारण कर ल तो वह वास्तविक स यास नहीं होता, कि तु ऐसे लोग उभयभ्रष्ट हो जाते ह और समाज की सु यवस्था बिगाड कर बडे बडे अनथ करते ह । शरीर ओर इद्रियो के स्वाभाविक धर्मो को हठपूवक छोडने मे सफलता नही हो सकती (गी० अ० ३ श्लो० ३३), कि तु इद्रियो को अपने विषयो से जबदस्ती रोकन के प्रयत्न म मन की चचलता उल्टी बढ कर बुद्धि विक्षिप्त हो जाती ह फलत इस तरह के स यास लेने वाला मे से अधिकाश का भयकर पतन हो जाता ह ओर वे लोग उच्छखलता से अ यवस्थित भोग भोगने और कुकम करन म प्रवत्त हो जाते ह ।

वतमान मे इस तरह धम की आट म शिकार करने वाले छोटे-बडे महन्तो, मठाधीशो मण्डलेश्वरो आचार्यो, गुसाइयो आदि और उनके चेलो तथा अ य भिखमगे पाखण्डी सन्यासियो की सख्या ५० ६० लाख के करीब बताई जाती ह जिनका गहस्थो पर बडा भारी बोझा लदा हुआ ह और यह इस देश की दरिद्रता और दुखो का एक मख्य कारण हो रहा ह । भला इस तरह के व्यक्तित्व के अहकार और विषयादिको मे आसक्त और केवल अपना पेट पालन वाले लोग कर्मो के ब धनो से रहित होकर ब्रह्म भाव म स्थित कसे हो सकते ह और कसे वे दूसरो का कल्याण अथवा हितसाधन कर सकते ह ? हा इतनी बडी सख्या में कुछ त्यागी एव विरक्त महात्मा स यासाश्रम के गौरव का नमूना दिखलाने वाले भी अवश्य विद्यमान ह जो नि स्वाथ भाव से लोगो को अपने सदुपदेशो द्वारा अध्यात्म ज्ञान एव कत याकत य की शिक्षा देकर जनता का हित करते ह और जिनके प्रभाव से ही दूसरे पाखण्डी भी पूजे जाते ह, क्योकि थोडी बहुत असलियत के बिना केवल नकल ठहर नहीं सकती, परन्तु उन महात्माओ की सख्या आटे में नमक के बराबर अर्थात बहुत ही अल्प ह ।

सन्यास निष्ठा म जगत की भौतिक अवस्था की एक प्रकार से उपेक्षा की जाती ह अत उससे उपराम होकर अथवा उसका तिरस्कार करके केवल आध्यात्मिक विचार में ही निरन्तर लगे रहना होता ह इसलिए उसमे आधिभौतिक (लौकिक) उन्नति के अर्थात भौतिक सुख-समद्धि एव भौतिक बल सम्पादन करने के लिए कोई स्थान नही रहता । पर तु आध्यात्मिक विचार भी मन, बुद्धि इद्रियो आदि के सघात एव पच भूतो के पुतले इस शरीर द्वारा ही होते ह और यह शरीर त्रिगणात्मक प्रकृति का बनाव होने के कारण इसम आधिभौतिक आधिदविक और आध्यात्मिक तीनो भाव बने रहते ह—ये कभी मिट नहीं सकते । अत आधिभौतिक आधिदविक और आध्यात्मिक तीनो प्रकार की उन्नति से ही सच्ची शान्ति, पुष्टि और तुष्टि प्राप्त होती ह । जब तक शरीर की प्राकृतिक आव

आवश्यकताएँ—पूरी नहीं होतीं, शरीर बलवान और आरोग्य नहीं होता तथा मन व्याकुल रहता है तब तक वह आत्मज्ञान मे टिक नही सकता। भूखे दरिद्री, निर्बल एव रोगी लोगो का चित्त अत्यन्त व्याकुल रहता है इसलिए वे तत्त्वज्ञान मे भी उन्नति नहीं कर सकते (मुण्डकोनिषद मु० ३ ख० २ म० ४)। प्राणी मात्र की सबसे पहली आवश्यकता पेट भरने की रहती है। अत जो लोग यहा पर (इसी शरीर मे) अभ्युदय (भौतिक उन्नति) नही कर सकते अर्थात भौतिक दृष्टि से अवनत दशा मे रहते है उनका पारमार्थिक (आध्यात्मिक) कल्याण होना बहुत ही कठिन होता है। यद्यपि संन्यास निष्ठा भौतिक उन्नति की सर्वथा अवहेलना करती है परन्तु भूख, प्यास, शीत ताप आदि शरीर के विकार संन्यासी के भी छूट नहीं जाते अत इनकी निवृत्ति के लिए उसे गृहस्थो पर निर्भर रहना पडता है और इस तरह के परावलम्बन मे चित्त सर्वथा उद्वेग रहित नही हो सकता। इसके अतिरिक्त शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन उपलब्ध न होने पर संन्यासी को अनेक प्रकार के शारीरिक एव मानसिक कष्ट सहन करने पडते है और संन्यासाश्रम की उच्चता के अहकार के कारण मानापमान के विचार भी समय समय पर उसके चित्त को विक्षिप्त करते रहते है।

परन्तु घर-गृहस्थी मे रह कर सासारिक व्यवहार करने वाले मनुष्य के लिए उपर्युक्त कठिनाइयाँ नहीं रहतीं और न इस प्रकार पतन की ही आशका रहती है क्योकि वह अपने और अपने ऊपर निर्भर रहने वाले लोगो के जीवन निर्वाह के लिए पूर्वकथित वर्ण व्यवस्था के अनुसार अपने शरीर की योग्यता के सासारिक व्यवहार करता रहता है जिनसे उसे अपने जीवन निर्वाह के लिए दूसरो पर निर्भर रहना नहीं पडता, किन्तु स्वावलम्बन और उद्यमशीलता से वह केवल अपनी ही शारीरिक आवश्यकताए पूरी करके तथा केवल अपनी ही भौतिक उन्नति करके सतोष नहीं करता, किन्तु अपनी योग्यता के तारतम्यानुसार दूसरो की शरीर-यात्रा और सामूहिक उन्नति में भी सहायक होता है। इस तरह कर्तव्य परायणता और आपस के सहयोग के फलस्वरूप जो भोग्य पदार्थ उसे उपलब्ध होते है, उन्हें व्यवस्थित रूप से भोग कर वह अपने मन और इन्द्रियो के वेगो को शान्त करता है जिससे उनके उच्छृखल होने की सभावना कम रहती है। साथ ही उसे अपने कुटम्ब और बन्धुजनो से अपनी आत्मीयता अथवा एकता का निश्चय बना रहता है और उस आत्मीयता अथवा एकता के निश्चयपूर्वक वह उनके लिए उद्यम करता है जिससे उसके पृथक व्यक्तित्व का भाव कम होकर उसे सबके साथ एकता के भाव बढाने और व्यक्तिगत स्वार्थ त्यागने में सहायता मिलती है। साराश यह कि गृहस्थी मे रह कर सासारिक व्यवहार करने वाले मनुष्य को अपनी सब प्रकार की उन्नति करने मे सुविधा रहती है। अस्तु जो लोग व्यवस्थित रूप से उपर्युक्त कर्म योग का अभ्यास करते है उनके चित्त में समय पाकर आत्मज्ञान की जिज्ञासा उत्पन्न होती है और उस तरफ लगने पर शनै शनै क्रमोन्नति करते हुए जब उनकी

सवभूतात्मक्य-साम्य भाव में पूण स्थिति हो जाती ह, तब वे समत्वयोगी अपने को सबमें और सबको अपने में अनुभव करने रूपी ब्रह्म भाव मे स्थित हो जाते ह और स्वेच्छा से सब प्रकार के आचरण स्वतन्त्रतापूवक करते हुए भी पूण रूप से अ न अकर्ता बने रहते ह ।

बहुत से लोगो का यह अनुमान ह कि आत्मज्ञानी पुरुष के शरीर इन्द्रियो, मन, बुद्धि आदि की सारी चेष्टाए छूट जाती होगी परन्तु उनका यह अनुमान गलत ह । आत्मज्ञानी पुरुष भी साधारण लोगो की तरह बुद्धि से विचार करता ह मन से सकल्प करता ह चित्त से चितन करता ह, अहकार से अहकार करता ह, आखो से देखता ह कानो से सुनता ह, नाक से सूघता ह मख से खाता ह जीभ से स्वाद लेता ह वाणी से बोलता ह त्वचा से स्पश करता ह हाथो से लेता-देता और काम करता ह, परो से चलता ह गुह्य इन्द्रियो से मल-मूत्र त्यागता ह इत्यादि । साराश यह कि वह सभी तरह की चेष्टाए अन्य मनुष्यो की तरह ही करता ह परन्तु अज्ञानी मनुष्य की और उसकी चेष्टाओ मे इतना अन्तर रहता ह कि अज्ञानी अपन को मन द्धि अ र इन्द्रिया का सघातरूप शरीर मात्र ही समझता ह, इसलिए शरीर से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थो विषयो एव व्यवहारो ही को सब कुछ मान कर उन्ही मे सदा आसक्त एव तल्लीन रहता ह और अनकूलता प्रतिकूलता म राग द्वेष तथा हष शोकादि से उसका चित्त विक्षिप्त एव अशान्त रहता ह परन्तु ज्ञानी पुरुष मन बुद्धि और इन्द्रियो आदि को तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाले सभी विषयो को अपनी रचना समझता ह और अपने-आपको उनका आत्मा, उनका आश्रय उनका नियामक अथवा स्वामी मानता ह, अत वह नम आ न नहीं ाना किन्तु उनको अपने अधीन रखता ह और उनको अपने अपने स्वाभाविक धर्मो में लगाये रखता हुआ भी उनके प्रत्येक व्यवहार पर नियन्त्रण रखता ह और ऐसा करते हुए भी उनके व्यवहारो का उस पर किसी प्रकार का प्रभाव नही पडता । जिस तरह एक राजा अपनी प्रजा को कानून आदि द्वारा अपने शासन और नियन्त्रण में रखता हुआ सबको उनकी भिन्न भिन्न योग्यतानसार व्यवहार करने मे लगाये रखता ह और राजा की सत्ता प्रजा में सवव्यापक रहती ह तथा उस सवव्यापक सत्ता के आश्रय में ही प्रजा के सारे व्यवहार होते ह परन्तु प्रजा के ा म राजा का व्यक्तिगत स्वाथ नहीं होता, न उसकी किसी व्यक्ति के अच्छे-बरे आचरणो मे राग द्वेष की आसक्ति रहती ह । इसी तरह आत्मज्ञानी पुरुष के मन, बद्धि और शरीर द्वारा सब प्रकार के व्यवहार सबके साथ एकता के भाव से होत रहने ह किसी मे भी उसकी पथक व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि का उद्दश्य नहीं रहता और न उसे किसी विषय में राग द्वेष ही रहता ह, अत सब व्यवहार करते हुए भी उसके अन्त करण मे कोई विकार उत्पन्न नही होता और न उसकी शान्ति ही भग होती ह ।

बहुत से लोगो को यह सदेह ह कि कम-रूप जगत और उसके व्यवहारो को तो जगत

मिट नहीं सकता और वे कर्मों के ब धन मे सदा बधे ही रहते ह, क्योकि जो अपने को परा धीन एव परावलबी मानता ह वह स्वत त्र अथवा मक्त नही हो सकता।

श्लोक ८ से १७ तक के अथ का अनथ करके कई लोग उसकी ओट में बहुत विरुद्धा चरण करते ह। वे कहते ह कि हम तो ब्रह्म अथवा आत्मा ह और आत्मा मे कुछ करना कराना ह नही, इद्रिया अपने-अपने विषयो में वत रही ह इससे हमारा (आत्मा का) क्या बनता बिगडता ह हम तो इद्रियो से पथक ह हमारा ‍द्रिया से क्या सम्ब ध ? इस तरह वे अपने मुख से ब्रह्म अथवा परमात्मा होने की डींगे हाकते ह पर तु उनमें व्यक्तित्व का अहकार और यक्तिगत स्वाथ इतना बढा हुआ होता ह और विषयादिको की लालसा इतनी प्रबल होती ह कि वे चोरी ठगी यभिचार हिंसा आदि घोर कुकम करने मे कुछ भी सकोच नही करते। जो विषयलम्पट लोग गहस्थी म रह कर द्रव्योपाजन की योग्यता न रखन और अपनी मनमानी न चला सकने के कारण स यास का स्वाग धरके आत्मज्ञान की कुछ बातें सीख लेते ह, अथवा जो गहस्थी में रहते हुए भी वेदान्ती एव आत्मज्ञानी होने का झूठा दम भरते ह अथवा जो अपा आपका कृष्ण या ‍ ‍र ‍रूप बना कर लोगो का सवस्व छीनने की धुन मे लगे रहते ह वे ही लोग शास्त्रो के कुछ वाक्यो को चुन कर उनके भाव का विपर्यास करके भोले भाले लोगो को और विशष करके श्रद्धालु स्त्रियो को अपने मायाजाल में फसा कर दुराचार करते ह और परिणाम में वे अपना तथा दूसरो का सवनाश करते ह। वे लोग भ न ज ा न म ा न की एक प्रकार से विडम्बना और समाज की महान हानि करते ह।

इन श्लोको की उपयुक्त याख्या म यह तो स्पष्ट कर ही दिया गया ह कि भगवान न यह निरूपण गहस्थी मे रहने वाले उन समत्वयोगियो के आचरणो का किया ह, जो कि सबके साथ अपनी एकता के ज्ञानयुक्त शरीर और इद्रियो के यवहार सु यवस्थित रूप से करते ह [illegible] थोथी बातें बनाने वालो एव अपने को ब्रह्म अथवा श्रीकृष्ण अथवा ईश्वर कहने वालो के दुराचारो का निरूपण इन श्लोको में नही ह। इसलिए स यास का स्वाग धारण करने वाले पाखण्डी तथा आत्मज्ञान की थोथी बाते बनाने वाले एव अपन को श्रीकृष्ण कह कर भोले लोगो को ठगने वाले दभी लोगो के ‍िए भपन कुकमा ‍ सफाई देने की इन श्लोको मे कोई गुजाइश नहा ह।

इसके अतिरिक्त जिनको आत्मज्ञान हो जाता ह वे अखिल विश्व को अपने मे अनुभव करते ह, अत उनको अपने से भिन्न पदार्थो के सयोग से सुख प्राप्ति की चाह हो ही कसे सकती ह, तथा दूसरो के धन एव दूसरो की स्त्रियो पर हाथ मारने का विचार उनके मन मे उत्पन्न ही कसे हो सकता ह?

जो धूत पाखण्डी लोग आत्मज्ञान की बातो की ओट में इस तरह के अत्याचार करते

ह, उनके कुमाग में यदि कोई बाधक होता ह अथवा उनका वह चोरी और ठगी का सामान जब कोई दूसरा उडा लेता ह तब वे लडाइया और मुकद्दमेबाजी करते ह और तब उनके 'अह ब्रह्मास्मि की पोल अच्छी तरह खुल जाती ह।

× × ×

अब भगवान उपयुक्त समत्वयोगी की ब्राह्मी स्थिति का वणन आगे के श्लोको में करते ह —

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिन ॥१८॥
इहैव तर्जित सर्गो येषा साम्ये स्थित मन ।
निर्दोष हि सम ब्रह्म तस्माद ब्रह्मणि ते स्थिता ॥१९॥
न प्रहृष्येत्प्रिय प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम ।
स्थिरबुद्धिरसमूढो ब्रह्मविद ब्रह्मणि स्थित ॥२०॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥
ये हि सस्पशजा भोगा दु खयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्त कौन्तेय न तेषु रमते बुध ॥२२॥
शक्नोतीहैव य सोढु प्राक्शरीरविमोक्षणात ।
कामक्रोधोद्भव वेग स युक्त स सुखी नर ॥२३॥
योऽन्त सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव य ।
स योगी ब्रह्मनिवाण ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमषय क्षीणकल्मषा ।
छिन्नद्वधा यतात्मान सवभूतहिते रता ॥२५॥
कामक्रोधवियुक्ताना यतीना यतचेतसाम ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाण वतते विदितात्मनाम ॥२६॥

अथ—विद्या और विनय (नम्रता) सपन्न ब्राह्मण मे, गो में हाथी में ओर इसी तरह कुत्ते तथा चाण्डाल मे (आत्मज्ञानी) विद्वान पुरुष समदर्शी होते ह। तात्पय यह कि सबके साथ अपनी एकता का अनुभव करने वाले समत्वयोगियो की दष्टि मे विद्वान ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते, चाण्डाल आदि

ऊँचे, नीचे, मोटे, छोटे, पवित्र, मलिन आदि सभी प्राणियो के विषय मे सव भूतात्मक्य समता (Sameness) का भाव रहता ह, क्योकि वे जानते ह कि सबका असली तत्त्व यानी सबका मूल आ[illegible] मा एक ह, चेतनता सब मे एक समान ह, ओर जिन पचभूतो के सबके शरीर होते ह वे पचभूत भी सबमें एक समान ह, तथा शरीर सभी एक समान विकारी, परिवतनशील एव उत्पत्तिनाशवान होते ह, इसलिए तत्त्वत उनमें कोइ भेद नहीं ह। [illegible] होने वाले पारस्परिक सबध मे होता ह सो वे गुण वचि य और आपस के सबध सदा एक से नहीं रहते, कि तु निर तर बदलते रहते ह। जिस पदाथ में कभी सत्वगण की प्रधानता होती ह उसी म [illegible] और जिसमे कभी रजोगुण अथवा तमोगुण की प्रधानता होती ह उसमे कभी सत्त्वगुण की प्रधानता हो जाती ह (गी० अ० १४ श्लो० १०)। दुष्टाचरण करने से [illegible] रोगग्रसित गौ छूने योग्य भी नहीं रहती विपत्ति आने पर महाकाय हाथी चीटी से भी दीन बन जाता ह। दूसरी तरफ पहरेदार कुत्ते बहुत लोकोपकारी होते ह और भगवदभक्त एव आत्मज्ञानी चाडाल वदनीय हो जाते ह। हि दू धम छोड कर अ य किसी धम को स्वीकार कर लेने से ब्राह्मण का ब्राह्मणपन और चाण्डाल का चाण्डालपन नही रहता कि तु सब एक मेक हो जाते ह। साराश यह कि गुण-वचि य और आपस के सबध जो बाहरी दश्य मात्र ह उनमें स्थायित्व नहीं होता कि तु वे बदलते रहते ह। इसलिए तत्त्वज्ञानी लोग उन बाहरी कल्पित नामो और रूपो की भिन्नताओ की अपेक्षा उनकी असलियत अर्थात सबकी एकता जो सदा एक समान बनी रहती ह उसको अधिक महत्त्व देते ह, और सबको एक ही आत्मा यानी अपने आपके अनेक रूप समझते हुए, किसी के साथ ईर्ष्या, द्वेष घणा तिरस्कार एव छल आदि के दुव्यवहार नही करते और न किसी को दबा कर उस पर अत्याचार ही करते ह कि तु सबके साथ यथायोग्य समता का बर्ताव* करते रहते ह (१८)। जिनका मन (उक्त) समता के [illegible] भाव मे स्थित हो जाता ह, वे ससार को यही (इसी शरीर मे) जीत लेते ह, (और) क्योकि ब्रह्म ही निर्दोष एव सम ह इसलिए वे ब्रह्म मे स्थित रहते ह। तात्पय यह कि द्वतभाव से उत्पन्न राग द्वेष आदि सब दोषो से रहित साम्य भाव (Sameness) ही ब्रह्म ह, इसलिए जिनका मन उक्त साम्य भाव मे स्थित हो जाता ह उ हे मुक्त होन के लिए कोई दूसरा शरीर धारण करके किसी दूसरे लोक विशेष मे जाने की अपेक्षा नहीं रहती, कि तु वे यहा

* समता के बर्ताव की विशेष व्याख्या आगे स्पष्टीकरण में देखिए।

(इस शरीर मे) ही साक्षात ब्रह्मस्वरूप हो जाते ह और वे जीवनमुक्त महापुरुष विश्व विजेता अर्थात सारे जगत के स्वामी होते ह (१९)। जो प्रिय (पदार्थो) को पाकर विशष हर्षित नहीं होता और अप्रिय (पदार्थो) को पाकर उद्विग्न नही होता वह स्थिर बद्धि वाला मोहरहित ब्रह्मवेत्ता (समत्वयोगी) ब्रह्म में स्थित ह। (पदार्थो ओर व्यक्तिया के) बाहरी सबधो म जिसका अन्त करण आसक्त नही होता वह अपने अन्तरात्मा मे जो सुख ह उसे प्राप्त होता ह और वह ब्रह्मभाव म स्थित समत्व योगी अक्षय सुख अर्थात नित्यानन्द का अनभव करता ह। तात्पय यह ह कि सवभूतात्मक्य साम्य भाव रूपी ब्रह्म अथवा परमात्मा म स्थित समत्वयोगी का अन्त करण सासारिक भिन्नताओ के बनावो और उनके सबधो मे आसक्त नही होता किन्तु उसका लक्ष्य सबके भीतरी एकत्व भाव पर रहता ह अर्थात वह सब बाहरी बनाओ को एक ही आत्मा के अनेक रूप अनभव करता ह इसलिए अनकूल प ाथा अथान भ पवित्र उच्च कोटि के एव प्यारे लगने वाले तथा सुखदायक माने जान वाले पदार्थो अथवा व्यक्तिया के सयोग से उसे कोई विशेष हष नही होता और प्रतिकूल अर्थात अशुभ मलिन हीन कोटि के एव बुरे लगने वाले तथा दु खदायक माने जाने वाले पदार्थो एव व्यक्तियो के सयोग से उसे कोई उद्वेग नहीं होता। उसकी स्थिति निरन्तर सबके अन्तरात्मा के साम्य भाव (Sameness) रूप ब्रह्म मे रहती ह अत वह [illegible] नित [illegible]। सच्चा और अक्षय सुख सबके अन्तरात्मा अर्थात सबके एकत्व भाव में ह न कि बाहरी भद भाव के दिखावटा बनावा म। बाहर से सुखदायक प्रतीत होने वाले भिन्नता के बनावो मे आसक्ति रखने से धोखा होता ह (२० २१)। क्योकि पदार्थो के (बाहरी बनाव के) सयोग से उत्पन्न होने वाले जो भोग ह, वे दु ख के ही जनक होते ह (और वे) उत्पत्ति विनाश वाले भी ह, (इसलिए) बुद्धिमान मनुष्य उनमे प्रीति नही रखता। तात्पय यह कि सासारिक पदार्थो के बाहरी बनावो से सबध रखने वाले जितने विषय ह—चाहे वे इन्द्रियो के भोग यानी खाने पीने देखने सुनने, स्पश करने, सघन आदि से सबध रखन वाले हो या अनकूल व्यक्तियो अथवा पदार्थो के सयोग सम्बन्धी हो—सभी दु ख के ही कारण होते ह, क्योकि जिस वस्तु का सयोग होता ह उसका वियोग अवश्य होता ह, अत सयोग मे सुख मानने से वियोग का दु ख उससे अधिक होता ह। साराश यह कि पदार्थो के बाहरी नाम रूपो के बनावो म आसक्ति रखन वालो को [illegible] (बृह० उ० अ० २ ब्राह्मण ४ मत्र ६)। [illegible] विचार वान लोग किसी भी वस्तु के बाहरी रूप म आसक्ति नही रखते (२२)। जो यहीं पर (इसी जन्म मे) शरीर छूटने से पहले ही काम क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन कर सकता ह वही [illegible] ह और वही सुखी मनुष्य ह। तात्पय यह कि मनष्य देह मे बद्धि का विशेष विकास होने के कारण इसमे विचारपूवक आचरण करने की योग्यता होती ह,

इसलिए काम क्रोध, लोभ मोह, भय शोक, ईर्ष्या द्वेष घृणा, तिरस्कार, अभिमान आदि अनेक प्रकार के राजसी भावों के जो अनर्थकारी वेग उत्पन्न होते हैं उनको विचारपूर्वक थाम कर हानिरहित बना देने अर्थात उनसे कोई अनर्थ न होने देने की योग्यता इस मनुष्य देह में ही होती है अन्य किसी देह में नहीं होती अत जो मनुष्य (स्त्री-पुरुष) इस शरीर के रहते ही इन वेगों पर विजय पा लेता है अर्थात इनके वश में होकर अनर्थ नहीं करता वही सच्चा समत्वयोगी है और उसी को सच्ची सुख शान्ति प्राप्त होती है (२३)। जो पुरुष (पदार्थों और व्यक्तियों की कल्पित अनेकता के बाहरी रूपों में आसक्ति न रख कर सबकी भीतरी एकतारूपी) अन्तरात्मा में सुख का अनुभव करता है (सबके भीतरी एकत्व भाव-रूपी) अन्तरात्मा में आराम पाता है और जो (सबके भीतरी एकत्व भाव रूपी) अन्तरात्मा ही से प्रकाशित हो रहा है यानी सबमें एक आत्मा ही के प्रकाश अथवा चमत्कार का अनुभव करता है वह ब्रह्म-स्वरूप [illegible] में स्थित होता है। तात्पर्य यह कि जो समस्त बाहरी नाम-रूपों की कल्पित भिन्नताओं की सच्ची एकता के अनुभव में पूर्ण रूप से स्थित हो जाता है, वह समत्वयोगी द्वन्द्वातीत ब्रह्म-स्वरूप होता है (२४)। जिनका द्वैत भाव निवृत्त हो गया है और अन्तःकरण को जिनने अपने वश में कर लिया है, वे सब भूत प्राणियों के हित में लगे रहने वाले निष्पाप ज्ञानी लोग ब्रह्म निर्वाण पद को पाते हैं। तात्पर्य यह कि जिन महापुरुषों के अन्तःकरण का द्वैत भाव निवृत्त हो जाता है वे ब्रह्म निर्वाण पद में स्थित होकर सब प्रकार के भेद भाव से रहित सारे भूत प्राणियों के हित में लगे रहते हैं अर्थात उनकी सर्वभूतात्मैक्य दृष्टि में विशेष और सामान्य अथवा व्यष्टि और समष्टि का भेद नहीं रहता, क्योंकि वे जानते हैं कि व्यष्टि अर्थात एक एक व्यक्ति का योग ही समष्टि अर्थात सब है, और समष्टि अर्थात सबमें व्यष्टि अर्थात प्रत्येक व्यक्ति का समावेश है। इसलिए किसी विशेष व्यक्ति का अनिष्ट करके सब का हित नहीं हो सकता और न सबका अहित करके किसी विशेष व्यक्ति का वास्तविक हित हो सकता है अत वे व्यष्टि और समष्टि के हित को अन्योन्याश्रित समझते हुए किसी भी प्रकार के भेद बिना प्राणीमात्र के हित* में लगे रहते हैं (२५)। जिनका काम क्रोध निवृत्त हो गया है तथा जिनने चित्त को अपने वश में कर लिया है ऐसे आत्मज्ञानी यतियों के सदा-सर्वदा ब्रह्म निर्वाण पद ही बर्त रहा है। तात्पर्य यह कि जिन आत्मज्ञानी जितेंद्रिय महापुरुषों ने मन को वश में करके द्वैत भाव से उत्पन्न काम क्रोधादि मलिन भावों को सर्वभूतात्मैक्य ज्ञान द्वारा जीत लिया है, वे सदा-सर्वदा ब्रह्म निर्वाण पद में ही बर्त रहे हैं (२६)।

स्पष्टीकरण—श्री भगवान कहते हैं कि जो आत्मज्ञानी पुरुष होते हैं वे भौतिक

* सब के हित में लगे रहने का खुलासा आगे स्पष्टीकरण में देखिए।

शरीरो के बाहरी भदभाव के बनाव को महत्त्व नहीं देते किन्तु सब शरीरो को एक ही निर्विकार एव सम ब्रह्म अथवा आत्मा के अनक नामो और रूपो का कल्पित बनाव समझकर सबके साथ एकता के साम्य भाव का बर्ताव करते ह। शरीर चाहे सवगणसपन्न ब्राह्मण का हो या एक मेहतर अथवा चाण्डाल का पवित्र गाय का हो या अपवित्र कुत्त का मोटा हाथी का हो या छोटा चींटी का उनकी सबके विषय में सदा समदष्टि रहती ह क्योकि वे जानते ह कि ऊचे नीचे मोटे छोटे, पवित्र, मलिन आदि परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले सभी द्वन्द्व सबके आत्मा = परमात्मा की अपरा और परा प्रकृति के बनाव मात्र ह (गी० अ० ७ श्लो० ४ ५) और वे बाहरा बनाव प्रतिक्षण परिवतनशील अर्थात निरन्तर बदलते रहन वाले, एव उत्पत्तिनाशवान अर्थात बनने और मिटन वाले होते ह इसलिए उनके भेद सभी कल्पित और झूठे ह अत इन भेद भावो का उनके चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पडता और न वे अपने साम्यभाव से ही विचलित होते ह अर्थात वे न तो वस्तुत किसी को ऊँचा, पवित्र अथवा मोटा मान कर उससे विशेष प्रभावित होते ह और न किसी को नीचा, अपवित्र अथवा छोटा मान कर उसका तिरस्कार करते हैं, कि तु सबके साथ उनके स्वाभाविक गुणो की योग्यतानुसार वे समता का व्यवहार करते ह। उनको अनकूल पदार्थो की प्राप्ति से इतना हष नहीं होता और प्रतिकूल की प्राप्ति से इतना उद्वेग नहीं होता कि जिससे उनके साम्य भाव में कोई अन्तर आवे अर्थात आँखो के सामने अच्छे चित्ताकषक, शभ एव पवित्र रूप और दश्य आवें अथवा बरे, अशभ एव मलिन रूप और दश्य आवे कानो म सुरीले मान बढाने वाले एव मागलिक श द पडे, अथवा कडवे कक्श अपमानजनक एव अमागलिक श द पड, नाक म सुग ध आवे अथवा दुग ध त्वचा को कोमल, सुहावने एव पवित्र स्पश प्राप्त हो अथवा कठिन, असह्य एव मलिन स्पश जिह्वा को स्वादिष्ट भोजन प्राप्त हो अथवा बेस्वाद भोजन इस तरह सभी इद्रियो तथा मन के अनकूल अथवा प्रतिकूल पदार्थों एव विषयो की प्राप्ति से उनके अन्त करण मे हष अथवा उद्वग जनित क्षोभ नहीं होता। पर तु इसका यह तात्पय नहीं ह कि ज्ञानी पुरुष को [illegible] अथवा प्रतिकूलता प्रतीत ही नही होती। वास्तव म साधारण लोगो की अपेक्षा तत्त्वज्ञानी को इन विषयो का विशेष ज्ञान होता ह, क्योकि उसकी ज्ञान शक्ति दूसरो की अपेक्षा अधिक विकसित होती ह। परन्तु वह अनुकूलता अथवा प्रति[illegible]ना का अनुभव करता हुआ भी उनसे विचलित नही होता। जिनका मन साम्य भाव मे स्थित हो जाता ह वे अनकूल, प्रतिकूल अच्छे [illegible], अर्थात यह जगत प्रपच उनको अपने ही समष्टि भाव की इच्छा प्रकृति अथवा स्वभाव का खल जान पडता ह—उनकी दष्टि मे अपने से भिन्न द्वत प्रपच कुछ रहता ही नहीं।

जगत के पदार्थो का वस्तुत अलग अलग अस्तित्व मान कर उनके सयोग से होने वाले

क्षणिक सुखो में आसक्ति रखन से दु ख अवश्य ही होता ह, क्योकि शरीरो से सबध रखन वाले बाहरी विषयो की अनकूलता रूप जितन भी सुख ह, उनके साथ ही प्रतिकूलता रूप दु ख लगा रहता ह । अनकूलता प्रतिकूलता अथवा सुख, दु ख आदि द्वन्द्वो के जोड ह अत वे साथ ही रहते ह और दोनो ही परिवतनशील एव आन जान वाले ह इसलिए यदि अनकूलता के सयोग म सुख माना जाता ह तो उसके वियोग म दु ख अवश्य होता ह । इसके अतिरिक्त पहले तो उन सुखो की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पडते ह, फिर उत्तरोत्तर अधिक सुख प्राप्ति की लालसा होती ह और दूसरो के अधिक सुखो की ईर्ष्या होती ह एव प्राप्त सुखो के नाश का भय बना रहता ह और सुख भोग के अनतर उसका दुष्परिणाम भी अवश्य होता ह । फिर जहा अनकूल पदार्थों की आकाक्षारूप काम उत्पन्न होता ह वहा उसकी प्रतिक्रियारूप क्रोध अवश्य उत्पन्न होता ह (गी० अ० २ श्लो० ६२), और काम क्रोध अथवा राग द्वेष ही सब दु खो एव बन्धनो के कारण ह । इन्द्रियो और विषयो के सयोग से उत्पन्न होने वाला सुख राजस सुख ह जो पहले तो अमत सा प्रतीत होता ह, किन्तु परिणाम मे विष की तरह होता ह (गी० अ० १८ श्लो० ३८) अत वह वास्तविक सुख नही किन्तु दु ख ही का जनक ह । एक एक इन्द्रिय के विषय मे आसक्ति रखन से भी बन्धन और दु ख होता ह यह प्रत्यक्ष देखने म आता ह । जसे कि—हरिण और सप की कान के विषय म अधिक आसक्ति होने के कारण वे राग सुन कर पकड जाते ह हाथी जसा मोटा पशु स्पश इन्द्रिय के विषय मे विशष आसक्ति रखने के कारण मादा (हथिनी) के सयोग के प्रलोभन से बधता ह पतग आखो के विषय म विशष आसक्ति रखन के कारण अग्नि मे पड कर जलता ह मछली जिह्वा के विषय मे विशेष आसक्त होने के कारण जाल म फसती ह और भोरा नासिका के विषय म विशेष आसक्ति रखन के कारण पुष्प की सुगन्धि मे मस्त होकर उसी मे बन्द हो जाता ह । जब कि एक एक इन्द्रिय के विषय की आसक्ति इतनी दु खदायक एव बधन का कारण होती ह तब पाचो इन्द्रियो के विषयो में आसक्त होन से दु खो का क्या ठिकाना ? साराश यह कि पदार्थों के बाहरी सयोग से होने वाले विषय सुखो की आसक्ति वास्तव म बहुत दु खदायक होती ह इसलिए विचारवान पुरुष इनम आसक्ति नही रखते ।

यदि सूक्ष्म विचार कर देखा जाय तो पता लगता ह कि पदार्थों के बाहरी रूपो म जो सुख प्रतीत होता ह वह भी वस्तुत उन बाहरी नाम रूपो के परिवतनशील बनाव का नहीं होता किन्तु उन पदार्थों और भोगन वाले दोनो के भीतरी तत्त्व—सच्चिदानन्द घन-स्वरूप आत्मा की एकता का प्रसाद होता ह । जब मन म किसी नाम रूपात्मक बाह्य पदाथ के प्राप्त करने अथवा किसी विषय के भोगने की इच्छा उत्पन्न होती ह, तब मन की वत्ति उस इच्छित वस्तु को अपने से भिन्न कही अन्यत्र से प्राप्त करने के लिए बहिमख होती ह, उस समय उसमें अन्तरात्मा के एकत्व भाव से विमुख होन का क्षोभ होता ह, फिर जब इच्छित

पदाथ प्राप्त हो जाता ह तब इच्छा पूरी होने पर वह पीछे लौट कर कुछ काल के लिए अन्तरात्मा की एकता में विश्राम करती ह और तब उस एकाग्रता की शाति का आन द अनभव करती ह, जिसका वह अज्ञानवश पदार्थो के बाहरी सयोगो का सुख मानती ह। तात्पय यह कि इद्रियो के विषयो मे कोई स्वत त्र सुख नहीं ह कि तु उनम प्रनात होन वाला सुख सबके एकत्वभाव यानी अ तरात्मा (वास्तविक अपने-आप) के ही आन द का आभास ह। वास्तव म आन दस्वरूप एक आत्मा ही ह जो सबका अपना-आप ह।

इसके अतिरिक्त इद्रियो मे विषय भोगन की शक्ति भी सब के एकत्वभाव आन द स्वरूप आत्मा के प्रसाद से ही होती ह। इस पर एक दष्टा त नमूने के तौर पर दिया जाता ह—

एक बादशाह अथवा अमीर धन-कुबर के पास कल्पनातीत भोग्य पदाथ उपस्थित ह। रात्रि का समय प्राय सभी इद्रियो के विषय भोगो के लिए विशष अनकूल होता ह। अस्तु विलासिता की सपूण सामग्रियो से सजे हुए और ऋतु के अनुसार ठडे अथवा गरम हो सकन वाले महल म बिजली के देदीप्यमान प्रकाश म, रूपवती युवतियो के हाव भाव कटाक्षयुक्त नाच गायन वाद्य और अपने गुण-कीतन की कविता आदि से वह प्रफुल्लित हो रहा ह भवन विविध प्रकार की मनोमुग्धकर सुग धियो से महक रहा ह जिसमे वह उन रमणियो से घिरा हुआ भाति भाति के स्वादिष्ट भोजन और मादक पीने के पदार्थां का स्वाद लेता हुआ उनसे तरह तरह के विलास करता ह। साराश यह कि सब प्रकार के बढिया से बढिया भोग उसे प्राप्त ह—जरा सी भी कसर नहीं ह। दीन दुनिया की उसे कुछ भी खबर नही ह। एसे अनपम भोग भोगते हुए चार या छ घटे बीत जाते ह नींद आने लगती ह। वह कोशिश करता ह कि नीद को रोके पर तु नही रुकती। युवतिया विनय करती ह कि हुजूर! नीद क्या लेते ह जरा इधर तो देखिए। एक रमणी नई तज की गजल और एक नया नाच पेश करती ह उसे तो एक नजर बख्श दीजिए'। पर तु 'हुजूर" को अब वे भोग विलास कुछ भी अच्छे नहीं लगते। वह उन सबके बीच मे नीद के खुर्राटे लेने लगता ह। जब कोई छेडता ह तो कहता ह कि थोडी देर मुझे नीद ले लेने दो, फिर तरोताजा होकर मौज उडावेगे। आखिर जहापनाह नींद की गोद मे पनाह लेते ह। सुबह होने लगता ह, "भरवी" का समय हो जाता ह परन्तु 'हुजूर" अभी नहीं जागते ह। उ हे जगाने की किसी में हिम्मत नही ह—खफा होने का डर ह—क्योकि नीद से जागना बहुत ही बुरा लगता ह। कुछ समय बाद प्राकृतिक वेग उ हे जगाते ह। यद्यपि सुस्ती तो छाई हुई ह और सिर मे दद भी ह, तो भी विषयो की आसक्ति फिर उस तरफ खींचती ह और पहले की तरह राग रग होने लगते ह, परन्तु थकावट के असर से पहले वाला मजा नहीं रहता। थोडी देर बाद सूय भगवान का प्रकाश रग फीका करन में मदद देता ह। लाचार जल्सा बर्खास्त होता ह और 'हुजूर' को दिन

भर लम्बी तान कर पडे रहना पडता ह। जब शाम तक नीद लेकर वह स्वस्थ हो जाता ह तब दूसरी रात को फिर विलास करने के योग्य होता ह।

यह दष्टान्त कोरी कल्पना नही ह, कितु जो लोग इस तरह की विलासिता करते ह उनके यहा यह प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता ह। इस प्रत्यक्ष अनुभव से यह स्पष्ट ह कि वास्तव मे पदार्थों के बाहरी रूपो के नाना विधि के भोगो म सुख नहीं ह क्योकि यदि उनमें सुख होता तो उनसे थकावट न आती और उनको छोडकर नींद लेने की इतनी आतुरता नहीं होती और न नींद लेने से आराम और स्वस्थता ही प्राप्त होती।

केवल विषय भोगो की विलासिता मे ही नहीं कितु बाहरी नाम रूपो की पथकता को सच्ची मान कर भद-बुद्धि से किये जाने वाले सभी व्यवहारो म—चाहे वे धार्मिक एव साम्प्रदायिक कमकाण्ड यज्ञानुष्ठान सध्या वदन ध्यान, जप, तप पूजा, पाठ प्राणायाम, भजन कीतन ना त्रा ययन तीर्थाटन दान, पुण्य व्रत उपवास आदि हो अथवा किसी वण एव आश्रम के विविध प्रकार के व्यवसायो के काम धधे हो अथवा अय किसी भी तरह के शारीरिक एव मानसिक व्यापार हो—उन सब में थकावट अरुचि विमनस्कता एव व्याकुलता आदि आये बिना नही रहती और वह थकावट तथा व्याकुलता आदि तभी दूर होती ह जब कुछ समय तक गहरी नीद लेकर आन्तरिक एकत्व भाव में स्थिति कर ली जाती ह।

गहरी नींद अर्थात सुषुप्ति अवस्था में सुख अथवा आराम मिलने का कारण यह ह कि उसमें बाहरी दश्य के सारे भदभाव कुछ काल के लिए मिट कर परम-सुख रूप आतरिक एकत्व भाव में स्थिति हो जाती ह, और वह अवस्था ऊच नीचे पवित्र मलिन, छोटे मोटे आदि सभी प्राणियो के लिए एक समान आनद-स्वरूप होती ह, अर्थात उस अवस्था का जितना आनद एक विद्वान ब्राह्मण को और महलो में सोने वाले एव मखमल आदि के कोमल बिस्तरो पर लेटे हुए एक सम्राट को होता ह उतना ही पथरीली भूमि पर एव गदगी में पडे हुए एक मजदूर एव अछूत-चमार अथवा भगी को होता ह और उतना ही अन्य देहधारियो को होता ह। साराश यह कि उस अवस्था मे किसी की कोई विशेषता नहीं रहती कितु पूण एकता अथवा समता होती ह (बहदा० उ० अ० ४ ब्रा० ३ मत्र २२)। यही कारण ह कि जब बाहरी भेदभाव के व्यवहारो म थकावट आदि आकर वे दुखदायी प्रतीत होन लगते ह तब उनसे निवत्त होकर आनद रूप सुषप्ति अवस्था के एकत्व अथवा साम्य भाव म प्रविष्ट होने (नींद लेन) की स्वाभाविक प्रवत्ति होती ह, और जब उस सुषप्ति अवस्था की आतरिक एकता में स्थिति हो जाती ह तभी सुख-शान्ति मिलती ह, और यही कारण ह कि उसमे प्रविष्ट होन पर फिर उसे छोडने को जी नहीं चाहता एव दूसरे सारे विषय भोग उस आनद के सामने तुच्छ प्रतीत होते ह। उस आन्तरिक एकता के आनन्द की प्राप्ति होने पर बाहरी भदभाव के व्यवहारो की प्रति

क्रिया जन्य जो थकावट और व्याकुलता आदि होती ह वे शान्त हो जाती ह और उसी आन्तरिक एकत्व भाव के आनन्द की प्राप्ति करके प्राणी फिर बाहरी व्यवहार करने के योग्य होते ह। तात्पर्य यह कि मन भीतरी एकता के आनद का कुछ अश लेकर बाहर आता ह और बाहरी विषयो म उसे खच करता ह और जब वह उस आनद को खच कर चुकता ह तब फिर उसे अदर से आनन्द लाना पडता ह और तब फिर से वह बाहरी विषयो म बतन के योग्य होता ह। जिस तरह बालक अपनी माता की गोद से अलग होकर खेलता ह ओर खेलते-खेलते जब थकावट आती ह तब वह पीछे अपनी माता की गोद मे जाकर लेट जाता ह और उसका स्तन पान करके जब ताजा हो जाता ह तब फिर खलन के योग्य होता ह उसी तरह मन गहरी नीद (सुषप्ति) की अवस्था के आन्तरिक एकत्व भाव अथवा प्रकृति माता की निश्चल अवस्था रूप गोद से निकल कर जाग्रत अवस्था के बाहरी विषयो मे बतता हुआ जब भीतर से लाई हुई आनद की पूजी को खच कर देता ह, तब थक जाता ह और फिर सुषप्ति (गहरी नीद) की अवस्था म प्रकृति माता की निश्चल अवस्था रूप (आन्तरिक एकता की) गोद म कुछ काल के लिए विश्राम करके जब उसके आनद से आनदित हो जाता ह, तब पुन बाहरी विषयो में बतन के योग्य होता ह।

इस से स्पष्ट ह कि बाहरी नाम-रूपात्मक भिन्नता के विषय भोगो तथा अन्य व्यवहारो म वस्तुत कोई सुख नही ह किन्तु उनम जो सुख प्रतीत होता ह वह सबके भीतरी एकत्व भाव के आनन्द का आभास (प्रतिबिम्ब) मात्र ह, इसलिए पदार्थों के बाहरी नाम-रूपो के सयोगो मे सुख मान कर उनम आसक्ति करन अर्थात उनम उलझ रहने से दुःख होता ह।

इस विवेचन में सुषुप्ति (गाढ निद्रा) की अवस्था को जो आनदरूप एव आनन्द का केन्द्र बताया ह उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं ह कि "नींद लेने में ही सच्ची एव स्थायी सुख शान्ति होती ह अत सब विषय भोग तथा अन्य व्यवहार छोड छाड कर दिन रात नींद में ही पडे रहना चाहिए" क्योकि यद्यपि सुषुप्ति अवस्था म सारे बाहरी भेद भाव मिट कर थोडे समय के लिए प्रकृति की निश्चल अवस्था रूपी एकत्व भाव में स्थिति होती ह और शरीर, इन्द्रिया, मन, बद्धि आदि की पथकता के सभा भाव उनके कारणरूप अव्यक्त प्रकृति मे लय होते ह तब कुछ काल के लिए सब भिन्नताए मिट जाने से एकता का आनन्द तो अवश्य प्राप्त होता ह, परन्तु वहा अर्थात सुषप्ति अवस्था मे अपन आप अर्थात मगानगामा आत्मा अथवा सबकी एकता का ज्ञानपूवक अनुभव नही होता किन्तु अपन वास्तविक स्वरूप के अज्ञान अथवा अन्धकार का आवरण बना रहता ह इसलिए नीद का सुख तामस माना गया ह (गी० अ० १८ श्लो० ३९), जो नींद आने से पहले और नींद खलने के बाद नहीं रहता।

सुषप्ति अवस्था जाग्रत और स्वप्न दोनो अवस्थाओ की कारण ह अत जाग्रत

और स्वप्न अवस्थाओ के प्रपच का आविर्भाव (उत्पत्ति) सुषप्ति अवस्था से होता ह और उसी म उसका तिरोभाव (लय) हो जाता ह । जब जाग्रत और स्वप्न अवस्थाएँ सुषुप्ति से आविभूत होती ह तब उस एकत्व भाव की अवस्था के सुख से सयुक्त रहती ह, फिर जब भद भाव की आसक्ति यक्त व्यवहारो मे उस सुख का य हो जाता ह और एकत्व भाव से विमुखता ज य क्लेश दबाते ह तब उस दु ख को मिटाकर सुखी होन के लिए फिर से एकत्व भाव की सुषुप्ति अवस्था मे जाने की आवश्यकता होती ह। इस तरह सुषुप्ति अवस्था से आना और उसमे जाना बना रहता ह । इसलिए यद्यपि जाग्रत और स्वप्न के बाहरी द्वत प्रपच की अपेक्षा सुषप्ति अवस्था मे एकत्व भाव के विशष आन द का अनभव होता ह क्योकि वहा द्वत प्रपच कुछ काल के लिए दब जाता ह पर तु द्वत प्रपच सवथा मिट नही जाता अर्थात वहा एक मे अनेक और अनेको में एक का ज्ञान नही होता अत वहा सच्चा और अक्षय सुख नहीं ह । सच्चा एव अक्षय सुख तो जाग्रत अवस्था म ही सात्विक ज्ञान द्वारा अखिल विश्व की एकता का पूण रूप से अनुभव कर लेन से होता ह । साराश यह कि सात्विक ज्ञान से सबकी एकता के निश्चय पूवक विषयो को यथायोग्य भोगते हुए भी उनसे जो सुख प्रतीत हो उसे बाहरी पदार्थों के सयोग से उत्पन्न हुआ न समझ कर सबके अ तरात्मा अर्थात सबके एकत्व भाव यानी सच्चिदान द-स्वरूप अपन आपके आन द का आभास समझन ही से यथाथ सुख होता ह ।

जब कि सुषप्ति अवस्था म जाग्रत और स्वप्न के द्वत प्रपच कुछ समय के लिए तमोगण म दब जाने से भी इतना सुख होता ह कि जिसके प्रसाद से जाग्रत ओर स्वप्न अवस्थाए भी सुख रूप प्रतीत होती ह तब सबकी एकता के वास्तविक अर्थात सात्विक ज्ञान की स्थिति के सुख का तो कहना ही क्या ? वह तो अकथनीय ह ।

यदि पदार्थों के बाहरी रूपो मे वास्तविक सुख होता तो

का प्रश्न नहीं उठता, कि तु सभी अवस्थाओ में उनसे सुख होता, पर ऐसा होता नही ह । किसी अवस्था में कोई पदाथ बहुत सुखदायक प्रतीत होता ह दूसरी किसी अवस्था में वही पदाथ घोर दु खरूप हो जाता ह । कोई भी सासारिक पदाथ अपनी बाहरी नाम रूपात्मक पथकता के भाव म सुखदायक अत प्यारा नही होता, कि तु उसमे प्यारापन अ तरात्मा यानी सबके अपन आपके एकत्व भाव का होता ह । स्त्री के लिए पति और पति के लिए स्त्री माता पिता के लिए पुत्र ओर पुत्र के लिए माता पिता, इसी तरह कुटुम्बी एव सबधी जन धन सम्पत्ति राज समाज, विद्या, बुद्धि, मान प्रतिष्ठा धम, कम, लोक परलोक देह इद्रिया यहा तक कि ईश्वर और मुक्ति आदि जितने भी सासा रिक एव पारमार्थिक विषय ह, वे सब आत्मा यानी अपने आप (सबकी अन्तरात्मा) के लिए अच्छ लगते ह अर्थात जिस जिसके साथ अपनी अनुकूलता और अपनी एकता का अनभव होता ह वही पदाथ सुखदायक प्रतीत होता ह और जब वह अपने लिए अनुकूल

नही होता और अपने से बिलग माना जाता ह तब उसमें प्यारापन नहीं रहता, और न उससे सुख ही होता ह, कि तु उल्टा द्वेष होकर दु ख होता ह (बहदा० उ० अ० २ ब्रा० ४)। इसलिए आत्मज्ञानी समत्वयोगी सासारिक पदार्थो की पथकता के बाहरी नाम रूपो को एक ही सम आत्म-तत्त्व (सबके अपने आप) के अनेक रूप अनुभव करता हुआ इद्रियो के विषयो को आसक्ति रहित होकर विधिवत न। ‸ ⌐⌐ ⌐⌐ ⌐ ा ⌐ रिक यवहार यथायोग्य करता ह और उनकी अनुकूलता प्रतिकूलता मे सम रह कर किसी से राग अथवा द्वेष नहीं करता तथा काम क्रोध* आदि के वेगो से विचलित नहा होता। उसकी दष्टि सब नाम रूपात्मक शरीरो की असली एकता पर रहती ह अत वह पथकता के सारे द्वद्वो से परे होकर एकता के ब्रह्म भाव से सारे भूत प्राणियो को अपना ही रूप अनुभव करता ह और सबके हित के लिए जगत के सब प्रकार के यवहार उनके स्वामीभाव से करता हुआ इसी नरीर मे सच्चे एव अक्षय सुख के भडार वाणी से परे ब्रह्मनिर्वाण पद म स्थित रहता ह। मनष्य ज म उसी का साथक ह जो इस तरह सवभूतात्मक्य ज्ञान से अनुकूल प्रतिकूल, सुख दु ख काम क्रोध राग द्वेष आदि द्वद्वो मे सम रह कर यष्टि और समष्टि की एकता के अनुभव से सब लोगो के हित के लिए जगत के यवहार करता हुआ अपने सच्चिदान द ब्रह्म भाव म स्थित रहता ह। जो बाहरी नाम रूपो की भिन्नताओ में जितनी ही कम आसक्ति रखता ह और सबकी आ तरिक एकता म जितना ज्यादा विश्वास रखता ह अथवा जितना ही अधिक अ त करण को लगाय रखता ह उतना ही अधिक वह ब्रह्मनिर्वाण रूपी मोक्ष के निकट पहुचता ह।

श्लोक २५व म सवभूतहिते रता अर्थात सब भूत प्राणियो के हित म लगे रहने का वाक्य अत्य त महत्वपूण और विचारणीय ह। आधिभौतिक सुखवाद के पडित लोग अर्थात भौतिक सुखो को ही सब कुछ मानने वाले विद्वान लोग अधिक लोगो के अधिक सुख ' के सिद्धा त को ही कत यता एव नानिमत्ता का पराकाष्ठा मानते ह। यद्यपि साधारणतया यह सिद्धा त समाज की सु यवस्था के लिए बहुत अच्छा ह क्योकि इसके आचरण से जनता की आवश्यकताओ की पूर्ति और उसके अनेक प्रकार के कष्टो की निवत्ति मे बहुत कुछ सहायता मिलती ह, इसलिए इसका आचरण करना ठीक ह पर तु यह सिद्धा त सवथा निर्दोष एव पूण नहीं ह। इसमें कई प्रकार के दोष एव त्रटिया ह।

काम क्रो ग आदि के वेगो का अ न करण म उत्पन्न होना तो स्वाभाविक ह परन्तु नाना के अ त करण मे वे वेग पानी के ऊपर लकीर खीचने की तरह होते ह अर्था न उ न्न हाने ही शा त हो जाने ह अथवा वह उनका इस तरह सदुपयोग करता ह कि उनसे कोई जनथ नही होता कि तु उल्टा लोक हित होता ह। तात्पय यह कि ज्ञानी के अन्त करण म उनका विष पल्ट कर अमत हो जाना ह।

प्रथम तो भौतिक दष्टि से 'अधिक लोगो" का और उनके सुख की अधिकता एव यूनता का निणय होना ही असभव ह, क्योकि सब देशो के सब लोगो की गणना करके, किसको किस बात से सुख और किसको किस बात से दु ख होता ह इसका पता लगाना अशक्य ह। इसी तरह "अधिक सुख" का भी निश्चय होना अशक्य ह, क्योकि सुख का कोई निश्चित माप अथवा तोल अथवा मात्रा नही ह कि किसी विशेष माप, तोल अथवा मात्रा को सबसे अधिक मान लिया जाय। सुख, मन की एक अनुकूल वेदना ह जो सदा एक-सी नहीं रहती। किसी को, किसी समय किसी विषय मे अनकूलता प्रतीत होती ह, दूसरे यक्ति को, अथवा दूसरे समय (उसी यक्ति को) उसी विषय मे प्रतिकूलता प्रतीत होती ह। एक यक्ति को थोडा भी सुख बहुत प्रतीत होता ह और दूसरे यक्ति को बहुत सुख भी थोडा प्रतीत होता ह ओर जहा बाहरी अथवा शारीरिक सुख प्रतीत होता ह वहा भीतरी अथवा मानसिक दु ख हो सकता ह। इसके अतिरिक्त यक्तियो की सख्या ओर सुख की मात्रा का निणय वतमान काल ही को लक्ष्य करके किया जायगा ओर ऐसा करने से वतमान म जो सुख ह वह भविष्य म भी सुख रूप ही रहेगा या नहा एव भविष्य मे होन वाले यक्तियो के लिए वतमान का सुख सुख रूप होगा कि नही अथवा वतमान से अधिक होगा अथवा यन होगा—इत्यादि बातो का कुछ भी निश्चय नही हो सकता। इस तरह के कइ दोष अधिक लोगो के अधिक सुख के सिद्धा त म ह। इसलिए भगवान न "अधिक लोगो के अधिक सुख के सिद्धा त को आदश नही माना ह कि तु उससे आग बढ कर 'सवभूतहित रता' के निर्दोष एव अटल सिद्धा त का प्रतिपादन किया ह।

सुख ओर हित मे बडा अ तर ह। सबका हित अथवा सबकी भलाइ करने ओर सबको सुख देने मे बहुत फक ह। हित तो सदा सवदा सुखदायक होता ह, पर तु सुख सदा सवदा हितकर नही होता अर्थात हित से कभी किसी को दु ख नही होता पर तु सुख से अहित हो सकता ह। साधारणतया लोगो को सुख पहुचान के तीन मुख्य प्रकार हो सकते ह—(१) शरीर को नाना प्रकार के आराम देने के लिए भाति भाति के आधिभौतिक सुखो का आयोजन करना (२) अ त करण की प्रसन्नता के लिए विशेष लोगो के साथ प्रेम और आदर का बर्ताव करने तथा पठन पाठन खल तमाश एव हास्य विनोद की यवस्थाए करन आदि विविध प्रकार के आधिदविक सुखो का आयोजन करना, और (३) आत्मिक शा ति के लिए दाशनिक शिक्षा एव उपदेशो आदि द्वारा तथा उपासना एव योगाभ्यास के साधनो आदि द्वारा आ ध्यात्मिक सुख प्राप्ति के साधन करना। इनम आधिभौतिक और आधिदविक सुख प्रतिक्षण परिवतनशील एव उत्पत्ति नाशवान होते ह और उनके साथ ही उनकी प्रतिक्रिया (reaction) भी लगी रहती ह यानी उनके परिणाम में

दु ख होता ह। आध्यात्मिक सुख में यद्यपि ये दोष नही ह परन्तु उसम शारीरिक और मानसिक सुखा का तिरस्कार हाना ह, और मन की वत्ति आत्मा अथवा परमात्मा म ठहरान में पहले कष्ट होता ह और जब जब वह वत्ति बहिर्मुख होती ह तब-तब विक्षप होता ह। परन्तु हित वह ह कि जिसम उपरोक्त दोष और त्रुटिया नही होती और जिसम पहले अथवा पीछे कोई क्लेश अथवा विपरीत परिणाम नहीं होता।

सुख और हित का अन्तर समझने के लिए निम्नलिखित तथ्यो पर ध्यान देना चाहिए —भूखो के लिए नाना प्रकार के स्वादिष्ट पकवान और प्यासो के लिए बफ सहित ठडे पानी अथवा शबत आदि का प्रबन्ध करना वस्त्रहीन लोगो के लिए बढिया कीमती वस्त्र बनवा देना गहहीन लोगो के लिए सब प्रकार के ऐशो-आराम के साधनो से सुसज्जित विशाल भवन बनवा देना निधनो को धन देना और सव साधारण के मनो विनोद के लिए हास्य विनोद खेल-तमाश सर सपाटे क साधन कर देना आदि आयोजन अवश्य ही सुखकर होते ह परन्तु ये सदा हितकर नही होने क्योकि इनसे उद्यमहीनता, विलासिता अमीरी और परावलम्बन के भाव बढते ह तथा लोगो का रहन-सहन बहुत खर्चीला हो जाता ह। इसके सिवाय खान पान रहन-सहन ऐशो-आराम एव मनो विनोद आदि के सामान नित नये एक दूसरे से बढकर बनते रहते ह इसलिए इन साधनो से लोगो के जीवन की आवश्यकताए एव विलासिता दिन दिन बढती रहती ह जिनका कभी अन्त नही आता और जिनसे कभी तप्ति नहा होनी न कभी सन्तोष ही होता ह। इस प्रकार के विलासी जीवन से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते ह तथा आकस्मिक दुघटनाओ की विपत्तिया भी आती रहती ह। फिर उन रोगादि के प्रतीकार के लिए चिकित्सा आदि का प्रबन्ध करना और विपत्तिनिवारक आयोजन करके दुखियो की सहायता करना आवश्यक होता ह, परन्तु वे आयोजन भी (कुछ हद तक) सुखकारक ही होते ह—हितकारक नही होते क्योकि रोगो की चिकित्सा के लिए जो अस्पताल आदि सस्थाए होती ह उनसे यद्यपि आराम मिलता ह ओर विपत्तिनिवारक सस्थाओ से यद्यपि लोगा को विपत्तियो म सहायता मिलती ह परन्तु उनसे जनता के रोग और विपत्तिया मिट नही जाती किन्तु जब तक रोगो और विपत्तियो के उपरोक्त कारण बने रहते ह तब तक वे दिन प्रतिदिन बढती ही जाती ह। इसी तरह लोगो की ज्ञान-वद्धि आदि के लिए विद्याध्ययन की व्यवस्थाए करना तथा आत्मिक सुख के लिए आत्मज्ञान की शिक्षा तथा उपदेश आदि की व्यवस्थाए करना आदि सुखकारक अवश्य होती ह, परन्तु वे भी सदा हितकारक नही हाती क्याकि दुष्ट प्रकृति के लोगो की विद्या और ज्ञान, उनके अत्याचारो मे सहायक हो सकते ह ओर अव्यावहारिक आत्मज्ञान से समाज में अव्यवस्था उत्पन्न होती ह। (इस अध्याय के श्लोक १ से १७ तक के स्पष्टीकरण में पृ० १८२ देखिए)।

परन्तु लोगो का हित करने मे इस प्रकार एकागी एव दोषयुक्त सुखो के आयोजन नहीं होते। सर्वभूतहित के सिद्धान्त के आधार पर समाज की व्यवस्था करने म लोगो को अपना अपनी योग्यता के कामो मे लगाय रख कर उन कामो द्वारा एक दूसरे के जीवन के लिए आवश्यक सामग्रिया यथायोग्य प्राप्त होने का प्रबन्ध रहता ह और साधारणतया, परिस्थिति के अनुसार सादे खान पान, सादे रहन-सहन तथा सादे मनोविनोद के साधनो में सन्तुष्ट रहने तथा इन्द्रियो के भोगो मे सयम रखन द्वारा शरीर को आरोग्य, सुदृढ एव सहनशील, तथा अन्त करण को शुद्ध शान्त और प्रसन्न बनाये रखने का स्वभाव बनाया जाता ह जिससे विलासिता न बढे ओर उस विलासिता से उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के रोग आदि दुष्परिणाम एव उपद्रव न हो किन्तु सब कोई स्वावलम्बन एव शान्ति पूवक जीवन यात्रा करते हुए अपनी सब प्रकार की उन्नति करन म अग्रसर होते रह। विद्याध्ययन सदाचार की शिक्षासहित कराया जाता ह और आत्मज्ञान का अभ्यास व्याव हारिक विज्ञान सहित कराया जाता ह जिनसे सबकी भलाई होती ह। इस प्रकार सर्व भूतहित [illegible], समाज अथवा व्यक्तियो की सख्या को अथवा किसी विशेष प्रकार के सुख को महत्व नही दिया जाता किन्तु आत्मौ पम्य-बुद्धि से सबके साथ पूर्व वर्णित समता का बर्ताव किया जाता ह अर्थात सबको एक ही आत्मा—अपने आपके अनेक रूप जान कर सबके साथ यथायोग्य साम्य भाव का व्यवहार किया जाता ह। किसी भी प्राणी से बर्ताव करते समय अपन आपको उसकी स्थिति म रख कर फिर उसके सुख दु ख आदि की वेदनाओ का अनुमान करना होता ह, अर्थात यह विचारना होता ह कि यदि म उसकी स्थिति म होता और मेरे साथ इस तरह का बर्ताव किया जाता तो मुझे वह कसा लगता और उस बर्ताव का वतमान और भविष्य मे मुझ पर क्या प्रभाव पडता? इस तरह [illegible] द्वारा विचारपूवक सबके साथ उपरोक्त समता का बर्ताव करने से किसी का अहित नही होता और न उसका [illegible] ही होता ह।

इस प्रकार समष्टि भाव से, वतमान और भविष्य पर दष्टि रखते हुए, तात्त्विक विचारपूवक जो व्यवहार किया जाता ह उससे यदि किसी को प्रत्यक्ष मे थोडा या बहुत सुख न भी हो तो उससे किसी को दु ख तो वतमान मे या भविष्य म अवश्य ही नही होता। इसलिए सूक्ष्मदर्शी, तत्त्वज्ञानी समत्वयोगी का लक्ष्य सबके हित करने का रहता ह [illegible] मे भगवान ने अनेक स्थलो पर सब के हित मे लगे रहने का ही उपदेश दिया ह।

श्लोक १८वें में वर्णित साम्य भाव के विषय में आजकल बहुत विवाद चल रहा ह। एक तरफ उदार विचार के लोगो का कहना ह कि भगवान ब्राह्मण, चाण्डाल, स्त्री,

पुरुष, भले, बुरे, पशु, पक्षी, आदि सबके साथ समता के बर्ताव करने का उपदेश देते ह, और दूसरी तरफ रूढिवादी लोगो का कहना ह कि इस श्लोक मे समदर्शिन' वाक्य ह, उसका स्पष्ट अर्थ समता देखना ह न कि समता का बर्ताव करना। अब विचार यह करना ह कि भगवान का अभिप्राय सबमे समता देखने मात्र ही का ह या जैसा देखे उसी के अनुसार बर्ताव करने का भी ह। यदि समता के बर्ताव का यह तात्पर्य हो कि जो बर्ताव एक सत्वगुण प्रधान सदाचारी विद्वान ब्राह्मण गुण सम्पन्न व्यक्ति के साथ किया जाय, वही एक तमोगुण प्रधान मूर्ख एव उजडड व्यक्ति के साथ, और वही एक पशु के साथ किया जाय और जो बर्ताव एक सज्जन के साथ किया जाय, वही दुर्जन के साथ किया जाय, और जो बर्ताव स्त्री के साथ किया जाय वही पुरुष के साथ किया जाय तब न तो ऐसा बन सकता ह और न कोई समझदार व्यक्ति इस तरह के समता के बर्ताव का समर्थन ही कर सकता ह क्योकि वास्तव मे यह समता का बर्ताव नही किन्तु विषमता का बर्ताव ह। समता का बर्ताव तो यह ह कि भिन्न भिन्न प्रतीत होने वाले सारे शरीरो को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा अथवा सबके अपने आपके अनेक रूप समझते हुए जिस शरीर के गुणो की जैसी योग्यता हो और जैसा आपस का सम्बन्ध हो, उसी के अनुसार उसके साथ व्यवहार किया जाय। यदि शरीरो के गुणो की योग्यता के अनुरूप बर्ताव न होकर उसके विपरीत बर्ताव होता ह तो वह समता का बर्ताव नहीं किन्तु विषमता का बर्ताव ह। जिस तरह—सत्वगुण की प्रधानता के कारण ब्राह्मण माने जाने वाले सदाचारी विद्वान के शरीर की योग्यता ज्ञान और विज्ञान की शिक्षा एव सदुपदेशादि द्वारा लोक-सेवा करने की होती ह अत उस शरीर को सर्वात्मा=परमात्मा का एक सत्वगुण प्रधान रूप एव समाज का एक उपयोगी तथा आवश्यक अग समझ कर उसकी सात्विक लोक सेवा के अनुरूप आदरपूर्वक उसका सत्कार करना, सात्विक भोजन उपयुक्त वस्त्र, स्थान एव विद्याध्ययन आदि के साधनो द्वारा उसकी शारीरिक एव मानसिक आवश्यकताए पूरी करने मे सहायक होना उसके योग्य समता का बर्ताव ह और तमोगुण की प्रधानता के कारण चाण्डाल माने जाने वाले एक अशिष्ठ मूर्ख व्यक्ति की योग्यता अपने शारीरिक श्रम द्वारा मजदूरी करने अथवा मला साफ करने आदि लोक-सेवा करने की होती ह, अत उसे भी उसी तरह सर्वात्मा=परमात्मा का एक तमोगुण प्रधान रूप एव समाज का एक उपयोगी तथा आवश्यक अग समझ कर उसके साथ प्रेम करना उसका तिरस्कार अथवा उससे घृणा कदापि न करना किन्तु उस पर अनुग्रह रखना तथा उस तम प्रधान शरीर और उसके शारीरिक परिश्रम की स्थूल लोक-सेवा के अनुरूप शरीर को सुदृढ रखने वाले मोटे भोजन, वस्त्र तथा सादे रहन-सहन आदि के साधनो द्वारा उसकी प्राकृतिक आवश्यकताए यथायोग्य पूरी करने में सहायक होना और उसकी सब प्रकार की उन्नति करने मे सहायता और सहयोग देना, उसके योग्य समता का बर्ताव ह। गाय के

शरीर मे यद्यपि मनुष्य शरीर की अपेक्षा तमोगुण की प्रधानता होती ह, परन्तु अन्य पशओ की अपेक्षा उसमे कुछ सत्वगण अधिक होता ह अत अन्य पशओ की अपेक्षा वह पवित्र, अहिसक एव विशष लोकोपयोगी पशु ह उसको भी सर्वात्मा==परमात्मा का एक विशष रूप एव लोकापयोगी आवश्यक अग समझ कर उस शरीर की आवश्यकता और उपयोगिता के अनसार उसकी सावधानी से रक्षा करना, निमल पानी एव अच्छे घास आदि से उसका पालन करना, स्वच्छ एव सुरक्षित स्थान म रखना तथा उस शरीर के योग्य उसका उपयोग करना उसके योग्य समता का बर्ताव ह और कुत्ता एक मलिन एव मासाहारा पशु होने पर भी मनुष्यो की अनेक प्रकार की सेवाए करता ह उसके लिए यद्यपि गाय जितनी हिफाजत की आवश्यकता नही ह फिर भी उसको परमात्मा का एक विशेष रूप एव जगत का एक आवश्यक अग समझ कर उसके साथ प्रेम ओर दया का भाव रखते हुए भूखे प्यासे होने पर उसे खाना पीना देना तथा आपत्तियो से उसकी रक्षा करना ओर उसकी योग्यतानसार उसका उपयोग करना उसके योग्य समता का बर्ताव ह। हाथी के शरीर की योग्यता मनभर आहार खाने ओर विस्तत देश मे रहने तथा भारी काम करने की होती ह और चीटी के शरीर की योग्यता एक कण आहार खाने और स्वल्प स्थान मे रहने की होती ह। इस तरह भिन्न भिन्न शरीरो की योग्यता भिन्न भिन्न प्रकार की होती ह परन्तु प्रत्येक शरीर एक ही आत्मा अथवा परमात्मा का [illegible] गुण सम्पन्न रूप होता ह ओर सभी शरीरो का कुछ न कुछ उपयोग और उनकी आवश्यकता भी होती ह निरथक पदाथ जगत मे कुछ भी नही ह, इसलिए सब शरीरो को परमात्मा के जगत रूपी विराट शरीर के अग समझ कर प्रत्यक शरीर की अलग अलग योग्यता और उपयोगिता के अनसार ही उसके साथ उपयक्त व्यवहार करना चाहिए और किसी की प्राकृत [illegible], [illegible] प्राकृतिक अधिकार सुरक्षित रखना चाहिए। इसी सिद्धान्त के अनुसार पुरुष के साथ पुरुषोचित [illegible] पशओ के साथ पशुओ के उपयक्त बर्ताव करना सज्जन के साथ [illegible] (सौजन्य एव मित्रता का) ओर दुजन के साथ दुजनोचित (शासन एव उपेक्षा का) बर्ताव करना, समता का बर्ताव ह।

इस तरह गुणो की योग्यतानसार भिन्न भिन्न प्रकार के बर्ताव करते हुए भी सबकी वास्तविक एकता के साम्य भाव को भूल कर किसी के साथ ईर्षा द्वष, घणा, तिरस्कार आदि नही करना चाहिए, न किसी को दबाना और न किसी पर अत्याचार ही करना चाहिए। शरीरो की जो बाहरी भिन्नताए ह, वे सब एक ही आत्मा (अपने आप) के अनेक रूप ह—ऐसा निश्चय रखने से अपने आपके साथ ईर्षा, द्वेष घणा, तिरस्कार आदि के बुरे बर्ताव हो नही सकते। जिस तरह एक ही शरीर के अनेक अग होते ह—कोई छोटा, कोई बडा, कोई सूक्ष्म, कोई स्थूल, कोई कोमल, कोई कठोर, कोई पवित्र, कोई मलिन,

कोई ज्ञान ˉयवसायी कोई कम-व्यवसायी आदि परˉतु वास्तव में उनमें पथकता नहीं होती और कोई भी अग किसी दूसरे अग से ईर्षा द्वेष घणा, तिरस्कार आदि नही करता सभी आपस मे एकत्व भाव से सहयोग करके बतते ह। यदि कोई अग रोग से ग्रसित होता ह तो सभी अग उस अग के कष्ट का अनुभव करते ह ओर उसकी चिकित्सा करते ह। यदि कोई अग दूषिन हो जाता ह तो दूसरे अग सारे शरीर की स्वस्थना के लिए उस अग का यथोचित उपचार करने ह ओर आवश्यकना पडने पर उसे काट भी फेंकने ह परˉतु द्वेषभाव से नहा। इसी तरह सभी भूत प्राणियो को एक ही ज्ातमा अथवा परमात्मा के जगत रूपी विराट शरीर के ज्नेक अग समझ कर सबके साथ एकता के प्रेमभाव* का यथायोग्य बर्ताव करना ही सच्ची समता का बर्ताव ह। शरीरो की योग्यता के जो भेद ह वे प्रकृति के सत्व रज और तम गुणो के तारतम्य के बनाव ह और वे अस्थायी एव परिवतनशील ह अथात सदा बदलते रहते ह। इस गण वचिˉय के तत्त्व को भूल कर केवल शरीरो में आसक्नि करके आपस मे राग द्वेष घणा तिरस्कार आदि के विपरीत आचरण करना अनथ का हेतु होता ह क्योकि इससे समाज का सतुलन बिगडता ह।

उपरोक्त गुण वचिˉय के अनसार भिन्न भिन्न शरीरो के साथ भिन्न भिन्न प्रकार का ˉयवहार करना यद्यपि समता का बर्ताव ह परˉतु अनेक बाते ऐसी ह जो सभी शरीरो के लिए समान रूप से उपयोगी एव आवश्यक ह। जिस तरह—रहने सोने, बठने और घूमन फिरने के लिए पर्याप्त भूमि पीन आदि के लिए स्वच्छ पानी स्वस्थ जीवन के लिए शुद्ध हवा तथा प्रकाश, भूख की शाˉित के लिए भोजन एव एक से अनक होन की स्वाभाविक इच्छा अथवा काम के वेग की शाˉित के लिए नर मादा का सहवास आदि प्राकृतिक आवश्यकताए समान रूप से मनुष्य (स्त्री पुरुष) एव पश पक्षियो को ी रहती ह। इनके अतिरिक्त मनुष्यो (स्त्री पुरुषो) के शरीरो म बद्धि का विशेष विकास होने के कारण साधारणतया इनमे अपने स्वाभाविक गुणो, विद्या ज्ञान, बल एव वभव सबधी उन्नति करने की विशेष योग्यता होती ह तथा नाˉ ɪमा ˉि—ˉनˉɪ हष शोक आदि मानसिक वेदनाए भी सभी स्त्री पुरुषो में प्राय स्वाभाविक होती ह अत उपरोक्त सामाˉय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए तथा सब प्रकार की उन्नति करन के लिए सबको एक समान सुविधाए रहनी चाहिए तथा सबकी मानसिक वेदनाओ का ध्यान भी रखना चाहिए। गुण वचिˉय से उत्पन्न ब्राह्मणपन और चाण्डालपन के भेद की ज्पेक्षा मनुष्यत्व का अभेद अधिक ˉयापक और स्थायी होता ह, अत वह अधिक सत्य ह। इसी तरह स्त्रीत्व और पुरुषत्व के भेद की अपेक्षा मनष्यत्व अधिक ˉयापक और अधिक सत्य ह, इसलिए मनुष्यत्व के एकत्व भाव की योग्यता ब्राह्मणपन, चाण्डालपन, स्त्रीत्व अथवा पुरुषत्व

---

* प्रम का स्पष्टीकरण बारहव अˉयाय म देखिए।

के भेद की अपेक्षा अधिक होती ह फलत मनुष्यत्व के सामान्य अधिकारो और सामान्य आवश्यकताओ की योग्यता उपरोक्त ब्राह्मणपन, चाण्डालपन स्त्रीत्व पुरुषत्व आदि भिन्नताओ के विशेष अधिकारो और विशष आवश्यकताओ से अधिक होती ह । अत गुण-वचित्र्य की भिन्नताओ के अनसार विशेष बर्ताव करने म मनष्यत्व के सामान्य अधिकारो और आवश्यकताओ की अवहेलना कदापि नही करनी चाहिए । साराश यह कि सव साधारण के सामान्य अधिकारो को छीन कर विशेष लोगो के विशेष अधिकारो की रक्षा करना 'समदशन" के विरुद्ध ह । प्राणियो की सामान्य आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन, यदि बलात न छीने जाए तो वे स्वत ही प्रस्तुत रहते ह तथा साधारणतया मनुष्यो (स्त्री पुरुषो) के शरीरो की जो उपरोक्त विशष आवश्यकताएँ ह उनकी पूर्ति मे भी यदि स्वाथवश जबदस्ती बाधाए न दी जाय तो वे भी अनायास ही पूरी होती रहे और ऐसा होने से गण वचित्र्य से उत्पन्न पथक पथक शरीरो की योग्यतानसार भिन्न भिन्न प्रकार के आचरण भी सुगमता से होते रहे और समाज का सतुलन बना रहे जिससे सबका हित होता रहे क्याकि व्यष्टि हित समष्टि हित पर और समष्टि हित व्यष्टि हित पर निभर ह । परन्तु जब मनुष्यो (स्त्री पुरुषो) के साधारण अधिकारो ओर स्वाभाविक [illegible] को कुचलने का अस्वाभाविक प्रयत्न विशेष-शक्ति सम्पन्न लोगो द्वारा किया जाता ह, तब सवत्र विषमता उत्पन्न होकर तथा सतुलन बिगड कर सारी व्यवस्था अस्त व्यस्त हो जाती ह, जिससे महान अनथ होते ह ।

साराश यह कि १८वें श्लोक में भगवान ने जो "समदशन" का विधान किया ह उसका अभिप्राय ऊपर लिखे अनुसार सबको एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप अनभव करते हुए सबके साथ यथायोग्य प्रेमपूण साम्य भाव का बर्ताव करने का ह । तीसरे अध्याय के श्लोक ३५ म भगवान ने सबके कतव्य कर्मो को अपने अपने स्थान में श्रेष्ठ कहा ह, और फिर चौथे अध्याय के श्लोक २४ मे कर्ता कम करण आदि सबको ब्रह्म रूप बताया ह, अर्थात जो परमात्मा पण्डितो तथा उनके शास्त्र ग्रन्थो मे ह हवन करने वालो तथा हवन-कुड एव हवन के साधनो में ह ज्ञानियो तथा उनके ज्ञान मे ह साधुओ तथा उनके वेष में ह योगियो तथा उनकी समाधि मे ह मन्दिरो पुजारियो तथा मूर्तियो मे ह [illegible] —वही परमात्मा शासक क्षत्रिय ओर उसकी तलवार मे, वही वश्य और उसकी कलम मे, वही शिल्पकार और उसकी शिल्पकला मे वही लोहार और उसकी भट्टी में वही कुम्हार और उसके चाक में वही सुथार और उसके वसूले में, वही जुलाहे और उसके करघे मे वही कारखानो और मशीनो में, वही एजिन और बायलरो में, वही मेहतर और उसकी झाड़ू में, वही चमार और उसके

चमडे मे, तथा वही कसाई और उसके छरे म ह और वही परमात्मा पुरुषो और उनके द्रव्योपाजन के उद्योगो मे और वही स्त्रियो तथा उनके गहस्थी के काम काज में ह। **तात्पय यह कि यदि कम ओर व्यवसाय (पेशे) की दष्टि से विचार किया जाय तो भी गीता मे उपरोक्त समता के बर्ताव ही का विधान ह।**

जो लोग कहते ह कि भगवान समदशन" अर्थात सबम एक एव सम आत्मा देखने मात्र ही का उपदेश देते ह न कि समवतन अर्थात समता के बर्ताव करन का वे या तो इस उपदेश के उपरोक्त अभिप्राय से अनभिज्ञ ह या उसकी उपेक्षा करते ह। यदि यहा पर 'दशन श द का अथ केवल आखो से देखना ही लिया जाय तो कुछ अथ ही नहीं हाता, क्योकि समता अथवा एकता (सबका आ तरिक एकत्व भाव अर्थात आत्मा) स्थूल आखो अर्थात चम चक्षओ से देखने का विषय नही ह। एकता अथवा समता तो बोद्धिक विचार अर्थात ज्ञान चक्ष का विषय ह अत समदशन' वाक्य का तात्पय साम्य भाव के ज्ञान से ह (गी० अ० ६ श्लो० ९ अ० १२ श्लो० ४) न कि आखो से समता देखने मात्र से। जब बद्धि साम्य भाव म स्थित हो जाती ह तब देखन सुनने आदि सारे ज्ञानेंद्रियो ओर कर्मेंद्रियो के व्यवहार स्वत ही साम्य भाव से ॰ान ॰गन ॰ क्योकि विचारवान पुरुषो के सारे व्यवहार बद्धि ही की प्रेरणा से होते ह। इस पर भी यदि समदशन' वाक्य का अथ केवल "समान देखना ही लिया जाय तो भी जसा देखा जाता ह उसी के अनुसार बर्ताव होता ह— देखने के विपरीत बर्ताव नही हो सकता। इससे भी सिद्ध ह कि समदशन' से भगवान का अभिप्राय केवल समता देखना मात्र ही नही ह। भगवान ॰॰॰—न। ॰॰ को सबका आत्मा=परमात्मा कहते ह उनकी कही हुई गीता म एसा अस्वाभाविक उपदेश कभी नहीं हो सकता कि सब म देखो तो समता और बर्ताव करो उसके विपरीत विषमता का सवत्र एक एव सम आत्मा अथवा ब्रह्म को परिपूण जानो (वासुदेव सवमिति), और व्यवहार करो उसके साथ घणा तिरस्कार और निदयता का अर्थात ज्ञान तो सवभूतात्मक्य साम्य भाव का रक्खो और बर्ताव भिन्नता के भावयुक्त विषमता का करो कहना सुनना तो यह कि "एक ही परमात्मा सबम समानभाव से व्यापक ह इसलिए सबके साथ प्रमभाव से रहना चाहिए' और बर्ताव मे उस पर कुछ भी अमल न करना तथा लोगो से ईर्षा द्वेष घणा, तिरस्कार करना लडना, झगडना और निबलो के अधिकार छीन कर उन पर अत्याचार करना एव उनको पददलित रखना! इससे अधिक पाखण्ड दूसरा क्या हो सकता ह? इस उल्टी समझ से ही तो इस हिन्दू जाति की इतनी दुदशा हो गई ह कि जिससे निस्तार पाना असभव सा हो रहा ह। **गीता का स्पष्ट आदेश ह कि सबके साथ एकता के साम्य भाव का आचरण करो (गी० अ० २ श्लो० ४८ से ५० अ० ६ श्लो० २९ से ३२), और किसी भी प्रकार के भेद भाव से रहित, सब भूत**

प्राणियो के हित मे लगे रहो। (गी० अ० ५ श्लो० २५, अ० १२ श्लो० ४)। जब कि सवत्र एक आत्मा (अपन-आप) अथवा परमात्मा अथवा ब्रह्म को एक समान देखने को कहा जाता ह (गी० अ० १३ श्लो० २७ २८) और उससे भिन्न कुछ भी नहीं बताया जाता—जसा कि गीता मे सवत्र कहा ह—तो क्या परमात्मा अथवा ब्रह्म अथवा अपन आपसे ईर्षा द्वेष घणा, तिरस्कार आदि विषमता का बर्ताव यक्ति-सगत हो सकता ह ? हठधर्मी से ऊपर उठ कर अच्छी तरह विचार करने पर यह स्पष्ट रूप से समझ म आ जाता ह कि जहा बार-बार एकता अथवा समता का ही प्रति पादन किया गया ह वहा किसी के साथ ईर्षा, द्वष घणा तिरस्कार आदि करने तथा किसा पर अत्याचार करन और निबलो के अधिकार छीनने तथा उनको पद दलित रखने के विषमता के भावो के लिए अवकाश ही नही ह। प्राचीनकाल क समत्वयागियो के इति हासो मे भी जगह जगह उपरोक्त समता के बर्ताव ही के उल्लेख पाये जाते ह।

कई लोगो की यह समझ ह कि शास्त्रो म समता के बर्ताव के वणन ज्ञानी लोगो के आचरणो के ह वे साधारण लोगो पर लागू नहीं हो सकते ज्ञानियो का पद बहुत ऊचा होता ह वे यदि विरुद्धाचरण भी करे तो उन्हे कोई दोष नही लगता कहावत भी ह "समरथ को नहि दोष गुसाइ , पर [illegible] इत्यादि।

यह समझ गलत ह। ज्ञानी लोगो के आचरणो का वणन साधारण लोगो के अनुकरण करने के लिए ही होता ह। यदि एसा न हो तो इन वणनो का कोई प्रयोजन ही नही रहता, क्योकि ज्ञानियो के लिए तो उनके आचरणो के वणन की कोई आवश्यकता ही नही रहती, अज्ञानियो को ही उनका अनकरण करने के लिए माग दिखलाने की आवश्यकता रहती ह। तीसरे अध्याय म भगवान ने स्वय इस बात का खलासा कर दिया ह कि श्रेष्ठ पुरुष जसा आचरण करता ह दूसरे लोग उसका अनुसरण करते ह वह जिस आदश को उपस्थित करता ह लोग उसी के पीछे चलते ह (गी० अ० ३ श्लो० २१) और यहा तक कहा ह कि लोग मेरे ही माग का अनसरण करते ह (गी अ० ३ श्लो० २३)। [illegible] ज्ञानिया के आचरणो के वणन साधारण लोगो के अनुकरण करन ही के लिए किये गये ह। जो व्यव हार ज्ञानिया के स्वभाव सिद्ध अथवा सहज होते ह वे ही साधारण लोगो के लिए आदश रूप से अवश्य कतव्य अथवा साधन रूप से आचरण करने योग्य होते ह। ज्ञानी लोग अपने ज्ञान रूप प्रकाश म जिस माग से चलते ह, अज्ञानी लोगो के लिए उन्ही के पीछे चलना हितकर होता ह न कि अपने अज्ञान रूपी अधकारमय स्वतन्त्र माग से। ज्ञानी का पद साधारण लोगो से बहुत ऊचा अवश्य ह परन्तु इसमे साधारण लोगो की ही त्रुटि ह। इस त्रुटि को मिटाने और ज्ञानी के पद तक पहुचने के लिए प्रयत्न की आवश्यकता ह, न कि अपनी अज्ञान की दशा ही मे पडे रहने मे सतोष करने की।

"समरथ को नहि दोष गुसाई" का तात्पय यह ह कि ज्ञानी के आचरण यदि अज्ञानी

लोगो को दोषपूण प्रतीत हो तो भी वास्तव मे वे दोषपूण नहा हान। यह अज्ञानियो की समझ का दोष ह कि ज्ञानियो के आचरणो मे उन्हे दोष प्रतीत होते ह। अज्ञानियो को अपने इस दोष को मिटाने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए न कि ज्ञानिया के आचरणो म दोषा रोपण करके उनसे परहेज करना। इस कहावत का यह तात्पय कदापि नही ह कि 'ज्ञानियो के आचरण भी दोषपूण होते ह परन्तु उन्ह उनका दोष नही लगता।' यदि ज्ञानियो के आचरण दोषपूण होते तो दूसरो के लिए उनके अनुकरण करने का विधान नहा हाता।

समत्वयोगी की किसी व्यक्ति विशेष अथवा धम विशेष अथवा आचरण विशेष में ममत्व की आसक्ति नही रहती न वह किसी रीति रिवाज मे ही कट्टरता रखता ह किन्तु वह समष्टि लोक हित की व्यापक दृष्टि से जिस परिस्थिति म जो व्यवहार विशेष उपयुक्त होता ह वही करता ह। लोक हित के लिए किसी व्यक्ति को कोई हानि या कष्ट हो तो वह लोक हित को ही अधिक महत्व देता ह।

परन्तु वतमान समय में भगवान के कहे हुए उपरोक्त साम्य भाव के विपरीत अत्यन्त विषमता के आचरण बहुतायत से हो रहे ह जिनसे जनता मे बहुत अशान्ति फल रही ह। शरीरो के व्यक्तित्व के अहकार ओर पथकता के भावो की प्रबलता के कारण व्यक्तिगत स्वार्थो मे लोगो की आसक्ति इतनी बढ गई ह कि व्यक्तिगत स्वार्थो के लिए भौतिक जड पदार्थो वनस्पतिया एव पशु पक्षियो के साथ तो मनुष्योचित ही नही, किन्तु देवताओ के योग्य बर्ताव हो रहे ह ओर नीच जाति के माने जाने वाले मनुष्यो के साथ तथा स्त्रियो के साथ जड पदार्थो एव पशु पक्षियो के योग्य बर्ताव हो रहे ह, और ये विरुद्धाचरण एव अत्याचार, धम या मजहब की छाप लगा कर किये जाते ह, अर्थात धम अथवा मजहब मे अन्ध [illegible] विरुद्ध आचरणो को ही सच्चा धम मानते ह।*

उपरोक्त विवेचन का यह अभिप्राय कदापि नही ह कि गुणो के तारतम्य से उत्पन्न शरीरो की पथक पथक योग्यता के विचार की सवथा उपेक्षा करके सब एकाकार कर दिया जाय, अर्थात सबके एक से कम एक से भोग और एक से रहन-सहन यानी एक सी जीवन चर्या कर दी जाय एव जिन सत्वगुण तथा रजोगुण प्रधान लोगो म आध्यात्मिक, आधिदविक तथा आधिभौतिक उन्नति करने की विशेष योग्यता हो वे तमोगुण प्रधान लोगो के साथ बधे हुए हीनावस्था मे ही पडे रहे और अपनी उन्नति करने मे अग्रसर न हो। ऐसा करना अप्राकृतिक होने के अतिरिक्त मनुष्यता से भी गिरना ह। मनुष्य देह म आत्म विकास की विशेषता होने के कारण सब प्रकार की उन्नति करने की योग्यता भी होती ह अत

---

* नवे अध्याय मे उपासना का स्पष्टीकरण सोलहवे अध्याय म आसुरी सम्पत्ति का स्पष्टीकरण और सत्रहवे अध्याय म दान का स्पष्टीकरण देखिए।

गुणो के तारतम्य के अनसार प्रत्येक मनुष्य को अपनी उन्नति करने मे पूण स्वतन्त्रता होनी चाहिए [illegible] प्रवा [illegible] उन्नति [illegible] नना चाहिए। इसी मे मनुष्य की मनुष्यता ह। परन्तु आधिभोतिक और आधिदविक उन्नति के साथ साथ आध्यात्मिक उन्नति अवश्य होनी चाहिए। आध्यात्मिक उन्नति रहित आधिदविक और आधिभौतिक उन्नति अशान्ति और विप्लव का कारण होती ह क्योकि उसमे व्यक्तित्व का भाव बेहिसाब बढ कर विषमता के आचरण होन लगते ह जिनसे अपने-अपने व्यक्तिगत स्वार्थो की खीचातानी उत्पन्न होकर परस्पर मे घोर विद्वेष फल जाता ह। यदि आधिभौतिक और आधिदविक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति भी होती रहे तो उसके प्रसाद से सबमें पारस्परिक एकता के प्रेम का भाव बना रहे और उस एकता के प्रम सहित सब कोई अपन-अपने गणो की योग्यतानसार सासारिक व्यवहार करते हुए ओर यथायोग्य भोग भोगते हुए परम सन्तुष्ट रहे। सत्व रज प्रधान लोग तम प्रधान लोगो से अधिक उन्नत होते हुए [illegible] भी उनको अपना ही अग समझ कर उनसे एकता के प्रेम का बर्ताव करते रहे तथा उन लोगो की स्वाभाविक आवश्यकताओ और अधिकारो एव मनो वेदनाओ को अपनी समझ (गी० अ० ६ श्लो० ३२)—उनकी उपेक्षा न करे—तो समाज का सन्तुलन बना रहे और अशान्ति उत्पन्न नही होती। जिस समाज के उन्नतिशील लोग जिस विषय म जितनी ही अधिक उन्नति करे उसम उस समाज के सब लोगो को यथायोग्य अपना साझेदार समझ अर्थात उस उन्नति का लाभ सारे समाज को यथायोग्य पहुँचाव और उस विषय म सारा समाज ही उन्नत होवे तभी वास्तविक उन्नति होती ह क्योकि दूसरो की सहायता और सहयोग बिना कोई विशेष व्यक्ति अकेला उन्नति नही कर सकता। यदि कोई विशष व्यक्ति तो उन्नति करके विशेष प्रकार के भोग भोगता ह और दूसरो को उस उन्नति से सवथा वचित एव हीन [illegible] तो वह यथाथ उन्नति नही होती, किन्तु वह अवनति का कारण होती ह। इसके अतिरिक्त अपनी अपनी उन्नति करने का अधिकार प्रत्येक मनुष्य (स्त्री पुरुष) का [illegible] सिद्ध होता ह उस अधिकार को छीनने अथवा कुचलने [illegible] पि नह [illegible] चाहिए। उन्नति का माग सबके लिए एक समान खला रहना चाहिए [illegible] म किसी का ठेका नही होना चाहिए—ठेका होने से ही परस्पर म विद्वेष और अशान्ति फलती ह।

दूसरी तरफ रज तम प्रधान लोगो को चाहिए कि वे सत्व रज प्रधान लोगो से प्रेम का बर्ताव रखते हुए उनके अधिक उन्नतिशील होने और विशेष भोग भोगने से ईर्षा एव द्वेष न करें, किन्तु उन्हे अपने ही स्वजन समझ कर मोद करें क्योकि विशेष उन्नति और विशेष भोग विशष गणो का परिणाम होता ह। जिसकी जिस विषय में विशेष उन्नति करन की योग्यता होती ह वही उस विषय म उन्नति कर सकता ह, उसमें किसी विशेष

"यक्ति अथवा समाज विशेष का ठेका नही ह। इसलिए किसी के साथ ईर्षा, द्वेष आदि करन का कोई कारण नही रहता।

इस तरह आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनो प्रकार की उन्नति करते हुए सब कोई एक दूसरे को एक ही शरीर अथवा कुटम्ब के अग समझते हुए आपस में एकता के प्रेम भाव का बर्ताव करे "यष्टि (प्रत्यक "यक्ति) समष्टि (सब) के हित के लिए प्रयत्नशील रहे ओर समष्टि (सब कोई) "यष्टि (प्रत्येक "यक्ति) के हित मे सहायक रहे तभी सबकी यथाथ उन्नति ओर सबका यथाथ हित हो सकता ह। यही सवभूतात्मक्य साम्य भाव अथवा सच्चा सम दशन ह।

इस स्पष्टीकरण के समाप्त करने के पूव गीता प्रतिपादित समत्व योग और साधारणतया माने जाने वाले समानता के बर्ताव अथवा आधुनिक साम्यवाद मे जो अ तर ह, प्रसगवश उसका खलासा कर देना उचित प्रतीत होता ह।

गीता के समत्व योग की भित्ति अथवा मूल आधार सबकी वास्तविक एकता (Unity) एव समता (Sameness) का सिद्धा त ह। गीता का मन्तव्य ह कि सारी चराचर द्वन्द्वात्मक सष्टि मे एक सत्य, नित्य एव सम (same) आत्मा—जो सबका अपना आप ह—समान रूप से परिपूण ह। वस्तुत इस एक आत्मा—जिसे चाहे ब्रह्म कहे या परमात्मा अथवा ईश्वर कहे या 'अह यानी "म कहे—के सिवाय और कुछ भी नही ह और सारी चराचर सष्टि के जो अन त प्रकार के अनकता के भाव ह, वे सब उसी एक के सकल्प या प्रकृति के नाना नामो ओर नाना रूपा के परिवतनशील बनाव ह। इस तरह सबकी एकता को सच्ची ओर अनकता को झूठी समझ कर भिन्न भिन्न प्रतीत होन वाले शरीरो के साथ उनके गुणो की पथक पथक याग्यतानुसार यथायोग्य "यवहार करना और एसा करते हुए भी सबकी आपस की वास्तविक एकता का सदा स्मरण रखते हुए अ त करण में किसी के साथ राग, द्वेष, ईर्षा घणा तिरस्कार आदि मलिन भाव न रखना और किसी को वस्तुत ऊचा नीचा, पवित्र मलिन, अच्छा, बुरा, बडा छोटा आदि न समझना तथा किसी पर अत्याचार न करना किसी को न दबाना, किसी के स्वाभाविक अधिकार न छीनना—यह गीता प्रतिपादित समत्व योग ह। जिस तरह एक कुटुम्ब के अनेक सदस्य होते ह उनकी योग्यता भिन्न भिन्न होती ह और वे अपनी अपनी योग्यता के अनुसार अलग अलग काय करते ह और अलग अलग भोग भोगते ह और आपस मे एक दूसरे के साथ भिन्न भिन्न प्रकार के सबध रखते ह परन्तु इस भिन्नता के रहते भी, सब एक ही कुटम्ब के सदस्य होने के नाते एक दूसरे की कौटुम्बिक एकता का प्रेम उन सबके अ त करण म बना रहता ह, अत एक दूसरे के साथ समता का बर्ताव भी बना रहता ह। इसी तरह सारी सष्टि को एक ही शरीर अथवा कुटुम्ब के अनेक अग समझ

कर सबके साथ एकता के प्रेम सहित यथायोग्य बर्ताव करना गीता प्रतिपादित समत्व योग का आचरण है।

परन्तु साधारणतया जो समानता के बर्ताव अथवा आधुनिक साम्यवाद का सिद्धान्त प्रचलित है वह उक्त सर्वभूतात्मैक्य सिद्धान्त की उपेक्षा करता है। आधुनिक साम्यवाद के सिद्धान्त केवल भौतिकता पर निर्भर है और भौतिक बनावों में अनन्त भेद होने के कारण उसके अनुसार सबको मूल से ही अलग अलग मान कर, फिर सबके साथ समानता (Equality) का बर्ताव करने की व्यवस्था करने का प्रयत्न किया जाता है अर्थात सब व्यक्तियों की पृथकता को वस्तुतः सच्ची मानते हुए और भिन्न भिन्न व्यक्तियों की भिन्न भिन्न प्रकार की योग्यता का प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति के सब प्रकार के भौतिक अधिकार एक समान करने का प्रयत्न किया जाता है। इस कृत्रिम अथवा बनावटी समानता के बर्ताव के सिद्धान्त अथवा साम्यवाद की भित्ति केवल भौतिक नींव पर निर्भर है जो स्वयं परिवर्तनशील है इसलिए इसकी भित्ति अनिश्चित होने के कारण यह लम्बी मुद्दत तक ठहर नहीं सकता।

इसके अतिरिक्त कई लोग केवल आध्यात्मिक साम्यवाद के पक्षपाती हैं। उनका सिद्धान्त है कि जगत के भौतिक बनावों की सर्वथा उपेक्षा करके केवल आध्यात्मिक [illegible] यहां तक कि दुष्टों को दण्ड भी न देना चाहिए। परन्तु इस [illegible] जगत के व्यवहारों में इस प्रकार का कोरा आध्यात्मिक साम्यवाद अव्यवहार्य है—कार्यरूप में इसका निर्वाह नहीं हो सकता।

यद्यपि ये दोनों प्रकार के साम्यवाद अर्थात आधिभौतिक और आध्यात्मिक साम्यवाद कहने सुनने में बड़े सुन्दर और चित्ताकर्षक प्रतीत होते हैं परन्तु वास्तविक उपयोग की दृष्टि से दोनों ही अपूर्ण और दोष-युक्त हैं। गीता के समत्व योग में ये त्रुटियां नहीं हैं। न यह कृत्रिम है और न अव्यावहारिक ही। तात्त्विक विचार न करने पर यह जटिल और दुष्कर भले ही प्रतीत हो परन्तु वास्तविक साम्यवाद अथवा समता का व्यवहार यही है, क्योंकि यह मौलिक और तात्त्विक है। और इसमें आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनों साम्यवादों का सन्तुलन और समन्वय हो जाता है।

× × ×

समत्वयोगी की ब्राह्मी स्थिति और महिमा कह कर भगवान अब समत्व-योग में स्थित होने के लिए मन की एकाग्रता के साधनों का वर्णन प्रारम्भ करते हैं और उनमें से एक साधन—राज-योग अथवा ध्यान-योग का सूत्रपात यहां से करते हैं —

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा [illegible] ॥२७॥

प्रतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायण ।
विगतेच्छाभयक्रोधो य सदा मुक्त एव स ॥२८॥
भोक्तार यज्ञतपसा सवलोकमहेश्वरम ।
सुहृद सवभूताना ज्ञात्वा मा शान्तिमच्छति ॥२९॥

अथ—(इन्द्रियो के) बाहरी विषयो को बाहर करके अर्थात मन से विषया का खयाल हटाकर दष्टि को दोनो भाओ के बीच मे स्थित करके तथा नासिका के अन्दर आने जान वाले प्राण ओर अपान वायु को सम करके इन्द्रिय मन और बुद्धि को जिसने अपने वश म कर लिया ह और जिसने इच्छा भय तथा क्रोध को निवत्त कर दिया ह वह मोक्ष परायण मनि सदा मुक्त ही ह । तात्पय यह कि प्राणायामादि साधना से जिसके अन्त करण म बाहरी अनकता के भाव मिट कर भीतरी एकता का साम्य भाव जम जाता ह उस जीवनमुक्त महापुरुष के इन्द्रिय मन ओर बद्धि अपन वश मे रहते ह ओर किसी भी प्रकार की कामना भय ओर क्रोध आदि विकारा के लिए उसके अन्त करण मे स्थान नहीं रहता अत वह सदा ही मुक्त ह अर्थात मुक्ति की प्राप्ति के निमित्त उसके लिए न तो कोई विशष कतव्य ही रहता ह ओर न उसे किसी काल विशष देश विशष अथवा अवस्था विशेष की प्रतीक्षा ही करनी पडती ह किन्तु वह स्वय इसी देह म परमात्मा-स्वरूप ही होता ह (२७ २८) । (वह) मझे यज्ञो और तपो का भोक्ता सब लोको का महान ईश्वर सब भूता का सुहृद (प्यारा-अन्तरात्मा) जान कर शान्ति को प्राप्त होता ह । तात्पय यह कि यज्ञ और तप आदि जितने भी पुण्य कम मान जाते ह उन सबका वास्तविक भोक्ता अर्थात अन्तिम गति सबका आत्मा=परमात्मा ही ह क्योकि सब कम आत्मा अथवा अपने आपके लिये किये जाते ह और सबका आत्मा ही परमात्मा ह इसलिए यज्ञादिक सब कर्मा का भोक्ता वही ह ओर सर्वात्मा=परमात्मा ही सब स्थूल सूक्ष्म अथवा ऊपर नीचे के लोको का स्वामी ह अर्थात परमात्मा की सत्ता एव स्फूर्ति से ही पिण्ड और ब्रह्माण्ड रूप अखिल विश्व का सचालन होता ह और उसी पर सबका अस्तित्व निभर ह तथा वही सब भूत प्राणियो का अन्तरात्मा—सबका प्यारा=अपना-आप ह । इस तरह जो इस अखिल विश्व की एकता-स्वरूप सबके — — । — कुछ जानता ह उसी को सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त होती ह (२९) ।

॥पाचवा अध्याय समाप्त ॥

छठा अध्याय

पाचव अध्याय के श्लोक २७ २८ मे समत्व योग में मन को ठहराने के लिए भगवान ने राज-योग या ध्यान-योग के साधन का जो सूत्रपात किया था उसकी याख्या इस छठे अध्याय मे की गई ह। उक्त याख्या करने के पहले भगवान ने कम स यास की अपेक्षा कम-योग की श्रेष्ठता, सवभूतात्मक्य साम्य भाव से कम करन के महत्त्व उक्त समत्व-योग मे स्थित होन के लिए मन के सयम अर्थात एकाग्रता की आव यकता और समत्वयोगी के साम्य भाव यक्त आचरण के स्वरूप आदि के वण न को दोहरा कर यह स्पष्ट कर दिया ह कि यहा पर राज योग या ध्यान योग के अभ्यास का विधान केवल समत्व योग में स्थित होन के लिए एक साधन के रूप म किया गया ह न कि उसकी स्वत त्र कत यता अथवा निरन्तर योगाभ्यास मे लगे रहने के लिए।

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रित कमफल काय कम करोति य ।
स स यासी च योगी च न निरग्निन चाक्रिय ।।१।।
य स यासमिति प्राहुर्योग त विद्धि पाण्डव ।
न [illegible] योगी भवति कश्चन ।।२।।
आरुरुक्षोमुनेर्योग कम कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यव शम कारणमुच्यते ।।३।।
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कमस्वनुषज्जते ।
सवसकल्पस यासी योगारूढस्तदोच्यते ।।४।।
उद्धरेदात्मनात्मान नात्मानमवसादयेत ।
आत्मव ह्यात्मनो ब धुरात्मव रिपुरात्मन ।।५।।
ब धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मवात्मना जित ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मव शत्रुवत ।।६।।

अथ—श्री भगवान बोले कि कम फल के आश्रय बिना अर्थात कर्मो के फल में किसी भी प्रकार की यक्तिगत स्वाथ सिद्धि की आसक्ति न रख कर, जो (मनुष्य) अपने कत य कम करता ह वही स यासी ह ओर वही योगी अर्थात समत्वयोगी ह, न तो निरग्नि अर्थात गहस्थाश्रम की अग्नि को त्यागने वाला, और न अक्रिय अर्थात कर्मों से

रहित होन वाला ही। तात्पय यह कि गहस्थाश्रम और उसके व्यवहार छोड कर निठल्ले बठे रहने वाला वास्तविक सयासी नही होता, किन्तु व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि की आसक्ति बिना अपने कतव्य-कम करने वाला समत्वयोगी ही सच्चा सयासी होता ह (१)। जिसको सयास कहते ह उसी को, हे पाण्डव! योग अथात समत्व योग जान, क्योंकि मानसिक सकल्पा के सयास बिना कोइ भी योगी अर्थात समत्वयोगी नहा हो सकता। तात्पय यह कि उपरोक्त समत्व-याग को ही सच्चा-सन्यास समझना चाहिए क्योकि सच्चा समत्वयोगी वही होता ह, जिसके मन म व्यष्टि और समष्टि की एकता हो जाती ह एव जिसका व्यष्टि जीवन समष्टि जीवन क लिए हो जान से जिसके मन म दूसरो से पथक अपनी व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के सकल्प ही नही उठते और जो अपने शरार की योग्यता के कतव्य कम अनासक्त बुद्धि स लोक-सग्रह के लिए करता रहता ह (२)। योगारूढ होने की इच्छा वाले मनि का कारण कम कहा जाता ह, (और) उसी योगारूढ का कारण शम कहा जाता ह। तात्पय यह कि जब किसी विचारशील काय कर्ता के सामने अपन कतव्य कम करन में अडचन आती ह तथा उनम दु ख रूपता अथवा उलझन प्रतीत होती ह अथवा कतव्याकतव्य के विषय म मोह उत्पन्न होता ह तब वह उन अडचनो आदि से छुटकारा पान के लिए उपाय की खोज करता ह और उस खोज में जब उसे यह पता लगता ह कि सबकी एकता के ज्ञान सहित साम्य भाव से जगत के व्यवहार करना ही सब प्रकार की अडचनो दु खो उलझनो एव मोह पर विजय पाने का एकमात्र उपाय ह तब उसे उक्त समत्व-योग म स्थित होन की इच्छा होती ह। इसलिए उस विचार शील पुरुष के योगारूढ होन के लिए इच्छावान होन का कारण अर्थात उसमें उक्त इच्छा की जागति का कारण कम ही होता ह। इच्छावान पुरुष से उसकी इच्छा भिन्न नहीं होती इसलिए श्लोक के पूर्वार्द्ध मे 'योगारूढ होन की इच्छा वाले मुनि का कारण कम कहा जाता ह' एसा कहा ह। जब वह योगारूढ होन की इच्छा वाला पुरुष भिन्नता के भावो म आसक्ति रूप अपने मन की चचलता का शमन अथवा निरोध कर लेता ह अर्थात मन को एकत्व भाव मे स्थित कर लेता ह तब वह पूर्वोक्त समत्व योग म आरूढ हो जाता ह। इसलिए उस योगारूढ पुरुष के समत्व-योग म आरूढ होने का कारण शम अर्थात मनो निग्रह कहा गया ह। यहा भी 'उस (मनि) का कारण शम कहा ह, इसका अभिप्राय विचारशील पुरुष की उस स्थिति का कारण शम ह ऐसा समझना चाहिए (३)। क्योकि जब वह (विचारशील पुरुष) इन्द्रियो के विषयो और कर्मो म आसक्त नही होता, तथा सब कामनाओ का मन से सयास करता ह तब (वह) योगारूढ कहा जाता ह। तात्पय यह कि वह विचारशील पुरुष समत्व-योग म आरूढ तब होता ह जब कि इन्द्रियो के विषयो और

जगत के कर्मो से व्यक्तिगत सुख प्राप्त करने के सकल्प उसके मन म नहीं उठते क्योकि योगारूढ हो जाने पर उसका मन सबकी एकता के साम्य भाव म जुड जाता ह इसलिए वह विषयो तथा कर्मो एव सारे जगत को अपने आप से अभिन्न अर्थात अपना स्वरूप ही समझता ह (४)। आप ही अपना उद्धार करे अर्थात मनुष्य आप ही अपने को ऊचा उठावे अपने को गिरावे नही, क्योकि आप ही अपना (उद्धार करने वाला) बन्धु ह, और आप ही अपना (पतन करने वाला) शत्रु ह। जिसने अपन आप को अर्थात अपन अन्त करण को जीत लिया ह यानी जिसका मन अपन वश म ह वह स्वय अपना बन्धु ह ओर जिसने अपने आप (अन्त करण) को नही जीता वह स्वय अपने साथ शत्र के समान शत्रुता (वर) का बर्ताव करता ह। तात्पय यह कि लोग साधारणतया अपने आपको दूसरो से पथक पचभूतो का एक पुतला अर्थात स्थूल शरीर मात्र ही मान कर अथवा स्थूल शरीर के अन्दर रहन वाला—मन बद्धि चित्त अहकार तथा सक्ष्म भूतो एव सूक्ष्म इद्रियो के समूह—वासना मय सूक्ष्म शरीर मान कर अपने को अल्पज्ञ अल्प शक्तिमान दीन हीन, सदा सवदा प्रकृति के अधीन उसके विकट बन्धनो से बधा हुआ एक तुच्छ व्यक्ति समझते ह और जगत के कल्पित एव क्षण क्षण मे बदलने वाले नाम रूपात्मक पदार्थो को अपने से भिन्न एव किसी दूसरे के रचे हुए जानकर उन्ही से सुख होन के भ्रमात्मक निश्चय से उनकी प्राप्ति के लिए दौड धूप करते रहते ह—अपने आपके परिपूण सच्चिदानन्द स्वरूप की कुछ भी खबर नहीं रखते—यही आत्मिक पतन ह। मनष्य शरीर म आकर इस तरह पतन के प्रवाह मे बहते चले जाना और उससे ऊपर उठ कर आत्मिक उन्नति का कुछ भी प्रयत्न न करना अपन आपके साथ दुश्मनी करना ह। सव व्यापक [illegible] सदा मक्त स्वरूप सच्चिदानन्द घन आत्मा को एक दीन दु खी अनेक बन्धनो से बधा हुआ परावलम्बी एव तुच्छ व्यक्ति मानना—इससे अधिक शत्रता और क्या हो सकती ह? मनष्य का मनष्यत्व तो इसम ह कि वह अपने वास्तविक सच्चिदानन्द स्वरूप, सबके एकत्व भाव का अनुभव करे, और मन बुद्धि चित्त, अहकार इद्रियो एव शरीरादि सघात को अपने व्यष्टि भाव की रचना समझ कर उस पर शासन करे तथा अखिल विश्व को अपन समष्टि भाव की रचना समझ कर व्यष्टि समष्टि की एकता क निश्चय से पदार्थो के बाहरी नाम रूपो मे आसक्ति न रखे। यद्यपि जीवात्मा ने अपने असली सच्चिदानन्द स्वरूप को भलाकर अपन-आपको एक तुच्छ व्यक्ति कल्पित कर लिया ह, परन्तु मनष्य जब स्वय अपने समष्टि भाव, सच्चिदानन्द स्वरूप का निश्चय कर लेता ह, तब वह तुच्छता के सारे भाव मिटाकर आप ही अपना उद्धारक हो जाता ह। जब कि अपने-आपके असली स्वरूप को भूलन वाला आप ही ह तो उसका ज्ञान भी आप ही कर सकता ह, इसमें अपने सिवाय दूसरा कोई कुछ भी नही कर सकता। अस्तु, जो लोग अपन से भिन्न परमात्मा पर यह दोषारोपण करते ह कि "उसने हमें मोह म डाल रखा ह तथा उसी ने हमारे पीछे

नाना प्रकार की उपाधियो के ब धन और दु ख लगा रख ह और वही हमारा उद्धार करेगा” वे नितात ही भूल म ह । भगवान कहन ह कि अपना उद्धार करने वाला आप ही ह ओर आप ही अपन आपको बाधने वाला या गिराने वाला ह क्योकि अपने से भिन्न दूसरा कोई ह ही नही । अत विचारवान पुरुषो को अपनी सब प्रकार की उन्नति करन म आप ही अग्रसर होना चाहिए ओर पूरे स्वावलम्बी एव आत्मविश्वासी तथा आत्म निभर रहते हुए जगत के व्यवहार करने चाहिए । अपने से भिन्न किसी दूसरे ईश्वरादि की कल्पना करके उस पर निभर रह कर परावलम्बी नही बनना चाहिए । जो अपन से भिन्न दूसरी किसी दष्ट अथवा अदष्ट शक्ति पर निभर रहते ह वे स्वय अपन ही दुश्मन ह और जो स्वावलम्बी, आत्मविश्वासी एव आत्म निभर ह वे अपने आपके मित्र होत ह । अपन आपके सिवाय दूसरा न कोई लाभ पहुचा सकता ह न कोई दु ख दे सकता ह ओर न कोई सुख ही दे सकता ह । उपरोक्त रीति से जो जितना ही अधिक एकत्व भाव म उन्नत और आत्मविश्वासी एव आत्म निभर रह कर सासारिक व्यवहार करता ह उतना ही अधिक वह सुख समद्धि सम्पन्न होता ह और जितना ही अधिक भिन्नता के दल दल म फस कर परावलम्बी होता ह उतना ही अधिक वह गिरता ओर कष्ट पाता ह (५ ६) ।

स्पष्टीकरण—इस अध्याय मे आगे समत्व योग म मन को स्थित करन के लिए साधनरूप से राज-योग या ध्यान योग का कुछ वणन होगा । उससे कोई यह न समझ ले कि यह वणन, ससार के व्यवहार छोड कर निरतर हठ-योग के योगाभ्यास म लगे रहने वाले योगियो का ह ” इसलिए भगवान अध्याय क आरम्भ ही मे स्पष्ट शब्दो म फिर से कम सयास की अपेक्षा कम योग की श्रेष्ठता ओर उसकी आवश्यकता का प्रतिपादन करते ह । भगवान कहते ह कि निरग्नि होन से, अर्थात जन्म देने ओर पालन पोषण करने वाले माता, पिता तथा अपने ऊपर निभर रहने वाले स्त्री पुत्र बधु बाधव एव अय कुटम्ब आदि को छोड कर और गाहस्थ्य धम के कतयो एव दायित्व से विमुख होकर जगल म चले जाने और गेरुए वस्त्र आदि का स्वाग धारण करके भीख माग कर खाने एव शरीर की स्वाभाविक योग्यता के सासारिक व्यवहारो को छोड कर निरुद्यमी बन जाने से वास्तव मे कोई सयासी नही हो जाता क्योकि जब तक शरीर ह तब तक ससार का सग सवथा छूट नही सकता और न कोई सवथा क्रियारहित ही हो सकता ह । यदि कोई घर को छोड कर मठ, मदिर कुटी कदरा आदि म अथवा वक्षो के नीचे निवास करता ह तो वहा उन स्थानो और उनके निकटवर्ती पदार्थो का सग हो सकता ह और माता पिता, स्त्री, पुत्र आदि कुटम्ब तथा समाज से नाता तोडता ह तो गुरु चेला एव सम्प्रदायो से तथा वनो मे रहने वाले लोगो एव पशु पक्षियो से नाता जोड सकता ह अपन उद्यम से उपार्जित धन सम्पत्ति को त्यागता ह तो लोगो की दी हुई भटो तथा भिक्षा अथवा दण्ड कमण्डलु, कोपीन पुस्तक आदि म उसका ममत्व हो सकता ह, गाहस्थ्य के स्वाग और

वेष भूषा को छाडता ह तो स यास के स्वाग ओर वेष भूया म अधिक आसक्ति रख सकता ह—जिनका त्यागना असभव सा हो जाता ह और गहस्थाश्रम के व्यवहारो कतव्यो और मर्यादाओ के बदले स यासाश्रम के व्यवहारो कत या ओर मर्यादाआ के अहकार म अधिक मजबूती से जकडा जा सकता ह। साराश यह कि शरीर के रहते शरीर से ओर उससे सबध रखन वाले पदार्थो एव व्यवहारो से सवथा पथक कोई किसी भी अवस्था म नही हो सकता। अधिक परिग्रह वालो का जितना ममत्व उनके अधिक परिग्रह म होता ह उतना ही अथवा उससे भी अधिक ममत्व थाडे परिग्रह वालो का उनके थोड परिग्रह म होता ह। एक राजा का जितना ममत्व उसके विशाल ऐश्वय म हो सकता ह उतना ही ममत्व एक स यासी का उसके — — कोपीन एव पुस्तक आदि म हो सकता ह। कम और उसके फलो म जितनी आसक्ति एक सासारिक सुखो की चाहना वाले काम्य कर्मी गहस्थ की होती ह उतनी ही एक पारमार्थिक कल्याण की इच्छा वाले स यासी की अपने पारमार्थिक साधनो एव उनके फ —मक्ति आदि म हो सकती ह। सग ओर आसक्ति का माप पदार्थो की योग्यता सख्या परिमाण एव मूल्य तथा कर्मो की न्यूनाधिकता पर निभर नही ह किन्तु अपन मन की स्थिति पर निभर ह। जिनका मन अपन वश म हाता ह उनके पास धन सम्पत्ति कुटम्ब मान मर्यादा आदि कितना ही परिग्रह क्यो न हो और वे चाहे कितन ही बड बड काम अपन तथा अ य लोगो के लिए क्यो न करते हो उनम उनका सग और आसक्ति नही होती और जिनका मन अपन वश म नही होता उनका परिग्रह चाहे बहुत ही अल्प हो ओर उनके लिए कत य कम भी बहुत ही थोड हो तो भी उनका उतन ही म सग और आसक्ति बहुत ही ज्यादा होती ह। जिसका मन जितना ही अधिक अपन वश म होता ह उतना ही अधिक वह नि सग और अनासक्त रहता ह और जिसका मन जितना ही कम अपन वश म होता ह वह उतना ही कम नि सग और कम अनासक्त होता ह—चाहे कोई बहुत परिग्रह वाला कमशील गहस्थ हो अथवा परिग्रह और कर्मो का त्याग करने वाला स यासी। इसलिए सच्चा सन्यासी वही समत्वयोगी होता ह जिसने अपन मन को वश म कर लिया हो अर्थात जिसका मन बद्धि के अधीन ओर बद्धि आत्म निष्ठ यानी सबकी एकता के निश्चयवाली हो और जो सबकी एकता के निश्चययक्त साम्य भाव से जगत के व्यवहार यानी अपन कत य कम करता हो।

जो लोग अज्ञान-अवस्था म ही कर्मा अथात गहस्थाश्रम के व्यवहारो को त्याग कर निठल्ले हो जाते ह उनके मन म समत्व-योग की प्राप्ति का विचार ही उत्पन्न नहीं होता क्योकि उनका जगत के व्यवहारो म उपस्थित होन वाली अडचनो का सामना नहीं करना पडता इसलिए उनके निवारण के उपाय ढूढन की जिज्ञासा उनके मन मे उत्पन्न ही नहीं होती परन्तु जो लोग जगत के व्यवहार करते ह उन्ही के सामने अपने व्यवहारो म अनक प्रकार की कठिनाइया तथा प्रतिकूलताए और असफलताए आती

ह तब जो विचारशील कार्यकर्ता होते ह व उनके विषय म अनुसधान करते ह जिससे उनकी समझ म यह बात आती ह कि दूसरो के साथ अपनी पथकता के निश्चय से जगत के व्यवहार करना ही इन आपत्तियो का कारण ह ओर सबकी एकता के निश्चय से अन्त करण को साम्य भाव म जोड कर व्यवहार करने पर सब आपत्तिया मिट कर सब प्रकार की सुख शान्ति प्राप्त होती ह। अत वे इस समत्व योग म स्थित होने के प्रयत्न मे लगते ह ओर जब उक्त अभ्यास म अन्त करण का द्वत भाव मिट जाता ह तब वे पूण रूप से समत्व योग म स्थित हो जाते ह ओर तब उन्ह सच्ची शान्ति पुष्टि और तुष्टि प्राप्त हो जाती ह। तात्पय यह कि उक्त प्रकार की उद्यमशीलता ही मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति का कारण ह और उद्यमहीनता ही सब प्रकार की अवनति तथा दु खो का कारण ह। अत अपनी उन्नति चाहने वाले मनुष्य को उपयक्त म— —न्न उद्यमशील बने रहना चाहिए। उद्यमहीनता को कभी आश्रय नही देना चाहिए ।

जिन लोगो का यह विश्वास ह कि मनष्य के किये से कुछ नहीं होता उन्नति और अवनति ईश्वराधीन ह उनके लिए भगवान यहा स्पष्ट कहते ह कि अपनी उन्नति **अथवा अवनति करना मनुष्य के अपने ही अधिकार म ह, दूसरा कोइ ऊचा चढाने या नीचा गिराने वाला नही ह।** जो मनष्य (स्त्री पुरुष) अपने अपन अन्त करण को सबके साथ एकता के साम्य भाव म जोडन के प्रयत्न म लग रह कर अपने-अपने शरीरो की योग्यतानसार जगत के व्यवहार अच्छी तरह करते रहते ह वे अवश्य ही अपनी उन्नति करते ह परन्तु जो लोग भद भाव के विपरीत ज्ञान से अपनी पथक व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के लिए ही कम करते ह अथवा कर्मो का सन्यास करते ह अथवा ईश्वरादि अदष्ट शक्तियो पर अथवा दूसरे लोगो पर निभर होकर उद्यमहीन बन जाते ह वे आप ही अपना पतन करते ह। इससे स्पष्ट ह कि मनष्य अपना उद्धार कर्ता—मित्र आप ही ह, ओर जो इस तरह अपना उद्धार नही करता वह अपने आपका पतन करने वाला—शत्रु भी आप ही ह। ऊचे चढने के लिए पयत्न की आवश्यकता होती ह परन्तु यदि चढन का प्रयत्न न किया जाय तो गिरावट होना स्वाभाविक ह क्योकि कोई भी पदाथ सदा एक स्थिति म नही ठहर सकता।

× × ×

अब आगे के तीन श्लोको मे भगवान उपयुक्त समत्वयोगी के आचरणो मे उसके अन्त करण की स्थिति कसी रहती ह इसका वणन करते ह।

जितात्मन प्रशान्तस्य परमात्मा समाहित ।
शीतोष्णसुखदु खेषु तथा मानापमानयो ॥ ७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रिय ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ठाश्मकाञ्चन ॥ ८ ॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

अर्थ—जिसने अपने आप अर्थात अपने मन को जीत लिया है (और) जो पूर्ण शान्त है उसका अन्तरात्मा शीत उष्ण सुख दुःख तथा मान अपमान में सम अर्थात एक सा बना रहता है। तात्पर्य यह कि समत्वयोगी सब प्रकार के द्वन्द्वो अर्थात परस्पर विरोधी भावो मे एक समान निर्विकार एव शान्त बना रहता है।(७)। ज्ञान* अर्थात सबके आत्मा—परमात्मा की एकता नित्यता समता एव सर्वव्यापकता आदि के अनुभव और विज्ञान* अर्थात दृश्य जगत के प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले परिवर्तनशील पदार्थो और भावो को तत्त्वत एक ही आत्मा के अनेक रूप होने के निश्चय से जिसका अन्तःकरण तृप्त अर्थात शान्त हो गया है तथा सबके आधार आत्मा में जिसकी स्थिति दृढ हो गई है और जिसने इन्द्रियो को वश में कर लिया है तथा (जिसकी दृष्टि में) मिट्टी पत्थर और सोना एक समान है, अर्थात जो इन पदार्थो को वस्तुत एक ही समान दृश्य जगत की कल्पित एव परिवर्तनशील नाम रूपात्मक भिन्नताएं समझता है, वह समत्व योगी युक्त अर्थात सबकी एकता के साम्य भाव में जुडा हुआ कहा जाता है (८)। सुहृद यानी दूसरो की अपेक्षा अधिक प्यारे लगने वाले आत्मीयजनो मित्र अर्थात प्रेम रखने वालो, शत्रु अर्थात वैर रखने वालो उदासीन अर्थात उपेक्षा करने वालो, मध्यस्थ अर्थात जो न तो उपेक्षा करते हो और न विशेष प्रेम ही रखते हो किन्तु निष्पक्ष ता का बर्ताव करते हो, द्वेष के योग्य अर्थात जिनके साथ साधारणतया द्वेष होना उचित हो बान्धव अर्थात कुटुम्बीजनो साधु अर्थात श्रेष्ठ पुरुषो, एव पापियो अर्थात दुराचारियो के विषय में भी जिसकी बुद्धि सम होती है अर्थात जो इनको एक ही आत्मा के अनेक कल्पित रूप समझता है वह अधिक श्रेष्ठ है (९)।

स्पष्टीकरण—इन तीन श्लोको से कोई यह न समझे कि समत्वयोगी इतना सज्ञाहीन अथवा जड हो जाता है कि उसको सुख दुःख, ठडे गर्म, मान अपमान, अपने पराये, शत्रु मित्र, भले बुरे, मिट्टी, पत्थर और सोने आदि का कुछ भी भेद प्रतीत नही होता। वास्तव में समत्वयोगी इस तरह सज्ञाहीन नहीं होता वह तो आत्मज्ञान और दृश्य पदार्थो के तात्त्विक विज्ञान में पूर्ण होता है, इस

* ज्ञान विज्ञान का विशेष खुलासा आगे सातवें और नवे अध्याय में किया जायगा।

लिए उसे जगत की इन भिन्नताओ का उतना ज्ञान होता ह कि जितना साधारण लोगो को होना सभव नही। परन्तु साधारण लोग तो इन सब भिन्नताओ के केवल बाह्य रूपो का इद्रिय जन्य ज्ञान रखते ह इसलिए इनको सत्य मान कर इनमे आसक्त और विक्षिप्त रहते ह ओर आत्मज्ञानी समत्वयोगी इन भिन्नताओ के बाह्य रूपो के इद्रिय जय ज्ञान पर ही निभर नहीं रहता किन्तु इनके भिन्न भिन्न गणो इनकी परिवतनशील अलग-अलग योग्यताओ और इनके सूक्ष्म कारणो सहित इनकी भीतरी असलियत अर्थात सबकी आध्यात्मिक एकता का भी यथाथ ज्ञान रखता ह और इस प्रकार ज्ञान तथा विज्ञान यक्त सब प्रकार के सासारिक व्यवहार करता हुआ भी वह किसी म आसक्ति नहीं रखता, अत सम और शान्त रहता ह। यद्यपि वह शरीर रूप से ठड और गम सुख और दु ख मान ओर अपमान अनकूल और प्रतिकूल अच्छे और बरे आदि द्वन्द्वो की अलग अलग वेदनाए उसी तरह अनभव करता ह जिस तरह कि दूसरे लोग करते ह परन्तु उसकी बुद्धि मे यह निश्चय रहता ह कि भोक्ता और भोग्य अथवा अनुभव करने वाला और अनभव किया जाने वाला, अथवा ज्ञाता ओर ज्ञेय वस्तुत एक ही ह। पथकता के बनाव कल्पित परिवतनशील एव आने जाने वाले ह। किसी अवस्था म सुख और मान आदि अनकूल वेदनाए भी अहितकर होती ह ओर किसी अवस्था मे दु ख और अपमान आदि प्रतिकूल वेदनाए भी हितकर होती ह। इसलिए उसका अन्त करण अनुकूलता प्रतिकूलता की वेदनाओ का अनुभव करता हुआ भी तत्त्व ज्ञान के कारण उनसे प्रभावित नही होता। इसी तरह यद्यपि मिटटी पत्थर और सोन का बाहरी भेद यानी उनके पथक-पथक रग रूप, गुण मूल्य आदि उसकी इद्रियो को वसे ही प्रतीत होते ह जसे कि दूसरो को और उनका भिन्न भिन्न प्रकार से यथायोग्य उपयोग भी वह करता ह परन्तु ऐसा करते हुए भी उसकी दष्टि इन सबके एकत्व भाव पर जमी रहती ह। वह इन सबको एक समान पार्थिव पदाथ समझता ह। यद्यपि उपयोग की दष्टि से वह भी इनकी योग्यता भिन्न भिन्न समझता ह, तथापि उसको यह ज्ञान रहता ह कि किसी भी पदाथ के उपयोग मूल्य और अनुकूलता प्रतिकूलता आदि सदा एक से नहीं रहते, किन्तु देश काल आदि की परिस्थिति के साथ वे बदलते रहते ह। किसी परिस्थिति मे सोने का कोई उपयोग नही होता तथा उसका सग्रह बहुत ही दु खदायक होता ह और मिटटी तथा पत्थर से बडा लाभ होता ह उस स्थिति मे सोने की कोई कीमत नहीं होती किन्तु पत्थर और मिट्टी बड कीमती हो जाते ह। इसलिए वह पत्थर, मिटटी और सोने की पथक-पथक योग्यता का भेद अनुभव करता हुआ भी तात्त्विक विचार से उस भेद को कल्पित एव परिवतनशील जानता ह, अत उनकी प्राप्ति-अप्राप्ति मे उसको कोई हष या विषाद नहीं होता। इसी तरह अपने शरीर के सबधियो मे भी वह भेद का अनुभव अवश्य करता ह और उस अनुभव सहित ही वह सबकी पथक पथक योग्यता और परस्पर के सबध के अनुसार उनके साथ यथायोग्य व्यवहार करता ह

अर्थात अपने आत्मीयजनो को वह अपने शरीर के निकटवर्ती स्वजन समझता हुआ उनसे घनिष्ठ प्रेम का व्यवहार करता है मित्रो के साथ साधारण प्रेम का बैर रखने वालो के साथ उनकी भावनानुसार बैर का, उपेक्षा करने वालो के साथ उपेक्षा का शत्रु और मित्र की बीच की स्थिति वालो के साथ साधारण शिष्टाचार का जो द्वेष रखने वाले है उनसे उनकी भावना एव योग्यता के अनुसार द्वेष का बन्धुजनो के साथ उनके योग्य प्यार एव सहानुभूति का सज्जनो के साथ उनके अनुकूल सौजन्य का तथा शठो के साथ उनके अनुकूल शाठ्य का बर्ताव करता है। तात्पर्य यह कि जिस शरीर की जैसी योग्यता और जैसी भावना होती है उसी के अनुसार वह उसके साथ बर्ताव करता है परन्तु वे बर्ताव उन भिन्न भिन्न शरीरो के पूर्व तथा वर्तमान कर्मों के फल स्वरूप उनके स्वाभाविक गुणो एव भावनाओ की योग्यतानुसार स्वत ही होते है अर्थात उन लोगो की भावनाए ही भिन्न भिन्न प्रकार के बर्तावो का कारण होती है। समत्वयोगी के अन्त करण मे उन भिन्नता के बर्तावो का कोई प्रभाव नही रहता और वह अपनी तरफ से किसी के साथ कोई अच्छा या बुरा बर्ताव नही करता अर्थात उसके अन्त करण मे न किसी से राग रहता है न द्वेष न व्यक्तित्व का यह अहकार रहता है कि मै अमुक व्यक्ति के साथ अमुक प्रकार का अच्छा या बुरा बर्ताव कर रहा हू। उसे कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नही होता इसलिए यदि वह किसी से कठोरता आदि का बर्ताव करता है तो भी वह उसके हित के लिए ही होता है द्वेषवश किसी की हानि करने के लिए नही होता। अत सबके साथ भिन्न भिन्न प्रकार के बर्ताव करते हुए भी अपने शरीर और दूसरो के शरीरो मे वह तत्त्वत कोई भेद नही समझता, किन्तु अपने तथा दूसरो के शरीरो को एक ही आत्मा (अपने आप) के अनेक रूप जानता है। [illegible] का मानता है और गुणो की भिन्नता सदा इकसार नही रहती, इसलिए उसको कल्पित जान कर वह उसमे आसक्ति नही रखता। उसके अन्त करण मे एक तरफ भिन्न भिन्न व्यक्तियो के भिन्न भिन्न गुणो की योग्यता और उनके साथ अपने भिन्न भिन्न सम्बन्धो एव उन सम्बन्धो के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार के बर्तावो का अनुभव रहता है और दूसरी तरफ सबके एकत्व भाव का अनुभव रहता है इसलिए वह भिन्नता के प्रभाव से वस्तुत रहित होता है। उसका अन्त करण काम क्रोध लोभ मोह, भय ग्लानि राग द्वेष हर्ष शोक सुख दु ख आदि अनेक प्रकार की अनुकूल प्रतिकूल वेदनाओ का अनुभव करता हुआ भी निर्विकार शान्त एव सम बना रहता है। श्लोक ९ के अन्तिम पद मे समबुद्धिर्विशिष्यते कह कर भगवान ने इस अभिप्राय को स्पष्ट कर दिया है। जिसकी बुद्धि जितनी ही अधिक सबकी एकता के साम्य भाव मे स्थित होती है उतनी ही अधिक उसके अन्त करण मे भिन्न भिन्न प्रकार की वेदनाए प्रभाव रहित होती है और जिसकी बुद्धि पूर्णतया सबकी एकता के साम्य भाव मे स्थित हो जाती है उसका अन्त करण इन वेदनाओ में तथा अपने पराये, शत्रु मित्र भले-बुरे आदि के सबधो मे पूर्णतया सम रहता है

और उसकी स्थिति सबके ऊपर होती है। शारीरिक कष्टों में अविचलित रहने तथा सांसारिक पदार्थों से वैराग्य होने की अपेक्षा भी अपने पराये शत्रु मित्र सज्जन दुर्जन आदि के संबंध में अन्तःकरण की समता बनाये रखने का पद बहुत ऊंचा है।

× × ×

अब भगवान १०वें श्लोक से २६वें श्लोक तक मन की एकाग्रता के साधन रूप राज-योग के अभ्यास का निरूपण करके श्लोक २७ से ३२ तक उक्त योगाभ्यास की पूर्णता प्राप्त समत्वयोगी की साम्य भाव की स्थिति का वर्णन करते हैं।

योगी युञ्जीत [illegible] स्थित ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रह ॥ १० ॥
शुचो देशे प्रतिष्ठाप्य [illegible] ।
नात्युच्छ्रित नातिनीचं [illegible] ॥ ११ ॥
तत्रैकाग्र मन कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रिय ।
उपविश्यासने यु[illegible] ॥ १२ ॥
सम कायशिरोग्रीव धारयन्नचल स्थिर ।
सप्रेक्ष्य नासिकाग्र स्व दिशश्चानवलोकयन ॥ १३ ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थित ।
मन सयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्पर ॥ १४ ॥
युञ्जन्नेव सदात्मान योगी नियतमानस ।
शान्ति निर्वाणपरमा मत्सस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नत ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
यु[illegible] योगो भवति दु खहा ॥ १७ ॥
यदा विनियत चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
नि स्पृह सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मन ॥ १९ ॥
यत्रोपरमते चित्त निरुद्ध योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मान पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

अर्थ—योगी* अर्थात् समत्व योग में आरूढ होने की इच्छा वाला साधक पुरुष सदा अर्थात् नित्य नियम से एकान्त स्थान में (नियत काल तक) अकेला स्थित होकर

---

* यहां पर योगी शब्द साम्य भाव की स्थिति प्राप्त करने के साधक के लिए प्रयुक्त हुआ है। योग शब्द का मुख्य अर्थ है जोड़, मेल, मिलाप, एकता, एकत्व भाव

लौ लगा कर ध्यान योग म स्थित होवे (१३ १४)। इस प्रकार मन का सयम कर के सदा अपने आपको युक्त करता हुआ अर्थात एकता के ध्यान योग म लगा हुआ योगी, (सबके आत्मा=परमात्मा स्वरूप) मझम रहन वाली परम निर्वाण स्वरूप शान्ति को प्राप्त होता ह (१५)। परन्तु, हे अजुन ! बहुत अधिक खाने वाले या बिलकुल न खाने वाले (भूखे रहने वाले), बहुत सोने वाले या बहुत जागने वाले का योग सिद्ध नही होता (१६)। यथायोग्य (नियमित) आहार विहार करने वाले, तथा यथायोग्य (नियमित) कर्माचरण करने वाले और यथायोग्य (नियमित रूप से) सोने तथा जागने वाले का योग दुखनाशक होता ह। तात्पय यह कि अपनी शारीरिक प्रकृति के अनकूल तथा परिमित मात्रा में आहार अपनी शक्ति के अनसार उचित विहार (घूमन फिरन आदि), तथा अपनी स्थिति के अनसार व्यवस्थित काम काज करन और मात्रानमार एव परिमित सोने व जागने से ही योगाभ्यास सुखदायक होता ह (१७)। अच्छी तरह वश म किया हुआ चित्त जिस समय आत्मा म भली प्रकार स्थिर हो जाता ह अर्थात एकाग्र हो जाता ह और सब कामनाओ से निस्पृह अर्थात बाह्य पदार्थो की प्राप्ति की लालसा से रहित हो जाता ह तब युक्त एसा कहा जाता ह (१८)। जिस तरह वायु रहित स्थान मे रखा हुआ दीपक निश्चल रहता ह वही उपमा योगाभ्यास म लग हुए योगी के सयत चित्त को दी जाती ह अर्थात योगी का एकाग्र किया हुआ चित्त अडोल दीप शिखा की तरह अविचल रहता ह (१९)। योगाभ्यास से निरुद्ध किया चित्त जब उपराम अर्थात इधर उधर भटकन से रहित—शान्त हो जाता ह और जब वह आत्मा से ही आत्मा को दखता हुआ आत्मा ही मे सन्तुष्ट होता ह अर्थात स्वय अपन आपके एकत्व भाव म स्थित होकर प्रसन्न होता ह (तब वह) इन्द्रियो के अगोचर, जो बुद्धि गम्य अपरिमित एव अत्यन्त सुख ह, उसका अनभव करता ह और उस अवस्था म स्थित होकर फिर वह तत्त्व से नही डिगता अर्थात अपने आपके आत्मानभव से विचलित नही होता। जिसको पाकर वह उससे अधिक और कोई लाभ नही मानता और जिसम स्थित होकर वह महान दुख से भी विचलित नही होता (किन्तु सम रहता ह), उस दुख के सबध के बियोग को अर्थात दुख के अभाव को 'योग नाम वाला जानना चाहिए अर्थात उसका नाम समत्व योग ह और उस समत्व योग की प्राप्ति मन को उकताये बिना निश्चयपूवक ही करनी चाहिए। तात्पय यह कि उपरोक्त योगाभ्यास से चित्त के एकाग्र होने पर सबके एकत्व भाव अर्थात सवत्र अपने आप=आत्मा के अनभव की मस्ती छा जाती ह आत्मानुभव की मस्ती का वह सुख, इन्द्रियो और विषयो के सयोग से होने वाला नाशवान अथवा दुख परिणाम वाला राजस सुख नही होता किन्तु भावनात्मक वृत्ति का सच्चा और अक्षय सुख होता ह, जिसके प्राप्त होने पर ससार मे दूसरा कोई अधिक सुख प्राप्त करने योग्य नही रहता, और उस अवस्था

म कितना ही भारी दु ख आ पड तो भी उसका कोई प्रभाव नही पडता, क्योकि उस साम्य भाव म दु ख की दु ख रूपता ही नष्ट हो जाती है, इसलिए उस समत्व-योग की प्राप्ति के अभ्यास से चित्त को डावाडोल न करके उसमे दढता के साथ अवश्य लगे रहना चाहिए (२० २३)। सकल्प से उत्पन्न होन वाली सब कामनाओ का सवथा त्याग कर, मन से ही इद्रियो को सब ओर से रोक कर धारणायक्त बद्धि से शन शन उपरत अर्थात सासारिक पदार्थो की आसक्ति से रहित होवे और मन को आत्मा मे स्थित करके बाह्य विषयों का कुछ भी चिन्तन न करे। जिस जिस विषय को लेकर यह चचल और अस्थिर मन बाहर भटके उस उससे रोक कर इसे आत्मा के ही अधीन करे। तात्पय यह कि धम अथ, काम और मोक्ष आदि की जितनी भी कामनाओ के सकल्प मन म उठा करते ह उन सबको छोड कर मन से इद्रियो का नियन्त्रण करे और बुद्धि म आत्मज्ञान की दढ धारणा करके शन शन मन का नियन्त्रण करे और उसे दूसरे विषयो से हटाकर आत्मा मे जोड। मन स्वभाव से ही चचल होता ह इसलिए उसका एक जगह टिकना कठिन होता ह अत जिस जिस विषय की तरफ यह जावे वही इसे रोक कर आत्मा मे जोडे अर्थात सभी पदार्थो म एक ही आत्मा का चिन्तन करन से मन जिस पदाथ की तरफ जावेगा, वहा एक आत्मा को ही पावेगा तब इसे एकाग्र होना पडेगा (२४ २६)। इस शान्त चित्त निष्पाप और ब्रह्मस्वरूप योगी का रजोगण शान्त हो जाता ह अर्थात दब जाता ह और इसे निश्चय ही उत्तम सुख प्राप्त होता ह (२७)। इस प्रकार सदा आत्मानभव मे लगा हुआ पाप रहित योगी सहज ही ब्रह्म भाव के आत्यन्तिक सुख का उपभोग (अनभव) करता ह (२८)। जिसका अन्त करण सबकी एकता के साम्य भाव से युक्त हो गया ह, वह सवत्र समदर्शी अथात सबमे समता का अनुभव करने वाला समत्वयोगी अपने को सब भूत प्राणियो मे और सब भूत प्राणियो को अपने मे देखता ह (२९)। जो मुझ अर्थात सबके आत्मा=परमात्मा को सबमे देखता ह, और सबको मुझ (सबके आत्मा=परमात्मा) मे देखता ह उसका म नाश नही करता ओर न वह मेरा नाश करता ह (३०)। जो (सबके) एकत्व भाव मे अच्छी तरह स्थित हो कर सब भूतो म रहने वाले मुझको भजता ह, अर्थात सब भूत प्राणियो को अपने ओर सबके आत्मा=परमात्मा स्वरूप मेरे अनेक रूप समझ कर सबके साथ एकता का प्रेम रखता ह, वह समत्वयोगी सब प्रकार से बतता हुआ भी मुझ (सबके आत्मा=परमात्मा) मे ही बनता ह, अर्थात सब प्रकार के सासारिक व्यवहार करता हुआ भी वह परमात्म स्वरूप मुझमे ही स्थित रहता ह (३१)। २९ से ३१ तक के श्लोका का तात्पय यह ह कि उपरोक्त योगाभ्यास से जिनकी सव भूतात्मक्य साम्य भाव म स्थिति हो जाती ह, वे अपन को सबका आत्मा

समझते हैं और अखिल विश्व के साथ अपनी एकता का अनुभव करते हैं यानी सबको अपना ही रूप जानते हैं अतः उनमें और परमात्मा में कोई भेद नहीं रहता अर्थात वे स्वयं परमात्म-स्वरूप हो जाते हैं। जगत के सब प्रकार के व्यवहार करते हुए भी उनकी स्थिति समता-स्वरूप परमात्म भाव में ही बनी रहती है (२९ ३१)। हे अर्जुन ! जो आत्मौपम्य दृष्टि से, यानी सबको अपना आत्मा समझ कर, सर्वत्र, यानी सबके सुख अथवा दुःख को समान भाव से देखता है, अर्थात दूसरों के सुख दुःख को अपने समान ही अनुभव करता है, वह परम योगी माना गया है। तात्पर्य यह कि जो इस निश्चय से कि सब कोई एक ही आत्मा अथवा मेरे "अपने आपके" अनेक रूप हैं यह अनुभव करता है कि जैसा मैं हूँ वैसे ही दूसरे हैं और दूसरों के सुख दुःख आदि को अपने ही समान समझ कर सबके साथ यथायोग्य समता* का बर्ताव करता है वही पूर्ण समत्वयोगी है। किसी भी व्यक्ति के साथ व्यवहार करते समय अपने को उसकी स्थिति में रखने की कल्पना करना, अर्थात मन में यह विचार करके कि यदि मैं इसकी जगह होता और यह मेरी जगह होता तो मेरे साथ इसका किस तरह का बर्ताव उचित होता—किस तरह के बर्ताव से मुझे सुख होता और किस तरह के बर्ताव से दुःख—यह आपस की एकता का विचार आत्मौपम्य बुद्धि है। इस आत्मौपम्य बुद्धि से सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करना ही सच्चा समता का बर्ताव है (३२)।

स्पष्टीकरण—गीता के व्यावहारिक अर्थ की भूमिका में कह आये हैं कि समत्व योग में स्थिति होने के लिए भगवान ने राजयोग अथवा ध्यानयोग के अभ्यास द्वारा मन को एकाग्र करने का विधान भी एक साधन रूप से किया है। यहाँ पर भगवान उस योगाभ्यास का वर्णन करते हैं। भगवान कहते हैं कि योगाभ्यास करने के लिए पहले शरीर की सारी चेष्टाओं को सम करना आवश्यक है, क्योंकि जब तक शारीरिक चेष्टाओं में समता नहीं होती तब तक मन में भी समता अथवा एकाग्रता नहीं हो सकती। इसलिए मन को समता के भाव में एकाग्र करने के निमित्त [illegible] रहन सहन सोना जागना काम काज आदि शरीर की सब चेष्टाओं को यथायोग्य सम करना चाहिए। भोजन (खाना पीना) [illegible], उस प्रकार तथा उतनी मात्रा में एवं उस ढंग से करना चाहिए कि जो अपनी प्रकृति के अनुकूल हो और जो सहज ही पच जाय, तथा जिससे मन और इन्द्रियों की चंचलता न बढ़े एवं अरुचि, अजीर्ण और आलस्य आदि विकार उत्पन्न न हों, घूमना, फिरना खेलना कसरत करना, मनोविनोद तथा इन्द्रियों के विषयों में वर्तना आदि विहार नियत समय पर उचित रीति से उतने ही करने चाहिए कि जिनसे शरीर और इन्द्रियों में शिथिलता एवं निर्बलता न आवे, और न उनमें इतनी आसक्ति

---

* [illegible]

ही रखनी चाहिए कि उनका व्यसन पड जाय एव प्रमाद होकर समय का अपव्यय होने लगे। काम काज भी अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार व्यवस्थित रूप से नियत समय पर तथा उतना ही करना चाहिए कि जिससे शरीर म थकावट न आवे और शारीरिक मानसिक एव आत्मिक उन्नति के लिए पर्याप्त अवकाश मिलता रहे साराश यह कि आठो पहर काम धधो म ही न बितावे। नीद साधारणतया रात के समय परिमित समय तक लेनी चाहिए विशेष आवश्यकता के बिना दिन म अथवा असमय मे एव अधिक समय तक नही सोना चाहिए। व्रत उपवास आदि करके भूख प्यासे रह कर खान पान के त्याग से और जागरण करके नीद न लेन से शरीर म शिथिलता ओर व्याकुलता उत्पन्न होती ह तथा विहारो को सवथा त्याग देने से चित्त विक्षिप्त रहता ह और काम धध छोड दने से शरीर निर्वाह के साधन प्राप्त नही हो सकते। तात्पय यह कि इस तरह के त्याग से विषमता और अशान्ति होनी ह अत ये भी समत्व योग क बाधक ह। इसलिए शरीर के आहार विहार आदि त्यागन नही चाहिए किन्तु उन्ह उपयुक्त रीति से नियमित रूप से समुचित परिमाण मे करते हुए शरीर की समता बनाये रख कर नित्य प्रति नियमपूवक नियत समय के लिए सब प्रकार की कामनाओ और ममताओ की लाग लपेट से रहित होकर ध्यान योग का अभ्यास करन के लिए समतल भूमि पर डाभ उसके ऊपर मगछाला और उस पर कपडा बिछा कर उस पर अपना दढ शरीर को सीधा (सम रेखा मे) रखते हुए दष्टि को सब तरफ से हटा व नासिका के नाक पर जमाना चाहिए। उस समय अन्त करण तथा इन्द्रियो की सब चेष्टाओ को रोक कर मन को केवल आत्मा अथवा परमात्मा के ध्यान मे इस प्रकार लगाना चाहिए कि दीपक की लौ की तरह वह निरतर अडिग रहे। इस तरह धीरज के साथ मन को शन शन दढतापूवक एकाग्र करना चाहिए और जहा जहा वह भागे, वही आत्मा अथवा परमात्मा ही का चिन्तन करना चाहिए अर्थात जिस पदाथ मे मन जावे उसी पदाथ को अपने आपसे अभिन्न अपना आत्म स्वरूप अथवा परमात्म स्वरूप समझना चाहिए। ऐसा समझने से मन जहा जायगा वहा आत्मा अथवा परमात्मा ही को पावेगा, तब वह आत्मा अथवा परमात्मा म ठहर जायगा। मन बद्धि, चित्त और अहकार रूप से अन्त करण के चार भाव ह। मन का स्वभाव अत्यन्त चचल तथा सकल्प विकल्प करने का ह, बुद्धि का स्वभाव विचार करने जानन और समझने का ह, चित्त का स्वभाव चिन्तन अथवा स्मरण करने का ह और अहकार का स्वभाव व्यक्तित्व का अनुभव करने का ह। इनम से जिस भाव की प्रबलता होती ह वह दूसरे भावो को दबा देता ह। अत मन की चचलता को बद्धि अथवा चित्त की क्रियाओ से दबाना चाहिए अर्थात मन को बाहरी विषयो म भटकने से रोकने के लिए बद्धि से यह विचार करना चाहिए कि बाहरी पदार्थो मे उनका अपना सुख कुछ भी नही ह किन्तु उनमे जो सुख प्रतीत होता ह वह सबके अपने आप आत्मा का ह, इसलिए उनम आसक्त होना हानिकर

ह अथवा चित्त से यह स्मरण करना — । । । । । एक ही आत्मा के अनेक कल्पित रूप ह वास्तव म सवत्र एक ही आत्मा ह आत्मा से पथक इनम सुख की आशा रखने से दु ख होता ह। इस तरह अभ्यास करते करते जब मन एकत्व भाव म ठहर जाता ह, तब पूण सुख ओर शान्ति प्राप्त हो जाती ह जिस सुख शान्ति के आगे ससार के सभी सुख तुच्छ प्रतीत होन लगते ह फिर किसी भी पदाथ के प्राप्त करन की कामना शष नही रहती। उस अवस्था म पहुचन के बाद फिर दु ख का लेश भी नही रहता क्योकि तब अपन आपसे पथक कोई वस्तु शष ही नही रहती कि जिससे दु ख होन की सभावना हो। उस सवभूतात्मक्य साम्य भाव की स्थिति मे अखिल विश्व ओर ईश्वर अथवा परमात्मा भी आत्मा अर्थात अपने आपक ही अनक भाव प्रतीत होन लगते ह—अपन आपसे भिन्न कुछ भी नही रहता। उस ब्रह्म भाव अथवा परमात्म भाव अथवा एकत्व भाव के आत्मा नभव की स्थिति म समत्वयोगी सब प्रकार से जगत के व्यवहार उनके स्वामी भाव से पूण स्वतन्त्रता और समतापूवक करता हुआ भी अपन परमात्म स्वरूप से कभी डिगता नहा।

उस पूणता की स्थिति पर पहुचा हुआ समत्वयोगी सब भूत प्राणियो को एक समान अपना आत्मा ही अनभव करता ह और सबक सुख दु ख मान अपमान हानि लाभ आदि को अपन ही समझता हुआ आत्मोपम्य बद्धि से सबके साथ यथायोग्य समता का बर्ताव करता ह।

× × ×

यद्यपि उपयक्त योगाभ्यास से मन को एकाग्र करके समत्व-योग म स्थित होन का विधान भगवान न ऊपर के श्लोका म अच्छी तरह किया ह, परन्तु उक्त सवभूतात्मक्य साम्य भाव म दढ स्थिति होना और सबको अपनी आत्मा समझ कर सबके साथ आत्मौपम्य बद्धि से समता का बर्ताव करना इतना गहन और कठिन विषय ह कि प्रथम तो इसकी प्राप्ति के लिए जिस योगाभ्यास का वणन ऊपर दिया गया ह उसम मन का लगना ही अत्यन्त दुष्कर प्रतीत होता ह और यदि किसी तरह मन इस अभ्यास म लग भी जावे तो समत्व योग की पूर्णावस्था तक पहुच सकना तो जन्म भर म भी असभव जान पडता ह और यह बात प्रत्यक्ष देखन म आती ह कि किसी भी सासारिक काय को पूण किय बिना उसका नतीजा नहीं निकलता। अस्तु इसी अभिप्राय को लेकर अजन आग के श्लोका म भगवान से कहता ह कि जो समत्व योग आपन कहा उसम मन का पूरी तरह टिक सकना मझे असभव सा दीखता ह। उस पर भी मनष्य यदि यत्नपूवक इसके अभ्यास म लगे और पूणता को पहुचे बिना, अर्थात थोडे बहुत अभ्यास के बाद बीच म ही उसका शरीर छूट जाय तो इस अभ्यास से क्या लाभ होगा ? इस अभ्यास मे लगन से शास्त्रो म विधान किय हुए हवन-यज्ञ बलि-वश्वदेव आदि कमकाण्ड तथा देव पूजन, व्रत उपवास एव तप आदि धार्मिक कृत्य जो पारलौकिक सुख के साधन बताये जाते ह वे तो बन नही सकते इसलिए

उन सुखा से वचित रहना ण्डेगा और इस समत्व-योग मे पूणता की प्राप्नि न होने के कारण इसका जो फल आपने कहा ह वह प्राप्त नही होगा परिणाम यह होगा कि समत्व-योग के साधन में लगन वाला धोबी का कुत्ता घर का न घाट का की कहावत को चरिताथ करता हुआ उभय भ्रष्ट हो जायगा अर्थात दोना तरफ से जायगा, ऐसा प्रतीत होता ह। इन आशकाओ का समाधान करते हुए भगवान आग कहते ह कि यद्यपि यह अभ्यास कठिन अवश्य ह पर तु प्रयत्न करने से इस जन्म मे नहा तो आग के जन्मो म सफलता अवश्य मिलती ह। इसके अ यास मे लगने वाले की इस जन्म म अथवा आगे के ज मा में कभी अवनति नहीं होती किन्तु वह उत्तरोत्तर उन्नति ही करता ह। सच्ची शान्ति, पुष्टि और तुष्टि के जितन भी साधन ह उन सबसे समत्व-योग श्रेष्ठ ह इसलिए इसी का अभ्यास करना चाहिए।

अजुन उवाच

योऽय योगस्त्वया प्रोक्त साम्येन मधुसूदन।
एतस्याह न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थिति स्थिराम॥ ३३॥
चञ्चल हि मन कृष्ण प्रमाथि बलवददढम।
तस्याह निग्रह मन्ये वायोरिव सुदुष्करम॥ ३४॥

श्रीभगवानुवाच

असशय महाबाहो मनो दुर्निग्रह चलम।
अभ्यासेन तु कौ तेय वराग्येण च गह्यते॥ ३५॥
असयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मति।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽ ा पुमुपायत॥ ३६॥

अजुन उवाच

अयति श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानस।
अप्राप्य योगससिद्धि का गति कृष्ण गच्छति॥ ३७॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मण पथि॥ ३८॥
एतन्मे सशय कृष्ण छेत्तुमहस्यशेषत।
त्वद य सशयस्यास्य छेत्ता न ह्यु पपद्यते॥ ३९॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥
प्राप्य पुण्यकृताल्लोकानुषित्वा शाश्वती समा ।
शुचीना श्रीमता गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम ।
एतद्धि दुर्लभतर लोके जन्म यदीदृशम ॥ ४२ ॥
तत्र त बुद्धिसयोग लभते पौर्वदेहिकम ।
यतते च ततो भूय ससिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि स ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी सशुद्धकिल्बिष ।
अनेकजन्मससिद्धस्ततो याति परा गतिम ॥ ४५ ॥
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६ ॥
योगिनामपि सर्वेषा मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मा स मे युक्ततमो मत ॥ ४७ ॥

अर्थ—अर्जुन ने कहा कि हे मधुसूदन ! आपने जो यह साम्य भाव का योग कहा (मन की) चचलता के कारण मै इसकी दृढ स्थिति नहीं देखता क्योकि यह चचल मन बडा ही उपद्रवी जबर्दस्त और दृढ अर्थात अपनी चचलता की धुन का पक्का है, उसका निग्रह (एकाग्र) करना मै वायु को रोकने की तरह अत्यन्त कठिन मानता हू । तात्पर्य यह कि इस चचल मन का समत्व योग मे स्थायी रूप से टिके रहना असभव सा है (३३ ३४) । श्री भगवान बोले कि हे महाबाहो ! निस्सन्देह मन (बडा ही) चचल है, (और) उसको रोकना बहुत ही कठिन है, परन्तु हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से वह रोका जा सकता है, अर्थात जगत की परिवर्तनशील तथा उत्पत्ति-नाशवान भिन्नताओ को धोखे की टट्टी समझ कर उनसे ममत्व न रखने रूपी वैराग्य से तथा सबके एकत्व भाव—सत्य नित्य और सदा एक-सा रहने वाले आनन्दस्वरूप आत्मतत्त्व का बार-बार चिन्तन करने के अभ्यास से, मन एकाग्र हो सकता है (३५) । जिसका मन अपने अधिकार मे नहीं है उसको समत्व-योग की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है ऐसा

मेरा मत ह परन्तु जिसका मन (उपरोक्त अभ्यास और वराग्य द्वारा) अपने अधिकार मे हो जाता ह उसे प्रयत्नपूवक उपाय करने से (समत्व-योग) प्राप्त हो सकता ह(३६)। अजन बोला कि हे कृष्ण ! जो मनष्य (समत्व-योग म) श्रद्धावान ह अथात विश्वास पूवक इसके अभ्यास म लगा हुआ ह परन्तु जितेन्द्रिय न हो सकने के कारण इस अभ्यास मे जिसका मन स्थिर नहीं रहता (ऐसा अभ्यासी) समत्व-योग की पूर्णावस्था को न पहुच कर (फिर) किस गति को जाता ह अर्थात मरने के बाद उसकी क्या दशा होती ह ? हे भगवान ! (स्वर्गादि सुखो के देन वाले कमकाण्डादि म) अप्रतिष्ठित (और मन की चचलता के कारण) ब्रह्म प्राप्ति के माग मे विमूढ (रहन से) क्या वह छिन्न भिन्न (बिखरे हुए) बा— की तरह दोनो —फ मे भ्रष्ट हो— न— —हो —ा ? तात्पर्य यह कि समत्व योग की प्राप्ति के लिए मन को एकाग्र करने के अभ्यास में लगे रहने के कारण वह समत्व योग का अभ्यासी दूसरे लोगो की तरह कमकाण्ड यज्ञानुष्ठान बलि वश्वदेव जप तप, व्रत उपवास देव पूजन आदि पारलौकिक सुखो के देन वाले शास्त्रीय साधन सम्पादन कर नही सका, और उक्त योगाभ्यास की पूणता न होने के कारण उसे आत्मानभव हुआ नही—ऐसी दशा म क्या वह उक्त साधारण लोगो से अलग रह कर उसी तरह नष्ट नही हो जाता जिस तरह एक बादल का टुकडा दूसरे बादलो से अलग होकर नष्ट हो जाता ह (३७ ३८) ? हे कृष्ण ! आप मेरे इस सशय को पूणतया काटने योग्य हो आपके सिवाय इस सशय का काटने वाला दूसरा कोई नही मिल सकता। तात्पय यह कि जो भूत भविष्य और वतमान तीनो कालो का ज्ञाता अर्थात सवज्ञ होता ह और जो स्वय भय स्वाथ पक्षपात, भ्रम दुराग्रह और सशय से रहित तत्त्वदर्शी एव दयालु होता ह वही इस लोक तथा परलोक से सबध रखने वाली उक्त शका का ठीक ठीक समाधान कर सकता ह और आपम ये सभी गुण मौजूद ह, इसलिए केवल आप ही म इस विषय का निश्चित निणय देने की योग्यता ह अत आप मेरे इस सशय को कृपा करके काटिए (३९)। श्री भगवान बोले कि हे पाथ ! इस लाक और परलोक (दोनो) मे उसका (कभी) विनाश नहीं होता क्योकि हे तात ! कल्याणकारक कम (इस समत्व योग के अभ्यास) मे लगे रहने वाले किसी भी मनुष्य की दुगति नही होती (४०)। पुण्य कम करने वाले पुरुषो को मिलने वाले (उच्च) लोको को प्राप्त होकर तथा वहा बहुत वर्षो तक निवास करके फिर वह योग भ्रष्ट पुरुष अर्थात पूर्वोक्त समत्व योग का अधूरा अभ्यासी पवित्र श्रीमानो (सम्पत्तिशाली लोगो) के घर म जन्म लेता ह (४१)। [illegible] मान समत्वयोगियो के कुल म ही जन्म लेता ह, इस प्रकार का जन्म इस लोक म बडा ही दुलभ ह (४२)। वहा (उसे) उस पूवजन्म की बुद्धि का सयोग प्राप्त होता ह [illegible] के सस्कार उसकी बुद्धि मे जम जाते ह उनका वहा उदय होता ह और हे कुरुनन्दन ! (वहा भी) फिर वह उससे

आगे समत्व-योग की पूर्ण सिद्धि के लिए यत्न करता है (४३)। पूर्वजन्म के उसी अभ्यास से वह स्वतः ही (उस समत्व योग की तरफ) खींचा जाता है, समत्व योग का जिज्ञासु भी शब्द ब्रह्म अर्थात कर्मकाण्डात्मक वेदों का उल्लंघन कर जाता है। तात्पर्य यह कि समत्व-योग के जिज्ञासु के लिए भी शास्त्रों में कहे हुए धार्मिक कर्म काण्ड [illegible] वह उनसे ऊपर उठ जाता है (४४)। और प्रयत्न पूर्वक उपाय करने वाला योगी अर्थात समत्व-योग का अभ्यासी कई जन्मों में (उत्तरोत्तर) उन्नति करता हुआ ([illegible]) मल से शुद्ध होकर अन्त में परम गति को पा जाता है (४५)। तपस्वियों से (समत्व योग का अभ्यास करने वाला) योगी श्रेष्ठ है, ज्ञानियों से भी (वह) श्रेष्ठ माना गया है, और कर्मियों अर्थात कर्मकाण्डियों से भी (समत्व योग का अभ्यास करने वाला) योगी श्रेष्ठ है। इसलिए हे अर्जुन! तू योगी हो, अर्थात समत्व योग में लग (४६)। (उक्त समत्व-योग के अभ्यास में लगे हुए) सारे योगियों में भी जो अपने अन्तःकरण को मुझ (सबके आत्मा=परमात्मा) में लगा कर श्रद्धा सहित मुझको भजता है वह मेरे मत में सर्व-श्रेष्ठ योगी है। तात्पर्य यह कि जो समत्व-योग के अभ्यास में लगने वाला साधक सबके आत्मा=परमात्मा के एकत्व भाव में मन लगा कर एक परमात्मा के सर्वत्र व्यापक होने के निश्चय से सबके साथ प्रेम करने रूपी ईश्वर भक्ति करता है, वह सब अभ्यास करने वालों में श्रेष्ठ है क्योंकि इस दुहरे (डबल) अभ्यास के कारण उसे बहुत जल्दी सफलता प्राप्त होती है (४७)।

[illegible]—[illegible] अर्जुन की शंकाओं के उत्तर में भगवान कहते हैं कि यह बात सच है कि समत्व-योग में मन की पूर्णतया स्थिति होना बहुत ही कठिन और दीर्घकाल के अभ्यास का काम है अर्थात एक तरफ जगत की भिन्नता के बनावों में ममत्व की आसक्ति कम करने और दूसरी तरफ सबकी एकता के भाव में मन को लगाने का अभ्यास निरंतर दीर्घ काल तक करते करते मनुष्य कई जन्मों में जाकर पूर्णावस्था को पहुंचता है परन्तु इससे घबड़ाने अथवा हताश होने की कोई बात नहीं है क्योंकि किसी भी देहधारी की हस्ती (अस्तित्व) इसी जन्म में समाप्त नहीं हो जाती। यह बात दूसरे अध्याय में कह आये हैं कि मरना जन्मना तो कपड़े बदलने की तरह है। जीवात्मा का वासनामय सूक्ष्म शरीर एक स्थूल शरीर को छोड़ कर दूसरा स्थूल शरीर धारण करता है तो पूर्वजन्मों में किये हुए शारीरिक एवं मानसिक व्यवहारों और विचारों के संस्कारों को साथ रखता है। यह सिद्धान्त निश्चित है कि यह सब जगत मन के संकल्पों की रचना है अतः मनुष्य अपने मन में जो जो संकल्प करता है उनके संस्कार जमा होते रहते हैं और उनके अनुसार ही वह अपना भविष्य बना लेता है। यदि अच्छे संस्कार होते हैं तो एक देह छोड़ने के बाद

फिर वह मनुष्य आदि की उन्नत देह धारण करता है और यदि बुरे संस्कार होते हैं तो पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष लता अथवा प्रेत आदि की हीन देह धारण करता है। जो समत्व-योग के अभ्यास में लग जाता है उसे हीन योनि कभी प्राप्त नहीं होती क्योंकि समत्व-योग का अभ्यास व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए भेद-बुद्धि से किये जाने वाले साम्प्रदायिक कृत्यों की तरह नहीं है कि जिनसे अन्तःकरण में भेद भावरूपी मलिनता बढती रहती है और व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए दूसरों से द्वेष करने अथवा दूसरों को कष्ट देने के बुरे संस्कार उत्पन्न होते हैं और जिनसे थोड़े समय के लिए [illegible] अत मिथ्या सुख प्रतीत होकर फिर उसका दुष्परिणाम होता है और तब हीन योनियों में जाना पडता है जहां उन्नति करने की कोई योग्यता ही नहीं होती। समत्व योग के अभ्यास में सबके साथ एकता के साम्य भाव में मन को लगाना होता है जिससे व्यक्तित्व का भाव कम होकर अन्तःकरण का द्वैत भाव रूपी मल साफ होता है तथा इसमें किसी का अहित करने या किसी को क्लेश देने का भाव नहीं होता इसलिए इसके अभ्यास करने वाले के मन में बुरे संस्कारों का संचय नहीं होता। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए भेद-बुद्धि से किये जाने वाले धार्मिक कृत्यों में शरीर को बहुत क्लेश तथा परिश्रम उठाना पडता है वे कृत्य यदि सांगोपांग पूरे न हो जाय तो उनका कोई फल नहीं होता यदि उनमें किसी प्रकार की त्रुटि रह जाय तो उल्टा अनिष्ट होता है और यदि वे विधिपूर्वक पार पड भी जाय तो उनका अदृष्ट फल कालान्तर में होना माना जाता है। परन्तु समत्व योग के अभ्यास में न तो शरीर को क्लेश अथवा परिश्रम होता है न इसमें त्रुटि रहने से कोई अनिष्ट होता है। इसका थोडा भी आचरण कभी निष्फल नहीं जाता न इसके फल के लिए कालान्तर अथवा लोकान्तर अथवा देहान्तर अथवा पूर्णता ही की अपेक्षा रहती है किन्तु जितना ही समत्व योग का आचरण होता है उतना ही आत्मबल एवं उतनी ही सुख शान्ति इसी जन्म में ही नहीं किन्तु इसका आचरण करते हुए ही प्राप्त होती जाती है, और ज्यों ज्यों इसमें उत्तरोत्तर उन्नति होती जाती है उसी के अनुसार आत्मबल और सुख शान्ति बढती जाती है। उन्नति करते करते जब पूर्ण रूप से [illegible] की स्थिति हो जाती है तब पूर्ण ब्रह्म परमात्म भाव की प्राप्ति हो जाती है। इस जन्म में इसके थोडे से अभ्यास के बाद ही यदि किसी अभ्यासी का शरीर छूट जाय और विषय सुख भोगने की वासना बनी रहे तो मरने के बाद उक्त अभ्यास के बल से वह उन वासनाओं के अनुरूप सुख भोगने के लिए दिव्य (सूक्ष्म) भोग भोगने के उपयुक्त—दिव्य (सूक्ष्म) लोकों में रह कर भोग भोगने का अनुभव करता है अर्थात् मन में जैसी वासना अथवा संस्कार होते हैं उसी के अनुसार वह अपने लिए सुख के साधन कल्पित करके सुख भोगता है परन्तु उक्त सुख भोगते हुए भी पूर्व जन्म वाले समत्व-योग के संस्कार जमा पडे रहते हैं अतः जब बहुत समय तक भोग भोग लेता है, तब उक्त संस्कारों के प्रसाद से फिर मनुष्य

लोक म श्रेष्ठाचारी धनी पुरुषो के घर म ज म लेता ह जहा भौतिक सुखो की सामग्री और आध्यात्मिक उन्नति अर्थात समत्व योग की उन्नति के साधन दोनो मौजूद रहते ह। और यदि इस जन्म म सुख भोगो की वासना नही रहती ह तो मरन के बाद दूसरा जन्म [illegible] घर म होता ह जहा समत्व योग के अभ्यास म उन्नति करने के सब साधन उपस्थित रहते ह। समत्व योग के अभ्यास के बिना मरने के बाद प्रथम तो मनुष्य देह मिलना ही कठिन ह और मनुष्य देह म भी उपरोक्त अच्छे आचरणो वाले श्रीमानो अथवा ज्ञानवान समत्वयोगियो का सयोग होना तो अत्य त ही दुलभ होता ह।

समत्व-योग के अभ्यासी का दूसरा ज म चाहे उपरोक्त श्रेष्ठाचारी धनियो के घर मे हो अथवा ज्ञानी समत्वयोगियो के कुल मे वहा भी अपने पूवज म के अभ्यास के सस्कारो की प्रबलता के कारण वह समत्व-योग के अभ्यास ही म प्रयत्नशील रहता हुआ उत्तरोत्तर आगे बढता रहता ह। इस तरह क्रम से उन्नति करता हुआ वह समय पाकर पूण पद म स्थित हो जाता ह। साराश यह कि समत्व योग के अभ्यास मे एक बार लग जाने पर मनुष्य का, इस लोक मे अथवा परलोक में कहीं भी कभी पतन अथवा अवनति नहीं होती, कि तु उत्तरोत्तर उन्नति ही होती ह। इसलिए सवभूतात्मक्य साम्य भाव से सासारिक व्यवहार करने के समत्व योग के साथ व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के लिए किये जाने वाले साम्प्रदायिक कृत्य अथवा कमकाण्ड की कोइ तुलना नही ह। समत्व-योग का सच्चा जिज्ञासु अर्थात जिसके चित्त मे इस विषय का बोध प्राप्त करन की सच्ची लगन लग जाती ह, अथवा जो इस विषय के अध्ययन और अनुसधान में लग जाता ह, उसका हृदय भी इतना उदार हो जाता ह कि वेदादि शास्त्रो म विधान किय हुए लौकिक फल देने वाले कमकाण्डो की उसे कोई इच्छा नहीं रहती और न उसे उनकी आवश्यकता ही रहती ह। भेद भाव को बढान ओर दढ करन वाले उन कमकाण्डात्मक शास्त्रो में वर्णित रोचक वचन (पुष्पिता वाणी, गी० अ० २ श्लो० ४२ से ४४) उसके मन को नही लुभाते, क्योकि वह उन प्रलोभनो से ऊपर उठ जाता ह और जो इस समत्व-योग अर्थात सवभूतात्मक्य साम्य भाव से जगत के विविध आचरण करने के प्रयत्न में लग जाता ह, वह तो तपस्वियो कमकाण्डियो और ज्ञानिया आदि सबसे श्रेष्ठ हो जाता ह, अर्थात जो राजसी और तामसी प्रकृति के लोग व्रत उपवास आदि से शरीर को कृश करने वाले तथा सरदी-गरमी आदि से शारीरिक कष्ट सहने के अनेक प्रकार के तप करते ह, और जो लोग यज्ञ हवन पूजा पाठ आदि कमकाण्डो म लगे रहते ह, एव जो लोग अध्यात्म ज्ञानविषयक कोरे शास्त्राथ और वाद विवाद में लगे रहते ह उन तपस्वियो कमकाण्डियो और शुष्क ज्ञानियो से समत्व-योग के आचरण का प्रयत्न करने वाला योगा श्रेष्ठ होता ह। समत्व-योग का अभ्यास करने वालो

म भी जो सबके आत्मा—परमात्मा मे मन लगा कर श्रद्धापूवक विश्व प्रेम रूपी भक्ति करता ह वह सबसे उत्तम ह। इसका यह कारण ह कि परमात्मा की सवव्यापकता के विश्वासपूवक उसकी उक्त प्रकार की उपासना करने से मन शीघ्र एकाग्र हो सकता ह क्योकि मन जहा जावे, वहा ही परमात्मा का दशन करने से उसका भटकना बन्द होने मे बहुत सुगमता होती ह, और इस तरह अभ्यास के साथ साथ परमात्मा की सच्ची उपासना करते रहने के दुहरे साधन से समत्व-योग की सिद्धि बहुत जल्दी ओर सुगमता से होती ह। इसलिए इस भक्ति और योग का दुहरा अभ्यास करन वाला सबसे उत्तम अभ्यासी होता ह।

॥ छठा अध्याय समाप्त ॥

सातवाँ अध्याय

छठे अध्याय म भगवान ने समत्व-योग मे मन को ठहराने के लिए ध्यान योग के अभ्यास का साधन कहा जिस पर अजुन ने शका की कि मन अत्यत चचल ह, इस कारण उसका उक्त अभ्यास म टिकना अशक्य प्रतीत होता ह । उस शका का समाधान करते हुए भगवान न उक्त अध्याय के अत मे अपनी यानी सबके आत्मा=परमात्मा की भक्ति अथवा उपासना सहित योगाभ्यास करने वाले साधक को सबसे उत्तम साधक बता कर भक्ति अथवा उपासना सहित ध्यान योग से मन के सुगमता से एकाग्र हो सकने का सकेत किया था । अब उक्त भक्ति अथवा उपासना के वास्तविक स्वरूप का विस्तत रूप से निरूपण आगे किया जाएगा ।

उपासना करने के लिए पहले यह निश्चय होना चाहिए कि जिसकी उपासना की जाय उसका क्या स्वरूप ह यानी परमात्मा के किस रूप अथवा किस भाव की उपासना करनी चाहिए । इसलिए भगवान ने पहले अपनी सवरूपता के विज्ञान सहित ज्ञान का निरूपण करके फिर उस सवरूप अथवा विश्वरूप की यानी सबकी एकता के निश्चय युक्त विश्व प्रेम रूपी उपासना करन का विधान किया ह ।

उपासना के विधान म उपास्य ओर उपासक की पथकता की भाषा का प्रयोग करना पडता ह क्योकि भक्ति अथवा उपासना अपने से भिन्न किसी महान शक्ति की कल्पना किये बिना बन नही सकती । मन को लगाने के लिए अपने से भिन्न कोई न कोई दूसरा अवलम्बन अवश्य चाहिए, क्योकि अपने आपमें मन की स्थिरता होनी अत्यन्त कठिन होती ह । यही कारण ह कि भगवान ने अपने और अजुन के बीच उपास्य उपासक का भेद कल्पित करके उपासना का विधान किया ह । इससे यद्यपि यह [illegible] आत्मा और परमात्मा की भिन्नता का प्रतिपादन किया गया ह परन्तु यह भिन्नता केवल चचल मन को ठहराने के लिए—उसे आसरा अथवा अवलम्बन देने के उद्देश्य से—कल्पित की गई ह । वास्तव मे इस भेद कल्पना का अभिप्राय द्वत सिद्धात के प्रतिपादन करन का नहीं ह क्योकि उपास्य और उपासक दोनो, वस्तुत सबका अपना आप=आत्मा अथवा परमात्मा ही ह—सबके [illegible] से भिन्न न उपास्य ह न उपासक । अपने आपको व्यष्टि मानने से अल्पज्ञ एव अल्प शक्तिमान जीव भाव होता ह, और समष्टि मानने से सवज्ञ एव सव शक्तिमान परमात्म भाव होता ह । पथकता के व्यष्टि भाव की आसक्ति छडा कर समष्टि अथवा एकत्व भाव में स्थिति कराने के लिए ही उपास्य उपासक के भेद की कल्पना की गई ह । परतु उपासना के इस विधान में भगवान ने सवत्र अपने

सर्वात्म भाव अर्थात देश-परिच्छेद, काल-परिच्छेद और वस्तु परिच्छेद से रहित—सब देश, सब काल और सब वस्तुओ मे एक समान व्यापक—अपने अनादि और अनन्त स्वरूप यानी विश्व रूप की अनन्य भाव से उपासना करने को बार बार कहा है किसी लोक विशेष देश विशेष अथवा स्थान विशेष मे बैठे हुए अथवा किसी काल विशेष मे उत्पन्न अथवा प्रकट होने वाले किसी व्यक्ति विशेष के रूप की भेद भाव से उपासना करने को नही कहा है। इससे स्पष्ट है कि उपास्य उपासक की भिन्नता की कल्पना भेद मिटाने के लिए की गई है न कि भेद दृढ करने के लिए। वास्तव मे गीता मे सबकी एकता का अद्वैत सिद्धान्त ही माना गया है।

उत्तम पुरुष वाचक सर्वनामो का प्रयोग भगवान कृष्ण ने अपने व्यक्ति भाव के लिए नहीं किया है किन्तु सबके अपने आप आत्मा के लिए किया है।

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमना पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रय ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषत ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत ॥ ३ ॥
भूमिरापोऽनलो वायु खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगत प्रभव प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥
मत्त परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययो ।
प्रणव सर्ववेदेषु शब्द खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥
पुण्यो गन्ध पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

बीज मा सर्वभूताना विद्धि पार्थ सनातनम ।
बुद्धिबुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम ॥ १० ॥
बल बलवता चाह कामरागविवर्जितम ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वह तेषु ते मयि ॥ १२ ॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभि सर्वमिद जगत ।
मोहित नाभिजानाति मामेभ्य परमव्ययम ॥ १३ ॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेता तरन्ति ते ॥ १४ ॥
न मा दुष्कृतिनो मूढा प्रपद्यन्ते नराधमा ।
माययापहृतज्ञाना आसुर भावमाश्रिता ॥ १५ ॥
चतुर्विधा भजन्ते मा जना सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥
तेषा ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमह स च मम प्रिय ॥ १७ ॥
उदारा सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम ।
आस्थित स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमा गतिम ॥ १८ ॥
बहूना जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मा प्रपद्यते ।
वासुदेव सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ ॥ १९ ॥
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता ।
त त नियममास्थाय प्रकृत्या नियता स्वया ॥ २० ॥
यो यो या या तनु भक्त श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचला श्रद्धा तामेव विदधाम्यहम ॥ २१ ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च तत कामान्मयैव विहितान्हि तान ॥ २२ ॥
अन्तवत्तु फल तेषा तद्भवत्यल्पमेधसाम ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

अव्यक्त व्यक्तिमापन्न मन्यते मामबुद्धय ।
पर भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम ।। ३४ ।।
नाह प्रकाश सवस्य योगमायासमावृत ।
मूढोऽय नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम ।। २५ ।।
वेदाह समतीतानि वर्तमानानि चाजुन ।
भविष्याणि च भूतानि मा तु वेद न कश्चन ।। २६ ।।
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सवभूतानि समोह सर्गे यान्ति परन्तप ।। २७ ।।
येषा त्वन्तगत पाप जनाना पुण्यकमणाम ।
ते द्वन्द्वमोहनिमुक्ता भजन्ते मा दढव्रता ।। २८ ।।
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदु कृत्स्नमध्यात्म कम चाखिलम ।। २९ ।।
साधिभूताधिदव मा साधियज्ञ च ये विदु ।
प्रयाणकालेऽपि च मा ते विदुयुक्तचेतस ।। ३० ।।

अथ—श्री भगवान बोले कि हे पाथ! मझमे मन लगा कर मेरे आश्रय से अर्थात मेरी उपासना के अवलम्बनपूवक (पूवकथित) ध्यान योग से तू निस्सन्देह, समग्र अर्थात सबमे परिपूण, मझको जसा जानेगा सो सुन। तात्पय यह कि मन किसी न किसी विषय में अवश्य ही लगा रहता ह यह उसका स्वभाव ह। उसे कोई न कोई अवलम्बन अवश्य चाहिए। यदि उसे सबमे एक समान व्यापक एक, अखण्ड अपरिवतनशील सबके आत्मा= परमात्मा के चिन्तन में लगान का प्रयत्न न किया जाय तो वह प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले जगत के परिवतनशील अर्थात निरन्तर बदलते रहने वाले नानात्व के भावो में आसक्त रहने के कारण एकाग्र नहीं हो सकता इसलिए उसको श्रद्धा विश्वासपूवक सबके आत्मा= परमात्मा की उपासना मे लगाना चाहिए अर्थात यह चिन्तन करने का अभ्यास करना चाहिए कि जगत सब परमात्मा का स्वरूप ह और वह परमात्मा सारे जगत में एक समान व्यापक ह। इस तरह परमात्मा की उपासना के अवलम्बन से मन समत्व-योग के अभ्यास मे सहज ही स्थित हो जायेगा और उस अभ्यास से यह निश्चित एव दढ ज्ञान हो जायेगा कि यह सम्पूण जगत एक ही परमात्मा के अनेक रूप ह, वास्तव मे जो कुछ ह वह सब परमात्मा ही ह, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं ह (१)। यह विज्ञान सहित ज्ञान अर्थात प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर होने वाले स्थूल और सूक्ष्म जगत के निरन्तर बदलने वाले भिन्नता के भावो में एक अव्यक्त अपरिवतनशील आत्मतत्त्व एक समान भरा हुआ ह—यह तत्त्व

ज्ञान, म तुझे बताता हूँ जिसे जान लेने पर फिर यहा (ससार) मे कुछ भी जानने के लिए बाकी नही रहता। तात्पय यह कि यह विश्व सबके आत्मा=परमात्मा ही के सगण और निगण, अथवा साकार और निराकार अथवा जड और चेतन अथवा प्रकृति और पुरुष रूप द्वन्द्वो अथवा जोडो का बनाव ह जिसन इस रहस्य को अच्छी तरह जान लिया उसने सब कुछ जान लिया फिर उसके लिए जगत मे वस्तुत जानने को कुछ भी शष नही रहता, क्योकि जगत मे जो भी कुछ ह वह सब परमात्मा के इन युगल भावो का ही विस्तार ह (२)। हजारो मनष्यो म कोई विरला ही सिद्धि के लिए, अर्थात सर्वात्मा=परमात्मा को यथाथतया जानने रूपी उक्त विज्ञान सहित ज्ञान की प्राप्ति के लिए यत्न करता ह, और उन यत्न करने वाले सिद्धो अर्थात साधको मे कोई बिरला ही मझ परमात्मा को तत्त्वत यानी यथाथ रूप से जानता ह। तात्पय यह कि ससार मे अधिकाश मनष्य तो खाने, पान, सोन, सतान उत्पन्न करन आदि विषयो तथा उन विषयो के साधनो की प्राप्ति के लिए दौड धूप करन म ही लग रहत ह इनके सिवाय और कुछ भी विचार करन का उनके मन म सकल्प ही उत्पन्न नही होता। यदि उनम से कोई कुछ विचार करते ह तो वे भी अधिकतर आधिभौतिक* और आधिदविक विचारो तक ही रह जाते ह आध्यात्मिक* विचारो की तरफ काई बिरले ही लगते ह। जो लोग आध्यात्मिक विचार करने म लगते ह, उनम भी अधिकाश लोग आत्मा को जगत से भिन्न मानते ह और जगत का तिरस्कार करके आत्मज्ञान की खोज म लगे रहते ह। 'एक म अनक और अनेको म एक के विज्ञान सहित ज्ञान, अथवा आधिभौतिक आधिदविक और आध्यात्मिक तीनो भावो की एकता के तत्त्व ज्ञान की पूणता को कोई बिरला ही पहुचता ह (३)। पथ्वी, जल, तेज (अग्नि) वायु (हवा) आकाश (अवकाश अथवा पोल) मन बद्धि और अहकार—इस प्रकार यह आठ भेदो वाली मेरी प्रकृति अलग ह। यह (मेरी) अपरा प्रकृति ह, और इससे दूसरी जीव भाववाली मेरी परा प्रकृति जान, जिससे हे महाबाहो! यह जगत धारण किया जाता ह। ऐसा समझ कि इन (दोनो) प्रकृतियो से ही सब भूत प्राणियो की उत्पत्ति होती ह अत अखिल विश्व का प्रभव और प्रलय, अर्थात आदि और अन्त म ही हूँ। तात्पय यह कि एक तरफ सबके आत्मा=परमात्मा की अपरा अथवा जड प्रकृति सूक्ष्म और स्थूल पच तत्त्व और उनके विस्तार—इन्द्रिया और उनके विषय आदि—एव मन बुद्धि, चित्त और अहकार-रूप से व्यक्त होती ह जिनसे पिण्ड (व्यष्टि शरीर) और ब्रह्माण्ड (समष्टि जगत) के प्रतिक्षण परिवतनशील बनाव बनते ह और दूसरी तरफ सबके आत्मा=

---

* आधिभौतिक आधिदविक और आध्यात्मिक विचारो का खुलासा व्यावहारिक वेदान्त प्रकरण मे देखिए।

परमात्मा की परा अथवा चेतन प्रकृति पूर्वोक्त अपरा प्रकृति के सब सूक्ष्म और स्थूल भावो के अनन्त प्रकार के नाना प्रकार के बनाव के अंदर उनके जीवनरूप से स्थित होकर सबको एकता के सूत्र मे पिरोये हुए धारण करती है। इस तरह सबका आत्मा=परमात्मा ही विश्व की उत्पत्ति स्थिति और लय का वास्तविक आधार है। दूसरे शब्दो म यह विश्व सबके आत्मा=परमात्मा ही की कल्पना का खेल है (४ ६)। हे धनजय! मुझसे परे अर्थात मुझसे वस्तुत भिन्न कुछ भी नही है, सूत मे पिरोये हुए मणियो की तरह यह सब मुझमे पिरोया हुआ है। तात्पय यह कि जिस तरह सूत के मणियो की माला गूथी जाय तो माला का रूप और नाम बनने के पहले सब सूत होता है और माला के बन जाने के बाद भी सूत के सिवाय और कुछ नहीं होता और माला को फिर से उधेडी जाय तो भी सूत ही रहता है। मणिये अथवा माला किसी भी अवस्था मे सूत के सिवाय और कुछ भी नही होते। यदि मणिये लकडी पत्थर अथवा धातु के होते है तो भी वे पृथ्वीतत्त्व के ही होते है और सूत भी पृथ्वी तत्त्व ही होता है। इसलिए तत्त्वत वे सब एक ही वस्तु के अनेक रूप होते है। इसी तरह भगवान कहते है कि जगत का जो भी कुछ बनाव है वह वस्तुत मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है जो कुछ भी है वह सब मेरे ही अनेक रूप है (७)। हे कौन्तेय! जल मे रस म हू सूर्य और चन्द्रमा म ज्योति (म) हू, सब वेदो मे ओकार म हू आकाश मे शब्द और पुरुषो में पुरुषत्व म हू। पृथ्वी म विकार रहित गंध और अग्नि मे तेज म हू सब भूत प्राणियो में जीवन और तपस्वियो में तप म हू। हे पार्थ? सब भूतो का सनातन बीज (सदा बना रहने वाला कारण) मुझे जान बुद्धिमानो की बुद्धि और तेजस्वियो का तेज म हू। काम और राग के विकारो से रहित बलवानो का बल म हू और हे भरतश्रेष्ठ! प्राणीमात्र मे धर्मानुकूल काम अर्थात स्वाभाविक इच्छा म हूँ। तात्पय यह कि परमात्मा ससार के यावन्मात्र पदार्थो के अन्दर उनके आधार भूत—सूक्ष्म कारण रूप से अथवा उनके सार यानी सत्त्व-रूप से अथवा उनके आपस के साधर्म्य-रूप से ओत प्रोत भरा हुआ है। उदाहरणार्थ —अनेक भेदो वाले जल का सूक्ष्म कारण एव उसका सत्त्व—रस है मधुरता अर्थात स्वाद, द्रवता अर्थात पिघलाहट और शीतलता अर्थात तरी जो जल के धर्म है, वे रस ही से है, दूसरे शब्दो म रस ही जल का अस्तित्व है अत जल मे परमात्मा रस रूप से ओत प्रोत भरा हुआ अथवा पिरोया हुआ है। इसी तरह सूर्य चन्द्र आदि प्रकाशमान पदार्थो मे प्रकाश रूप से वेदो म ओकार रूप से आकाश मे शब्द रूप से, पुरुषो मे पौरुष-रूप से पृथ्वी मे गन्ध रूप से, अग्नि मे तेज रूप से भूत प्राणियो मे जीवन रूप से, तपस्वियो म तप रूप से सारी सृष्टि मे उसके अनादि एव अनन्त बीज-रूप से, बुद्धिमानो म बुद्धि रूप से तेजस्वियो म तेज रूप से बलवानो म बल रूप से—इस तरह नाना

प्रकार के पदार्थो मे उन सबके आधार एव सूक्ष्म कारण रूप से, सबके सार रूप से, तथा सबके परस्पर के साधर्म्य रूप से परमात्मा सबम ओत प्रोत भरा हुआ तथा सबको एकता के सूत्र म पिरोये हुए ह। काय से कारण ओर धर्मी से धम वस्तुत पथक नही होते तथा आधार के बिना आधय की स्थिति नही होती एव प्रत्यक वस्तु का अस्तित्व उसके सार अथवा सत्त्व पर निभर रहता ह। अस्तु आत्मा अथवा परमात्मा सबका आधार सबका कारण सबका सार अथवा सत्त्व ह इसलिए जगत सब परमात्मामय ह दूसरे श दो मे जो कुछ ह सब परमात्मा ही ह। जगत की रचना और विस्तार समष्टि इच्छा अथवा काम पर निभर ह अर्थात सब भूत प्राणियो की स्वाभाविक इच्छा ही से जगत प्रवर्तित हो रहा ह अत भगवान न अ त म यह कह कर अपनी सवरूपता को अधिक स्पष्ट कर दिया ह कि भूत प्राणियो म जो उनके स्वाभाविक धर्मानुसार काम अथवा इच्छा होती ह, वह भी म ही हू। यहा धर्मानकूल काम" कहन का प्रयोजन यह ह कि सष्टि विस्तार की इच्छा या काम सब प्राणियो म स्वाभाविक होता ह और यह काम लोक सग्रह का हेतु ह। इस सात्त्विक काम से सबके एकत्व भाव म कोई बाधा नही आती यानी किसी की कोई हानि नही होती कि तु जगत की व्यवस्था के लिए यह आवश्यक ह, इसलिए यह धर्मानकूल ह पर तु दूसरो से पथक अपनी व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि की जो कामनाए की जाती ह चाहे वे शारीरिक विषय भोग आदि की हो या पारमार्थिक कल्याण की, उनमे पथकता का भाव भरा हुआ होता ह और उनसे दूसरो की हानि होती ह इसलिए यह राजस काम स्वाभाविक धम के विरुद्ध ह (८ ११)। **ओर जो सात्त्विक ओर जो राजस तथा तामस भाव ह, वे मुझसे ही ह ऐसा जान, और (यद्यपि) वे मुझ मे ह पर तु म उनमे नही हूँ।** तात्पय यह कि जगत म जिन सत्त्व रज और तम गणो के तारतम्य से उत्पन्न अन त प्रकार की भिन्नताओ की प्रतीति होती ह वे तीनो गण सबके आत्मा=परमात्मा ही की कल्पना ह अर्थात परमात्मा ही के सकल्प के खेल ह। इसलिए परमात्मा ही उनका आधार और अवलम्बन ह पर तु उनका आधार और अवलम्बन होता हुआ भी परमात्मा उनमे रुका हुआ एव उन पर अवलम्बित नही ह क्योकि यद्यपि कल्पना कल्पना करने वाले पर अवलम्बित रहती ह, पर तु कल्पना करने वाला अपनी कल्पना पर अवलम्बित नही रहता। इसलिए परमात्मा इन तीन गुणो के अधीन और इन पर अवलम्बित नही ह कि तु इनसे परे ह और इनकी कमी-बेशी से उत्पन्न विकारो का उस पर कुछ भी असर नही पडता। अपनी कल्पना से इनको सत्ता एव स्फूर्ति-युक्त करता हुआ भी वह इनसे अलिप्त निर्विकार एव सदा एक सा रहता ह (१२)। इन तीन गुणो के (तारतम्य अर्थात कमी बेशी के) नानात्व के भावो से यह सब जगत मोहित हो रहा ह इसलिए इनसे परे मुझ निर्विकार को नही जानता यह मेरी दवी अर्थात अलौकिक त्रिगणात्मक माया अथवा प्रकृति बडी दुस्तर ह, पर तु जो

पुरुष मुझे ही भेजते ह, वे इस माया को तर जाते ह। तात्पय यह कि साधारण लोग सबके आत्मा—परमात्मा के सकल्प रूप त्रिगुणात्मक प्रकृति अथवा योग माया के नाना नामो और नाना रूपो के बनाव म ही उलझे हुए रहते ह इसलिए इस नानात्व के बनाव के मूल आधार इसके रचयिता सबके आत्मा=परमात्मा को नहीं जान सकते। जो माया के स्वामी महेश्वर यानी सबकी एकता स्वरूप सबके आत्मा=परमात्मा की उपासना करते ह उनकी इस त्रिगुणात्मक माया और इस अनेकता के फलाव मे आसक्ति नहीं रहती अत वे इससे ऊपर उठ जाते ह क्योकि जो जिसकी दढतापूवक उपासना करता ह वह उसी को पाता ह अत जो लोग माया और उसके काय रूप भिन्नता की उपासना करते ह वे माया तक ही रहते ह और जो माया के परे उसके स्वामी सबकी एकता स्वरूप परमात्मा की उपासना करते ह वे परमात्म भाव को प्राप्त हो जाते ह। (१३ १४)। जिनकी विचार-शक्ति माया से नष्ट हो गई ह एसे विवेक शून्य एव बरे कर्मो मे प्रवत्त रहने वाले अधम पुरुष आसुरी भावो मे आसक्त होकर मेरा शरण मे नही आते अर्थात सबकी एकता स्वरूप मेरी उपासना नही करते। तात्पय यह कि जिनकी बुद्धि जगत की मायिक भिन्नताओ म ही उलझी रहती ह उनको सत असत धम अधम अथवा अच्छे, बरे का यथाथ ज्ञान नहीं रहता और उनकी प्रकृति आसुरी हो जाती ह अत वे लोग स्वधर्मानुसार अपने कतव्य कम करना छोड कर विरुद्धाचरण द्वारा लोगो का अनिष्ट करन तथा दूसरो को कष्ट देने मे प्रवत रहते ह उन पाप कम करन वाले नीच पुरुषो का मन सबके आत्मा=परमात्मा की एकता के भाव से उपासना मे कभी नही लगता (१५)। हे भरतश्रेष्ठ अजुन! सुकृत अर्थात अच्छे कम करने वाले चार प्रकार के मनष्य मुझको भजते ह — (१) आत अर्थात दु ख से पीडित अथवा विपदग्रस्त (२) जिज्ञासु अर्थात ज्ञान प्राप्ति की इच्छा वाले (३) अर्थार्थी अर्थात (परमाथ के निमित्त) द्रव्योपाजन की कामना वाला और (४) ज्ञानी अर्थात मुझ परमात्मा को सबका आत्मा जानने वाला (१६)। इनमे से ज्ञानी सदा अनन्य भाव से मेरी निष्काम भक्ति मे लगा रहता ह अर्थात अपने सहित सबम मुझ परमात्मा को समान भाव से व्यापक जानते हुए व्यक्तित्व के भाव से रहित होकर तथा किसी भी प्रकार की स्वाथ सिद्धि की कामना बिना, सबके साथ प्रम के भाव मे जडन रूप मेरी उपासना करता ह, इसलिए उसकी विशेषता ह अर्थात वह सबसे उत्तम भक्त ह। निश्चय ही ज्ञानी को म अत्यन्त प्यारा हू और वह मुझ अत्यन्त प्यारा ह अर्थात ज्ञानी स्वत्र एक ही आत्मा अथवा परमात्मा का अनुभव करता हुआ सबके साथ एकत्व भाव का प्रेम करता ह, किसी के साथ राग द्वेष नहीं रखता और इसीलिए वह भी सबका प्यारा होता ह (१७)। (यद्यपि) ये सब ही (भक्त) उदार ह परन्तु ज्ञानी को तो म अपना आत्मा ही मानता हू क्योकि वह अपने अन्त करण को मुझ परमात्मा ही मे लगाकर सबकी एकता के सर्वोत्तम

भाव मे स्थित रहता ह (१८)। श्लोक १६ से १८ तक का तात्पय यह ह कि स्वधर्मानसार अपने कत य कर्मो का आचरण करन वाले तथा परोपकारी अर्थात लोक हितकर कार्यों म लग रहने वाले पुण्यात्मा पुरुष बरे कम करन वाले मनष्यो की तरह माया के बनाव म ही डूब नही रहते, कि तु अपन पुण्य कर्मो के प्रभाव से माया के स्वामी महेश्वर अर्थात परमात्मा की भक्ति म प्रवत्त रहते ह। उन परमात्मा के पुण्यवान भक्तो की चार श्रणियाँ ह —एक वे ह जो कष्ट अथवा विपत्ति मे आत या याकुल होकर परमात्मा को याद करते ह अथवा जगत को दु ख रूप समझ कर उससे निस्तार पाने के लिए ईश्वर से प्राथना करते ह, दूसरे वे न। नान ञ गज़ा विद्या । ग। न र ि परमात्मा की उपासना करते ह, तीसरे वे ह जो परोपकार अथवा लोक सेवा के निमित्त द्र य प्राप्ति के लिए परमात्मा का भजन करते ह और चौथ वे ह जिनको यह ज्ञान होता ह कि जो कुछ ह सो सब परमात्मा ही ह उसके सिवाय और कुछ नही ह—इस निश्चय से सबके साथ नि स्वाथ भाव से प्रम करने रूपी परमात्मा की भक्ति करते ह। यद्यपि पूवकथित कुकर्मों म लग रहने वाले आसुरी प्रकृति के देहाभिमानी एव स्वार्थी लोगो की अपेक्षा ये चारो प्रकार के भक्त उदार अथवा उत्तम ह क्योकि ये अपन यक्तिगत स्वार्थों के लिए दूसरो की हानि नही करते, कि तु दूसरो का उपकार करते ह, और इनकी सबके आत्मा= परमात्मा में श्रद्धा होने के कारण ये उसकी उपासना करते ह जिससे इनका देहाभिमान कम होता ह और देह से सबध रखने वाले पदार्थों म ममत्व का त्याग भी यथायोग्य अवश्य ही होता ह, परन्तु प्रथम तीन प्रकार के भक्त अज्ञानी और भावक होते ह, वे तत्त्व से परमात्मा का स्वरूप नहा जानते अत इन चारो में ज्ञानी ही सबसे श्रेष्ठ ह क्योकि उसका अन्त करण निरन्तर सबके एकत्वभाव परमात्मा में ही लगा रहता ह और उसको सवत्र परमात्मा ही दष्टिगोचर होता ह अर्थात वह सबको परमात्मा ही का स्वरूप अनुभव करता ह अत उसका द्वतभाव निवत्त हो जाता ह फलत उसको सब अपने आत्मीय जनो की तरह अत्यन्त प्यारे लगते ह जिसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप वह भी सबको प्यारा लगता ह और उसकी स्थिति परमात्मा में हो जाती ह (१६ १८)। बहुत ज मो के अनन्तर ज्ञानवान पुरुष इस अनुभव के दढ हो जान पर कि 'सब कुछ वासुदेव ही ह" मुझम मिल जाता ह, वह महात्मा अत्यन्त दुलभ ह अर्थात एसे महान आत्मा बिरले ही होते ह। तात्पय यह कि अनेक जन्मो मे अभ्यास करते करते ज्ञानवान भक्त को जब पूरी तरह यह अनुभव हो जाता ह कि जो कुछ ह सब परमात्मा ही ह तो उसे परमात्मा के सिवाय अन्य कुछ भी नही भासता और तब वह स्वय परमात्म-स्वरूप हो जाता ह। पर तु इस तरह सबकी एकता के परमात्म भाव में स्थित होने वाला ज्ञानी भक्त कोई बिरला ही होता ह (१९)। (नाना प्रकार की) कामनाओ से विक्षिप्त बुद्धि वाले लोग, (उपासना के) जिस जिस नियम में उनकी प्रकृति उ हे प्रेरित करती ह उस उसका

अनुसरण करके भिन्न भिन्न देवताओ की उपासना करते ह । जो-जो (देव भक्त) जिस जिस रूप की श्रद्धापूवक आराधना करना चाहता ह, उस-उस (देव भक्त) की श्रद्धा म" उस (देवता) ही में दढ कर देता हू । उस श्रद्धा से यक्त वह (देव भक्त) उस (देवता) की आराधना करता ह और उससे उसकी वे कामनाएँ मेरे ही निर्दिष्ट किये हुए विधाना नुसार पूण होती ह । तात्पय यह कि सबका आत्मा=परमात्मा तो एक ही ह, पर तु जिन लोगो की बुद्धि, धन पुत्र, कुटुम्ब मान मर्यादा आदि इहलौकिक पदार्थो विषय भोगो और स्वर्गादि पारलौकिक सुखो की अनेक प्रकार की कामनाओ से विक्षिप्त रहती ह वे उन कामनाओ की पूर्ति, परमात्मा से भिन्न कि ही अदष्ट शक्तियो यानी देवताओ से होने के भ्रम में पडे हुए भिन्न भिन्न देवताओ की कल्पना करके अपनी अपनी स्वाभाविक रुचि के अनुसार उनके पूजन-अचन के नियम उपनियम बनाकर उनकी उपासना करते ह अर्थात जिनकी जसी प्रकृति होती ह उसी के अनुसार वे अपने अनकूल गुणो की प्रधानता वाले देवता कल्पित कर लेते ह और जिस-तरह के आचरण अपने को अच्छे लगते ह, तथा जो-जो खान-पान रहन-सहन आदि नाना प्रकार के विषय अपने को प्यारे लगते ह वही आचरण और विषय उन देवताओ को अच्छे और प्यारे लगने का विश्वास करके उन आचरणो तथा विषयो की सामग्रियो द्वारा उन कल्पित देवताओ का अचन-पूजन करते ह । जो जिस देवता की श्रद्धायक्त उपासना करने लगता ह, उसी मे उसकी श्रद्धा दढ हो जाती ह क्योकि श्रद्धा मन से होती ह और मन जिस विषय में लग जाता ह, उसमें उसकी दढ आसक्ति हो जाती ह । उस अटल श्रद्धा के प्रसाद से ही उसकी कामनाओ की सिद्धि होती ह । अपना-आप=आत्मा ही व्यक्तित्व के भाव से अनेक प्रकार की काम नाए करता ह आप ही मन रूप से देवताओ की कल्पना करके उनमे दढ श्रद्धा करता ह और आप ही अपनी श्रद्धा के प्रतिफल-स्वरूप उनका फल उत्पन्न कर लेता ह । साराश यह कि यद्यपि सब-कुछ करने कराने वाला ा ा । । ही ह, उसके अतिरिक्त दूसरा कोई कुछ भी करने कराने वाला नहीं ह, परन्तु व्यक्तित्व के भाव मे आसक्त अज्ञानी लोग सबके आत्मा=परमात्मा से भिन्न देवताओ को कामनाओ की पूर्ति करने वाला मानते ह (२० २२) । पर तु उन अल्पबुद्धि लोगो का वह (कामनाओ की पूर्ति रूप) फल नाशवान होता ह देवताओ की उपासना करने वाले देवताओ को प्राप्त होते ह और मेरी भक्ति करने वाले मुझमे आ मिलते ह । तात्पय यह कि यद्यपि उपरोक्त देवताओ की उपासना के निमित्त को लेकर जो फल होता ह वह अपने आप=आत्मा अथवा पर मात्मा के प्रसाद से ही होता ह परन्तु उन मूख लोगो की देवोपासना नाशवान सासारिक पदार्थो की कामनाओ को लेकर होती ह अत उनका फल नाशवान एव दु ख परिणाम वाले सासारिक भोगो की प्राप्ति-रूप ही होता ह । इसके अतिरिक्त उन देवोपासका की गति उन देवताओ तक ही होती ह अर्थात वे उन कल्पित रूपो के ही दास बने रहते ह,

क्योकि जिसका मन जसी कल्पना करता ह वह उसी के अनुरूप हो जाता ह। सबका आत्मा=परमात्मा जो सब रचनाओ का आधार और उनका स्वामी ह, उसकी अनन्य भाव से उपासना करन वाले परमात्मा रूप हो जाते ह (२३)। मूख लोग मेरे अव्यय यानी सदा एक सा रहने वाले उत्तम परम भाव को न जान कर मुझ अव्यक्त को व्यक्ति भावापन्न हुआ मानते ह। तात्पय यह कि म (सबका आत्मा=परमात्मा) अज, अविनाशी, सवव्यापी, सब म एक समान तथा सदा एक सा रहने वाला देश काल एव वस्तु परिच्छेद से रहित, निर्विकार हू, ओर सब दृश्य प्रपच के अन्दर सद रूप से विद्यमान रहता हुआ भी मन, बुद्धि और इन्द्रियो के अगोचर हू परन्तु बसमझ लोग मझ (परमात्मा) को उत्पत्ति नाशवान एव प्रतिक्षण परिवतनशील एक शरीर विशष ही मानते ह, अथवा किसी लोक विशष देश विशष अथवा स्थान विशष मे बठा हुआ, किसी काल विशष म व्यक्त अथवा प्रकट होकर सीमाबद्ध रहने वाला एक विशष व्यक्ति मानते ह। वे मूख लोग मेरे वास्तविक स्वरूप—सब देश सब काल सब वस्तुओ और सब भावो में तथा सब व्यक्तिया मे एक समान रहने वाले सच्चिदानन्द परब्रह्म परिपूण भाव को नही जानते (२४)। म अपनी योगमाया से ढका हुआ अर्थात अपनी इच्छा शक्ति द्वारा रच हुए आधिभौतिक आधिदविक और आध्यात्मिक जगत के नाना भाति के नाम रूपात्मक कल्पित बनावो से आच्छादित हुआ, सब लोगो को दष्टिगोचर नही होता, (इसलिए) यह मूढ जनता उत्पत्ति और विनाश से रहित मुझ (अनादि अनन्त) को वस्तुत नहा जानती (२५)। हे अजन ! जो पहले हो चके ह, वतमान म ह और भविष्य म होगे उन सब भौतिक बनावो को म जानता हू परन्तु मुझको कोई भी (यथाथरूप से) नही जानता (२६)। हे परतप ! हे भारत ! ससार म सभी भूत प्राणी इच्छा (राग) और द्वष से उत्पन्न नाना प्रकार के द्वन्द्वो के मोह से मोहित हो रहे ह (२७)। परन्तु जिन पुण्य कम करने वाले पुरुषो के पापो का अन्त हो जाता ह वे द्वन्द्वो (परस्पर विरोधी भावो के जोडा) के मोह को छोड कर दढतापूवक मझे भजते ह (२८)। जरा (बुढापा) और मत्यु से छटकारा पाने के लिए जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करते ह, वे उस ब्रह्म को तथा सारे अध्यात्म को और सम्पूण कम को जान लेते ह (२९)। जो अधिभूत अधिदेव और अधियज्ञ सहित मुझको जान लेते ह शरीर छूटते समय भी समाहित चित्तवाले पुरुष मुझ परमात्मा को (सबके आत्मा रूप से) जानते ह (३०)। श्लोक २५ से ३० तक का तात्पय यह ह कि साधारण लोग इन्द्रियो और मन म ही आसक्त रहते ह और इन्द्रियो तथा मन की योग्यता, उत्पत्ति और विनाशवान तथा सुख दु ख आदि नाना प्रकार के द्वन्द्वो अथवा भिन्नता के भावो से परिपूण जगत के परिवतनशील दश्य अथवा बनाव ही को विषय करने की होती ह, अत वे इस बनाव की अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता मे द्वेष करके इन्हीं में उलझे

रहते है। आत्मा अथवा परमात्मा को विषय करने की योग्यता इन्द्रियो और मन मे नहीं होती क्योकि आत्मा अथवा परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म और इन्द्रियो मन आदि सबका कारण सबका आधार सबका प्रेरक और सबकी सत्ता एव चेतनता स्वरूप है अर्थात इन्द्रियो मन आदि मे जो सत्ता और चेतनता है वह सब आत्मा की है और इनको अपने-अपने विषयो का जो ज्ञान होता है वह - - ।- - - से होता है— ये तो केवल ज्ञान के साधन यानी हथियार है—वास्तव म ज्ञान-स्वरूप चेतन आत्मा अथवा परमात्मा ही है अत ये हथियार सबके ज्ञाता—सबके जानने वाले चेतन आत्मा अथवा परमात्मा को नही जान सकते (बृहदा० उ० अ० २ ब्रा० ४ म० १४)। हाथ से हथियार पकडे जाते है परन्तु हथियार हाथ को नहा पकड सकते। सबका अपना आप= आत्मा अथवा परमात्मा तो अपना अनुभव रूप ही है। अन्य सब पदार्थो को जानने वाला तो सबका अपना आप=आत्मा अथवा परमात्मा है। भत भविष्य एव वतमान के सारे ज्ञान का सग्रह सबके अपन आप—सबके आत्मा=परमात्मा में होता है परन्तु अपने आप स्वरूप आत्मा अथवा परमात्मा को जानने वाला अपने सिवाय दूसरा कोई नही होता, अपन आप का यथाथ ज्ञान अपन अनुभव सिवाय दूसरे किसी साधन से नही होता। अत इन्द्रियो और मन के विषयो ही मे लग रहने वाले स्वाथ परायण लोग आत्मा अथवा परमात्मा का यथाथ ज्ञान प्राप्त नही कर सकते परन्तु जो लोग लोक हित के पुण्य कर्मो म लगे रहते है वे राग द्वेष आदि द्वन्द्वो के मोह रूपी पाप से मक्त हो जाते है और वे ही सबके आत्मा=परमात्मा की अनन्य भाव से भक्ति करन म तत्पर रहते है अर्थात वे अखिल विश्व के साथ प्रम करते है और वे जरा (बढापा) एव मरण धमवाले परिवतनशील शरीर की आसक्ति छोडकर सबके आत्मा=परमात्मा के ज्ञान के लिए प्रयत्न करते है। उन्ही को परमात्मा के नाना भावो का और उन भावो के आधार परमात्मा का यथाथ ज्ञान होता है और वह ज्ञान उनको शरीर छूटने तक भी बना रहता है (२५ से ३०)।

स्पष्टीकरण—मन की एकाग्रता के लिए अपनी उपासना के विधान के प्रकरण मे भगवान ने यहा पर अपनी सवरूपता या आधिभौतिक आधिदविक और आध्यात्मिक, अथवा स्थूल सूक्ष्म और कारण, तीनो भावो युक्त पिण्ड (व्यष्टि) और ब्रह्माण्ड (समष्टि) रूप ... [illegible] है।

यह जगत सबके आत्मा=परमात्मा अथवा ब्रह्म की इच्छा अथवा सकल्प का खेल यानी दृश्य है (छान्दोग्योपनिषद प्रपाठक ६ खण्ड २ बृहदा० उ० अ० १ ब्रा० ४)। प्रकृति, स्वभाव, माया ब्रह्मा आदि अनेक नाम सबके आत्मा=परमात्मा अथवा ब्रह्म की उस समष्टि इच्छा अथवा सकल्प ही के है। जब समष्टि आत्मा=परमात्मा की इच्छा एक से अनेक रूप होकर जगत का खेल करने की होती है तब वह इच्छा अपरा और परा दो

भावो वाली प्रकृति-रूप होकर जगदाकार होती ह। पाच इद्रियो और उनके पाच विषयो को आदि लेकर अनन्त प्रकार के फलाव सहित स्थूल और सूक्ष्म पच-महाभूत एव मन, बद्धि चित्त और अहकार आदि सूक्ष्म शक्तिया अपरा प्रकृति अर्थात परमात्मा की इच्छा शक्ति अथवा दवी माया का क्षर एव जड माना जाने वाला भाव ह। इस भाव को क्षेत्र भी कहते ह (गी० अ० १३ श्लो० ५ ६)। यह प्रति [illegible] अर्थात निरतर बदलते रहने वाला नामरूपात्मक भाव ह। परमात्मा की इस अपरा प्रकृति मे इद्रियो से प्रत्यक्ष प्रतीत होन वाले जगत के सब स्थूल याना आधिभौतिक पदार्थो और भावो का, तथा प्रत्येक पदाथ एव भाव के अदर रहन वाली उनकी सूक्ष्म आधिदविक शक्तियो का समावेश ह। परमात्मा की दूसरी परा प्रकृति ह, जो उसकी इच्छा शक्ति अथवा दवी माया का अक्षर एव चेतन माना जाने वाला अध्यात्म भाव ह। यह परा प्रकृति अथवा चेतन माना जाने वाला अध्यात्म भाव सत चित आनद-स्वरूप ह तथा अपरिवतनशील ह अर्थात अपरा प्रकृति के नाना भावो-रूप जगत के बदलते रहने पर भी यह परा प्रकृति-रूप चेतन भाव ज्यो का त्यो रहता ह। अपरा प्रकृति के नाना भावो म जो नित्यता सत्यता चेतनता और सुख-रूपता आदि प्रतीत होती ह, वे सब परमात्मा की इस परा प्रकृति अर्थात अध्यात्म भाव की ह। यह परा प्रकृति उपरोक्त सब स्थूल यानी आधिभौतिक और सूक्ष्म यानी आधि दविक जगत म कारण-रूप से ओतप्रोत पिरोयी हुई ह और यह सारे जगत का जीवन और सारे जगत का आधार ह। इस परा प्रकृति को क्षत्रज्ञ भी कहते ह (गी० अ० १३ श्लो० १२)।

जिस तरह [illegible] अपनी इच्छा से एक से अनक रूप होता ह, वही स्वभाव प्रत्येक व्यक्ति में प्रत्यक्ष देखन मे आता ह। प्रत्येक व्यक्ति पहले अकेला ही होता ह, पर वह जब एक से अनक होन की इच्छा करता ह तब नर मादा को और मादा नर को प्राप्त होकर दो होते ह और फिर उनसे अनेक सतानो का फलाव होता ह। जो कोई इस तरह नर-मादा के सयोग का फलाव नहीं करता वह भी अनको के समूह अथवा समाज म रहना अवश्य चाहता ह। एक से अनेक होन की यह इच्छा स्वाभाविक ह। इस तरह आत्मा अथवा परमात्मा ही अपनी इच्छा शक्ति अथवा दवी माया से अपरा और परा प्रकृति अथवा क्षर और अक्षर अथवा जड और चेतन, अथवा प्रकृति और पुरुष रूप [illegible]। दूसरे शब्दो म [illegible] परमात्मा आप ही स्थावर और जगम अथवा चर और अचर सष्टि रूप होकर अनत प्रकार का बनाव करता ह और आप ही उन सब में चेतन रूप से प्रविष्ट होकर सबको सत्ता एव स्फूर्ति युक्त करता ह। जिस तरह माला के मणिये सूत के आधार पर घूमते रहते ह, अथवा जिस तरह कुए में से पानी निकालन के अरहट म अनेक कलश रस्से म पिरोये हुए घूमते ह, उनका आधार रस्सा होता ह—रस्सा उनको एकता की शृखला मे बाध रहता हुआ उन्हें घुमाता रहता

हैं, उसी तरह जीव भावापन्न चेतन आत्मा अथवा परमात्मा अपने नाना नामो और नाना रूपो वाले जड भावो अथवा पदार्थो म पिरोया हुआ उनके निरन्तर बदलते रहन वाले प्रवाह अथवा शृंखला को धारण करता हुआ चालू रखता ह।

इस विषय का विशेष खुलासा करने के लिए भगवान कई उदाहरण देते हुए कहते ह कि जल के अनक नाम होते ह, जसे—समद्र जल, नदी जल कूप जल, तडाग जल आदि तथा उसके अनेक रूप होते ह, जसे—तरल पानी-रूप, ठोस बफ रूप, सूक्ष्म भाप रूप आदि, परन्तु उन अनेक नामो और अनेक रूपो में जल का सूक्ष्म तत्त्व अथवा तन्मात्रा, जिसे रस कहते ह, वह एक ही रहती ह और वह सब दशाओ म विद्यमान रहती ह, जल के विविध नामो और रूपो में परिवतन होने पर भी रस ज्यो का त्यो रहता ह—वास्तव में जल, रस के सिवाय और कुछ नही होता, अत जल म उसके एकत्व भाव रस रूप से 'म' [illegible]। सूय, चन्द्रमा आदि प्रकाशमान पदार्थों का अस्तित्व प्रकाश पर निभर ह सूय चन्द्र आदि अनक नाम और रूप एक प्रकाश ही के ह, अत प्रकाशमान पदार्थों म उनके एकत्व भाव प्रकाश रूप से "म" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूण हू। वेदो का अस्तित्व जगत के स्थूल, सूक्ष्म और कारण भावो और उन सबकी एकता के बोधक "प्रणव" यानी "ओकार" पर निभर ह क्योकि स्थूल सूक्ष्म और कारण भाव और उन सबकी एकता का व्याख्यान ही वेदादि शास्त्रो का विषय ह इसलिए सब वेदो में, उनके एकत्व भाव 'ओकार रूप से म" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूण हूँ। आकाश के भिन्न भिन्न नामो और रूपो (घटाकाश मठाकाश हृदयाकाश महाकाश आदि) में उसका सूक्ष्म तत्त्व अथवा तन्मात्रा, जिसे शब्द कहते ह, सवत्र विद्यमान रहती ह, अत आकाश में उसके एकत्व भाव शब्द रूप म म" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूण हू। पथ्वी के भिन्न भिन्न नामो और रूपो में उसका सूक्ष्म तत्त्व अथवा तन्मात्रा, जिसे गन्ध कहते ह, सवत्र विद्यमान रहती ह, अत पथ्वी म उसके एकत्व भाव गन्ध रूप से "म" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूण हू। अग्नि के भिन्न भिन्न नामो और रूपा में उसका सूक्ष्म तत्त्व, जिसे तेज कहते ह सवत्र विद्यमान रहता ह, अत अग्नि म उसके एकत्व भाव तेज रूप से "म" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूण हूँ। भिन्न भिन्न नामो और रूपो के भूत प्राणियो का अस्तित्व उनकी जीवन शक्ति ह, अत सब भूत प्राणियो म उनके एकत्व भाव जीवन रूप स म आत्मा अथवा परमात्मा परिपूण हूँ। तपस्वियो का अस्तित्व तप पर निभर ह अथात तप के [illegible] भाव तप रूप से 'म" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूण हूँ। सारी सष्टि का सनातन कारण "म" हूँ, इसलिए सब भूत प्राणियो में उनके कारण रूप एकत्व भाव से 'म" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूण हू। बद्धिमानो का अस्तित्व बद्धि पर निभर ह, अर्थात बद्धि होन से ही वे बुद्धिमान कहलाते ह, इसलिए बुद्धिमानो में उनके एकत्व भाव बुद्धि रूप से "म" आत्मा

अथवा परमात्मा परिपूण ह। तेजस्विया का अस्तित्व तेज पर निभर ह अर्थात तेज के होन से ही वे तेजस्वी कहलाते ह अत तेजस्वियो म उनके एकत्व भाव तेज रूप से म आत्मा अथवा परमात्मा परिपूण हू। बलवाना का अस्तित्व बल पर निभर ह अर्थात बल होन से ही वे बलवान कहलाते ह अत बलवाना म उनके एकत्व भाव बल रूप से 'म' आत्मा अथवा परमात्मा परिपूण हू। और सब भूत प्राणिया म सष्टि के विस्तार की जा स्वाभाविक इच्छा अथवा काम होता ह उन सबकी स्वाभाविक इच्छा अथवा काम रूप से म आत्मा अथवा परमात्मा सबम परिपूण हू। तात्पय यह कि जगत के सभी पदार्था का अस्तित्व सबके एकत्व भाव पर निभर ह और वह एकत्व भाव सबके अन्दर रहन वाला म सबका आत्मा=परमात्मा ही हू। नाना नामो और नाना रूपो म विभक्त चराचर जगत मेरे एकत्व भाव के आधार पर हा स्थित हो रहा ह।

जिन स्थूल पथ्वी जल तेज वाय आकाश रूप पच महाभूतो का प्रत्यक स्थूल पिण्ड अर्थात शरीर होना ह वे ही पच महाभूत सब शरीरो अथवा पिण्डो के समूह रूप जगत मे होते ह इसलिए भौतिक दष्टि से सब स्थूल पदार्थो म एकता ह और प्रत्यक स्थूल पिण्ड अथवा शरीर के अन्दर जो पच महाभूतो की सूक्ष्म तन्मात्राए इन्द्रियो की सक्ष्म शक्ति रूप से रहती ह तथा मन बद्धि चित्त अहकार एव अन्य सूक्ष्म आधिदविक शक्तिया होती ह जिनसे प्रत्यक शरीर के भिन्न भिन्न प्रकार के भाव तथा व्यवहार होते ह वे ही सूक्ष्म आधिदविक शक्तिया (जिनको देवना कहते ह) सारे जगत म भिन्न भिन्न प्रकार की हलचल कर रही ह अर्थात पिण्ड और ब्रह्माण्ड म एक ही आधिदविक शक्तियाँ सूक्ष्म रूप से सब काम कर रही ह। इसलिए आधिदविक दष्टि से भी सबकी एकता ह। स्थूल पच महाभूत ओर सूक्ष्म आधिदविक शक्तिया अथवा देवता लोग परमात्मा की अपरा प्रकृति ह और परमात्मा की परा प्रकृति इन सबका जीवन अथवा अध्यात्म भाव ह। इसलिए आधिभोतिक आधिदविक और आध्यात्मिक भाव सभी एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनक कल्पित भाव और रूप ह। तात्पय यह कि जगत मे सब प्रकार से वस्तुत एकता ह और जो अनन्त प्रकार के भद प्रतीत होते ह उनका कारण सबके आत्मा अथवा परमात्मा की उक्त इच्छा स्वभाव प्रकृति अथवा माया के सत्त्व रज और तम गणो का तारतम्य (कमी-बशी) यानी गण वचित्र्य ह और जब कि य तीन गण भी सबके आत्मा=परमात्मा की इच्छा कल्पना अथवा माया अथवा प्रकृति के भाव ह तो सबका आत्मा=परमात्मा ही वस्तुत इन सबका आधार ह। कल्पना अपने आधार—कल्पना करन वाले के आश्रित रहती ह कल्पना करन वाले से पथक उसका अस्तित्व नही होता परन्तु कल्पना करन वाला कल्पना के आश्रित नही होता न वह किसी कल्पना म रुका हुआ ही रहता ह। इसलिए यद्यपि परमात्मा इस त्रिगणात्मक प्रकृति की कल्पित भिन्नताओ का आधार ह फिर भी वह इनके अन्दर रुका हुआ नहीं ह। परमात्मा के किसी अश मे कल्पनाओ

के उठने और लय होने के साथ साथ गुण वचित्र्य के नाना प्रकार के बनाव बनते और बिखरते रहते ह, परन्तु सबका एकत्व भाव परमात्मा अपने आपमें ज्यो का त्यो रहता है। उन कल्पित भिन्नता के बनावो के होने मिटने तथा बदलने से सबके एकत्व भाव परमात्मा में कोई अन्तर नही आता, न कोई विकार होता है। जिस तरह समुद्र में अनन्त लहरें उठती और मिटती रहती है, परन्तु सारी लहरो का एकत्व भाव पानी ज्यो का त्यो रहता है, अथवा आकाश में हवा के अनेक रूप होते और मिटते रहते है परन्तु आकाश सब दशाओ में ज्यो का त्यो रहता है उसी तरह सबके एकत्व भाव परमात्मा में त्रिगुणात्मक प्रकृति के बनाव होते और मिटते रहते है, परन्तु परमात्मा ज्यो का त्यो रहता है।

इस प्रकार अधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण, सब भावो की एकता का विज्ञान सहित ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। आगे तेरहवें अध्याय मे इसी विज्ञान सहित ज्ञान को क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के ज्ञान रूप से यथार्थ ज्ञान कहा है और यही अवश्य प्राप्त करने योग्य है। इस ज्ञान को अच्छी तरह प्राप्त कर लेने पर फिर वस्तुत कुछ भी जानना शेष नही रहता, क्योंकि संसार में जो कुछ भी जानने लायक है उस सबका समावेश इसी में होता है। सम्पूर्ण गामाि [illegible] अन्त इसी में होता है क्योकि सबकी अन्तिम गति (Goal) यही सबकी एकता है। सारे विचारो का समावेश इसी में होता है। यही सबकी पराकाष्ठा अथवा चरम सीमा है। दूसरे जितने भी विज्ञान (Sciences) है और जितने भी ज्ञान अथवा दार्शनिक विचार (Philosophies) है, वे सब इस सर्वभूतात्मैक्य ज्ञान की शाखाएं प्रशाखाएं अथवा परिवार है और सब इसी निर्दिष्ट स्थान को ले जाने के साधन है। जिसने सबकी एकता के इस रहस्य को यथार्थ रूप से पूर्णतया जान लिया, उसके लिए फिर वस्तुत कुछ भी जानना शेष नहीं रहता (छान्दोग्य उपनि० प्र० ६ खण्ड १)।

परन्तु यह सबकी एकता का विज्ञान सहित ज्ञान इतना सूक्ष्म और गहन है कि इसका समझ में आना और इसमें मन की स्थिति होना अत्यन्त ही कठिन है। साधारण लोग अपने और अपने कुटुम्ब के भरण पोषण आदि में ही इतने निमग्न रहते है कि उक्त ज्ञान विज्ञान के सूक्ष्म विचार के लिए न तो उन्हें अवकाश मिलता है और न उनकी उसमें प्रवृत्ति ही होती है। जिन प्रत्यक्षवादी लोगो का देह-अभिमान अत्यन्त बढा हुआ और बहुत दृढ होता है वे इन्द्रियगोचर भौतिक पदार्थों ही में आसक्त रहते है और इन्द्रियो से प्रतीत नहीं होने वाली सूक्ष्म वस्तुओ में विश्वास नही करते। वे इस बात को सुनना ही पसद नहीं करते कि इस नाना भावापन्न स्थूल जगत के भीतर कोई एक सूक्ष्म एव सम शक्ति भरी हुई है, जिससे सबका अस्तित्व बना हुआ है। वे तो यही मानते है कि जैसा हमको हमारी इन्द्रियो से प्रतीत होता है, वैसा ही वस्तुत सब अलग अलग है। इससे परे इस नानात्व को एक करने वाली कोई सूक्ष्म शक्ति नहीं है। "मैं क्या हूं", "यह जगत क्या है" "मरना जन्मना

आदि परिवतन क्यो होते ह", "जगत और शरीर जसे दीखते ह वसे ही ह अथवा इनम और भी कोई अदष्ट तथ्य ह" ? इत्यादि विषयो का अनुसधान करन की जिज्ञासा उनके मन म उत्पन्न ही नही होती।

जिन थोडे से लोगो को इस विषय की जिज्ञासा होती ह उनमें से कई लोग तो भौतिक अनुसधान से आग बढना नही चाहते अर्थात इद्रियगोचर पदार्थों का भौतिक विश्लेषण करके उनके भौतिक तत्त्वो की खोज करने के भौतिक विज्ञान तक ही रहते ह, और भौतिक तत्त्वो के अनेक होन के कारण वे इस बात को नही मानते कि उनम वास्तविक एकता हो सकती ह। वे लोग स्थूल शरीरो को सुख देन वाली भौतिक उन्नति तो करते ह, परन्तु सबकी एकता का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए वे आत्मिक उन्नति करने में असमथ रहते ह।

जो लोग उपरोक्त आधिभौतिकता से आग बढकर आधिदविकता म विश्वास करते ह उनका देह अभिमान कुछ कम हो जाता ह और वे इद्रियो से प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले अनत प्रकार के सूक्ष्म पदार्थों को उत्पत्ति नाशवान तथा प्रतिक्षण परिवर्तनशील होन के कारण सच्चा नही मानते कितु वे मनोविज्ञान को सच्चा मानते ह और उसी पर निभर रहते ह। भिन्न भिन्न लोगो के मन के सकल्प और वेदनाए भिन्न भिन्न होती ह और बुद्धि के विचार भी भिन्न भिन्न होते ह तथा कर्मो के भोग भी पथक पथक होते ह, इसलिए सबकी एकता का सिद्धात उनकी समझ म भी नही बठता। उनका मत ह कि जीव वास्तव में अनेक और बिल्कुल भिन्न भिन्न ह और जगत के पदार्थों के स्थूल रूपो के मिथ्या होने पर भी उनमें जो सूक्ष्म शक्तिया ह, वे ऊपरी स्थूल रूपो के बदलते रहन पर भी ज्यो की त्यो बनी रहती ह अत वे वस्तुत भिन्न भिन्न, नित्य और सत्य ह, तथा स्थूल और सूक्ष्म सारे जगत को रचन और उसका सचालन तथा सहार करने वाली एक शक्ति उन सबसे पथक ह जो परमात्मा, ब्रह्म तथा ईश्वर आदि अनक नामो से पुकारी जाती ह। परन्तु उस शक्ति को वे अपने से तथा जगत से सवथा पथक मानते ह। "यह जगत एक परमात्मा ही का व्यक्त रूप ह' यह उनकी समझ म भी नही बठता।
तक वे भी नही पहुचते।

इनके अतिरिक्त जो लोग आध्यात्मिक विचारो म लगे रहते ह, वे आधिभौतिक और आधिदविक विषय का सवथा तिरस्कार करते ह और शष्क अध्यात्म विचारो में ही निमग्न रहते ह। उनका कहना ह कि जगत सब झूठा ह इसलिए 'एक म अनेक और अनेको म एक" के सिद्धात के विचार की आवश्यकता ही नही। वे लोग आधिभौतिक और आधिदविक जगत से अलग होकर केवल आत्म चिन्तन द्वारा व्यक्तिगत सुख शान्ति अथवा मुक्ति प्राप्त करन के प्रयत्न ही मे लगे रहते ह, परन्तु स्वय आधिभौतिक आधिदविक और आध्यात्मिक —तीनो भावो वाले जगत के अन्तगत होने के कारण न तो वस्तुत

उससे अलग हो सकते हैं और न सुख-शान्ति अथवा मुक्ति ही प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि जब तक पृथकता के भाव बने रहते हैं तब तक सुख शान्ति प्राप्त हो ही नहीं सकती। साराश यह कि ये लोग भी सबकी एकता के विज्ञानसहित ज्ञान की उपेक्षा करते हैं, इस लिए आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक अथवा स्थूल सूक्ष्म और कारण अर्थात सबके एकत्व भाव आत्मा अथवा परमात्मा को यथार्थ रूप से नही जान सकते।

आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक नाना भाव सबके आत्मा=परमात्मा की अपरा और परा प्रकृति के ही अन्तर्गत है, और जब तक इन प्रकृतियो के आधार सबके एकत्व भाव—सबके आत्मा=परमात्मा मे मन नही लग जाता, तब तक इन भावो की ही उलझन बनी रहती है, और उस उलझन में पडे हुए लोग परस्पर मे द्वेष करके अनेक प्रकार के कुकर्म करने के आसुरी व्यवहारो में प्रवृत्त हो जाते है, अत वे लोग सबके एकत्व भाव=परमात्मा की तरफ कभी लौट ही नही सकते।

इस विज्ञान सहित ज्ञान की प्राप्ति का सबसे उत्तम साधन यह है कि नाम रूपात्मक जगत के भिन्न भिन्न दृश्य पदार्थो मे मन की जो आसक्ति रहती है, उनसे उसको हटाकर उसे सबके आत्मा=परमात्मा में लगाया जाय। मन कही न कही आसक्त तो रहता ही है, यह उसका स्वाभाविक धर्म है परन्तु भिन्नता के भावो में आसक्ति रखना हानिकर है, क्योंकि वे भिन्नता के भाव कल्पित एव परिवर्तनशील होने के कारण झूठ यानी मिथ्या है और मिथ्या पदार्थों मे आसक्ति रखने से धोखा होता है। अस्तु पृथकता के भावो से मन को हटाकर उसे सबके एकत्व भाव=परमात्मा में लगाना चाहिए, अर्थात मन मे इस बात का विश्वास करना चाहिए कि एक ही परमात्मा सब चराचर जगत मे समान भाव से व्यापक है और यह जगत एक ही परमात्मा के अनन्त रूप है—इस विश्वास से परमात्मा की एकता अथवा सर्वव्यापकता का चिन्तन करते रहना चाहिए। जब एक ही परमात्मा की सर्वव्यापकता का दृढ विश्वास हो जाता है तब किसी भी भूत प्राणी से ईर्षा, द्वेष, घृणा तिरस्कार आदि के भाव नही रहते, क्योंकि सबको एक ही परमात्मा का स्वरूप जानने से परमात्मा के साथ ईर्षा, द्वेष, घृणा तिरस्कार आदि हो नही सकते, अत सबके साथ प्रेम* का बर्ताव होने लगता है। यही [illegible]। इस तरह सर्व व्यापक परमात्मा की उपासना का अभ्यास करते करते सबकी एकता का ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है और अन्त में स्वय अपने साथ सबका अभेद ज्ञान होकर सत्चित् आनन्द मे स्थिति हो जाती है, अर्थात इन्द्रियो, मन और बुद्धि से परे अपने आप=आत्मा का अनुभव होकर अखिल विश्व अपना ही स्वरूप प्रतीत होने लगता है। परन्तु जिनका मन सासारिक पदार्थों और विषय भोगो अथवा स्वर्ग बैकुठ अथवा मुक्ति को प्राप्त करने की नाना

* प्रेम के बर्ताव का स्पष्टीकरण आगे बारहवे अध्याय मे देखिए।

प्रकार की कामनाओ ही म उलझा रहता ह वे लोग उन कामनाओ की पूर्ति के लिए परमात्मा की भेदोपासना करते ह यानी परमात्मा का कोई विशष व्यक्ति मान कर तथा उसके साथ व्यक्तित्व की उपाधिया लगाकर, एव स्वय दीन, दास अथवा भिखारी बन कर, गरज-खशामद से अथवा पदार्थो द्वारा पूजन-अचन से उसे प्रसन्न करके अपनी उक्त कामनाओ की पूर्ति उससे करवाना चाहते ह* अथवा परमात्मा से भिन्न देवताओ की कल्पना करके उनकी उपासना से अपनी उक्त कामनाओ की सिद्धि की आशा करके वे लोग अपनी अपनी भावना के अनसार नाना प्रकार की सामग्रियो द्वारा उन कल्पित देवताओ का अचन पूजन करते ह। जो जिस कल्पित देवता की उपासना म श्रद्धा रखता ह वह एक प्रकार से उस देवता का पश हो जाता ह और जिस प्रकार मनष्य अपने पश को अपने कब्ज से छोडना नही चाहता उसी तरह वे कल्पित देवता भी अपन [illegible] उपासक रूपी पशु को छोडना नही चाहते, यानी उक्त उपासक का मन अपने माने हुए इष्ट देवता ही मे सदा उलझा रहता ह उनको नही छोडता। अत कामनाओ की सिद्धि के लिए उपासना करने वाले इसी तरह गोते खाते रहते ह। उनके पथकता के भाव और दूसरो के साथ राग द्वेष आदि कभी नही मिटते। साराश यह कि जो लोग उक्त कामनाओ से रहित होकर परोपकार अथवा लोक-सग्रह के काम करते ह उन्ही क मन के पथकता के भाव और राग द्वेष शन शन कम होते रहते ह और उन्ही का मन परमात्मा की यथाथ उपासना म लगता ह जिसके प्रसाद से वे समय पाकर परमात्मा के नाना भावो की एकता का अनभव करके स्वय परमात्म भाव की प्राप्ति कर लेते ह, और वह अनभव उनको अन्त समय में भी बना रहता ह, जिससे वे फिर परवशता से जन्म मरण के चक्कर में नहीं आते।

॥ सातवा अध्याय समाप्त ॥

---

* यथाथ और अयथाथ उपासना के भद का विशेष स्पष्टीकरण नव अध्याय मे देखिए।

आठवाँ अध्याय

सातवे अध्याय म भगवान ने भक्ति अथवा उपासना के विधान में अपनी सवरूपता का वणन किया अर्थात आधिभौतिक आधिदविक और आध्यात्मिक एकता का विज्ञान सहित ज्ञान कहा ओर उसी प्रसग मे अध्याय के अ त मे अपने अनेक भावा अर्थात ब्रह्म भाव, अध्यात्म भाव, कम भाव, ।ि ।ू न अधिदेव भाव और अधियज्ञ भाव का सक्षेप से उल्लेख करके, फिर मनुष्य के मरने के समय की स्थिति का भी कुछ उल्लेख किया था। अब अजुन के पूछने पर इस अध्याय में भगवान पहले अपने उन भावो का खलासा करके, फिर मनष्य के मरने के बाद उमकी क्या दशा होती ह, इस विषय की विस्तत याख्या करते ह क्योकि पारलौकिक विज्ञान के बिना केवल इस लोक के विज्ञान सहित ज्ञान का विवेचन अधूरा ही रह जाता, इसलिए इस विषय का अच्छी तरह खुलासा इस प्रकरण म होना आवश्यक था। इसी प्रसग में भगवान जगत की उत्पत्ति और प्रलय का रहस्य भी सक्षेप से कहते ह।

अजुन उवाच

कि तदब्रह्म किमध्यात्म कि कम पुरषोत्तम।
अधिभूत च कि प्रोक्तमधिदव किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञ कथ कोऽत्र देहेऽस्मि मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथ ज्ञेयोऽसि नियतात्मभि ॥ २॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षर ब्रह्म परम स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसग कमसज्ञित ॥ ३ ॥
अधिभूत क्षरो भाव पुरषश्चाधिदवतम।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभता वर ॥ ४ ॥
अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलवरम।
य प्रयाति स मद्भाव याति नास्त्यत्र सशय ॥ ५ ॥
य य वापि स्मरन् भाव यज त्यन्ते कलेवरम।
त तमेवति कौन्तेय सदा तद्भावभावित ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम ॥ ७ ॥
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पा। ।नि।नग। ॥ ८ ॥
कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात ॥ ९ ॥
प्रयाणका मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम ॥१०॥
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम ॥ १२ ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम ॥ १३ ॥
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५ ॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥
सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥
परस्तस्मात्तु भावो ऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहु परमा गतिम ।
य प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम ।। २१ ।।
पुरुष स पर पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्त स्थानि भूतानि येन सर्वमिद ततम ।। २२ ।।

अर्थ—अर्जुन बोला कि हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? और अधिभूत किसे कहते है ? (तथा) अधिदेव क्या कहा जाता है ? (१) हे मधुसूदन ! यहा इस देह मे अधियज्ञ कौन किस प्रकार है ? और समाहित चित्तवाले पुरुषो द्वारा अन्त समय मे आप किस प्रकार से जाने जाते हो अर्थात जिनका मन आत्मा अथवा परमात्मा मे लग जाता है, वे शरीर छूटते समय आप (परमात्मा) को कैसा जानते है ? (२) श्री भगवान बोले कि (उत्पत्ति, नाश, वृद्धि, ह्रास आदि विकारो से रहित, एव निरन्तर बदलने वाली प्रकृति से परे, सदा एक सा रहने वाला) परम अक्षर भाव ब्रह्म है, स्वभाव अर्थात प्रत्येक वस्तु के अपने आप का भाव अथवा हरएक प्राणी के शरीर में "मै" रूप से रहने वाला व्यष्टि आत्म भाव अथवा जीव भाव अध्यात्म कहा जाता है, भूत भाव के उद्भव करने वाले विसर्ग अर्थात स्थावर-जगम रूप जगत के अनन्त प्रकार के [illegible], पालन और सहार रूप सृष्टि व्यापार का नाम कर्म है (३) । क्षर अर्थात उपजने, मिटने, घटने बढने वाला निरन्तर परिवर्तनशील भाव अधिभूत है, और पुरुष अर्थात प्रत्येक शरीर और जगत के व्यापारो को धारण करने वाली सबके आत्मा=परमात्मा की सूक्ष्म शक्तियो अथवा विभूतियो के रूप मे प्रकट होने वाला समष्टि मनोमय देव भाव अधिदेव है (और) हे देहधारियो में श्रेष्ठ ! इस देह मे अधियज्ञ (उपास्य) "मै" ही हू अर्थात हाड मास, मल, मूत्र आदि अपवित्र पदार्थों के पिण्ड रूप इस देह को पवित्र करने वाला तथा इसका धारण पोषण करने वाला, 'मै" रूप से प्रत्येक देह में स्थित, सबका परम प्यारा अन्तरात्मा ही परम वदनीय एव परम उपास्य अधियज्ञ है (४) । और जो अन्तकाल में केवल मुझ ही स्मरण करता हुआ शरीर छोड कर जाता है अर्थात शरीर के साथ तादात्म्य सबध छोडता है, वह मेरे भाव को प्राप्त होता है, इसमे सन्देह नहीं है । तात्पर्य यह कि अर्जुन ने पूछा था कि [illegible] वाला पुरुष अन्त समय में आपको किस प्रकार से जानता है, उसके उत्तर में भगवान कहते है कि अन्त समय मे जिसका मन विकारवान शरीरो की आसक्ति से हट कर केवल मेरे चिन्तन में लगा रहता है वह मुझ सबके आत्मा मे मिल कर परमात्मा-स्वरूप ही हो जाता है, अत उसके लिए मुझे जानने का प्रश्न ही नही रहता, जानना वहाँ होता है जहा कोई दूसरा होता है, जब अपना ही स्वरूप हो जाय तो कौन किसको जाने ? (५) हे कौन्तेय ! जो अन्त समय में जिस जिस भाव को स्मरण करता हुआ शरीर छोडता है, वह सदा उस भाव में भावित होने से, उसी

को प्राप्त होता ह । तात्पय यह कि मनुष्य का मन जिन जिन भावो अथवा पदार्थों में सदा दढता से लगा रहता ह उन्ही के सस्कार उसके चित्त पर वासना रूप से अकित होत रहते ह और मरते समय उन्हा सस्कारो अथवा वासनाओ की स्फूर्ति हो आती ह, फिर मरन के अनन्तर उन्ही सस्कारो अथवा वासनाओ के अनसार उसकी गति होती ह अर्थात उन्ही सस्कारो अथवा वासनाओ के अनसार वह अपना परलोक बना लेता ह और वासनामय शरीर से वह कल्पित भोग भोगता ह और परमात्मा म मन लगा रहे तो परमात्मा स्वरूप हो जाता ह (६)। इसलिए तू सब काल मे मेरा स्मरण करता रह ओर युद्ध भी कर, मन और बद्धि को मझम लगा देन से तू निस्सन्देह मुझ ही को प्राप्त होगा। तात्पय यह कि मन ओर बद्धि को सबके एकत्व भाव परमात्मा म लगाये रख कर अपनी अपनी योग्यता के सासारिक व्यवहार करते रहने से मनुष्य परमात्म स्वरूप हो जाता ह (७)। हे पाथ! अभ्यास योग से युक्त होकर, अर्थात मुझ परमात्मा का सदा स्मरण रखता हुआ सासारिक व्यवहार करने के अभ्यास म निरन्तर लगा रह कर, तथा चित्त को दूसरी तरफ न जान देकर, दिव्य परम पुरुष (परमात्मा) का चिन्तन करते रहने से अर्थात सब कुछ परमात्म-स्वरूप समझने से मनष्य (उसे ही) प्राप्त होता ह (८)। जो मनष्य मत्य के समय भक्ति से युक्त होकर अथवा योगाभ्यास के बल से मन को निश्चल करके दोनो भौओ के बीच मे प्राण यानी दष्टि को अच्छी तरह ठहरा कर, कवि अर्थात सवदर्शी सवज्ञ पुराण अर्थात सबसे प्राचीन, अनुशासन करन वाले अर्थात सबके नियता, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म सबके धारण करन वाले, अचिन्त्य रूप अर्थात मन के अगोचर स्वरूप वाले, अन्धकार अथवा अज्ञान से परे, आदित्यवण अर्थात स्वयप्रकाश परमात्मा का चिन्तन करता ह, वह उस दिव्य परम पुरुष (परमात्मा) को पाता ह (९ १०)। वेद के जानन वाले जिसे अक्षर कहते ह वीतराग अर्थात आसक्ति रहित यति जिसमें प्रवेश करते ह, (ओर) जिसकी इच्छा करके ब्रह्मचय व्रत का आचरण करते ह, वह पद यानी परमात्म भाव म तुझे सक्षेप से बतलाता हू (११)। (इन्द्रियरूपी) सब द्वारो को रोक कर मनको हृदय म स्थिर करके और अपने प्राण को मस्तक म ठहरा कर, योग धारणा म स्थित हुआ, (और) 'ॐ' इस एकाक्षर ब्रह्म के उच्चारण यानी जापपूवक मझ परमात्मा का चिन्तन करता हुआ जो शरीर छोड कर जाता ह अर्थात शरीर के साथ तादात्म्य सबध छोडता ह, उसे परम गति प्राप्त होती ह (१२ १३)। हे पाथ! जो निरन्तर अनन्य भाव से मेरा नित्य प्रति स्मरण करता रहता ह उस नित्ययुक्त अर्थात सदा एकत्व भाव में जडे हुए योगी को म सुलभ अर्थात सहज ही प्राप्त हू (१४)। मुझे प्राप्त होकर महात्मा लोग दु खालय अर्थात जन्मने, मरने बढापे और रोग आदि नाना प्रकार के दु खो से भरे हुए (एव) अशाश्वत अर्थात क्षण भगुर (निरन्तर बदलते रहने वाले) पुनजन्म (दूसरे शरीर) को नहीं पाते, यानी फिर से किसी योनि में नहीं आते,

क्योकि उन्हे परम सिद्धि मिल जाती ह अर्थात वे मुझ परमात्मा म मिल जाते ह (१५)। हे अर्जुन! ब्रह्म लोक पयन्त (स्वर्गादि सारे) लोक पुनरावतनशील ह, अर्थात सबसे ऊचा जो ब्रह्मलोक माना जाता ह, वहा गये हुओ को भी कभी न कभी लौट कर इस लोक मे जन्म लेना पडता ह, परन्तु हे कौन्तय! मुझ (परमात्मा) मे मिल जाने से फिर जन्म नही होता (१६)। जो अहो रात्र के ज्ञाता अर्थात काल विज्ञान के जानने वाले पुरुष ह, वे हजार युग पयन्त ब्रह्मा का जो दिन ह ओर हजार युगो की (ब्रह्मा की) जो रात ह उसके रहस्य को जानते ह, अर्थात काल विज्ञान के [illegible] लोगो को विदित ह कि ब्रह्मा का दिन हजार युगा का [illegible] (१७)। (ब्रह्मा के) दिन के आने पर अव्यक्त (कारण प्रकृति) से, सब व्यक्तिया (स्थावर जगम सष्टि) प्रकट होती ह और रात के आन पर उसी अव्यक्त सज्ञा वाली (कारण प्रकृति) म सबका प्रलय हो जाता ह। इस तरह हे पाथ! वही यह भूत प्राणियो का समुदाय बार बार हो होकर रात के आन पर विवशता पूवक (नियत रूप स) लय होता ह और दिन हान पर प्रकट होता रहता ह। तात्पय यह कि सबके आत्मा=परमात्मा का समष्टि सकल्प रूप ब्रह्मा अथवा प्रकृति, अव्यक्त भाव रूप सुषप्ति अवस्था से उठ कर व्यक्त भाव रूप स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओ में आती ह यानी कारण भाव से काय भाव होती ह तब उससे नाना भावा वाली सूक्ष्म और स्थूल सष्टि, मकडी के तार अथवा बाइस्कोप के दिखाव की तरह प्रकट हो जाती ह और जब समष्टि सकल्प रूप ब्रह्मा अथवा प्रकृति पुन अव्यक्त भाव रूप सुषप्ति अवस्था में जाती ह, तब नाना भावो वाली सूक्ष्म ओर स्थूल सष्टि का उस अव्यक्त (कारण भाव) म फिर लय हो जाता ह। ब्रह्मा, प्रकृति स्वभाव माया, कारण आदि अनक नाम सबके आत्मा परमात्मा के समष्टि सकल्प ही के ह। जिस तरह समष्टि जगत अथवा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और लय होते ह उसी तरह व्यष्टि शरीर अथवा पिण्ड की भी उत्पत्ति और लय होत ह (१८ १९)। परन्तु उस अव्यक्त (कारण भाव) से भी पर जो दूसरा सनातन अव्यक्त भाव (आत्मा अथवा परमात्मा अथवा ब्रह्म) ह, वह सब भूतो के नाश होने पर भी नष्ट नही होता (२०)। जिस अव्यक्त को "अक्षर" ऐसा कहते ह उसी को परमगति कहते ह, जिसे प्राप्त होकर फिर लोटना नही पडता, वह "मेरा" परम धाम (परमात्मा भाव) ह (२१)। हे पाथ! वह परमपुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त होता ह, जिसक अन्दर सब भूत स्थित ह और जिससे यह सब (ससार) व्याप्त अर्थात परिपूण हो रहा ह (२२)। श्लाक २० से २२ तक का तात्पय यह ह कि सबक आत्मा=परमात्मा के सकल्प रूप त्रिगुणात्मक प्रकृति का मायिक बनाव जो कुछ भी ह वह सब उत्पत्ति और नाश वाला ह। प्रत्यक प्राणी के जन्मने के बाद मरने

और मरने के बाद जन्मने का चक्कर चलता ही रहता ह । इसी तरह प्रत्यक लोक अथवा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के बाद प्रलय और प्रलय के बाद फिर उत्पत्ति होती रहती ह, यह अटल नियम ह । किसी की उत्पत्ति और प्रलय थोड समय म ही हो जाते ह और किसी की अधिक समय में, पर तु उत्पत्ति प्रलय और ज मन मरने का चक्कर निर तर चलता ही रहता ह । प्रकृति के अन्तगत जो भी कुछ ह उसका इस चक्कर से छटकारा नही ह । पिण्ड की दष्टि से सबसे ऊचा स्थान मस्तक ह और हठ योग की समाधि द्वारा वहा (दसवें द्वार म) स्थित होकर भी कभी न कभी नीचा उतरना पडता ह, और ब्रह्माण्ड की दष्टि से सबसे ऊचा ब्रह्म लोक माना जाता ह और भदोपासना के फल से वहा गये हुए लोग भी कभी न कभी लौटते ह—वहा जाने पर भी मोक्ष नही होता क्योकि पथक यक्तित्व के भाव से जहाँ कहीं जाना होता ह, वहा से आना भी अवश्य ही होता ह । ब्रह्मा की आय पूरी होने पर ब्रह्म लोक का भी प्रलय होना माना जाता ह, क्योकि वह भी प्रकृति के अ तगत ही ह और प्रकृति के अ दर के सभी पदाथ उत्पत्ति-नाशवान होते ह, पर तु सबका आत्मा –परमात्मा प्रकृति से परे उसका सत आधार ह, उसमें न कोई जाना ह न आना न कोई उत्पत्ति ह न नाश, अत परमात्मा की प्राप्ति होने पर न कही जाना पडता ह, न आना। वह परमात्मा सबका अपना-आप ह और अपने वास्तविक आपका आत्मानभव ही परमात्मा की प्राप्ति, मोक्ष अथवा मुक्ति ह । वह आत्मानभव अथवा परमात्मा की प्राप्ति, अन य भाव की भक्ति करने से, अर्थात अपने सहित सबको एक ही परमात्मा के अनेक रूप समझ कर सबके साथ एकता का प्रेम करन से होती ह (२० से २२) ।

स्पष्टीकरण—अपनी उपासना के विधान में अपने स्वरूप का वणन करते हुए भगवान ने सातवें अध्याय में विज्ञान सहित ज्ञान का निरूपण किया, अर्थात इस नाना भावापन्न जगत को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा अथवा अपने-आपके अनक रूप बताया । उसी विज्ञान सहित ज्ञान का विशष खुलासा अजन के प्रश्न के उत्तर में फिर से करते हुए भगवान (यष्टि) शरीर की मत्यु और पुनजन्म के विज्ञान के वणन के सिलसिले में (समष्टि) जगत की उत्पत्ति और प्रलय का विज्ञान भी कहते ह । भगवान कहते ह कि ब्रह्म भाव, जीव भाव, कम भाव, भौतिक जगत भाव सूक्ष्म देव भाव आदि जितन भाव ह, वे सब एक ही आत्मा अथवा परमात्मा स्वरूप "मेरे" अनेक भाव ह, और परमात्मा स्वरूप 'म', जो सबका अपना आप ह वह सब शरीरो में "अह" अथवा "म" रूप से विद्य मान ह । वह 'अह' अथवा "म" रूप से सब शरीरो मे रहने वाला परमात्मा ही सब नाश वान नाम-रूपात्मक भावो अथवा पदार्थो का अविनाशी आधार, सबका अवलम्ब, सबको सत्ता एव स्फूर्ति देने वाला ह, अर्थात उसी से सबका अस्तित्व और सबकी हलचल होती ह—वही सबका अस्तित्व ह । जब 'म' अथवा "अपना-आप" होता ह, तब ही दूसरो की स्थिति होती ह— 'म" अथवा "अपने-आप" के बिना अन्य कुछ भी नहीं होता । "म"

मिल जायगा। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सब काम काज अर्थात सासारिक व्यवहार छोड कर तथा ईश्वर को जगत से भिन्न कोई विशिष्ट व्यक्ति या शक्ति मान कर दीनता और [illegible] रात उसके भजन स्मरण मे लगा रहे और परावलम्बी बन जाय। भगवान कहते है कि मेरे सर्वात्म-भाव का चिन्तन करते हुए अपने अपने शरीर की स्वाभाविक योग्यता के व्यवहारो मे अवश्य लगे रहना चाहिए। दूसरे शब्दो मे अपने अपने व्यवहार सदा यथायोग्य करते हुए भी सबके एकत्व भाव=परमात्मा का चिन्तन, मन और बुद्धि से करते रहना चाहिए। तात्पर्य यह कि मन एव बुद्धि मे सबकी एकता का निश्चय रखते हुए अपने अपने कर्तव्य कर्म स्वावलम्बनपूर्वक करते रहने के निरन्तर अभ्यास से ही परमात्म भाव की प्राप्ति निस्सन्देह होती है। वह सबका एकत्व भाव=परमात्मा सर्वज्ञ है, अनादि है सबका नियन्ता, इन्द्रियो के अगोचर, सबका आधार, चेतन और ज्ञान स्वरूप है—इन भावो का सदा चिन्तन करते रहना चाहिए, और सबकी एकता के विचार के योग बल से मन को एकाग्र करके "ओकार" के जाप द्वारा उक्त भावो वाले परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। अ उ, म—मात्राओ का समूह "ओकार" स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर, अथवा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत, अथवा भूत, भविष्य और वर्तमान काल, अथवा ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय, अथवा कर्ता, कर्म और करण आदि त्रिपुटियो के एकत्व भाव का वाचक है इसलिए यह शब्द सच्चिदानन्द परमात्मा का वाचक है। अत "ओकार" के इस सर्वभूतात्मैक्य भाव के अर्थ का चिन्तन करते हुए सदा इसका जाप करते रहने से अन्त समय मे भी [illegible] चिन्तन अथवा ध्यान बना रहता है जिससे सब भेद भाव जन्य उपाधिया मिट कर परम पद परमात्म भाव में स्थिति हो जाती है। जो इस तरह सदा अनन्य भाव से परमात्मा की उपासना करते है, वे स्वय परमात्म भाव को प्राप्त हो जाते है और उस भाव को प्राप्त होने पर फिर उन्हें [illegible] परिवर्तनशील जन्म मरण के चक्कर मे नही आना पडता।

सबके एकत्व भाव यानी सबके आत्मा=परमात्मा की प्राप्ति के सिवाय भेद भाव की उपासना अथवा धार्मिक क्रियाओ, अथवा शुभ कर्मों अथवा अन्य साधनो से प्राप्त होने का अनुभव कराने वाले ब्रह्म लोक से लेकर इन्द्र लोक, वरुण लोक, सूर्य लोक, गन्धर्व लोक, पितृ-लोक आदि जितने भी सूक्ष्म लोक शास्त्रो मे वर्णन किये गये है, वे सभी आवागमनशील है, अर्थात उन सबमे पृथकता के भाव बने रहते है, जिससे वहा गये हुओ को भी समय पाकर लौटना पडता है। दूसरे शब्दो मे मनुष्य भाव से ऊचे माने जाने वाले इन्द्र, वरुण, रुद्र, कुबेर आदि देव भाव पितृ भाव, यक्ष भाव गन्धर्व भाव आदि जितने ऊँचे पद माने जाते है उनको वासनामय, सूक्ष्म शरीर से प्राप्त होने पर भी मुक्ति अथवा स्वतन्त्रता

की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु विनशतापन्क लौट कर इस मनुष्य देह म आना पडता ह, क्योकि उन सब भावो म पथक व्यक्तित्व का भद बना रहता ह, ओर जहा व्यक्तित्व का भेद भाव रहता ह वहा आना जाना उत्पत्तिनाश आदि द्वन्द्व भी बने रहते ह अत जब उन उच्च भावो को प्राप्त होने का अनुभव कराने वाले पुण्य कर्मो के सस्कार क्षीण हो जाते ह, तब उस वासनामय सूक्ष्म शरीर को फिर से मनुष्य शरीर धारण करना पडता ह और फिर यहा पर जसे कर्म किये जाते ह ओर उनसे जसे सस्कार बनते ह उन्ही के अनुसार आगे के जन्म प्राप्त होत ह। यह मनुष्य देह ही सब तरफ जाने [illegible] (Junction Station) ह। सब तरफ जाने वाली गाडिया इसी स्टेशन पर मिलती ह। इस मनुष्य देह मे ही जीवात्मा अपना भविष्य निर्माण कर सकता ह और उन्नत अथवा अवनत गति का साधन कर सकता ह। जो मनुष्य, इस देह म सबके अपने आप=आत्मा और परमात्मा की एकता का अनुभव कर लेता ह उसको कही आने जाने का अनुभव करना नही पडता, किन्तु वह जीते हुए ही पथक व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति से तथा सब प्रकार की वासनाओ से रहित होकर सबके एकत्व भाव=परमात्मा म स्थित हो जाता ह और शरीर छोडते समय भी आत्मा और परमात्मा की एकता के अनुभव रूप परम पद म उसकी स्थिति रहती ह जिस पद को प्राप्त होने पर न तो कोई आने जाने वाला व्यक्ति रहता ह और न कोई आने जाने के लिए स्थान ही क्योकि सब कुछ अपना आप अथात परमात्मा ही हो जाता ह। आना जाना अथवा जन्मना मरना व्यक्तियो का होता ह अर्थात जब तक पथक व्यक्तित्व का भाव रहता ह तब तक जन्मना मरना होता ह, परन्तु जिनके व्यक्तित्व का भाव मिट कर परमात्म भाव में स्थिति हो जाती ह उनके लिए जन्म मत्य एव अखिल विश्व अपना खल हो जाता ह—अपने से भिन्न कुछ भी नही रहता अत उस स्थिति की प्राप्ति होने पर जन्म और मत्य कुछ भी तथ्य नही रखते। एसे परम पद प्राप्त महापुरुष चाहे जिस रूप में रहे, चाह सो करे अथवा न करे, उनके लिए किसी प्रकार की विवशता नही रहती वे सब प्रकार से स्वतन्त्र एव परिपूर्ण होते ह।

इस ब्रह्माण्ड का आदि कारण सर्वात्मा=परमात्मा की इच्छा अथवा सकल्प शक्ति अथवा परा और अपरा भेद वाली प्रकृति ह, और वह समष्टि सकल्प अथवा मन रूप प्रकृति अधिदेव भाव में ब्रह्मा मानी गई ह। काल विज्ञान अथवा [illegible] के जो पूर्ण ज्ञाता ह, उन्होने निश्चय किया ह कि एक हजार सत युग एक हजार त्रेता युग एक हजार द्वापर युग और एक हजार कलि युग—इस तरह एक हजार चोकडी का उक्त समष्टि मन रूप ब्रह्मा का दिन अथात जाग्रत अवस्था होती ह। इसी तरह एक एक हजार युगो की चौकडी की समष्टि मन रूप ब्रह्मा की रात्रि अर्थात सुषप्ति अवस्था होती ह। जब समष्टि मन रूप ब्रह्मा जाग्रत अवस्था म आकर सकल्प विकल्प करने लगता ह, तब यह नाना भावो युक्त प्रतीत होने वाली सष्टि अर्थात ब्रह्म लोक से आदि लेकर सारे लोक

अव्यक्त (अदृष्ट) कारण भाव अथवा मूल प्रकृति से प्रकट होकर काय भाव से (आकाश में बादलो की तरह), अनन्त रूपो मे व्यक्त अर्थात इन्द्रिय गोचर होते ह, और जब समष्टि मन-रूप ब्रह्मा सुषप्ति अवस्था को प्राप्त होकर सकल्प विकल्प रहित हो जाता ह, तब यह अनन्त रूपो वाली व्यक्त सष्टि फिर से अपने अव्यक्त कारण भाव—मूल प्रकृति म विलीन हो जाती ह। जिस तरह मनष्य जाग्रत अवस्था रूप दिन के समय अपन काम धन्ध रूप सष्टि निर्माण करता ह, और सुषप्ति अवस्था रूप रात के समय सबको समेट लेता ह, उसी तरह समष्टि-मन रूप ब्रह्मा जाग्रत अवस्था मे कल्पित सष्टि निर्माण का व्यापार करता ह और सुषप्ति अवस्था म उसे समेट लेता ह। जो अवस्था पिण्ड की ह वही ब्रह्माण्ड की ह। परन्तु सब कारणो का कारण सबका आत्मा=परमात्मा यानी सबका वास्तविक अपना आप सब व्यक्त पदार्थो के लय अथवा शान्त हो जान पर भी ज्यो का त्यो बना रहता ह। दूसरे शब्दो म वह अविनाशी परमात्म तत्त्व अथवा पुरुषोत्तम—जो सबका आदि कारण, सबका आधार और सबकी असलियत अथवा सबकी सत्ता ह और जिसम सब सष्टि उत्पन्न हो होकर लय होती रहती ह—सब अवस्थाओ में ज्यो का त्यो एक सा विद्य मान रहता ह उसम न काई आना ह न कोई जाना न उत्पत्ति ह न नाश, न वद्धि, न ह्रास वह परम पद पूर्वोक्त अनन्य भाव की उपासना करते रहन से, अर्थात अपने सहित सबको परमात्म-स्वरूप चिन्तन करते रहने से प्राप्त होता ह।

+ + +

अब भगवान ज्ञानियो और कमकाण्डियो को प्राप्त होन वाली शुक्ल और कृष्ण गतियो का, अर्थात मरन के उपरान्त देवयान और पितयान मार्गो से जान आन की जो शास्त्रो में मान्यतायें ह उनका सरसरी तौर से उल्लेख करके अन्त म बतलाते ह कि सबके साथ अपनी एकता के अनुभव यक्त साम्य भाव से ससार के व्यवहार करने वाला समत्व योगी इन दो गतियो के रहस्य को जान कर इन मार्गो को मानने की उलझन में नही पडता, किन्तु वह इनसे ऊपर रहता ह।

यत्र काले त्वनावत्तिमावत्ति चव योगिन ।
प्रयाता यान्ति त काल वक्ष्यामि भरतषभ ।। २३ ।।
अग्निर्ज्योतिरह शुक्ल षण्मासा उत्तरायणम ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना ।। २४ ।।
धूमो रात्रिस्तथा कृष्ण षण्मासा दक्षिणायनम ।
तत्र चान्द्रमस ज्योतिर्योगी प्राप्य निवतते ।। २५ ।।
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगत शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावत्तिमन्ययावतते पुन ।। २६ ।।

नते सती पाथ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु क[illegible]युक्तो भवाजुन ॥ २७ ॥
वेदेषु यज्ञेषु तप सु चव दानेषु यत्पुण्यफल प्रदिष्टम ।
अत्येति तत्सवमिद विदित्वा योगी पर स्थानमुपति चाद्यम ॥२८॥

अथ—जिस काल म गये हुए (ज्ञानी) [illegible], और (जिस काल मे गये हुए कमकाण्डी योगी लोग) लौटते ह उस काल को हे भरतषभ ! अब कहता हूँ (२३)। अग्नि, ज्योति, दिन शुक्ल पक्ष ओर उत्तरायण के छ महीने उनम गये हुए ब्रह्मवेत्ता अर्थात ब्रह्म को जानने वाले पुरुष, ब्रह्म को जाते ह (२४)। धुआ, रात्रि तथा कृष्ण पक्ष और दक्षिणायन के छ मास, उनमे गया हुआ (कमकाण्डी) योगी, चन्द्रमा की ज्योति अर्थात चन्द्र लोक को प्राप्त होकर फिर लौटता ह (२५)। जगत के शुक्ल और कृष्ण, ये (दो) माग सनातन मान गय ह, एक से लौटना नही होता और दूसरे से लौटना होता ह (२६)। हे पाथ ! इन मार्गो को तत्त्व से जानने वाला कोइ भी समत्वयोगी मोहित नही होता, इसलिए ह अजुन ! तू सदा सवदा समत्व योग मे युक्त रह। तात्पय यह कि जो समत्वयोगी होता ह वह इन मार्गों के असली रहस्य को जानता ह [illegible] माग केवल माने हुए ह वस्तुत इनम कोई तथ्य नहीं ह, अत वह इन मार्गों के वणनो से विचलित नही होता उसकी सवभूतात्मक्य साम्य भाव में स्थिति होती ह, इसलिए उसे किसी भी माग से कही जाना आना नही पडता किन्तु वह यहाँ का यही स्वात्मानुभव रूप परमात्मा स्वरूप को प्राप्त हो जाता ह। साराश यह कि समत्व योग ही सबसे श्रेष्ठ ह अत उसी म लग रहना चाहिए (२७)। इस (पूर्वोक्त नान विज्ञान के रहस्य) को जानने वाला समत्वयोगी वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, तप और दान के जो पुण्य फल शास्त्रो मे कहे ह, उन सबका अतिक्रमण करके अर्थात उन्हे पीछे छोड कर सनातन परमात्म पद को पाता ह (२८)।

स्पष्टीकरण—२३ से २६ तक के श्लोकों मे शुक्ल और कृष्ण गतियो अथवा मार्गों का सदिग्ध रूप* से उल्लेख करके फिर श्लोक २७ २८ में समत्वयोगी की स्थिति उन गतिया

---

*इस विषय का यहा पर सदिग्ध रूप से उल्लेख होना इसलिए माना जाता ह कि श्लोक २३ म आवत ओर अनावत काल कह कर फिर श्लोक २६ २७ मे गति और सृति अर्थात माग कहा ह अत यहा मरने का काल विवक्षित ह अथवा गति यह सदेह रहता ह। इसके सिवाय आत्मज्ञानी पुरुष को ब्रह्मभाव की प्राप्ति के लिए किसी विशेष काल म शरीर छोडने की अपेक्षा नही रहती न किसी रास्ते से जाने की ही आवश्यकता

अथवा मार्गों से परे होने की ~यवस्था देन से भगवान का यह अभिप्राय प्रकट होता ह कि यद्यपि ' जिसकी जसी मति उसकी वसी ही गति" अर्थात "जिसकी जसी मा~यता होती ह वह वसा ही हो जाता ह इस सिद्धा त के अनसार जो ब्रह्म को अपने से भिन्न मान कर उसकी प्राप्ति की इच्छा करके उसकी उपास ा करता ह, वह मरन के उपरा त अपन मन के सकल्प से कल्पित उपरोक्त शक्ल अथवा प्रकाशमय माग से हो कर ब्रह्म को प्राप्त होता ह और जो स्वर्गादि सुखो की कामना से कमकाण्डात्मक शास्त्रो की विधि के अनुसार यज्ञादिक धार्मिक कृत्य करता ह वह मरने के उपरान्त अपने मन के सकल्प से कल्पित कृष्ण अथवा अ धकारमय माग से च द्र लोक म जा कर वहा स्वर्गादि भोग भोग कर फिर पीछा यहा लौटता ह। इस तरह ये दो गतिया सदा से मानी जाती ह अत उनका सक्षिप्त उल्लेख करक [illegible] माग अथवा गतिया कोई महत्व नहीं रखतीं, क्योकि उस पर य लागू नही होती। [illegible] और धार्मिक कृत्यो के जो फल होते ह [illegible]। उसकी स्थिति [illegible] एक व भाव परमात्म-पद मे हो जाती ह, इसलिए भेदोपासना ओर उक्त धार्मिक कृत्यो से प्राप्त होने योग्य ब्रह्म-लोक स्वग-लोक आदि जितने भी लोक ह, वे सब उसे अपन ही सकल्पो की [illegible] वह [illegible]। अनुभव करता ह, अत उसे कही जाना-आना नही पडता। साराश यह कि समत्वयोगी को इन शक्ल कृष्ण अथवा देवयान पितयान मार्गो से कोई प्रयोजन नही ह [illegible] से उसे विचलित होन की ही आवश्यकता ह।

॥ आठवा अध्याय समाप्त ॥

रहती ह क्योकि ब्रह्म तो सव~यापक अथवा अपना-आप ह अत जिस क्षण और जिस [illegible] वह प्राप्त ह। यदि श्लोक २४ का तात्पय ब्रह्म लोक मे जान का लिया जाय तो पहले श्लोक १६ म ब्रह्म लोक म गय हुए की पुनरावत्ति होनी कह आय ह और यहा अनावत्ति कहते ह अत पूवापर का विरोध होता ह। इसलिए शक्ल और कृष्ण गति अथवा देवयान और पितयान मार्गो की जसी मा~यता पूवकाल से चली आती थी उसी का सदिग्ध रूप से हा उल्लेख करके समत्वयोगी की स्थिति इन मान हुए दोनो मार्गो से ऊची होन की ~यवस्था दे दी गई ह। तात्पय [illegible] करने का ह गति अथवा मार्गो के प्रतिपादन का नही ह।

नवाँ अध्याय

सातव अध्याय म भगवान न जिस विज्ञान सहित ज्ञान, अर्थात आत्मा अथवा परमात्मा के नाना भावो रूप जगत की एकता के प्रतिपादन का प्रारम्भ किया था, इस नवें अध्याय म पहले उसी ब्रह्म विद्या का माहात्म्य कह कर फिर उसका अधिक सूक्ष्म एव गभीर विचारपूवक खुलासा करते ह।

श्रीभगवानुवाच

इद तु ते गुह्यतम प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञान विज्ञानसहित यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥
राजविद्या राजगुह्य पवित्रमिदमुत्तमम।
प्रत्यक्षावगम धर्म्य सुसुख कर्तुमव्ययम ॥ २ ॥
अश्रद्दधाना पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मा निवर्तन्ते मृत्युससारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

अर्थ—श्री भगवान बोले कि दोष दृष्टि से रहित तेरे लिए म अब यह सबसे अधिक गुह्य विज्ञान सहित ज्ञान कहूगा, जिसे जान कर तू अशुभ अर्थात मोह से छूट जायगा। तात्पर्य यह कि मेरे उपदेशो में तू किसी प्रकार का दोषारोपण न कर उन्हे आदर एव श्रद्धापूवक सुनता ह इसलिए म तुझ यह विज्ञान सहित ज्ञान का अत्यन्त ही सूक्ष्म एव गभीर रहस्य कहूगा, जिससे तेरी यह मोहजनित किंकर्तव्य विमूढता निवत्त हो जायगी (१)। यह (विज्ञान-सहित ज्ञान) राज विद्या ह, अर्थात सब विद्याओ की राजा ह अथवा राजाओ की सावजनिक विद्या ह, तथा राज गुह्य ह अर्थात अत्यन्त सूक्ष्म एव गहन होने के कारण स्थूल बुद्धि के साधारण लोगो के लिए बहुत ही गुप्त ह, (तथा) पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष परिणामवाली, धमस्वरूप, सुखसाध्य ओर अविनाशी ह (२)। हे परन्तप! इस धम में अश्रद्धा रखने वाले पुरुष मुझे प्राप्त न होकर मृत्यु रूप ससार चक्र मे भ्रमण करते रहते ह। तात्पय यह कि जो लोग सबकी एकता के विज्ञान-सहित ज्ञान-रूप इस स्वाभाविक धम अथवा ब्रह्म विद्या का तिरस्कार करते ह, वे निरन्तर जन्म मरण के चक्कर में भ्रमते रहते ह, अपने वास्तविक स्वरूप=परमात्म भाव का अनुभव प्राप्त नहीं कर सकते (३)।

स्पष्टीकरण—भगवान् कहते है कि यह विज्ञान सहित ज्ञान, अर्थात स्थूल और सूक्ष्म जगत का बनाव एक ही सत्य, नित्य एव सम आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक कल्पित नाम और रूप है—इस 'एक मे अनेक और अनेको मे एक" के रहस्य के, सबसे अधिक सूक्ष्म एव सबसे अधिक गहन होने के कारण साधारण लोगो की बुद्धि इसकी गहराई तक नही पहुच सकती। इसलिए इसकी प्राप्ति के लिए पहले श्रद्धा अथवा विश्वास की आवश्यकता रहती है, अर्थात जो तत्त्वज्ञानी महापुरुष इसके पूर्ण ज्ञाता होते है उनके उपदेशो में तथा इस विषय के शास्त्रो मे श्रद्धा करके उनका श्रवण करना चाहिए। फिर उन श्रवण की हुई बातो पर दोष दृष्टि से कुतर्क न करके, अर्थात अपने चित्त मे पहले के जमे हुए पक्षपातो को छोड कर शान्तिपूर्वक अच्छी तरह से विचार करना चाहिए। इस तरह करते रहने से शनै शनै इस ब्रह्म विद्या का रहस्य समझ मे आने लगता है, फिर श्रद्धा की उतनी आवश्यकता नही रहती किन्तु इसके विचार मे मन को आनन्द का अनुभव होने लगता है और फिर उसे छोडने की इच्छा नही होती। सबकी एकता के विज्ञान सहित ज्ञान का यह सिद्धान्त जब समझ मे आने लगे तब उसको आचरण में लाने का प्रयत्न करना चाहिए, अर्थात दूसरो के साथ व्यवहार करने मे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सब एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप है और इस विचार से सबके साथ प्रेम का बर्ताव करना चाहिए। किसी भी सिद्धान्त को व्यवहार मे लाये बिना उसका कुछ लाभ नही होता। अस्तु, सबकी एकता के सिद्धान्त रूप इस ब्रह्म विद्या के आचरण से सब प्रकार की उन्नति होती रहती है, और इस अभ्यास मे निरन्तर लगे रहने से मनुष्य क्रमोन्नति करता हुआ अन्त मे पूर्णावस्था को पहुच कर अपने वास्तविक स्वरूप के अनुभव मे स्थित हुआ परमानन्द परमात्म-स्वरूप हो जाता है।

यद्यपि यह विज्ञान सहित ज्ञान अथवा ब्रह्म विद्या सबका सार होने के कारण सबसे अधिक सूक्ष्म और गहन है परन्तु साथ ही साथ वह सब विद्याओ की राजा है, अर्थात ससार मे जितनी विद्याए है उन सबका यह आश्रय है, दूसरी सब विद्याए इसकी शाखाए है, सब इन पर निर्भर है और सबका समावेश इस में होता है, क्योकि यह विद्या जगत रूप से व्यक्त होने वाले उस आत्मा अथवा परमात्मा अथवा ब्रह्म का अनुभव-स्वरूप है, जो सबका वास्तविक अपना आप, सबका मूल तत्त्व सबका आधार एव सब का अधिपति है, और जो सब कुछ है तथा जिसमे सब कुछ है (बृहदा० उपनि० अ० २ ब्रा० ५ म० १५)। यह विज्ञान सहित ज्ञान अथवा ब्रह्म विद्या जिस तरह सब विद्याओ का राजा है, उसी तरह यह राजाओ की भी विद्या है। राजा सारी प्रजा की एकता का केन्द्र होता है, और इस विद्या से सबकी वास्तविक एकता का अनुभव और व्यवहार होता है इसलिए राजा का इस विद्या से सुसम्पन्न होना अत्यत आवश्यक है। इस विद्या से सम्पन्न राजा ही अपनी भिन्न भिन्न गुणो, भिन्न भिन्न योग्यताओ, भिन्न भिन्न स्वभावो, भिन्न भिन्न पेशो, भिन्न भिन्न

मतो एव भिन्न भिन्न सम्प्रदायो म बँटी हुई प्रजा की वास्तविक एकता के अनभव यक्त सबके साथ प्रेमपूवक साम्य भाव से निर्दोष राज्य शासन कर सकता ह, और सारी प्रजा मे भी इस विद्या का प्रचार करके सबम पारस्परिक प्रेम और सहयोग का भाव बनाय रख कर सबकी उन्नति और ग ग गा ि की सुव्यवस्था कर सकता ह। इस ब्रह्म विद्या को राज विद्या इसलिए भी कहा ह कि यह सावजनिक विद्या ह अर्थात जिस तरह एक सच्ची एव निर्दोष राज्य व्यवस्था मे सबका समान अधिकार होता ह और वह सबके लिए एक समान हितकर होती ह, उसी तरह इस राज विद्या म सब लोगो का एक समान अधिकार ह और यह सबके लिए एक समान हितकर ह। देश भेद काल भद, जाति भेद, व्यवसाय भेद वण भेद, धम भेद, पद भेद, अवस्था भेद, आश्रम भद आदि किसी भी प्रकार के भेद बिना, प्रत्येक व्यक्ति—चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, नीच हो या ऊच, धनवान हो या गरीब, पठित हो या अपठित, सबको इसके अध्ययन और आचरण का एक समान अधिकार ह और यह सबके लिए एक समान लाभदायक ह। यह विज्ञान सहित ज्ञान अथवा ब्रह्म विद्या सबसे पवित्र ह, क्याकि यह सारे जगत के एक आत्मा के अनक रूप होन का निश्चय कराती ह और आत्मा एक होन के कारण परम पवित्र ह, उसमें मलिनता नही हो सकती, अत इसके आश्रय से द्वत भाव रूपी सारी मलिनता मिट जाती ह, जिससे अपवित्र भी पवित्र हो जाते ह। यह ब्रह्म विद्या सबसे उत्तम ह, क्योकि इसके अवलम्बन से नीच भी ऊच हो जाते ह और अधम भी श्रेष्ठ हो जाते ह। यह ब्रह्म विद्या प्रत्यक्ष बोध स्वरूप ह क्याकि इससे सब कुछ आत्म स्वरूप अथवा अपन आप ही का स्वरूप अनभव होता ह, और ाा ाप म य प्रत्यक्ष अनभव का विषय ह, न कि परोक्ष ज्ञान का। अथवा इस विज्ञा सहि ान से जगत परमात्मा मय अथवा परमात्मा का व्यक्त रूप बोध होता ह अत इससे परमात्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता ह। इसके अतिरिक्त इस ब्रह्म विद्या का फल भी प्रत्यक्ष ही ह, क्योकि जितना ही सबकी एकता का अनुभव होता ह, उतन ही द्वत भाव जन्य ईर्षा द्वेष भय दीनता, दासता, परावलम्बन आदि क्लेश उसी समय से कम होते जाते ह और उतनी ही सुख शान्ति तत्काल ही प्राप्त हो जाती ह—किसी समय विशष, स्थान विशष अथवा जन्मान्तर की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नही रहती। इसलिए यह नकद धम ह ज्यो ही इसका आचरण किया कि शान्ति, पुष्टि और तुष्टि सब उपस्थित होने लग जाती ह। यह ब्रह्म विद्या धम रूप ह अर्थात साम्प्रदायिक धर्मो अथवा मजहबो की तरह यह कोई माना हुआ अथवा स्वीकार किया हुआ अथवा पीछे से लगाया हुआ आगन्तुक धम नही ह किन्तु यह सबका स्वाभाविक धम ह, क्योकि सबका एकत्व भाव सबके लिए स्वाभाविक ह। ससार म जितने भी धम भूत काल मे हुए ह, वतमान म ह और भविष्य में होगे, प्रकारान्तर से सब एक ही ठिकान के पथिक ह, यानी सबका अन्तिम साध्य सबकी एकता के भाव की स्थिति ह, अत चाह काई किसी भ मत ा सम्प्रदाय ा अवलम्बन क, सबकी अन्तिम गति और सबका

समावेश इसी में होता ह, इसलिए सब धर्मों का मूल धम यह ब्रह्म विद्या ही ह। इस ब्रह्म विद्या का आचरण सुख साध्य ह क्योकि इसके आचरण करन म किसी प्रकार का शारीरिक परिश्रम अथवा कष्ट अथवा मानसिक विक्षप आदि नही होते, न इसम कोई द्र"य का व्यय होता ह, न किसी सामग्री के जटाने की अपेक्षा रहती ह, और न किसी पर निभर रहन अथवा किसी के अवलम्बन की आवश्यकता होती ह। यह केवल समझने का विषय ह। एक बार श्रद्धा करके इस रहस्य को अच्छी तरह समझ लेने पर फिर इसका आचरण सुगमता से—सुखपूवक हो सकता ह। और यह ब्रह्म विद्या अविनाशी ह, क्योकि इसका वस्तुत कभी नाश नही होता।

यद्यपि यह ब्रह्म विद्या राज विद्या ह इस कारण इस पर सबका अधिकार ह, यह धम रूप, उत्तम प्रत्यक्ष लाभ देने वाली और सुख साध्य ह, पर तु केवल आधिभौतिकता* अथवा केवल आधिदविकता* अथवा केवल आध्यात्मिकता* में ही आसक्त रहने वाले मनष्यो को यह ब्रह्म विद्या प्राप्त नही हो सकती, क्योकि वे लोग अपन अपने माने हुए भिन्नता के मतो म इतना अ ध विश्वास रखते ह कि उनकी बद्धि म स्वत त्र विचार करन के लिए स्थान ही नही रहता अत वे स्वय तो इस गभीर रहस्य को समझ नही सकते ओर जिन लोगो को इन विषया का यथाथ अनभव होता ह उन पर वे श्रद्धा नही रखते फलत वे अपने कुतर्का से इस स्वाभाविक धम रूप ब्रह्म विद्या म दोष दष्टि करके अर्थात इसको निस्सार समझ कर इसका तिरस्कार कर देते ह। इसलिए उनका मोह अथवा अज्ञान कभी दूर नही होता, और पथकता क भाव बन रहने के कारण उनको सच्ची शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति भी नही होती कि तु वे ज म-मरण के चक्कर में ही निरतर घूमते रहते ह। पर तु जो लोग उपरोक्त दोष दष्टि से रहित होकर श्रद्धापूवक इस सिद्धा त का श्रवण और मनन करके अपन रात दिन के व्यवहारो में इसका उपयोग करते ह उनका अज्ञान दूर होकर उ ह उत्तम पद की प्राप्ति अवश्य ही होती ह।

मया ततमिद सव जगद"यक्तमर्तिना।
मत्स्थानि सवभूतानि न चाह तेष्ववस्थित ॥ ४ ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमश्वरम।
भूतभन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावन ॥ ५ ॥
यथाकाशस्थितो नित्य वायु सवत्रगो महान।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥
सवभूतानि कौ तेय प्रकृति यान्ति मामिकाम।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसजाम्यहम ॥ ७ ॥

*इस विषय का विशष खुलासा सातवे अध्याय के स्पष्टीकरण मे देखिए।

प्रकृति स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।। ८ ।।
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ।। ९ ।।
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ।। १० ।।

अर्थ—मेरे अव्यक्त अर्थात इन्द्रियो के अगोचर (अध्यात्म) भाव से यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त (परिपूर्ण) हो रहा है, सब भूत मुझ मे स्थित यानी मेरे संकल्प मे ठहरे हुए है, (परन्तु) मैं उनमे अवस्थित नही हूँ, अर्थात उनमें रुका हुआ, उनमे परिमित अथवा उनके आश्रित नही हूँ। और ये (भूत) भी (वस्तुत) मुझ मे स्थित नही है, मेरा ईश्वरीय (अलौकिक) योग अर्थात मेरे संकल्प की अदभुत माया शक्ति का कौशल देख (कि) मेरा आत्मा (सब का अपना आप) भूतो को उत्पन्न और धारण करता हुआ भी भूतो मे स्थित नही है, अर्थात उनमे रुका हुआ अथवा उन पर निर्भर नही है। तात्पर्य यह कि जिस तरह लहर, बुदबुदो और फेन के अन्दर सर्वत्र जल व्याप्त है—वस्तुत सब-कुछ जल ही होता है, पर उनके बाहरी रूपो के दिखाव तक ही दृष्टि रखने से सबके एकत्व भाव—जल का ध्यान नही रहता किन्तु लहर, बुदबुदो और फेन की पृथकता ही प्रतीत होती है उसी तरह पिण्ड की दृष्टि से यद्यपि आत्मा अथवा जीवात्मा "मैं" रूप से सारे शरीर मे व्याप्त एवं परिपूर्ण है—आत्मा ही शरीर का अस्तित्व है—परन्तु शरीर के भिन्न भिन्न अंगो पर ही दृष्टि रखने से सब अंगो के एकत्व भाव=आत्मा अथवा जीवात्मा की प्रतीति नही होती, और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से नाना भावापन्न जगत मे सबका आत्मा=परमात्मा समष्टि "मैं" रूप से सर्वत्र व्याप्त एवं परिपूर्ण है और वास्तव मे सब कुछ परमात्मा ही है परन्तु जगत के भिन्न भिन्न बनावो पर ही दृष्टि रखने से सारे जगत के एकत्व भाव=परमात्मा की प्रतीति नही होती, किन्तु जगत के पदार्थों की पृथकता ही सच्ची प्रतीति होती है, और साधारण लोगो की दृष्टि शरीर और जगत की पृथकता पर ही रहती है। इसलिए भगवान कहते है कि परमात्मा-स्वरूप "मैंने" अव्यक्त अथवा अप्रकट रूप से जगत को व्याप्त (परिपूर्ण) कर रखा है और यद्यपि जगत का आधार सबका आत्मा=परमात्मा स्वरूप "मैं" हूँ अर्थात परमात्मा स्वरूप "मुझ" से ही जगत का अस्तित्व है, परन्तु "मेरा" अस्तित्व जगत पर निर्भर नही है, इसलिए जगत "मेरा" आधार नही है। जिस तरह जादू

का खेल करने वाला जादूगर किसी खेल विशेष म ही परिमित नहीं रहता और यद्यपि खेल का अस्तित्व जादूगर पर निभर होता ह परन्तु जादूगर का अस्तित्व खेल पर निभर नहीं होता—खल करन और न करने पर भी जादूगर का अस्तित्व ज्यो का त्यो बना रहता ह, उसी तरह सबका ा मा प ा मा अपन सकल्प से जगत के अनक प्रकार के खल करता हुआ भी उनमे परिमित नही होता और यद्यपि जगत का अस्तित्व परमात्मा पर निभर ह, परन्तु परमात्मा का अस्तित्व जगत पर निभर नही ह— [illegible] पर तथा उसके निरन्तर बदलते रहने पर भी आत्मा अथवा परमात्मा ज्यो का त्या बना रहता ह, क्योकि सब कुछ परमात्मा ही ह। आर यदि गहर [illegible] वस्तुत परमात्मा म जगत की स्थिति भी नही ह [illegible] परमात्मा से भिन्न जगत का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं ह कि जिसकी स्थिति परमात्मा म होवे। जहा दो पदार्थों का स्वतन्त्र अस्तित्व होता ह वही आधार आधय भाव या [illegible] भाव अर्थात एक दूसरे का आधार अथवा एक दूसरे म व्याप्त होना बन सकता ह। पर जहा एक ही वस्तु के अनक रूप होते ह वहा आधार आधयादि भाव वास्तव म बन नही सकते, किन्तु केवल समझान के अभिप्राय से कथन मात्र के लिए वे कल्पित किये जाते ह। जिस तरह जादूगर अपन जादू के खल म अनक प्रकार के अदभुत चमत्कार दिखाता ह और उन चमत्कारो की दृष्टि से जादूगर उनका आधार कहा जाता ह परन्तु वास्तव में वे चमत्कार जादूगर से भिन्न नहीं होते किन्तु जादूगर के ही रूप होते ह, उसी तरह यद्यपि परमात्मा रूपी जादूगर इस जगत-रूपी खेल का रचयिता और इसका आधार कहा जाता ह, परन्तु वस्तुत जगत परमात्मा से भिन्न नही ह। यह सबके ा मा परमा ा की अदभुत माया का चमत्कार ह कि वह एक ही अनेक भावो और अनेक रूपो में व्यक्त होता ह (४ ५)। जिस प्रकार सवत्र बहने वाला महान वाय सवदा आकाश म स्थित ह, उसी प्रकार सब भूत मुझमे स्थित ह, ऐसा समझ। तात्पय यह कि जिम प्रकार वाय अत्यन्त [illegible] परिमाण [illegible] तथा [illegible] में [illegible] आकाश म स्थित रहता ह, इसलिए वाय का आधार आकाश ह और वायु का अस्तित्व आकाश पर निभर ह, एव वायु आकाश में परिमित ह—आकाश के बिना वायु स्वतन्त्र नही रहता, परन्तु आकाश का आधार वाय नहा ह, न आकाश का अस्तित्व वाय पर निभर ह, और न आकाश वायु म परिमित ही ह—जहाँ वायु का अस्तित्व नहीं होता, वहा (निर्वात स्थान मे) भी आकाश रहता ह, उसी तरह यद्यपि ा मा परमात्मा ही इस नाना भावापन्न एव विस्तत ब्रह्माण्ड का आधार ह, और ब्रह्माण्ड का अस्तित्व परमात्मा पर निभर ह, परन्तु ब्रह्माण्ड, परमात्मा का आधार नहीं ह, न परमात्मा का अस्तित्व ब्रह्माण्ड पर निभर ह, और न वह इस ब्रह्माण्ड में परिमित ही ह—ब्रह्माण्ड के न रहने पर भी परमात्मा तो सदा सवदा रहता ही ह। और जिस तरह वायु कभी तेज होकर आँधी और तूफान का रूप धारण करता ह, कभी मन्द

मन्द चलता है कभी बादल रूप होकर गगन मण्डल को आच्छादित कर देता है और कभी बादलो को बखेर कर साफ कर देता है—इस तरह वायु के अनेक रूप होने पर भी सर्वव्यापक आकाश में उसके कोई विकार नही होते वह ज्यों का त्यो स्वच्छ एव निर्विकार बना रहता है तूफान से वह डावाडोल नही होता, न बादलो से भीगता है उसी तरह जगत के अनेक तरह के बनाव होने और बिगडने तथा नाना प्रकार के परिवर्तन एव उथल ... विकार नही होता। यदि गहरा विचार किया जाय तो वायु आकाश से भिन्न नही है किन्तु आकाश ही का एक बनाव है अर्थात आकाश ही वायु-रूप धारण करता है, परन्तु वायु रूप होता हुआ भी वह अपने सर्वव्यापक आकाश रूप से शून्य नही हो जाता, उसी तरह यह कल्पित जगत परमात्मा से भिन्न नही है किन्तु परमात्मा ही के सकल्प का एक बनाव है, अर्थात परमात्मा ही जगत का रूप धारण करता है परन्तु जगत रूप धारण करता हुआ भी वह अपने वास्तविक सच्चिदानन्द अनादि, अनन्त, अव्यय परमात्म भाव से शून्य नही हो जाता (६)। हे कौन्तेय! कल्प के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति में विलीन हो जाते हैं और कल्प के आदि में मैं पुन उन (भूतो) को रचता हूँ (७)। मैं अपनी प्रकृति के द्वारा, प्रकृति के अधीन रहने वाले इस सपूर्ण भूत-समुदाय को बार-बार रचता हूँ (८)। और हे धनजय! उन (सृष्टि की रचना, सहार एव धारण आदि) कर्मो में उदासीन की तरह अनासक्त रहने वाले मुझको वे कर्म नही बाधते (९)। हे कौन्तेय! मेरी अध्यक्षता से प्रकृति स्थावर जगम सृष्टि का निर्माण करती है, इस कारण से जगत विविध प्रकार से परिवर्तित होता रहता है अर्थात जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का चक्कर चलता रहता है (१०)। श्लोक ७ से १० तक का तात्पर्य यह है कि यह जगत सबके आत्मा=परमात्मा के सकल्प का मायिक खेल मात्र है। जब सबके आत्मा=परमात्मा का सकल्प अथवा इच्छा होती है तब उस समष्टि इच्छा रूपी योग माया अथवा प्रकृति के अद्भुत एव अलौकिक चमत्कार से जगत के नाना प्रकार के बनाव बनते है, जिसे कल्प का आदि कहते है, और जब इच्छा अथवा सकल्प नही होता, तब वे बनाव मिट जाते है, उसे कल्प का क्षय या अन्त कहते है। जिस तरह का सकल्प होता है, उसी के अनुसार अनन्त प्रकार के बनाव बनते है और मिट जाते है। यद्यपि यह सब बनने और मिटने के परिवर्तन सबके आत्मा=परमात्मा की समष्टि इच्छा रूपी अलौकिक माया शक्ति से ही होते है परन्तु सबका आत्मा=परमात्मा वस्तुत इन बनावो में नहीं उलझता, न इनके बनने बिगडने से वस्तुत उसका कुछ बनता बिगडता ही है। इन परिवर्तनो से आत्मा अथवा परमात्मा मे कोई विकार नही होता क्योकि यह सब उसकी कल्पना मात्र ही होते है—वस्तुत कुछ बनता बिगडता है नही। जिस तरह स्वप्न के अनेक प्रकार के दृश्य स्वप्न द्रष्टा की कल्पना मात्र होते है स्वप्न द्रष्टा से भिन्न वस्तुत कुछ नहीं होते, उसी तरह जगत प्रपच आत्मा अथवा परमात्मा की कल्पना का दृश्य मात्र है—आत्मा

अथवा परमात्मा से पृथक जगत कुछ है नहीं, इसलिए वह सबका आधार होता हुआ भी वास्तव मे निर्विकार रहता है (७ से १०)।

स्पष्टीकरण—समत्व योग के अभ्यास में मन को ठहराने के लिए अपनी उपासना के विधान म अपन स्वरूप का वणन करन के विनान स हित ज्ञान का सातव अध्याय से आरम्भ करके भगवान यहा उसकी सूक्ष्म एव गभीर विचारयक्त याख्या करते हुए कहते ह कि सबके अपन आप का अनुभव स्वरूप सबका आत्मा=परमात्मा म" रूप से सब शरीरो अथवा शरीरो के समूह रूप चराचर जगत म ओतप्रोत भरा हुआ ह। यद्यपि 'म (अह)" रूप से सबके अदर रहने वाला सबका आत्मा=परमात्मा सवत्र परिपूण और सब कुछ होन के कारण इद्रियो से प्रत्यक्ष प्रतीत नही होता, यानी वह आखो से देखा नही जाता कानो से सुना नही जाता नाक से सूघा नही जाता, जीभ से चखा नही जाता त्वचा से स्पश नही किया जाता, वाणी से कहा नही जाता, हाथो से पकडा नहीं जाता यहा तक कि उसके स्वरूप की मन से कल्पना भी नही की जा सकती और न बद्धि से यह जाना जा सकता ह कि वह अमक गण अमुक रूप अमक आकार और अमक नाप तोल वाला ह। इतना होन पर भी यह अनभव सबको अवश्य होता ह कि 'म" हू मन, बद्धि आख नाक कान आदि इद्रियो एव सब अगो का समूह=शरीर 'मेरा ह, सब इद्रियो, सब अगो और इन सबके समूह=शरीर को धारण करन वाला "म" हू सब इद्रियो और शरीर के सारे व्यवहार 'मेरी" सत्ता से होते ह और "म' ही उनको स्फूर्ति युक्त करता हू, अर्थात उन सबका प्रेरक और सचालक "म' हू इद्रियो और शरीरो के भिन्न भिन्न अगो के अनेक होन पर भी 'म' इन सबका प्रेरक और सबका आधार एक ही हू जो 'म" आखो से देखने वाला हू, वही कानो से सुनन वाला हू, वही हाथो से काम करने वाला वही मन से सकल्प करने वाला और वही बुद्धि से विचार करने वाला हू अत सबकी एकता 'मझ' में होती ह—शरीर के रोम रोम में "म" व्याप रहा हू। थोडा विचार करन पर यह भी निश्चय होता ह कि 'मेरे" बिना [illegible] और इन सबके समह=शरीर का स्वतत्र अस्तित्व नही होता, और यद्यपि इन सबका अस्तित्व "मेरे" बिना सिद्ध नहीं होता—जब म होता हू, तभी ये होते ह—तथापि 'म" स्वत सिद्ध हूँ और इनके बिना भी रहता हू, गहरी नीद में मन, बद्धि इद्रियो एव शरीर के सभी व्यापार बद हो जाते ह और इनके अस्तित्व की प्रतीति भी नही होती, पर 'म" तो ज्यो का त्यो बना रहता हू, और शरीर का अत होने पर जब इन सबका नाश हो जाता ह तो उनके साथ 'मेरा' नाश नही होता इद्रियो और शरीरो के परिवतन होते रहते ह—बाल्यावस्था मे वे बहुत छोटे होते ह, जवानी मे बडे हो जाते ह और बढापे में क्षीण होकर, मरने पर नष्ट हो जाते ह और फिर कोई नया शरीर बनता ह तब फिर नये बन जाते ह परतु "म" सब दशाओ में वही बना रहता हूं। जब "मेरे" बिना इद्रियो और

शरीर का अस्तित्व ही नही ह, तब अधिक गहरा विचार करन पर यह स्वत सिद्ध होता ह कि वास्तव मे सब कुछ 'म ' ही हू "मेरे' सिवाय और कुछ भी नही ह, शरीर के छोटे बडे अगो की जो भिन्नताए ह वे सब ' मेरे" ही कल्पित रूप ह, "म" जब कल्पना अथवा इच्छा करता हू तब भिन्न भिन्न सूक्ष्म ओर स्थूल इन्द्रियो तथा भिन्न भिन्न अगो के रूप में प्रकट होता हू, और जब इच्छा अथवा कल्पना को समेटता हू तब इन सबका अपने म लय कर लेता हू । इच्छा अथवा कल्पना से कम होते ह और उन कर्मो के अनरूप शरीर होते ह ओर जब कि इच्छा अथवा कल्पना म ही करता हू तो शरीर रूप भी "म" ही बनता हू, अत शरीर रूप होन वाला 'मेरे ' सिवाय दूसरा कोई नही हो सकता तात्पय यह कि यह सब ' मेरे" ही रूप ह । जिस तरह मिट्टी के अनेक बतन ओर खिलौने वस्तुत मिटटी ही होते ह—मिटटी के सिवाय बतन और खिलौने कुछ भी नही होते, उसी तरह वास्तव में सब कुछ म ' ही हू— मेरे ' सिवाय ओर कुछ नही ह और जिस तरह खिलोनो के बनने और बिगडन के विकारो से मिट्टी का कुछ भी बनता बि[illegible] नही—वह ज्यो की त्यो रहती ह, उसी तरह इन रूपो के बनन बिगडन तथा इनमे परिवतन होन से ' मेरा" कुछ भी बनता बिगडता अथवा परिवतन नही होता, कल्पित बनावो के विकार भी कल्पित होते ह—वे सत्य वस्तु पर प्रभाव नही डाल सकते "म' अपना आप सदा एक सा रहने वाला अत सत्य ह और शरीर के अग सदा बदलते रहने वाले कल्पित ह ।

उपरोक्त व्याख्या प्रत्यक व्यष्टि भावापन्न आत्मा अथवा जीवात्मा ओर शरीर के सबध की ह । यदि कोई भी व्यक्ति ' म' रूप से अनभव होन वाले अपन वास्तविक आप यानी आत्मा, और मन, बद्धि आदि सूक्ष्म इन्द्रियो तथा आँख, नाक कान आदि स्थूल इन्द्रियो, एव नाना अगो के समूह [illegible] तथ्य स्वत ही सिद्ध होते ह । इसी विचारधारा को आगे बढाई जाय तो यह निश्चय हो जायगा कि जो व्यवस्था छोटे रूप में प्रत्यक देहधारी जीवात्मा और शरीर के सबध की ऊपर कही ह, वही बहद रूप म समष्टि आत्मा=परमात्मा और जगत अथवा ब्रह्माण्ड के सबध म हूबहू घटती ह । प्रत्यक पिण्ड अथवा शरीर एक छोटा सा ब्रह्माण्ड ही ह, अर्थात पिण्ड को ब्रह्माण्ड का एक छोटा सा—अण के मान का—नमूना (model) समझना चाहिए, और जो सबध शरीर और जीवात्मा का ऊपर बताया गया ह वही सबध जगत और परमात्मा का समझना चाहिए । जिस तरह प्रत्येक शरीर में प्रत्यक व्यक्ति को अपना आप=आत्मा "म" रूप से अनुभव होता ह, उसी म' शब्द से भगवान श्रीकृष्ण सारे ब्रह्माण्ड अथवा जगत के समष्टि अपन आप सबके आत्मा को जगत के अन्दर अनभव कराते ह, और जो व्यवस्था व्यष्टि शरीर की ऊपर कही गई ह, उसी प्रकार की व्यवस्था भगवान सारे जगत की बताते ह । जो आत्मा व्यष्टि शरीर का व्यष्टि भाव से ह, वही आत्मा समष्टि जगत का समष्टि भाव से ह और व्यष्टि भाव से जो पथक पथक शरीर ह, उन्ही का समु

दाय समष्टि भाव रूप जगत ह। वास्तव मे प्रत्येक शरीर के रोम रोम में "म" रूप से रहने वाला व्यष्टि अपना आप अथवा व्यष्टि आत्मा, और भगवान श्रीकृष्ण का "म" रूप स कहा हुआ सारे ब्रह्माण्ड के अण अण म व्यापक समष्टि आत्मा=परमात्मा एक ही ह। इस रहस्य को स्पष्ट करन के लिए आगे ११व अध्याय म भगवान न अजन को इसी शरीर में अखिल विश्व का दशन करा कर उसका अज्ञान मिटाया ह। अत परमात्मा और जगत सबधी ज्ञान विज्ञान के रहस्य को समझन के लिए 'म" रूप से सवत्र अनभव होन वाले अपने आप और शरीर के सबध पर ही विचार करना चाहिए। बाहर अथवा दूर खोजन की आवश्यकता नही ह। यही अनभव करना चाहिए कि जो प्रत्येक शरीर का 'म" ह वही सारे ब्रह्माण्ड का "म" ह।

इस विज्ञान सहित ज्ञान का विशष विवेचन आग तेरहव, चौदहव और पन्द्रहवें अध्यायो म विस्तार से किया ह।

× × ×

आत्मापासना के लिए भगवान ने अपना यानी सबके आत्मा=परमात्मा का स्वरूप बताने म सबकी एकता के विज्ञान सहित ज्ञान का सूक्ष्म एव गभीर रहस्य कहा। अब भगवान अयथाथ अर्थात झूठी और यथाथ अर्थात सच्ची उपासना का भद बताते हुए झूठी उपासना के पाखण्ड की निदा और उसका निषध करते ह।

अवजानन्ति मा मूढा मानुषी तनुमाश्रितम।
पर भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम ॥ ११ ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतस ।
राक्षसीमासुरी चैव प्रकृति मोहिनी श्रिता ॥ १२ ॥
महात्मानस्तु मा पाथ दवी प्रकृतिमाश्रिता ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम ॥ १३ ॥
सतत कीतयन्तो मा यतन्तश्च दढव्रता ।
नमस्यन्तश्च मा भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम ॥ १५ ॥
अह क्रतुरह यज्ञ स्वधाहमहमौषधम।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरह हुतम ॥ १६ ॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामह ।
वेद्य पवित्रमोकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

गतिभर्ता प्रभु साक्षी निवास शरण सुहृत ।
प्रभव प्रलय स्थान निधान बीजम व्ययम ।। १८ ।।
तपाम्यहमह वर्ष [illegible] च ।
अमृत चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ।। १९ ।।
त्रैविद्या मा सोमपा पूतपापा
यज्ञैरिष्टवा स्वर्गति प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान ।। २० ।।
ते त भुक्त्वा स्वर्गलोक विशाल
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति ।
एव त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागत कामकामा लभन्ते ।। २१ ।।
अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जना पर्युपासते ।
तेषा नित्याभियुक्ताना योगक्षेम वहाम्यहम ।। २२ ।।
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम ।। २३ ।।
अह हि सर्वयज्ञाना भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ।। २४ ।।
यान्ति देवव्रता देवान्पितन्यान्ति पितव्रता ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति [illegible] माम ।। २५ ।।

अर्थ—मूर्ख लोग (सब) भूतो, यानी अखिल विश्व के महान ईश्वर स्वरूप मेरे परम (सबसे परे के) भाव को न जानते हुए, (मुझे) मानव देहधारी (कोई व्यक्ति या शरीर विशेष) समझ कर मेरी अवज्ञा (तिरस्कार) करते है। तात्पर्य यह कि उपरोक्त "एक मे अनेक और अनेको में एक' के विज्ञान सहित ज्ञान के रहस्य को न जानने वाले मूर्ख लोग, व्यष्टि रूप से देह इन्द्रियो, मन, बुद्धि, प्राण आदि सबसे परे सबके आधार और सबके स्वामी—सबमे मै" रूप से रहने वाले अपने वास्तविक आप=आत्मा के तथा समष्टि रूप से अखिल विश्व के आधार और स्वामी, सबके आत्मा— परमात्मा के वास्तविक स्वरूप अर्थात यथार्थ अविनाशी भाव को नही जानते। उनकी दृष्टि विशेष करके स्थूल शरीरो पर ही रहती है, शरीरो से परे, सब शरीरो के

भिन्न भिन्न अगो और रोम रोम मे व्यापक, एव इन सब शरीरो को धारण करन वाली एक ही महा शक्ति के विषय म वे ठीक ठीक विचार नही कर सकत। इसलिए जिस तरह अज्ञानवश वे अपने को दूसरो से अलग एक तुच्छ व्यक्ति अथवा विकारवान मनष्य देह मानते ह, उसी तरह सबके आत्मा = परमात्मा को भी जगत से अलग एक मनुष्य आकृति वाला कोई विशष एश्वय सम्पन्न व्यक्ति ही मानते ह। अत मनुष्य देह में होन वाले स्वा भाविक गणो और दोषो विशेषताओ और त्रुटियो की सबके । । । ।।। । में कल्पना करके, उस असीम को ससीम महान को तुच्छ, एक को अनेक सम को विषम और अविकारी को विकारी आदि विरुद्ध भावो वाला मान कर उसका तिरस्कार करते ह (११)।

(वे) झूठी आशाए रखने वाले, फिजूल कम करने वाले, (तथा) मिथ्या (विपरीत) ज्ञान वाले बेसमझ लोग राक्षसी और आसुरी तामसी प्रकृति का ही आश्रय किये रहते ह। तात्पय यह कि उन तामसी उपासको के दो भद ह—एक तो राक्षसी प्रकृति के ह जो शरीर और जगत के अन्दर आत्मा अथवा परमात्मा का अस्तित्व नहीं मानते किन्तु स्थूल शरीरो ही को सब कुछ मानते ह, अत वे लोग केवल शरीरो ही के उपासक होते ह और दूसरे आसुरी प्रकृति के लोग ह जो शरीरो के अतिरिक्त जीवात्माओ को तथा सब जीवात्माओ और सारे जगत के स्वामी परमात्मा अथवा ईश्वर को मानते ह पर जसा मानना चाहिए वसा यथाथ रूप से नहीं मानते किन्तु परमात्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप एव सर्वात्म भाव की उपेक्षा करके उसे किसी विशेष लोक अथवा विशेष देश में रहन वाला, विशष काल में होने वाला तथा विशेष गणो वाले शरीर ही म परिमित अथवा सीमाबद्ध मान कर, किसी व्यक्ति विशेष अथवा किसी नाम विशष अथवा किसी रूप विशेष, अथवा किसी गुण विशेष, अथवा किसी देश विशष, अथवा किसी उपाधि विशष की उपासना करन में ही लगे रहते ह अथवा उसे शरीर और जगत सबसे सवथा अलग, निगण निराकार भद वाला मान कर उस निराकार की भद उपासना करते ह। इस प्रकार के आस्तिक लोगो की उपासना के अगणित भेद होते ह, और उनकी अगणित सम्प्रदायें होती ह। य लोग परमात्मा की एकता और सवव्यापकता की अवहेलना करके, अपन अपन सम्प्रदायो से भिन्न दूसरे सम्प्रदायो के लोगो का तिरस्कार करते ह दूसरो से द्वष करते ह, लडते झगडते ह और दूसरो को दबाते ह। इस तरह सवव्यापक परमात्मा को देश, [illegible] वाला एव नाना विकारो यक्त एक व्यक्ति मानने वाले उपरोक्त मूढ उपासक लोग आसुरी प्रकृति के होते ह। वे राक्षसी और आसुरी प्रकृति के उपासक लोग अपने विपरीत ज्ञान से जो कुछ भी करते ह वह किसी न किसी प्रकार की अपनी पथक व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि की आशा को लिये हुए ही करते ह, परन्तु उन झूठी उपासनाओ का फल नाशवान होता ह, अत उनकी आशाएँ फिजूल ही होती ह और उनके उक्त कर्मों से वास्तव में किसी का कुछ हित

नही होता, इसलिए वे भी निरथक होते ह। जो मनुष्य देह प्राप्त करके अपने आपके वास्त विक स्वरूप यानी सबके एकत्व भाव=परमात्मा का ज्ञान प्राप्त न करके, पथकता के भावो को ही दढ बनाये रखन वाली चेष्टाओ मे लग रहते ह, और उनसे केवल यवितगत स्राथ गिद्धि की आशा रखते ह उन मूर्खो की सभी चेष्टाए ही नही, प्रत्युत उनका मनुष्य जम ही निरथक होता ह (१२)। परतु हे पाथ! दवी प्रकृति का आश्रय करने वाले महात्मा लोग यानी विवेकी सज्जन पुरुष, मुझ (सब के ात्म रमात्मा) को विश्व का आदि और सब विकारो से रहित जान कर अनय भाव से (अभेद) उपासना करते ह। तात्पय यह कि सत्त्वगण प्रधान दवी प्रकृति के विचारशील महापुरुष ऊपर कहे हुए आसुरी प्रकृति वाले लोगो की तरह अपनी यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के लिए किसी यक्ति िाग अथवा उपाधि विशष की भद उपासना नही करते, किंतु अपने सहित सब चराचर सष्टि म एक आत्मा अथवा परमात्मा को समान भाव से यापक जान कर सबके साथ एकत्व भाव के प्रेम करने रूपी परमात्मा की अभेद उपासना करते ह (१३)। दढ व्रत होकर यत्न करते हुए निरतर मेरा कीतन करते ह और भक्तिपूवक मझे नमस्कार करते ह, और सबकी एकता के साम्य भाव मे मन लगा कर सदा मेरी उपासना करते रहते ह। तात्पय यह कि दवी प्रकृति के सज्जन पुरुष सदा नियमिल रूप से सबके आत्मा=परमात्मा के अज अविनाशी अविकारी सवयापक, सम, सर्वाधार सवभूत महेश्वर, सच्चिदानद आदि भावो का कीतन करते रहते ह, तथा सब लोगो को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप जान कर अत्यत प्रेम और विनीत भाव से सबको नमस्कार करते ह और इस प्रकार समत्व-योग का आचरण करते हुए अनय भाव की उपासना में लगे रहते ह (१४)। और कई लोग ज्ञान यज्ञ से [illegible] द्वारा भा मेरा यना पूजन करते हुए (अपन माथ मेी एकता क) अभेद भाव से, अथवा (पथकता के) भेद भाव से, बहुत प्रकार से मेरे विश्वरूप की उपासना करते ह। तात्पय यह कि जो [illegible], उनमे से कई लोग मवत्र [illegible] भाव के अद्वत सिद्धात को मानते ह, और कई पथकता के द्वत अथवा भेद सिद्धात को मानते ह, और अपनी अपनी मायता के अनसार ज्ञान यज्ञ के द्वारा उपासना करते ह, परतु 'म" रूप से सबके अदर रहने वा [illegible] आत्मा=परमात्मा [illegible] आ [illegible] वे सब प्रकारातर से सर्वात्मा=परमात्मा-स्वरूप मेरी ही उपासना करते ह (१५)। ऋतु, अर्थात श्रौत कम 'म" हू, यज्ञ अर्थात स्मात कम 'म" हूँ, स्वधा, अर्थात पितरो को निमित्त करके दिया जाने वाला अन्न अथवा पिण्डादि "म" हू, औषध, अर्थात वनस्पतिया "म' हू मत्र, अर्थात जिन मत्रा का उच्चारण करके हवन यज्ञादि किय

जाते है, वे मन्त्र 'म' हू, आज्य, अर्थात होम जाने वाले घृतादिक पदार्थ 'म' ही हू अग्नि "म" हू, (एव) हवन 'म" हू (१६)। ॥ पि ॥ माता, धाता और पितामह म' हू, अर्थात पुरुषस्वरूप परा प्रकृति (गी० अ० ७ श्लो० ५) अथवा क्षेत्रज्ञ (गी० अ० १३ श्लो० २) अपरा प्रकृति (गी० अ० ७ श्लो० ४) अथवा क्षेत्र (गी० अ० १३ श्लो० १२) और इन दोनो का आधार अथवा एकत्व भाव=परमात्मा अथवा पुरुषोत्तम (गी० अ० १३ श्लो० २२ अ० १५ श्लो० १७ १८) "म" ही हू, वेद्य अर्थात यथार्थतया जानने योग्य, सबका मूलतत्त्व—सबका अपना आप (गी० अ० १३ श्लो० १२ १७) (म हू) पवित्र अर्थात शुद्ध, निर्मल, निर्विकार एव सबको पवित्र करने वाला (म हू) ओकार, अर्थात सबकी एकता का बोधक एकाक्षर ब्रह्म 'ॐ" (म हू) ऋग्वेद, सामवेद यजर्वेद आदि को लेकर सब शास्त्र भी (म ही) हू (१७)। गति अर्थात सबकी हलचल (क्रियाशीलता), अथवा सबकी अन्तिम गति (म हू), भर्ता अर्थात सबका भरण पोषण करने वाला (म हू), प्रभु, अर्थात पिण्ड की दृष्टि से मन, बुद्धि चित्त अहकार, इन्द्रिय, प्राण आदि शरीर के सब अग मेरे है" इस तरह शरीर के स्वामित्व का अनुभव करने वाला और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से अखिल विश्व मेरा है"—सबका स्वामी 'म" परमात्मा हू इस तरह ब्रह्माण्ड के स्वामीभाव का अनुभव करने वाला (म हू), साक्षी अर्थात पिण्ड की दृष्टि से मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ प्राण आदि की सारी चेष्टाओ को जानने वाला जीवात्मा और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से सब चराचर सृष्टि की विविध प्रकार की हलचल का द्रष्टा परमात्मा (म हू) निवास (म हू), अर्थात सब भूत प्राणी 'मुझ में" ही रहते है, शरण अर्थात सबका रक्षक (म हू) सुहृद अर्थात सबका स्वाभाविक प्यारा (म हू), प्रभव (म हू) अर्थात सबकी उत्पत्ति मुझ परमात्मा से होती है प्रलय (म हू) अर्थात सबका लय मुझ म" होता है, स्थान (म हू) अर्थात सबकी स्थिति "मुझ में" है, निधान (म हू) अर्थात सबका समावेश "मुझ में" होता है, और अव्यय बीज अर्थात सबका अविनाशी एव अविकारी कारण (म हू) (१८)। 'म" तपाता हू, 'म" वर्षा को रोकता और छोडता हू अर्थात 'म" ही सूर्य रूप से तपाता हुआ जल को खींच कर आकाश में थामे रखता हू और "म" ही उसे बरसाता हू, और हे अर्जुन ! अमृत और मृत्यु भी 'म" ही हू, और सत एव असत भी "म ही" हू, अर्थात 'म ही त्रिकाल अबाधित अविनाशी सत्य आत्मतत्त्व हू और "म" ही निरन्तर परिवर्तनशील एव कल्पित जगत का विनाशवान दृश्य प्रपच हू (१९)। श्लोक १६ से १९ तक का तात्पर्य यह है कि जगत मे जो भी कुछ दृष्ट अथवा अदृष्ट वस्तु है, एव उपासना के लिए जो भी कुछ हवन यज्ञ, सन्ध्या वन्दन वेदाध्ययन, पाठ पूजा, ध्यान, जप आदि किये जाते है तथा जो कुछ कहने सुनने और विचारने म आ सकता है, वह सब "म" रूप से सबको अनुभव होने वाला सबका अपना आप, सबका आत्मा=परमात्मा ही है। अत चाहे कोई

एकत्व भाव से उपासना करे या पथकता के भाव से करे—सब परमात्मा ही की उपासना होती ह परन्तु उपासना करने म करने वाले के अन्त करण मे जसा भाव होता ह, वसा ही उपासना का स्वरूप होता ह और वसा ही उसका परिणाम होता ह, यह बात आगे के श्लोको में कहते ह (१६ से १९)। त्रविद्य अर्थात ऋक, यजु और साम इन तीन वेदो में विधान किये हुए सकाम कम करने वाले एव सोमरस पीने वाले पुरुष यज्ञो द्वारा मेरा पूजन करके (स्वग प्राप्ति के बाधक जो पाप ह उन) पापो म [illegible] स्वग प्राप्ति की प्राथना करते ह। वे अपने पुण्यो के फल स्वरूप इन्द्र लोक को प्राप्त होकर स्वग में देवताओ के दिव्य (सूक्ष्म) भोगो को भोगते ह। वे उस विशाल स्वग लोक का उपभोग करके, पुण्य के क्षीण होने पर मत्यु लोक मे आते ह। इस तरह वेदत्रयी मे विधान किये हुए धार्मिक कमकाण्ड करने वाले कामना-परायण लोग (अपनी भावना के फल स्वरूप) आवागमन के चक्कर में घूमते रहते ह (२० २१)। परन्तु जो लोग अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए निष्काम उपासना करते ह, उन (मेरी अनन्य भाव की उपासना मे) [illegible] भक्तो का योग अर्थात अप्राप्त पदार्था की प्राप्ति और क्षम अर्थात प्राप्त पदार्थों की रक्षा, म (सबका आत्मा = परमात्मा) किया करता हू। तात्पय यह कि इससे पहले के दो श्लोको म यह कहा ह कि वदिक हवन यज्ञ आदि काम्य कम करन वालो को उनकी भावना के अनसार स्वर्गादि लोगो के सूक्ष्म मानसिक भोग प्राप्त होते ह तब यह आशका हो सकती ह कि उक्त कम काण्ड न करन वाले परमात्मा के अनन्य भाव के उपासको को भोग्य पदाथ प्राप्त नही होते होगे ? इस आशका का निवारण करने के लिए भगवान कहते ह कि जो सबके आत्मा=परमात्मा स्वरूप मझे ही सब कुछ मान कर अनन्य भाव से मेरी उपासना करते ह, अर्थात सारे विश्व को परमात्मा का ही व्यक्त स्वरूप समझ कर सबके साथ एकता के साम्य भाव का बर्ताव करते ह, उनकी सब इच्छाओ और आवश्यकताओ की पूर्ति सारे जगत म व्याप्त 'म" परमात्मा किया करता हू दूसरे शब्दो म सबके साथ एकता के भाव म जड हुए उन भक्तो के इच्छित पदार्था की प्राप्ति और उनकी रक्षा म "मेरा" व्यक्त स्वरूप—सारा जगत सहायक होता ह (२२)। जो भक्त लोग श्रद्धापूवक दूसरे देवताओ का पूजन करते ह, वे भी, हे कौन्तेय ! मेरा ही पूजन करते ह (परन्तु) वह विधिपूवक (यथाथ पूजन) नही होता, अर्थात मेरे सच्च पूजन की विधि जसी ऊपर श्लोक १३ १४ म कही ह, उसके अनसार नही होता। क्योकि (यद्यपि) 'म' ही सब यज्ञो का भोक्ता हू और 'म' ही सबका मालिक हू परन्तु वे मझे तत्त्वत नहीं जानते, इसलिए उनका पतन हो जाया करता ह। तात्पय यह कि जब कि "म" रूप से सबके अन्दर रहन वाले सबके आत्मा=परमात्मा के सिवाय कुछ ह ही नही, तो देवताओ की

कल्पना करके उनको पूजन वाले भी परोक्ष रूप से सबके आत्मा परमात्मा ही का पूजन करते ह परन्तु उनको सबकी एकता का ज्ञान नही होता, किन्तु उनके अन्त करण में यह भाव होता है कि देवता, पितर, भूत आदि परमात्मा से पथक ह, और उनकी उपासना करने से ही कामनाओ की सिद्धि होती ह, इसलिए वे लोग देवताओ आदि को सबके आत्मा=परमात्मा से भिन्न मान कर उनका पूजन करते ह, और वह विपरीत भाव का पूजन उनके पतन का कारण होता ह (२३ २४)। देवताओ के उपासक देवताओ को प्राप्त होते ह पितरो के उपासक पितरो को प्राप्त होते ह भतो की पूजा करन वाले भूतो को प्राप्त होते ह और मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते ह। तात्पय यह कि जिसका मन जिस भाव म लगा रहता ह वह उसी के अनुसार अपने लिए बनाव कल्पित करके अपन को वसा ही अनभव करता ह (२५)।

स्पष्टीकरण—जो अत्यन्त प्रबल तामसी प्रकृति के देहात्मवादी उपासक होते ह, उनकी राक्षसी प्रकृति कही गई ह। राक्षस लोग केवल अपन शरीरो के उपासक होते ह, और वे खान, पीने, सोने एव द्रव्य सग्रह करके उसके उपयोग से विषयो को भोगन आदि इस शरीर के प्रत्यक्ष के भौतिक सुखो के सिवाय और किसी पराक्ष विषय की तरफ ध्यान देन की आवश्यकता नही समझते, और तत्त्वज्ञान उनके नजदीक कोई चीज नही होता। अपने शारीरिक सुखो के लिए दूसरो को दबाने दूसरो को पीडा देन, दूसरो पर अत्याचार करने तथा दूसरो की हिसा करन में उन्हे कोई ग्लानि नहीं होती, न उन्हे ईश्वर का भय ही होता ह। अस्तु, राक्षसी प्रकृति के उपासक लोग अपन शरीर के सुख और भोगो के लिए तथा उनके निमित्त दूसरो की हानि करने और दूसरो को पीडा देन के लिए देवी, देव, भूत प्रत, यक्ष, पिशाच आदि की तथा विशेष शक्ति सम्पन्न अत्याचारी मनुष्यो की उपासना करते ह*।

जो लोग उनसे कुछ कम तामसी प्रकृति के होते ह, उनकी आसुरी प्रकृति कही गई ह। वे यद्यपि शरीरो के अतिरिक्त उनके अन्दर रहने वाले जीवात्माओ को मानते ह, और सब जीवात्माओ से पथक उन सबके स्वामी ईश्वर को मानते ह, परन्तु सब जावात्माओ को एक दूसरे से सवथा पथक रहने वाले अत्यन्त तुच्छ प्राणी मान कर आपस में ईर्षा द्वेष, घणा, तिरस्कार आदि करते ह, और ईश्वर को सबसे अलग, आसमान में, अथवा समद्र मे, अथवा किसी अन्य स्थान में या किसी लोक विशेष अथवा देश विशेष मे रहने वाला, अतुल शक्ति एव अपार वभव सम्पन्न, तथा विशेष गुणो से युक्त एक महान

*सोलहव अध्याय म श्लोक ६ से २० तक के अथ और स्पष्टीकरण म राक्षसो और असुरो का वणन देखिए और सत्रहव अध्याय के श्लोक ४ का अथ और स्पष्टीकरण देखिए।

व्यक्ति मानते ह, और जिस तरह एक सम्राट अथवा राजा अपनी प्रजा पर शासन करता ह, और अपने बनाये हुए कानूनो को मानने वाले पुरुषो की रक्षा करता ह, एव उनका उल्लघन करने वालो को दड देता ह, उसी तरह उनकी समझ मे ईश्वर भी सब जीवो के अच्छे बुरे कर्मों का हिसाब रख कर उनका यथायोग्य फल देता ह, और जिस तरह एक स्वेच्छाचारी राजा को भोग, विलास, खेल, तमाशे, भेट, पूजा, चापलूसी एव खुशामद आदि प्यारी लगती ह और दूसरो पर अपना आतक जमाने से उसे प्रसन्नता होती ह, अपनी भेट-पूजा तथा खशामद करने वालो पर वह कृपा रखता ह उ हे पुरस्कार देता ह और उनके अपराध क्षमा कर देता ह, एव जो उसकी सत्ता नही मानते अथवा उसकी खुशामद नही करते, उन पर वह क्रुद्ध होता ह और उनको दण्ड देता ह, उसी तरह उनके मतानुसार उनका ईश्वर भी खेल, तमाशो एव भोग विलास आदि की सामग्रियो तथा बलिदान कुर्बानियो से रीझता ह एव भेट पूजा तथा खशामद और चापलूसी, करने वालो पर प्रसन्न होता ह और उनको धन सम्पत्ति अधिकार, बल वभव, स्त्री पुत्र, जमीन, जायदाद मान, प्रतिष्ठा आदि नाना प्रकार के भौतिक सुखो के साधन देता ह, और मरने के बाद उ हे स्वग में भेज देता ह, तथा उनके सब पापो को माफ कर देता ह, और जो उनके मान हुए ईश्वर को नही मानते तथा उ ही की तरह उसका भजन स्मरण, स्तुति आदि नही करते, उन पर वह क्रुद्ध होकर उनका सवनाश कर देता ह। इस तरह सब प्रकार के तुच्छ मानवी भावो का अपन कल्पित ईश्वर में आरोप करके उसको बहुत ओछा अत्य त स्वार्थी और अभिमानी यक्ति बना देते ह और उसको प्रसन्न करन के अभिप्राय से उसके उन भावो की स्तुति तथा भजन स्मरण आदि से उसकी खुशामद रूप उपासना करते ह। साराश यह कि ‹ाग। ाग । ा‹ आसुरी प्रकृति के लोग ईश्वर को एक राजस तामस गणो युक्त मनुष्य स्वभाव वाला यक्ति मानकर राजस तामस भावो से अन त प्रकार की उपासनाए करते ह, जिनकी अगणित धार्मिक अर्थात मजाहबी सम्प्रदायें बन जाती ह, और उन भिन्न भिन्न सम्प्रदायो के भिन्न भिन्न कमकाण्ड एव भिन्न भिन्न रीति रिवाज होते ह। प्रत्यक सम्प्रदाय के अनयायी, अपन अपने सम्प्रदाय की उपासना की विधि कमकाण्ड और रीति रिवाज आदि को दूसरे सम्प्रदायो से उत्तम मानते ह, और दूसरो को अपन से निकृष्ट मान कर उनकी नि दा करते ह और इस तरह परस्पर में द्वेष करके आपस में लडते झगडते और एक दूसरे पर अत्याचार करते ह। ई‍वराग ना देवोपासना एव धार्मिक रीति रिवाजो से सम्ब ध रखने वाली साधारण से साधारण बात को लेकर आपस मे लड मरना और एक दूसरे की हत्या कर देना, स्वग अथवा बहिश्त को पहुचा देने वाला धार्मिक कृत्य माना जाता ह। अपने माने हुए सम्प्रदाय की उपासना की विधि, कमकाण्ड और रीति रिवाजो को दूसरो से जबदस्ती मनवाना परम पुण्य का काय माना जाता ह, और इसके लिए लोगो पर अनक प्रकार के दबाव

डाले जाते ह। इश्वर के नाम पर धार्मिक अथवा मजहबी झगडो से बहुत अशान्ति ओर क्लेश होते रहते ह। ससार म जितने अनथ इन धार्मिक अथवा मजहबी विषयो को लेकर इश्वर के नाम पर होते ह उतने अ‍य किसी भी बात से नही होते। इस तरह की आसुरी प्रकृति के लोगो के उपयक्त मूखतापूण अ‍धविश्वास और हठधर्मी की चेष्टाओ से अपने भयानक पतन और दूसरो को पीडा होने के अतिरिक्त और कुछ भी अच्छा परिणाम नही होता, न किसी का किसी प्रकार का हित ही होता ह।

जो लोग स्वर्गादि सुखो की प्राप्ति की कामना से शास्त्रो मे कही हुई विधि के अनुसार श्रद्धापूवक यज्ञादिक धार्मिक कृत्य करते ह वे यद्यपि अपनी भावना के बल से अपने लिए शास्त्रो म वर्णित देवताओ के से सूक्ष्म सुख भोग उत्पन्न करके वासना त्मक सूक्ष्म शरीर से कुछ काल तक उ‍हे भोगन का अनभव कर लेते ह क्योकि परमात्मा के सवत्र ‍यापक होने के कारण यज्ञादिक कर्मो द्वारा जो पूजन होता ह वह उसी का होता ह पर‍तु उन लोगो की भावना सबके एकत्व भाव रूप परमात्मा की उपासना की नही होती, कि‍तु अपनी स्वाथ सिद्धि के लिए देवताओ से सौदा करने की होती ह इसलिए उस सौदे के अनुसार उनको क्षणिक सुखो की प्राप्ति होकर फिर उनका पतन होता ह और वे नाना भाति की योनियो म ज‍म-मरण के चक्कर लगाते रहते ह। स्वर्गादि का सुख वास्तविक सुख नही होता, क्योकि स्वर्गादि लोक और उनके सुख सब कल्पित होते ह। अपने मन की कल्पना ही से स्वर्गादि लोक मान लिये जाते ह, और वदिक कम काण्ड से उन स्वर्गादि लोको की प्राप्ति की मानसिक भावना से ही उनकी कल्पित प्राप्ति होकर उनम स्वप्न के भोगो की तरह कल्पित भोग भोगे जाते ह। साराश यह कि जिसकी जसी भावना होती ह वसा ही वह हो जाता ह और अपने लिए वसे ही कल्पित सामान जुटा लेता ह। देवताओ की भावना करने वाले अपने लिए देवताओ का बनाव करके उनमें जा मिलते ह मरे हुए पितरो की भावना करने वाले पितरो का बनाव करके उनम जा मिलते ह, जड पदार्थो मे आसक्ति रखने वाले जड हो जाते ह, और सव‍यापक पर मात्मा की उपासना करने वाले परमात्मा स्वरूप हो जाते ह।

जो सत्व‍ाण प्रधान दवी प्रकृति के महापुरुष होते ह, वे सारे जगत में परमात्मा को समान भाव से परिपूण समझ कर सबके साथ एकता से प्रमपूवक समता* के बर्ताव करने रूपी परमात्मा की उपासना करते ह। वे ससार के सब प्रकार के ‍यवहार करते हुए भी निरन्तर सबकी एकता स्वरूप परमात्मा का ही चि‍तन करते रहते ह। सबको

*समता क बर्ताव का खलासा पाँचव अ‍याय के श्लोक १८ के स्पष्टीकरण म कर आय ह।

परमात्मा का रूप जान कर नमस्कार आदि से विनय का बर्ताव करते ह और परमात्मा की सवरूपता आदि भावो की चर्चा कथा, कीतन आदि रूप से उनकी उपासना करते रहते ह। कई विचारवान सज्जन अद्वत सिद्धान्त के श्रवण मनन निदिध्यासन आदि के ज्ञान यज्ञ से परमात्मा की अभेद उपासना करते ह, और कई द्वत सिद्धान्त को मान कर उपास्य उपासक के भेद ज्ञानपूवक विश्वरूप परमात्मा के विषय मे विविध प्रकार के विचार करने रूपी उपासना करते ह। जगत मे जो कुछ ह वह सब परमात्मा ही ह। वेदादि शास्त्र और शास्त्रोक्त यज्ञादिक क्रियाए, सष्टि का आदि अन्त और मध्य, सूक्ष्म स्थूल और कारण भाव तथा उत्पत्ति विनाश दश्य अदश्य सभी एक परमात्मा ही के अनक रूप ह। इस अनन्य भाव से अखिल विश्व को परमात्मा का ही स्वरूप समझकर जो उसकी उपासना करते ह अर्थात परमात्मा के व्यक्त स्वरूप जगत के साथ एकता के प्रेम सहित सब व्यवहार करते ह वे स्वय परमात्मस्वरूप हो जाते ह। उनको कोई भी पदाथ अप्राप्य नही होता किन्तु उनकी सब इच्छाए स्वत पूण होती ह क्योकि परमात्म स्वरूप म अखिल विश्व का समावेश होता ह इसलिए उनसे भिन्न कुछ शष ही नही रहता।

दवी और आसुरी सम्पत्ति तथा सात्विक, राजस एव तामस भावो की विशष व्याख्या भगवान न आग सोलहव सत्रहवें और अठारहव अध्यायो म की ह उसी के आधार पर इन श्लोको का स्पष्टीकरण किया गया ह—यद्यपि बीज रूप से इन श्लोको म भी वे ही भाव विद्यमान ह। यहा उपासना के प्रसग म दवी और आसुरी प्रकृतियो का सक्षप से उल्लेख करके यह स्पष्ट किया गया ह कि गीता मे ईश्वरोपासना से तात्पय, परमात्मा के किसी रूप विशष के ध्यान अथवा पूजन करन या किसी नाम विशेष के जाप करने आदि ही म लग रहन का नही ह, किन्तु परमात्मा को सवत्र एक समान व्यापक समझ कर सबके साथ यथायोग्य प्रम का आचरण करन रूपी समत्व योग का ह। वास्तव में गीता में सवत्र समत्व योग ही का प्रतिपादन ह। सातव से बारहवें अध्याय तक उपासना के ढग से समत्व योग का प्रतिपादन ह अत केवल नाम का भेद ह, वस्तुत बात एक ही ह।

× × ×

अब भगवान उपरोक्त अनन्य भाव से उपासना करन की सीधी सादी सरल एव सुगम विधि बता कर उस उपासना का महात्म्य कहते ह। साथ ही स्पष्ट रूप से यह प्रकट करते ह कि इस उपासना मे मनुष्य (स्त्री पुरुष) मात्र न —किसी भी प्रकार के भेद बिना—एक समान अधिकार ह और इससे सबको एक समान लाभ होता ह। तात्पय यह कि इसम पूण साम्य भाव ह।

पत्र पुष्प फल तोय यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदह भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन ॥ २६ ॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम ॥ २७ ॥
शुभाशुभफलैरेव मोक्ष्यसे कर्मबन्धन ।
सन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥
समोऽह सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रिय ।
ये भजन्ति तु मा भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम ॥ २९ ॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक ।
साधुरेव स मन्तव्य सम्यग्व्यवसितो हि स ॥ ३० ॥
क्षिप्र भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्त प्रणश्यति ॥ ३१ ॥
मा हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु पापयोनय ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परा गतिम ॥ ३२ ॥
कि पुनर्ब्राह्मणा पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुख लोकमिम प्राप्य भजस्व माम ॥ ३३ ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मा नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मान मत्परायण ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो मुझे पत्र, पुष्प, फल और जल, यानी सबको सहज ही प्राप्त हो सकने वाले पदार्थ भक्तिपूर्वक अर्पण करता है, (उस) शुद्ध अन्त करण वाले (भक्त) की भक्ति [illegible] उस भेट को मै खाता हू। तात्पर्य यह कि सबके आत्मा=परमात्मा की बहुमूल्य और बढिया भोग्य पदार्थों मे कोई प्रीति नहीं होती, और साधारण वस्तुओ मे कोई अप्रीति नही होती, क्योकि ससार के सभी पदार्थ परमात्मा ही की कल्पना के बनाव है, इसलिए उसे प्रसन्न करने के लिए बहुमूल्य पदार्थों की भेट की आवश्यकता नही है। आत्मा अथवा परमात्मा सबमें एक समान है—इस एकत्व भाव को भूल कर परस्पर में द्वेष उत्पन्न करके जो लडाई झगडे और छीना झपटी आदि किये जाते है उन्हे मिटा कर सबके साथ एकता के प्रेम पूर्वक एक दूसरे की यथायोग्य सेवा करना ही परमात्मा की सच्ची उपासना है, और वह प्रेम भाव की सेवा अनायास ही उपलब्ध होने वाले साधारण पदार्थों द्वारा जैसी हो सकती है, वैसी बहुमूल्य बढिया पदार्थो द्वारा नही हो सकती, क्योकि बहुमूल्य बढ़िया पदार्थ देने मे मन में थोडा या बहुत क्लेश होने के अतिरिक्त देने का कुछ अभिमान भी होता

है, इसलिए उसमें सच्चा प्रेम कम रहता है। अतः भगवान कहते हैं कि जो कोई व्यक्ति पत्र, पुष्प, फल अथवा जल आदि सहज ही मिलने वाले पदार्थों द्वारा ही भक्ति अथवा प्रेम पूर्वक अखिल विश्व में व्याप्त परमात्मा स्वरूप मेरी सेवा करता है, वही सच्ची पूजा अथवा उपासना है। अभिप्राय यह कि स्त्री पुरुष, पशु, पक्षी आदि जितने भी शरीर हैं, उन सबमें परमात्मा समान भाव से व्यापक है, अतः सबको परमात्मा ही के अनेक रूप समझ कर, भिन्न भिन्न शरीरों की योग्यता एवं आवश्यकता तथा अपनी सामर्थ्य के अनुसार जो प्रेमपूर्वक उनको खिलाने आदि की सेवा करता है उसी प्रेम भरी सेवा से सबका अन्तरात्मा प्रसन्न होता है। अन्तःकरण की प्रसन्नता का कारण कोई पदार्थ विशेष नहीं होता किन्तु सेवा करने वाले का आन्तरिक भाव होता है (२६)। **जो तू करता है, जो खाता अथवा भोगता है, जो हवन करता है, जो देता है, (और) जो तप करता है, हे कौन्तेय! वह (सब) मेरे अर्पण कर,** अर्थात् यह चिन्तन करता हुआ सब कुछ कर कि "मैं" रूप से सबके अन्दर रहने वाले, सबके एकत्व भाव यानी सबके आत्मा=परमात्मा के प्रसाद ही से सब-कुछ हो रहा है। इस तरह (मेरे यानी सबके आत्मा=परमात्मा के अर्पण करने रूप) संन्यास योग में जुड़े हुए अन्तःकरण से तू शुभाशुभ फल रूप कर्म-बन्धनों से छूट जायगा और मुक्त होकर मुझ परमात्मा में मिल जायगा। तात्पर्य यह कि मनुष्य जो कुछ करता है उसमें साधारणतया दूसरों से पृथक अपने कर्तापन के व्यक्तित्व के अहंकार के साथ साथ दूसरों से पृथक अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि की कामना रहती है, और यही बन्धन का हेतु है क्योंकि वास्तव में कोई भी व्यक्ति दूसरों की सहायता और सहयोग के बिना कुछ भी नहीं कर सकता, इसलिए यह पृथकता का अहंकार झूठा है कि 'अमुक कार्य केवल मेरे ही किये से होता है और इसके फल पर केवल मेरा ही अधिकार है'। यह मिथ्या भाव ही सब अनर्थों का कारण है। भगवान उपदेश देते हैं कि मनुष्य जो कुछ काम करे उसमें इस बात का ध्यान रखे कि "मैं" जो कुछ कार्य किया करता हूँ, वह अकेले मेरे ही किये से नहीं हो रहा है किन्तु सबकी एकता अथवा सहयोग रूप परमात्मा के प्रसाद से ही सम्पादित हो रहा है। इसलिए प्रत्येक कार्य में तथा उसके फल में सबका साझा समझना चाहिए। यही सबकी एकता का भाव भोजन करने में रखे कि 'जो कुछ खाद्य सामग्री मुझे प्राप्त हुई है, वह सबकी एकता एवं सहयोग रूप परमात्मा के प्रसाद से ही प्राप्त हुई है दूसरों से पृथक होकर मैं कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता", इसलिए यह समझता हुआ कि मेरे भोजन में सबका साझा है—दूसरों को खिलाता हुआ आप खावे। हवन, यज्ञ* आदि धार्मिक कृत्य करने में भी यही एकता का भाव रखे कि दूसरों के सहयोग बिना कोई धार्मिक कृत्य संपादित

*सत्रहवें अध्याय में यज्ञ और तप का स्पष्टीकरण देखिये।

नहीं हो सकता । और तप* करने में भी उसी सर्वभूतात्मैक्य भाव का ध्यान रखे कि दूसरों के सहयोग बिना किसी प्रकार का तप सिद्ध नहीं हो सकता । इस तरह शरीर के प्रत्येक व्यवहार में सबकी एकता रूप परमात्मा का स्मरण रखना ही उसे परमात्मा के अर्पण करना है, और इस तरह करने से सभी व्यवहार सबके साथ प्रेम-युक्त एवं सबके लिए हितकर होते हैं और उनके करने में दूसरों से पृथक व्यक्तित्व का अहंकार और दूसरों से पृथक व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि का भाव न रहने के कारण उन व्यवहारों से कोई बंधन उत्पन्न नहीं होता । यह सर्वभूतात्मैक्य भाव का आचरण परमात्मा की सच्ची एवं अत्यन्त सुगम उपासना है—इसी से मनुष्य परमात्मा-स्वरूप हो जाता है (२७ २८) ।

मैं (सब का आत्मा) सब भूतों में समान भाव से व्यापक हूं, न मुझे कोई द्वेष्य अर्थात अप्रिय है और न कोई प्रिय, परन्तु जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझ में हैं और मैं भी उन में हूं । तात्पर्य यह कि सबका आत्मा परमात्मा मैं रूप से सबमें समान भाव से व्यापक है अतः सारा जगत परमात्मा ही के अनेक रूप है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है । इसलिए परमात्मा की किसी विशेष व्यक्ति अथवा विशेष पदार्थ में प्रीति नहीं होती—चाहे वह व्यक्ति कितना ही बड़ा और उच्च कोटि का क्यों न हो और चाहे वह पदार्थ कितना ही बहुमूल्य एवं मनोहर क्यों न हो, न परमात्मा का किसी व्यक्ति अथवा पदार्थ से द्वेष होता है—चाहे वह व्यक्ति कितना ही छोटा और हीन कोटि का क्यों न हो, और चाहे वह पदार्थ कितना ही तुच्छ एवं बुरा क्यों न प्रतीत होता हो—परमात्मा सबमें एक समान है । प्रीति (राग) और अप्रीति (द्वेष) मन के विकार हैं और जिनके अन्तःकरण में भिन्नता के भावों की दृढ़ता होती है, उनमें ये राग द्वेष के विकार बने रहते हैं और वे सबके एकत्व भाव—सबके आत्मा=परमात्मा में भी राग द्वेष का आरोप करके उस से विमुख रहते हैं परन्तु जिनकी बुद्धि में यह निश्चय हो जाता है कि यह चराचर जगत सबके आत्मा=परमात्मा का ही व्यक्त स्वरूप है वे सबके साथ एकता का प्रेम करने रूपी परमात्मा की अनन्य भाव की भक्ति करते हैं, और वे चाहे बड़े हों या छोटे ऊंच हों या नीच स्त्री हों या पुरुष—किसी भी प्रकार के भेद बिना परमात्म पद को प्राप्त हो जाते हैं यानी सबकी एकता के परमात्म भाव में उनकी स्थिति हो जाती है (२९) । **यद्यपि कोई दुराचारी भी हो, और (उपरोक्त) अनन्य भाव से मेरी (सबके आत्मा=परमात्मा की) उपासना करता हो, (तो) उसको साधु यानी सदाचारी ही समझना चाहिए, क्योंकि उसको (सबके आत्मा=परमात्मा की एकता एवं सर्व व्यापकता का) सच्चा एवं दृढ़ निश्चय होता है, अतः वह**

---

*सत्रहवें अध्याय में यज्ञ और तप का स्पष्टीकरण देखिए ।

तत्काल ही धर्मात्मा होता ह, (और वह) स्थायी शांति को प्राप्त होता ह, हे कौतेय! यह अच्छी तरह निश्चय रख कि मेरे भक्त का कभी विनाश नही होता। तात्पय यह कि यदि कोई व्यक्ति बाहरी दष्टि से अथवा ऊपर से देखने म हिंसा आदि पापाचरण अथवा दूसरे निकृष्ट माने जाने वाले कम के कारण दुराचारी भी प्रतीत होता हो, परन्तु उसके अन्तःकरण मे सबके आत्मा=परमात्मा की अनन्यता यानी सबकी एकता का सच्चा एव दढ निश्चय हो ओर वह सबके साथ उपरोक्त प्रेम करने रूपी परमात्मा की भक्ति अनन्य भाव से करता हो तो वास्तव मे वह सज्जन ही ह क्योकि कम अथवा आचरण जड होने क कारण अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नही रखते—वे चेतन कर्ता पर निभर रहते ह, इसलिए उनमे अपना अच्छापन या बुरापन नही होता। आचरणो का अच्छापन या बरापन कर्ता के अन्तःकरण के भाव पर निभर रहता ह, इसलिए उनका यथाथ निणय केवल ऊपरी दिखाव से नही होता किन्तु कर्ता के भाव से होता ह। जो सबकी एकता के निश्चय से अपन कतव्य कम करता ह उसके कम चाहे कितन ही नीच अथवा बुरे प्रतीत हो वास्तव म वे बरे नही होते प्रत्युत श्रेष्ठ और अच्छे होते ह, और उनका करन वाला वास्तव म धर्मात्मा ही होता ह एव उसके अन्तःकरण म सदा शान्ति विराजमान रहती ह। इस तरह सबकी एकता के अनन्य भाव से अपने कतव्य कम करन रूपी परमात्मा की उपासना करन वाला कोई दुराचारी नही होता, न उसकी दुगति ही होती ह यह निश्चित तथ्य ह (३० ३१)। हे पाथ! जो पाप योनि ह अर्थात जो पूव के पापो के कारण तामस स्वभाव वाली (चोर, ठग, डाकू आदि जरायम पेशा) जातियो मे जन्म लेन वाले लोग ह—वे, ओर स्त्रियां, वश्य तथा शूद्र, अर्थात जिनम रजोगुण ओर तमोगुण की प्रधानता होती ह, वे भी, मेरा आश्रय करके अथात उपरोक्त अनन्य भाव से मेरी उपासना करने से परम गति को पाते ह, तो फिर पुण्यवान यानी सदाचारी ब्राह्मणो एव भक्त यानी सबसे प्रेम करने वाले राज ऋषियो (क्षत्रियो) का कहना ही क्या! अर्थात सत्व रज की प्रधानता के कारण जो लोग स्वभाव से ही सदाचारी होते ह, वे उपयुक्त अनन्य भाव से मेरी उपासना करे तो उनके परम पद प्राप्त होने मे सदेह ही क्या हो सकता ह? तू इस अनित्य अर्थात प्रतिक्षण परिवतनशील ओर असुख अर्थात जन्म, मत्यु, जरा व्याधि, आदि क्लेशो से युक्त, इस लोक यानी मनुष्य देह को पाकर (सबके आत्मा—परमात्मा स्वरूप) मेरा (उपरोक्त अनन्य भाव से) भजन कर। तात्पय यह कि २८वें श्लोक में भगवान ने कहा था कि "म" सबका अपना आप, सबका आत्मा—परमात्मा

सबमें एक समान हू मुझे कोई प्रिय अथवा अप्रिय नही है, इस विषय का खुलासा श्लोक ३० से ३३ तक में किया गया है। एक एव सम आत्मा अथवा परमात्मा 'म' रूप से ऊच नीच, छोट-बडे अच्छे-बरे, स्त्री पुरुष आदि सबमें एक समान व्यापक है—उसम किसी प्रकार का भेद नही है। भद केवल भिन्न भिन्न शरीरो के गुण वचित्र्य का होता है, और वह गुण वचित्र्य प्रकृति का काय है, अत उसका प्रभाव शरीर इद्रियो मन बुद्धि आदि तक ही रहता है—आत्मा पर उसका कोई प्रभाव नही होता आत्मा तो सदा सम ही बना रहता है। जिनके बुद्धि और मन शारीरिक भिन्नता के भावो से ऊपर उठ कर सबके एकत्व भाव=आत्मा अथवा परमात्मा की उपासना म लग जाते ह उनके गुण वचि-य से उत्पन्न भेद भाव, आत्मा के एकत्व भाव में शा-त हो जाते ह और वे आत्म स्वरूप हो जाते है। इस आत्म-स्वरूप की प्राप्ति में सबको एक समान अधिकार ह क्योकि आत्मा सबमे एक समान विद्यमान ह यानी सब कुछ आत्मा ही है—चाहे नम-ाग प्र ान चाण्डाल का शरीर हो या सत्वगुण प्रधान ब्राह्मण का, चाहे ग्नाण प्रधा- स्त्री का शरीर हो, या रज सत्व प्रधान क्षत्रिय का, या रज तम प्रधान वश्य या शूद्र का—सब एक ही आत्मा के अनेक रूप होते है। अत जो भी कोई उपयुक्त अन-य भाव की आत्मोपासना म लग जाता है, वही शन शन उन्नति करता हुआ परम गति को पहुच जाता ह अर्थात उसके पथक -यक्तित्व का अथवा शरीर का तुच्छ अहकार मिट जाता ह ओर वह सबके आत्मा=परमात्मा के एकत्व भाव में स्थित हो जाता है। उपयक्त आत्मोपासना के अभ्यास की योग्यता इस मनुष्य देह मे ही ह क्योकि इसम बुद्धि का विशेष विकास होन के कारण आत्मा अथवा परमात्मा के यथाथ स्वरूप के विज्ञान सहित ज्ञान के समझन की योग्यता इसी (मनुष्य शरीर) म ही होती ह पर-तु प्रथम तो मनुष्य शरीर प्राप्त होना बहुत दुलभ है—अनेक योनियो मे चक्कर काटन के बाद यह (मनुष्य शरीर) कठिनता से प्राप्त होता है, और प्राप्त होन पर भी यह अनित्य और असुख ही है, क्योकि ससार के अ-तगत होने से इसकी दशा भी क्षण-क्षण म बदलती रहती ह और यह उत्पत्ति नाशवान भी है, और अज्ञान दशा म नाना प्रकार के कर्मो के परिणाम वरूप बहुत से झझट और विक्षप इसमें लगे हुए रहते ह, जिनसे आत्मज्ञान की तरफ प्रवत्ति होन म बहुत रुकावट होती है। इसलिए भगवान कहते ह कि इस दुलभ, अनित्य और असुख मनष्य शरीर को पाकर सबके एकत्व भाव—सबके आत्मा=परमात्मा की उपरोक्त भक्ति म लग कर नाना प्रकार के दु खो एव ब-धनो से छटकारा पाने का साधन तुर-त ही कर लेना चाहिए, इस काम में विलम्ब नहीं करना चाहिए क्योकि शरीर का एक क्षण का भी भरोसा नही है—न मालूम यह कब छूट जाय, और इसके छूटने के बाद फिर मनुष्य शरीर कब प्राप्त हो, इसका भी कोई ठिकाना नहीं है। यह शरीर सबका एक समान अनित्य और असुख है, इसमें भी नीच

ऊँच, स्त्री-पुरुष का कोई भेद नही ह, इसलिए अपने उपयुक्त कल्याण का साधन करन मे किसी को भी विलम्ब नहीं करना चाहिए। इस भल म कदापि नही रहना चाहिए कि "ससार के नाना प्रकार के झझट और बखेडे मिटा कर फिर उक्त आत्मज्ञान अथवा समत्व योग म लगने का प्रयत्न करेंगे", क्योकि जब तक आत्मज्ञान नही होता, तब तक ये झझट और बखेडे शरीर के साथ ही बने रहते ह—चाहे गहस्थी म रहे या स यासी हो जाय, चाहे घर मे रहे या वन मे चला जाय—आत्मज्ञान के बिना अ य किसी भी उपाय से ये मिट नही सकते। उपयुक्त समत्व-योग के अभ्यास से ही ये शन-शन आप ही-आप शा त हो जाते ह। इसलिए इन झझटो ओर बखेडो के रहते ही इस अभ्यास में लग जाना चाहिए (३२ ३३)। मेरे मन वाला हो अर्थात सब चराचर सष्टि के एकत्व भाव मे चित्त स्थिर कर, मेरा भक्त हो अर्थात सबके आत्मा=परमात्मा स्वरूप मुझको सव यापक समझ कर सबके साथ प्रेम कर मेरा भजन कर, अर्थात सबके आत्मा= परमात्मा-स्वरूप मेरे विराट शरीर रूप जगत के ाग्णा ।—ा मग्र् के लिए—स्वधर्मानुसार (गी० अ० ३ श्लो० ३५) अपन हिस्से के कत य क्म कर, मझ नमस्कार कर, अर्थात चराचर सष्टि को सबके आत्मा=परमात्मा स्वरूप मेरा व्यक्त स्वरूप समझकर सबको नमस्कार कर और सबके साथ विनीत भाव का बर्ताव कर। इस प्रकार अपन को सबके साथ एकता के भाव में जोड कर अर्थात सबके साथ अपनी एकता का अनुभव करता हुआ एव सबके आत्मा=परमात्मा स्वरूप मरे परायण हुआ तू मुझ पर मात्मा में ही मिल जायगा (३४)।

स्पष्टीकरण—सातव अध्याय से आरम्भ होकर जिस विज्ञान सहित ज्ञान का वणन चल रहा ह, अर्थात सबके आत्मा=परमात्मा को अखिल विश्व में एक समान व्यापक समझ कर सबके साथ एकता के प्रम* का यवहार करने रूपी उपासना का विधान किया जा रहा ह उसको इस अध्याय के दूसरे श्लोक मे भगवान न 'राज विद्या, राज गुह्य, पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष प्राप्त धम रूप, सुख साध्य एव अ यय" विशेषण दिय थे, उनमें से "राजगह्य, उत्तम, प्रत्यक्ष प्राप्त धम रूप और अ यय' विशेषणो की व्याख्या श्लोक ४ से २५ तक हो गई। 'राज विद्या पवित्र और सुख सा य" विशेषणो की व्याख्या इन श्लोको में ह। भगवान कहते ह कि मेरी यथाथ उपासना इतनी सुख साध्य ह कि उसको हर कोई मनुष्य (स्त्री पुरुष) किसी भी प्रकार के परिश्रम कष्ट और बाधा के बिना सहज ही कर सकता ह। "म" सबका आत्मा=परमात्मा सवव्यापक एव सब कुछ हूँ इसलिए मेरी उपासना के लिए किसी विशष देश अथवा काल की अपेक्षा नही रहती न किसी प्रकार के आडम्बर करने की ही आवश्यकता ह। मनुष्य (स्त्री पुरुष)

---

* बारहव अध्याय म प्रम क बर्ताव का स्पष्टीकरण देखिए।

किसी भी देश अथवा स्थान म किसी भी काल अथवा अवस्था म, किसी भी प्रकार से मेरा चि तन कर सकते ह क्योकि म सबका अपना आप हू, और आ म चि ना सवत्र, सब दशाओ म हो सकता ह । ससार म जितने पदाथ ह वे सब मेरी (सबके आत्मा=परमात्मा की) कल्पना ह इसलिए मेरी उपासना के लिए किसी भी सामग्री अथवा द्र य के जटाने या भट करा की आवश्यकता नही ह । पदाथ तो शरीरो की आवश्य कताए पूरी करने के लिए होते ह, अत जिसके पास जो पदाथ हो, उन पदार्थो के द्वारा जो प्रीतिपूवक भिन्न भिन्न शरीरो की वास्तविक आवश्यकताए पूरी करता ह वही मेरी पूजा ह । "म' सबका आत्मा होने के कारण सदा एव सवत्र एक समान उपस्थित रहता हू । इसलिए मेरी उपासना के लिए न तो किसी देश विशेष, क्षेत्र विशेष अथवा तीथ विशष म भटकन की आवश्यकता ह और न किसी विशष लोक अथवा विशेष दिशा म मेरा निवास समझ कर उसे महत्व देना ही ठीक ह कि तु घट घट म मेरा निवास जान कर सबके साथ यथायोग्य प्रम करना ही मेरी सच्ची उपासना ह । म किसी विशेष नाम अथवा विशेष रूप ही मे परिमित नही हू, कि तु ससार म जितन नाम ह और जितन रूप ह, वह सब मेरे ह इसलिए किसी विशेष नाम और विशेष रूप ही म आसक्ति रख कर उनके अवलम्बन मात्र ही से मेरी उपासना नहीं होती क्योकि विशष नाम और विशेष रूप, चाहे कितने ही उच्च कोटि के माने जाय पर तु उनम दूसरो से पथकता का भाव होने के कारण वे झूठे होते ह । इसलिए सब नामो और रूपो को सबके आत्मा =परमात्मा स्वरूप मेरा ही खेल समझ कर सबके साथ अपनी एकता के अनभवपूवक सबसे प्रेम करन से ही मेरी उपासना होती ह । मेरी उपासना के लिए न तो किसी सासारिक पदाथ को त्यागने की आवश्यकता ह और न यज्ञ, उत्सव भोग, प्रसाद आदि के समा रोह करने से अथवा शरीर को कष्ट देने वाले व्रत, उपवास आदि नाना प्रकार के तप करन से ही मेरी उपासना होती ह, कि तु मनुष्य (स्त्री पुरुष) जो अपन रात दिन के स्वाभाविक यवहार करते ह, उ ही में सबकी एकता रूप मेरा स्मरण करते रहना ही मेरा वास्तविक यजन पूजन ह । दूसरे श दो में जो शरीर यात्रा के प्रत्यक यवहार म सदा यह स्मरण रखता ह कि सबके एकत्व भाव=परमात्मा ही के प्रसाद से सब-कुछ हो रहा ह, अर्थात सबकी म ा ना ा सहयोग से ही प्रत्येक यवहार सिद्ध होता ह', और जो दूसरो के शारीरिक यवहारो मे सहायता और सहयोग देता रहता ह, वही सच्चा उपासक और भक्त ह । साराश यह कि अखिल विश्व को सबके आत्मा =परमात्मा स्वरूप मेरा ही रूप समझ कर सबके साथ अन य भाव के प्रेम युक्त यथायोग्य समता का व्यवहार करना ही मेरी सच्ची उपासना ह । यह उपासना सभी स्त्री, पुरुष, धनी, गरीब, ऊच, नीच, छोटे, बड सबल निबल, विद्वान, मूख समान रूप से, स्वावलम्बन और स्वत त्रतापूवक अत्यन्त सुगमता से कर सकते ह । किसी भी प्रकार के जाति भेद, कुल

भद वग भेद, सम्प्रदाय भद, देश भेद काल भेद वण भेद, आश्रम भद पद भेद, अवस्था भेद आदि की बाधा बिना सबको इसका एक समान अधिकार ह। दूसरे मजहबी अथवा धार्मिक कमकाण्डो की तरह किसी जाति विशेष सम्प्रदाय विशेष वण विशेष, आश्रम विशेष अथवा पद विशेष का ठका (Licence) इसम नही ह, क्योकि सबके साथ प्रेम करने के लिए किसी भी प्रकार की विशेष योग्यता विशेष शक्ति विशेष ऐश्वय आदि साधनो की अपेक्षा नही रहती ओर न किसी प्रकार की बाधा अथवा रुकावट ही रहती ह। जहा भेद भाव ओर राग द्वेष होते ह वही य अडचने ओर रुकावट होती ह। (परमात्मा की सच्ची उपासना अथवा भक्ति का विस्तत वणन आगे बारहवे अध्याय मे ह उपयक्त स्पष्टीकरण उसी वणन को लक्ष्य करके किया गया ह)।

इस एकत्व भाव की उपासना से अपवित्र मान जान वाले पवित्र हो जाते ह नीच मान जाने वाले उच्च हो जाते ह निबल सबल हो जाते ह निधन सपत्तिशाली हो जाते ह ओर मूख विद्वान हो जाते ह अर्थात जिसम जिस विषय की कमी होती ह वह सब मिट कर शान्ति, पुष्टि ओर तुष्टि रूप परम पद की प्राप्ति सबको एक समान हो जाती ह। इसलिए मनुष्य (स्त्री पुरुष) का एक मात्र कतव्य उपयुक्त अनन्य भाव की उपासना रूप से कथन किया हुआ सबके साथ एकता के प्रम युक्त साम्य भाव का व्यवहार ही ह।

अत्यत लज्जा एव शोक का विषय ह कि वतमान म अधिकाश भारतवासी महा योगश्वर भगवान श्रीकृष्ण के कहे हुए गीता जसे सवलोक हितकर एव सावजनिक—जग मान्य उपदेश की अवहेलना करके उसके सवथा विरुद्ध आचरण करने ही म अपना गौरव समझते ह। भगवान तो कहते ह कि 'म परमात्मा किसी व्यक्ति विशेष म परिमित नही हू, किन्तु सवव्यापक हू एव जगत सब मेरा ही व्यक्त स्वरूप ह अत सबके साथ प्रेम करना ही मेरी भक्ति या उपासना ह", परन्तु भारतवासी उसके विपरीत ईश्वर को सबसे अलग—आसमान म अथवा दूसरे लोको म बठा हुआ एक व्यक्ति मान कर उसे दूर से बुलाते ह, और उससे अपनी नाना प्रकार की व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि करना चाहते ह तथा उसे किसी स्थान विशेष म बन्द करके अपन ताले के भीतर रखना चाहते ह, ओर जगत को उससे भिन्न मान कर एक दूसरे से घणा तिरस्कार और द्वेष करना धम समझते ह। भगवान कहते ह कि "म सबका आत्मा सबके अन्दर ही हू', परन्तु भारतवासी उसके विरुद्ध उसे कहा बफ से लदे हुए पहाडो की चोटियो पर अथवा पवतो की गफाओ में अथवा जगलो एव नदी नालो अथवा समद्रो में अथवा ग्रामो एव नगरो की तग गलियो म तथा मन्दिरो और मठो म ढढते फिरते ह। भगवान कहते ह कि 'ससार म जितन नाम और रूप ह ओर जितन पदाथ ह वे सब मेरी कल्पना ह ओर मेरी उपासना के लिए किसी भोग्य पदाथ की आवश्यकता नही ह" पर तु भारतवासी उसके विरुद्ध विशेष रूपो की मूर्तियाँ बना कर

उन्हीं मे उसे परिमित मान कर उनके सामने विविध प्रकार के भाग प्रमा तथा भोग्य पदार्थो के ढेर के ढेर करके उनका अप यय करते ह, ओर जिन शरीरो को उन पदार्थों की अत्य त आवश्यकता रहती ह उ ह नही देते। भगवान कहते ह कि "मेरी उपासना मे स्त्री, पुरुष, ऊच नीच आदि सबको एक समान अधिकार ह' पर तु भारतवासी उसके विरुद्ध अपने आधे अग—स्त्रियो को, और समाज की नि स्वाथ भाव से सेवा करन वाले कत य परायण अपन भाइयो को हीन वण का मान कर उनको सब अधिकारो से वचित रखना ही परम धम मानते ह। जो वेद, ईश्वरीय ज्ञान माना जाता ह, अथवा ईश्वर प्राप्ति का साधन माना जाता ह, ओर जो श्रीकृष्ण, सव यापक ईश्वर का अवतार माना जाता ह, उसी ईश्वर की स्पष्ट आज्ञा होते हुए भी उसके विरुद्ध ये लोग स्त्रियो और शूद्रो को वेदाध्ययन के अधिकारी नही मानते। यद्यपि भगवान कहते ह कि 'म सब भूत प्राणियो म एक समान ह, जो भक्तिपूवक मुझ भजना (वह मुझ म ह और म उसम ह' पर तु ईश्वर के नाम पर स्थापित म दिरो और देवालयो म उसके सच्चे भक्त हरिजनो (अछूत माने जान वाले भाइयो) को उपासना के लिए जान नही दिया जाता। यद्यपि कहन के लिए तो ईश्वर अपवित्रो को पवित्र करने वाला कहा जाता ह, पर तु उन अछत माने जान वालो के स्पश से ईश्वर के भी अपवित्र हो जान का मिथ्या भ्रम किया जाता ह। अधिक आश्चय की बात तो यह ह कि जिन अछूत माने जाले वाले हरिजनो के पूवज कबीर रदास प्रभति अनक आत्मज्ञानियो न अपने अतुलनीय अध्यात्म ज्ञान से भारतवष को ही नही, कि तु सारे जगत को चकित कर दिया था, और जिनने निडर होकर इन मजहबी और साम्प्रदायिक अ धविश्वासो की जोरदार श दो म नि दा की थी, उ ही के ।।गों –।।ग।। हरिजन लोग—साम्प्रदायिक अ धविश्वासो के इतने पीछे पडे ाग कि ि। मन्दिर ा ाया मे ईश्वरोपासना की इतनी विडम्बना हो रही ह, उ ही म जाने से वे अपना कल्याण समझते ह, और एक सम्प्रदाय के हठधर्मी लोगो के अत्याचारो से पीडित तथा तिरस्कृत होकर दूसरे किसी सम्प्रदाय के हठधर्मियो के चगल में फसना अपने लिए हितकर समझते ह। मजहब धम अथवा सम्प्रदाय ऊपर से देखने में चाहे कितने ही सुहावने और लाभकारी क्या न प्रतात हा वास्तव मे वे एक दूसरे से अधिक ब धनो में बाधने वाले, अ धविश्वासो में जकडन वाले, बलात दुराचारो मे प्रवत्त कराने वाले आत्म सम्मान और स्वावलबन के विरोधी एव आ मिक पतन के प्रधान कारण होते ह। कोई भी मजहब और सम्प्रदाय मनष्य का मनष्यत्व नही रहने देता। एक बार किसी मजहब के घेरे मे फसने के बाद उससे निकलना अत्यन्त ही कठिन हो जाता ह, और मजहबी घेरे से निकले बिना मनुष्य को किसी प्रकार की स्वत त्रता प्राप्त नही होती। यह दशन शास्त्रो ही की महिमा ह कि वे मनुष्य की साम्प्रदायिक अथवा मजहबी बेडिया तोड कर स्वतत्र विचार करन का अवसर देते ह, और यह वेदा त दशन का ही अनपम साहस ह कि वह खले आम कहता ह कि "ईश्वर,

परमात्मा अथवा आत्मा जो कुछ ह, वह "तू" ही ह । जो "तू" एक शरीर मे ह, वही "तू" सब शरीरो म ह—"तेरे" सिवाय और कुछ नही ह (छान्दोग्य उप० प्रपा० ६)। यह जगत सब "तेरा" ही खेल ह । 'तू" अपने वास्तविक आपको छोड कर और किस की तलाश करता ह ? यदि सुख की तलाश करता ह तो सुख स्वरूप 'तू ह । यदि ज्ञान की तलाश करता ह तो ज्ञान स्वरूप 'तू ' ह । यदि धन चाहता ह तो अखूट सम्पत्ति रूप "तू" ह और यदि बल वभव की तलाश करता ह तो बल वभव रूप स्वय तू ' ह । अपने आप, अपनी असलियत अपने वास्तविक स्वरूप को समझ ओर निभय, स्वतत्र अथवा मक्त हो' । यही विज्ञान-सहित ज्ञान अथवा ब्रह्म विद्या अथवा समत्व योग भगवान ने गीता म सबके लिए समान भाव से कहा ह । अन्य किसी भी धम, मजहब अथवा सम्प्रदाय वालो को इस प्रकार के सव श्रेष्ठ एव अटल [illegible] साम्य भाव का राज ढिढोरा पीटन की हिम्मत नही ।

॥ नवा अध्याय समाप्त ॥

दसवाँ अध्याय

इस ८सव अध्याय म भगवान अपनी पूवकथित सवरूपता के विज्ञान सहित ज्ञान का सिलसिला चाल रखते हुए अजन के प्राथना करन पर अपनी प्रधान प्रधान विभूतियो यानी आत्मा अथवा परमात्मा की विशष रूप से अभि-यक्ति के स्थलो का सक्षिप्त वणन करके आत्मा अथवा परमात्मा के प्रत्यक्ष अस्तित्व और उसकी सव-यापकत की पुष्टि करते ह ।

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाब हो शृणु मे परम वच ।
यत्तेऽह प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ।। १ ।।
न मे विदु सुरगणा प्रभव न महषय ।
अहमादिर्हि दवाना महर्षीणा च सवश ।। २ ।।
यो [illegible] च वेत्ति लोकमहेश्वरम ।
असमूढ स मर्त्येषु सवपाप पमुच्यते ।। ३ ।।
[illegible] क्षमा सत्य दम शम ।
सुख दु ख भवोऽभावो भय चाभयमेव च ।। ४ ।।
अहिसा समता तुष्टिस्तपो दान यशोऽयश ।
भवति [illegible] मत्त एव पथग्विधा ।। ५ ।।
महषय सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषा लोक इमा प्रजा ।। ६ ।।
एता विभूति योग च मम यो वेत्ति तत्त्वत ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र सशय ।। ७ ।।
अह सवस्य प्रभवो मत्त सव प्रवतते ।
इति मत्वा भजन्ते मा बुधा भावसमन्विता ।। ८ ।।
मच्चित्ता मदगतप्राणा बोधय त परस्परम ।
कथय तश्च मा नित्य तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।९ ।।

तेषा गा न भजता प्र ि् क म ।
ददामि बुद्धियेग त येन मा ु प ा ि त ते ॥ १० ॥
। । ु तम ।
ा ग्र, भा ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

अजुन उवाच

पर ब्रह्म पर धाम पवित्र परम भवान ।
पुरुष शाश्वत दिव्यमादिदेवमज विभुम ॥ १२ ॥
ाहुस्त्वामृषय सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यास स्वय चव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥
सर्वमेतदृत मन्ये यन्मा वदसि केशव ।
न हि ते भगव व्यक्ति विदुर्देवा न दानवा ॥ १४ ॥
स्वयमेवात्मनात्मान वेत्थ त्व पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥
वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतय ।
या ि र ि ि ि ा ि मार । व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥
कथ विद्यामह योगिस्त्वा सदा परिचि तयन ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥
विस्तरे ा मन। योग विभूति च जनादन ।
भूय कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमतम ॥ १८ ॥

अथ—श्री भगवान बोले कि हे महाबाहो ! (मेरे उपदेशो म) तेरी प्रीति होन के कारण, म तेरे हित के लिए, फिर भी जो ा । ा । ा । ा सो सुन। तात्पय यह कि जो किसी उपदेश में प्रेम रखता ह उसी को हितकारक उपदेश बार बार दिया जा सकता ह (१)। मेरे प्रभव अर्थात उत्पत्ति अथवा प्रभाव यानी महिमा का न तो देवता लोग जानते ह और न महर्षि गण ही क्योकि म देवताओ और महर्षियो का भी सब प्रकार से आदि (कारण) हू। तात्पय यह कि पिण्ड की दष्टि से प्रत्येक शरीर म रहने वाली देखन सुनने सघन स्वाद लेन स्पश करने सकल्प करने एव विचारन आदि की सूक्ष्म शक्तिया, और आख नाक कान जीभ, त्वचा आदि ज्ञानद्रिया और ब्रह्माण्ड की दष्टि से इन सबके समष्टि भाव—जिनकी क्रमश देवता और महर्षि सज्ञा ह वे सब आदि वाले ह, अर्थात वे सबके आत्मा=परमात्मा स्वरूप मेरे सकल्प से उत्पन्न होते ह अत वे आत्मा अथवा

परमात्मा-स्वरूप मेरी उत्पत्ति और महिमा को नही जान सकते (२)। जो मुझ (आत्मा अथवा परमात्मा) को अज अर्थात जन्म से रहित अनादि अर्थात आरम्भ से रहित और सब लोको का महान ईश्वर जानता ह वह ज्ञानी मनष्य इस ससार में सब पापो से मुक्त हो जाता ह। तात्पय यह कि पिण्ड की दष्टि से आत्मा को अजन्मा अनादि और देह, इन्द्रियो, मन बद्धि आदि सारे सघात का स्वामी और ब्रह्माण्ड की दष्टि से परमात्मा को अजन्मा, अनादि और सब लोको का महान ईश्वर जानने से अज्ञान जन्य सब पापो से छटकारा अवश्य हो जाता ह (३)। बुद्धि अर्थात भिन्ना भिन्न ज्ञान अर्थात सत असत का विवेक, असमोह अर्थात कृत्याकृत्य के विषय मे विमूढ न होना, क्षमा अर्थात सहनशीलता सत्य अर्थात सचाई दम अर्थात इन्द्रियो का निग्रह शम अर्थात मन का सयम सुख अर्थात अनुकूल वेदना दुख अर्थात प्रतिकूल वेदना भव अर्थात होना और अभव अर्थात न होना, भय अर्थात डर ओर अभय अर्थात निडरता अहिसा अर्थात किसी को किसी प्रकार की पीडा न देना समता अर्थात अनकूलता एव प्रतिकूलता में एक समान रहना, तुष्टि अर्थात तप्ति, तप अर्थात आग सत्रहव अध्याय म वर्णित तीन प्रकार का शिष्टाचार दान अर्थात द्रव्य का देना यश अर्थात कीर्ति अयश अर्थात निन्दा इत्यादि प्राणियो के भिन्न भिन्न प्रकार के भाव मझ आत्मा अथवा परमात्मा से ही होते ह। तात्पय यह कि प्राणियो के अन्त करण के जो बीस प्रकार के भाव इन दो श्लोको म गिनाय ह, और इनके अतिरिक्त काम, क्रोध, हष शोक राग द्वष भूख प्यास आदि और भी अनक प्रकार के जो भाव होते ह वे सब आत्मा अथवा परमात्मा की चेतन शक्ति से होते ह—जहा आत्मा की विशेष चेतना यानी विशेष अभिव्यक्ति होती ह वही ये भाव होते ह (४ ५)। पूव के सात महर्षि और चार मनु मेरे सकल्प से उत्पन्न होन वाले भाव ह जिनसे जगत म यह प्रजा हुई ह। तात्पय यह कि पिण्ड की दष्टि से व्यष्टि आत्मा के सकल्प से पहले पहल दो कान, दो आख, दो नाक और एक जिह्वा—इन सात ज्ञानेन्द्रियो के सूक्ष्म भाव और मन, बुद्धि, चित्त एव अहकार के समूह अन्त करण चतुष्टय उत्पन्न होते ह फिर इनसे शरीर के सब अवयव होते ह, और ब्रह्माण्ड की दष्टि से सबके आत्मा=परमात्मा के सकल्प से उपरोक्त सात ज्ञानेन्द्रियो के समष्टि भाव =सप्त महर्षि (बहदा० उ० अ० २ ब्रा० २ म ३ ४), और अन्त करण चतुष्टय क समष्टि भाव चार मनु सष्टि के आदि म पहले पहल उत्पन्न होते ह, और फिर इनसे सारी सष्टि होती ह। व्यष्टि रूप से जो व्यवस्था पिण्ड की ह, समष्टि रूप से उसी तरह की व्यवस्था ब्रह्माण्ड की ह (६)। मेरी इस विभूति और योग के रहस्य को, अर्थात एक से अनेक भाव होन के अदभत कौशल को जो तत्त्व से जानता ह, वह अविचल समत्व-योग से युक्त हो जाता ह इसमे सदेह नही ह। तात्पय यह कि सबका आत्मा=परमात्मा स्वरूप "म" जिस तरह एक से अनेक भावो में व्यक्त होता हू उस "एक में अनेक और अनेको में एक" के रहस्य को जो तात्त्विक विचारपूवक अच्छी तरह समझ लेता ह, वही पक्का समत्वयोगी

एव कर्मेन्द्रियो के व्यापारो से नही होता, किन्तु अपने आप ही होता है। सुषुप्ति अवस्था मे जब मन, बुद्धि और इन्द्रियो के सारे व्यापार बन्द होते है तब भी 'मै हूँ' यह अनुभव बना रहता है। अत आत्मा केवल अपने अनुभव का विषय है अर्थात स्वय सवेद्य है (१२ १५)। आप ही कृपा करके अपनी सारी दिव्य विभूतियो अर्थात चमत्कारिक विशेष भावो का वर्णन करिए जिन विभूतियो से आप इन लोको मे व्याप्त होकर स्थित हो। हे योगिन! मै सदा किस प्रकार से चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ? हे भगवान! मै आपका किन किन भावो (अथवा पदार्थो) मे चिन्तन करूँ? हे जनार्दन! आप अपने योग और विभूति को अर्थात एक से अनेक चमत्कारिक भाव होने के अद्भुत कौशल को फिर से विस्तारपूर्वक कहिए क्योकि इस अमृत (रूप भाषण) को सुनते हुए मुझे तृप्ति नही होती (१६ १८)।

स्पष्टीकरण—उपासना के प्रकरण मे भगवान ने अपनी सर्वरूपता का वर्णन करते हुए अनेक स्थलो पर यह कहा कि 'मै सूक्ष्म एव अव्यक्त भाव से सर्वत्र व्याप रहा हूँ पर मुझे तत्त्वत जानना अत्यन्त कठिन है' और इस अध्याय के आरभ मे भी कहा है कि 'मेरे प्रभाव को महर्षि और देवता गण भी नही जानते'। इस पर अर्जुन ने भगवान की स्तुति करके निवेदन किया कि आपके अव्यक्त भाव को और अव्यक्त से व्यक्त होने के रहस्य को जानना इतना कठिन है कि स्वय आपके सिवाय दूसरा कोई जान ही नही सकता तो आप (सबके आत्मा=परमात्मा) के अस्तित्व का निश्चय ही कैसे हो? आप कहते हो कि मै सब इन्द्रियगोचर पदार्थो तथा मानसिक भावो मे समान भाव से व्याप रहा हूँ, परन्तु उन व्यक्त पदार्थो और भावो मे रहने वाले आपके अव्यक्त एव सम भाव को पहिचान कर आप (आत्मा अथवा परमात्मा) के अस्तित्व का पता ही कैसे लगाया जाय? प्रत्येक व्यक्ति अथवा पदार्थ के अस्तित्व का निश्चय उसकी विशेषता से होता है परन्तु आपने तो अपने उपर्युक्त वर्णन मे सर्वत्र अपनी समता का ही पाठ पढाया है, कोई विशेषता नही बताई। अत '(सबके आत्मास्वरूप) आप अव्यक्त भाव से सारे विश्व मे व्याप रहे हो, और यह जगत आप ही का व्यक्त स्वरूप है'—इस उपदेश को मन पूरी तरह ग्रहण नही कर सकता। आप बार बार कहते हो कि जो श्रद्धापूर्वक मुझे भजता है वह मुझे जान सकता है, सो श्रद्धा भी वही होती है जहा कोई विशेष चमत्कार अथवा असाधारण एव अद्भुत बनाव देखने मे आता है, जहा कोई विशेषता नही होती—सर्वत्र समानता होती है—वहाँ श्रद्धा भी नही होती। इसलिए आप कृपा करके अपनी विशेषताओ को बताइए अर्थात अपने उन भिन्न भिन्न एव चित्त को चौकाने वाले विशेष चमत्कारिक भावो और रूपो का वर्णन कीजिए जिनमे सबके आत्मा स्वरूप आपकी विशेष रूप से अभिव्यक्ति होती हो और जिनके चिन्तन से आप (आत्मा अथवा परमात्मा) का अस्तित्व चित्त पर विशेष रूप से अकित हो सके। यद्यपि सातवे अध्याय के ८ से ११ तक के चार श्लोको मे जल आदि स्थूल पदार्थो मे उनके सूक्ष्म सार रूप से आप (आत्मा) का अस्तित्व आपने बताया है, और नवें

अध्याय के १६वें से १९वें तक के श्लोकों में "मैं क्रतु हूँ, मैं यज्ञ हूँ" आदि वर्णनों से आपने सब पदार्थों में अपना सर्वात्म भाव कहा है और इस अध्याय में 'बुद्धि, ज्ञान आदि सूक्ष्म भाव मुझसे ही होते हैं' कह कर सूक्ष्म रूप से अपना (आत्मा अथवा परमात्मा का) अस्तित्व प्रतिपादन किया है परन्तु यह सब, आपके अत्यन्त सूक्ष्म [illegible] एवं सामान्य भाव का वर्णन होने के कारण आपकी सर्वत्र अवस्थिति अर्थात् सब जगत् आपके अस्तित्व का स्पष्ट ज्ञान और दृढ निश्चय कराने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसलिए आप अपने उन चमत्कारिक एवं आश्चर्यजनक विशेष भावों का वर्णन करने की कृपा कीजिए जिनमें आपका अस्तित्व विशेष रूप से अभिव्यक्त अथवा विकसित हुआ प्रतीत होता हो और जिनके अवलम्बन से आपका चिन्तन करके आपको जानना सुगम हो जाय। अर्जुन की इस प्रार्थना पर भगवान् विशेष आत्म विकास वाली मुख्य मुख्य विभूतियों का वर्णन आगे करते हैं। परन्तु उन विभूतियों के वर्णन के साथ ही यह बात स्पष्ट कर देते हैं कि आत्मा अथवा परमात्मा स्वरूप 'मैं' किसी विभूति में परिमित नहीं हूँ किन्तु सर्वत्र एक समान हूँ तथा सबसे परे भी हूँ, और इन विभूतियों में मेरे एक अंश मात्र का विशेष रूप से प्रदर्शन होता है। जिस तरह सूर्य का प्रकाश सर्वत्र एक समान होता है, परन्तु काँच आदि चमकदार पदार्थों में प्रतिबिम्बित होकर उसकी [illegible] उसी तरह 'मैं' सबका आत्मा सर्वत्र एक समान हूँ परन्तु विशेष विभूतियों में विशेष रूप से प्रदर्शित होता हूँ। विभूतियों का जो वर्णन आगे श्लोक १९ से ४२ तक में किया गया है उससे यह नहीं समझना चाहिए कि उस समय इन सबका प्रत्यक्ष भौतिक अस्तित्व था किन्तु संसार के जिस बनाव में किसी प्रकार की चमत्कारिक, आश्चर्यजनक विशेषता की लोगों में उस समय मान्यता थी अथवा शास्त्रों, इतिहासों तथा काव्यों आदि में उनके रचने वालों ने कल्पना की थी, उनका समावेश इन विभूतियों में किया गया है। सृष्टि सारी कल्पनामय है। अतः इसमें किसी प्रकार की चमत्कारिक आश्चर्यजनक विशेषता के बनावों की जो कल्पना की जावे वह सबके आत्मा=परमात्मा की विशेष अभिव्यक्ति समझना चाहिए।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या [illegible] ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥
आदित्यानामहं [illegible] रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

वेदाना सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासव ।
इन्द्रियाणा मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥
रुद्राणा शकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम ।
वसूना पावकश्चास्मि मेरु शिखरिणामहम ॥ २३ ॥
पुरोधसा च मुख्य मा विद्धि पाथ बहस्पतिम ।
सेनानीनामह स्कन्द सरसामस्मि सागर ॥ २४ ॥
महर्षीणा भगुरह गिरामस्म्येकमक्षरम ।
यज्ञाना जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणा हिमालय ॥ २५ ॥
अश्वत्थ सववक्षाणा देवर्षीणा च नारद ।
गन्धर्वाणा चित्ररथ सिद्धाना कपिलो मुनि ॥ २६ ॥
उच्च श्रवसमश्वाना विद्धि माममतोद्भवम ।
ऐरावत गजन्द्राणा नराणा च नराधिपम ॥ २७ ॥
आयुधानामह वज्र धेनूनामस्मि कामधुक ।
प्रजनश्चास्मि कन्दप सर्पाणामस्मि वासुकि ॥ २८ ॥
अनन्तश्चास्मि नागाना वरुणो यादसामहम ।
पित णामयमा चास्मि यम सयमतामहम ॥ २९ ॥
प्रह्लादश्चास्मि दत्याना काल कलयतामहम ।
मगाणा च मगे द्रोऽह वनतेयश्च पक्षिणाम ॥ ३० ॥
पवन पवतामस्मि राम शस्त्रभतामहम ।
झषाणा मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्य चवाहमजुन ।
अध्यात्मविद्या विद्याना वाद प्रवदतामहम ॥ ३२ ॥
ा ानामना ा िम द्वन्द्व सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षय कालो धाताऽह विश्वतोमुख ॥ ३३ ॥
मत्यु सवहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम ।
कीर्ति श्रीर्वाक्च नारीणा स्मतिर्मेधा धति क्षमा ॥ ३४ ॥
बहत्साम तथा साम्ना गायत्री छ दसामहम ।
मासाना मागशीर्षोऽहमतूना कुसुमाकर ॥ ३५ ॥

द्यूत छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्व सत्त्ववतामहम ॥ ३६ ॥
वष्णीना वासुदेवोऽस्मि पाण्डवाना धनजय ।
मुनीनामप्यह व्यास कवीनामुशना कवि ॥ ३७ ॥
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम ।
मौन चवास्मि गुह्याना ज्ञान ज्ञानवतामहम ॥ ३८ ॥
यच्चापि सवभूताना बीज तदहमजुन ।
न तदस्ति बिना यत्स्यान्मया भूत चराचरम ॥ ३९ ॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्याना विभूतीना परतप ।
एष तूद्देशत प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्व श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्व मम तेजोऽशसभवम ॥ ४१ ॥
अथवा बहुनतेन कि ज्ञातेन तवाजुन ।
विष्टभ्याहमिद कृत्स्नमेकाशेन स्थितो जगत ॥ ४२ ॥

अथ—श्री भगवान बोले कि बहुत अच्छा, हे कुरुश्रेष्ठ ! म तुझे अपनी मुख्य मख्य दिव्य अर्थात चमत्कारिक विभूतिया कहूगा, क्योकि मेरी विभूतियो का कोई पार नहीं ह । हे गुडाकेश ! म आत्मा सब भत प्राणिया के हृदय (अन्त करण) म रहता हूँ, म ही भूत प्राणिया का आदि, मध्य और अन्त भी हू । तात्पय यह कि यद्यपि भूत प्राणियो की उत्पत्ति, स्थिति, लय आदि सब कुछ मझ"=आत्मा ही म ह यानी "म" आत्मा ही सब कुछ हू, परन्तु आत्मा स्वरूप मेरी विशष रूप से अभिव्यक्ति सबके हृदय में होती ह । हृदय ही सब प्राणियो की जीवन शक्ति का केन्द्र होता ह (१९ २०) । आदित्यो में विष्णु म हू, प्रकाशवाना म किरणो वाला सूय, मरुतो म मरीचि हूँ, (और) नक्षत्रो में चन्द्रमा म हू (२१) । वेदो में सामवेद हूँ देवताओ में इन्द्र हू, इन्द्रियो में मन हूँ और भूत प्राणियो मे चेतना हू (२२) । रुद्रो में शकर हू, यक्ष राक्षसा म कुबेर हू, वसुओ में अग्नि हूँ और शिखरवालो (पवतो) में सुमेरु म हू (२३) । हे पाथ ! पुरोहितो मे मख्य बहस्पति मझे जान, सेनापतियो में स्कद (स्वामी कार्तिकेय) म हू जलाशयो म समुद्र हू (२४) । महर्षियो मे भग म हू, वाणी अर्थात शब्दो म एक अक्षर (ओकार) हूँ यज्ञो में जप यज्ञ हू स्थावरो (स्थिर रहने वालो) म हिमालय हू (२५) । सब वक्षो म पीपल, देवर्षियो म नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ, सिद्धो म कपिल मुनि हू (२६) । घोडो में समुद्र से उत्पन्न हुआ उच्च श्रवा गजन्द्र—हाथियो में ऐरावत और मनुष्यो में राजा मझे जान

(२७)। अस्त्र-शस्त्रों में वज्र मैं हूँ गौओं में कामधेनु हूँ, और प्रजा उत्पन्न करने वाला काम हूँ, एवं सर्पों में वासुकि हूँ (२८)। नागों में शेषनाग हूँ जलचरों में वरुण मैं हूँ पितरों में अर्यमा हूँ और नियमन करने वालों में यम मैं हूँ (२९)। दैत्यों में प्रह्लाद हूँ गणना करने वालों में काल (समय) मैं हूँ पशुओं में सिंह मैं हूँ और पक्षियों में गरुड़ हूँ (३०)। वेगवानों में वायु हूँ शस्त्रधारियों में रामचन्द्र मैं हूँ मत्स्यों में मगर हूँ और नदी नालों में गंगा हूँ (३१)। हे अर्जुन! सृष्टियों का आदि अन्त और मध्य भी मैं ही हूँ विद्याओं में अध्यात्म विद्या और वाद करने वालों का वाद मैं हूँ (३२)। अक्षरों में अकार हूँ और समास समूह में द्वन्द्व (समास) हूँ मैं ही अक्षय काल हूँ और सर्वतोमुख धाता अर्थात सारे विश्व का धारण करने वाला मैं हूँ (३३)। सबका संहार करने वाली मृत्यु भी मैं हूँ, और भविष्य में होने वालों का उत्पत्ति स्थान हूँ स्त्रियों में कीर्ति (प्रख्याति), श्री (शोभा) वाक् (वाणी) स्मृति (स्मरण शक्ति), मेधा (बुद्धि) धृति (धैर्य) और क्षमा (सहनशीलता) हूँ (३४)। सामवेद के मन्त्रों में बृहत्साम, और छन्दों में गायत्री मैं हूँ महीनों में मार्गसिर ऋतुओं में वसन्त मैं हूँ (३५)। छल करने वालों में जुआ हूँ तेजस्वियों का तेज मैं हूँ जय हूँ व्यवसाय हूँ (और) सत्त्ववानों का सत्त्व मैं हूँ (३६)। वृष्णियों में वासुदेव (कृष्ण) हूँ पाण्डवों में धनंजय (अर्जुन) हूँ मुनियों में व्यास भी मैं हूँ और कवियों में शुक्राचार्य कवि हूँ (३७)। दमन करने वालों का दण्ड हूँ जय की इच्छा करने वालों की नीति हूँ और गुप्त रखने वालों में मौन और ज्ञानियों का ज्ञान मैं हूँ (३८)। और हे अर्जुन! सब भूतों का जो बीज है वह भी मैं ही हूँ ऐसा कोई चर अचर भूत प्राणी नहीं है जो मेरे बिना हो अर्थात मैं ही जगतरूप होकर स्थित हूँ, मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है (३९)। हे परन्तप! मेरी दिव्य विभूतियों का (कोई) अन्त नहीं है यह विभूतियों का वर्णन तो मैंने नाम मात्र के लिए (नमूने के तौर पर) कहा है (४०)। जो जो सत्त्व अर्थात जो जो व्यक्ति पदार्थ अथवा वस्तु विशेष विभूति सम्पन्न अर्थात विशेष गुण, अथवा विशेष कला, अथवा विशेष योग्यता से सम्पन्न हो अथवा सम्पत्ति प्रतिष्ठा कान्ति सुन्दरता, शोभा एवं शुभ लक्षणों से युक्त—विशेष रूप से चित्ताकर्षक हो, अथवा विशेष शक्ति, तेज ओज, प्रतिभा, प्रभाव, साहस महत्ता, उच्चता, उदारता, गंभीरता आदि से युक्त—विशेष सम्माननीय एवं प्रख्यात हो उस उसको तू मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न हुआ समझ अर्थात उसमें आत्मा का विशेष रूप से विकास जान (४१)। और हे अर्जुन! तुझे इस बहुत से (विस्तार) को जान कर क्या करना है? (तू यही समझ कि) मैं इस सम्पूर्ण जगत को (अपने) एक अंश से व्याप्त करके स्थित हूँ अर्थात मुझमें जो अनन्त ब्रह्माण्डों का दृश्य बनता और लय होता रहता है उन सबमें से यह भी एक छोटा-सा जगत है (४२) ३८वें श्लोक तक भगवान ने थोड़ी सी विभूतियों का वर्णन करके उसके उपसंहार में ३९ वें से ४२ वें श्लोक तक विशेष रूप से

यह स्पष्ट कर दिया है कि विभूतियो के अधिक वर्णन से कोई लाभ नही है, क्योकि समुद्र की लहरो की तरह कल्पित नाम रूपात्मक इन विभूतियो का कोई अन्त नही आता। विभूतिया अनन्त सख्या मे उपजती और मिटती रहती है। मनुष्य यदि इन्ही को पूर्णतया जानने और इनका अन्त लेने का प्रयत्न करे, अथवा इनकी उपासना और इनके स्मरण मे ही लगा रहे तो कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता—इनसे उसका कल्याण नही होता अर्थात शान्ति पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति नही होती (छान्दोग्य उप० प्रपा० ७)। वास्तव मे जो इन विभूतियो का मूल कारण इनका आधार एव इनकी सत्ता स्वरूप आत्मा अथवा परमात्मा है जिसमे अनन्त ब्रह्माण्डो के बनाव हो होकर लय होते रहते है और जिसके किसी एक अश मे इस जगत का अस्तित्व प्रतीत हो रहा है उसी को जानना चाहिए—जिस एक को जानने से सब कुछ जाना जाता है (छान्दोग्य उपनि० प्रपा० ६ खण्ड १ मन्त्र ३ से ६)। यदि उसे नही जाना तो विभूतियो का जानना निष्फल है। अस्तु यह समझना चाहिए कि जगत के इस बनाव मे जो जो विशेष चमत्कारी एव प्रभावोत्पादक भाव दृष्टिगोचर होते रहते है उनमे आत्मा अथवा परमात्मा का विशेष रूप से प्रदर्शन होता है अर्थात वे भाव उसके अस्तित्व के विशेष रूप से द्योतक है—विभूति वर्णन का असली तात्पर्य यही है (३९ से ४२)।

स्पष्टीकरण—सबका ॥ म ॥ । । सकल जगत मे परिपूर्ण है अथवा अखिल विश्व आत्मा अथवा परमात्मा मय है अथवा परमात्मा ही विश्वरूप होकर स्थित है अथवा परमात्मा सर्वत्र एक समान व्याप्त है—इत्यादि सामान्य वाक्यो पर यद्यपि बहुत ही सूक्ष्म और गभीर विचार करने से आत्मा अथवा परमात्मा के अस्तित्व का बोध हो सकता है परन्तु साधारणतया इस तरह के सूक्ष्म विषयो मे मन का ठहरना अत्यन्त ही कठिन होता है। नाना भावो, नाना रूपो एव नाना नामो का साधारण प्रवाह रूप जगत जो प्रत्यक्ष इन्द्रिय गोचर हो रहा है उसी को मन की वृत्ति विषय बनाती है। उस इन्द्रिय गोचर साधारण प्रवाह के अन्दर आत्मा अथवा परमात्मा के सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहने के रहस्य को मन की वृत्ति तब तक ग्रहण नही कर सकती जब तक कि उस पर किसी ऐसी विशेषता का प्रभाव न पडे कि जिसका कोई दृष्ट कारण समझ मे न आ सके। यदि श्रद्धा विश्वास करके आत्मा अथवा परमात्मा को मानने का प्रयत्न किया जाय तो भी यह निश्चय चिरस्थायी नही रह सकता। श्रद्धापूर्वक प्राप्त की हुई यह भावना, कि जगत के अन्दर आत्मा अथवा परमात्मा सर्वत्र समान रूप से स्थित है, थोडी देर तक ठहर कर फिर लुप्त हो जाती है, और मन जगत के इन्द्रिय गोचर स्थूल प्रवाह ही मे लगा रहता है—आत्मा अथवा परमात्मा के अस्तित्व का निरन्तर ध्यान नही रहता। जिन लोगो के अन्त करण मे श्रद्धा नही होती, उनके मन पर तो आत्मा अथवा परमात्मा के समान रूप से सर्वव्यापक होने के व्याख्यानो का कोई प्रभाव ही नही पडता। जब तक सम नता के अन्दर

किसी प्रकार की विशेषता का प्रभाव मन पर अंकित नही हो जाता—जिस विशेषता का कोई दृष्ट कारण समझ मे न आ सके, तब तक वह किसी अदृष्ट अथवा अचिन्त्य शक्ति के मानने को तयार नही होता। जगत का साधारण प्रवाह तो सदा स्वाभाविक रूप से चल ही रहा ह इसमे आत्मा अथवा परमात्मा के अदृष्ट अस्तित्व का प्रभाव मन पर जमने के लिए कोई विशेष कारण होना चाहिए। ससार मे अगणित व्यक्ति और अगणित पदार्थ होते ह परन्तु जब तक किसी व्यक्ति अथवा पदार्थ की किसी प्रकार की विशेषता मन पर अंकित नही होती, तब तक उसका कोई प्रभाव नहीं पडता। अपना प्रभाव जमाने के लिए किसी न किसी प्रकार की विशेषता प्रदर्शित करने की आवश्यकता सबको रहती ह। मन का यह स्वभाव ह कि वह विशेषता की ओर अधिक आकर्षित होता ह और उसी से प्रभावित होता ह और किसी व्यक्ति या पदार्थ म कोई विशेष चमत्कार अथवा आश्चर्य देखने पर अथवा कोई एसी चमत्कारी अथवा आश्चर्यजनक एव अदभुत घटना होने पर कि जिसके कारण का पता लगान मे वह असमर्थ होता ह, उस विषय मे उसकी श्रद्धा भी हो जाती ह। सामान्यता से न श्रद्धा उत्पन्न होती ह और न उसका कोई प्रभाव ही पडता ह।

इसी आशय की अर्जुन की प्रार्थना पर भगवान ने यहा पर अपनी यानी सबके आत्मा—परमात्मा की विशेष चमत्कारी युक्त आश्चर्यजनक विभूतियो का वर्णन करके यह बताया ह कि जगत के साधारण (सामान्य) प्रवाह म जो असाधारण विशेषताएँ ह, उनम आत्मा अथवा परमात्मा का विशेष रूप से प्रदर्शन होता ह क्योकि चेतन आत्मा के बिना जड जगत के स्वाभाविक प्रवाह म ये विशेषताए उत्पन्न नही हो सकती किन्तु जिस तरह टकसाल की मशीन म से एक सा सिक्का का प्रवाह निकलता ह उसी तरह सृष्टि के भिन्न भिन्न पदार्था का प्रवाह एक सा चलता रहता। अस्तु ये विशेषताए आत्मा अथवा परमात्मा के अस्तित्व की पुष्टि करती ह। इस वर्णन के आरभ म सबसे पहले भगवान न यह कहा ह कि "म सबका आत्मा, प्राणी मात्र के अन्त करण अथवा हृदय म स्थित हू।' यद्यपि आत्मा प्रत्येक देहधारी के अग प्रत्यग अथवा रोम रोम मे व्यापक ह, परन्तु हृदय म उसका विशेष चमत्कार व्यक्त होता ह। हृदय ही सब प्रेरणाओ, चेष्टाओ, वेदनाओ एव शक्तियो अर्थात जीवन का केन्द्र ह। वर्तमान के बिजली घरो की तरह यह हृदय सारे शरीर का बिजली घर (Power House) ह। शरीर का चाहे कोई अग चेतनाशून्य हो जाय, परन्तु जब तक हृदय म चेतना रहती ह तब तक शरीर का जीवन बना रहता ह। इन [illegible] कारण सबसे पहले प्राणी मात्र के हृदय से ही विभूतियो के वर्णन का आरम्भ किया गया ह, और इस विभूति वर्णन को केवल उत्तम, श्रेष्ठ अथवा पवित्र मान जाने वाले व्यक्तियो और पदार्थों तक ही परिमित नही रखा ह, किन्तु जिस जिस व्यक्ति अथवा पदार्थ म कोई विशेष गुण, विशेष चमत्कार अथवा अन्य किसी प्रकार की विशेषता हो, वह सब आत्मा अथवा परमात्मा की विशेष विभूति बताई गई

है। नना ा न गा । टा न म, मनुष्यो के साथ टा प ाआ म, चेतन पदार्थों के साथ ही जड पदार्थों मे, पुरुषो के साथ ही स्त्रियो मे एव सात्विक पदार्थों के साथ ही राजस तामस पदार्थों में भी आत्मा अथवा परमात्मा की विशेष अभि यक्ति रूप विभूति गिनाई ह । यहा तक कि जुए जसे अत्यन्त निकृष्ट छल कौशल को सप, सिह एव मगर आदि क्रूर जन्तुओ को पीडा देन वाले दण्ड को और सबका सहार करने वाली मत्यु को भी भगवान ने अपनी विशष विभूतियो मे गिनाया ह । अभिप्राय यह कि आत्मा अथवा परमात्मा तो सबम एक समान यापक ह किन्तु जिस वस्तु मे जिस विषय की प्रभावोत्पादक विशेषता हो उसी म आत्मा अथवा परमात्मा की विशेष रूप से ा न न बताई ह । आत्मा अथवा परमात्मा सात्विक, राजस और तामस भेद वाले सब गुणो म तथा सब पदार्था मे एक समान यापक ह, वास्तव मे उसमे उत्कृष्टता और निकृष्टता का भद ह नही । अत जिस पदाथ म जिस गुण का विशष उत्कष होता ह वही आत्मा अथवा परमात्मा की विशष अभि यक्ति का द्योतक होता ह ।

विभूति वणन के पहले और उसके अन्त म भी भगवान ने यह स्पष्ट कर दिया ह कि 'ये विभूतिया तो थोडी सी नमून के तोर पर कही ह, वास्तव म मेरी विभूतियो का कोई अन्त नही आता।' विश्व मे अनन्त विभूतियो की कल्पना भूतकाल म की गई ह, अनन्त की वतमान में होती ह और अनन्त की भविष्य म होती रहेगी । जिस जिस यक्ति, जिस जिस पदाथ जिस जिस घटना अथवा जिस जिस बनाव म जिस जिस प्रकार की विशषता अथवा चमत्कार प्रतीत हो उस उसम आत्मा अथवा परमात्मा ही की विशष अभि यक्ति अर्थात विशष विकास समझना चाहिए ।

इस सिद्धान्त क अनुसार यदि विभूतियो का वणन इस समय किया जाता तो सभवत वतमान म जो जो व्यक्ति अथवा पदाथ अथवा घटनाए ससार म विशेष प्रभावो त्पादक एव चमत्कारी मानी जाती ह उनकी गणना भी परमात्मा की विभूतियो मे की जाती, अर्थात जो जो असाधारण ा ा ा ा मा विद्वान एव तत्त्ववेत्ता महापुरुष, प्रतापी शासक, धरन्धर राजनीतिज्ञ, महाबली शरवीर प्रसिद्ध वज्ञानिक , मनोहर ललित कलाओ के प्रख्यात विशषज्ञ, जा यान कवि अतुल सम्पत्तिशाली धन-कुबर मान जाते ह इसी तरह अन्य गुणो एव कलाओ म असाधारण विशेषता रखने वाले यक्ति मान जाते ह, तथा ससार को चकित करने वाले जो जो वज्ञानिक आविष्कार होते ह, एव अदभुत घटनाए घटती ह—वे सब परमात्मा की विभूतिया के वणन म सम्मिलित किये जाते । तात्पय यह कि पथ्वी पर समय समय पर विशेष गुण, कला, योग्यता शक्ति, तेज, वभव आदि से सम्पन्न अदभत चमत्कारिक यक्ति और पदाथ माने गय ह और भविष्य म माने जावेंगे, जिनका का अन्त नहीं ह, उनम आत्मा अथवा परमात्मा का अस्तित्व और प्रभाव विशष रूप से प्रकट होता ह, परन्तु आत्मा अथवा परमात्मा इन विभूतियो म ही परिमित

नही होता, न इनमे रुका हुआ रहता ह । इन अन त विभूतियो से भरा हुआ यह विश्व, आत्मा अथवा परमात्मा के किसी एक अश म प्रकट हो हो कर लय होता रहता ह । जिस तरह आकाश के किसी विशेष भाग म बादल बिजली आदि के बनाव हो होकर मिटते रहते ह पर तु सारा आकाश बादलो से घिरा हुआ नही रहता, न आकाश बादलो म रुका हुआ ही रहता ह उसी तरह आतमा अथवा परमात्मा के किसी अश म य नाना प्रकार की विभूतियो के बनाव हाते ओर फिर उसी म लय होते रहते ह पर तु आत्मा उन सबसे स्वत त्र ओर अलिप्त रहता ह ।

जसा कि ऊपर कह आय ह यह विभूतियो का वणन आत्मा अथवा परमात्मा के अस्तित्व एव प्रभाव को विशेष रूप से चित्त पर अकित करन के अभिप्राय से किया गया ह न कि इन विभूतियो की उपासना करन के विधान के उद्देश्य से क्योकि य विभूतिया ही आत्मा अथवा परमात्मा नही ह कि तु य सब आत्मा अथवा परमात्मा का परिवतन शील एव उत्पत्ति नाशवान कल्पित बनाव मात्र ह आत्मा अथवा परमात्मा इन सबका सत्त्व एव आधार ह । अत परिवतनशील एव उत्पत्ति नाशवान विभूतियो के कल्पित बनाव की उपासना करन से उत्पत्ति नाश एव परिवतन के चक्कर म ही घूमने रहना पडता ह (जसा कि अध्याय ७ श्लोक २३ म ओर अध्याय ९ श्लोक २० से २५ तक म कहा गया ह), और सबके आत्मा=परमात्मा की उपासना से परमात्म स्वरूप की प्राप्ति होता ह । [illegible] । अगणित चिनगारिया होती ह यदि कोई मू व अग्नि को छोड कर चिन गारियो के पीछे दोडता ह तो उसे न उष्णता प्राप्त होती ह न प्रकाश ही, और न चिन गारियो से और कोई प्रयोजन ही सिद्ध होता ह कि तु चिनगारी एक क्षण म बझ जाती ह, और पीछ दौडन वाला धोखा खाता ह, उसी तरह आत्मा अथवा परमात्मा रूपी अग्नि में विभूतिया रूपी अन त चिनगारियो का दश्य होता रहता ह जो मनुष्य आत्मा अथवा परमात्मा को भूल कर नाशवान कल्पित विभूतियो की उपासना करता ह, वह धोखा खाता ह ।

॥ दसवा अध्याय समाप्त ॥

ग्यारहवाँ अध्याय

सबकी एकता के विज्ञान सहित ज्ञान के सिलसिले मे दसवें अध्याय में भगवान ने अपनी मुख्य-मुख्य विभूतियो का वणन करके सबके आत्मा—परमात्मा-स्वरूप अपन आपके अस्तित्व एव अपनी सवव्यापकता का विशेष रूप से खुलासा किया। अब इस ग्यारहवे अध्याय मे अजुन के प्राथना करने पर, भगवान अपने शरीर ही मे अखिल विश्व को दिखा कर सबकी एकता का प्रत्यक्ष अनुभव कराते ह।

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परम गुह्यम ध्यात्मसज्ञितम।
यत्त्वयोक्त वचस्तेन मोहोऽय विगतो मम॥ १॥
भवाप्ययौ हि भूताना श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्त कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम॥ २॥
एवमेतद्यथा थ त्वमात्मान परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमश्वर पुरुषोत्तम॥ ३॥
म यसे यदि तच्छक्य मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्व दशयात्मानमव्ययम॥ ४॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पाथ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥ ५॥
पश्यादित्या वसू रुद्रानश्विना मरुतस्तथा।
बहू यदष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥ ६॥
इहकस्थ जगत्कृत्स्न पश्याद्य सचराचरम।
मम देहे गुडाकेश यच्चा यदद्रष्टुमिच्छसि॥ ७॥
न तु मा शक्यसे द्रष्टुमनेनव स्वचक्षुषा।
दिव्य ददामि ते चक्षु पश्य मे योगमश्वरम॥ ८॥

सजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राज महायोगेश्वरो हरि ।
दर्शयामास पार्थाय परम रूपमैश्वरम ।। ९ ।।
अनेकवक्त्रनयनम [illegible] ।
अनेकदिव्याभरण दिव्यानेकोद्यतायुधम ।। १० ।।
दिव्यमाल्याम्बरधर दिव्यगन्धानुलेपनम ।
सर्वाश्चयमय देवमनन्त विश्वतोमुखम ।। ११ ।।
दिवि सूयसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भा सदशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मन ।। १२ ।।
तत्रकस्थ जगत्कृत्स्न प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ।। १३ ।।
तत स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनजय ।
प्रणम्य शिरसा देव कृताजलिरभाषत ।। १४ ।।

अथ—अजन बोला कि मुझ पर अनुग्रह करके आपने जो परम गुह्य अध्यात्म-ज्ञान का उपदेश दिया, उससे मेरा यह मोह दूर हो गया, अर्थात स्वजन-बाधवो को मारने के पाप का भय तथा उनके मरने का शोक, और धम अधम अथवा कतव्याकतव्य के विषय में [illegible] न हो गई ह (१)। और हे कमलनयन ! भूत प्राणियो की उत्पत्ति और प्रलय का रहस्य तथा (आपका) अक्षय माहात्म्य भी मन आपसे विस्तारपूवक सुना। हे परमेश्वर ! हे पुरुषोत्तम ! आपने अपना जसा यह वणन किया ह म आपके (उस) ईश्वरीय रूप को (प्रत्यक्ष) देखना चाहता हू। हे प्रभु ! यदि आप यह समझते हो कि मेरे से आपका वह रूप देखा जा सकता ह तो हे योगश्वर ! आप अपना वह अव्यय रूप दिखलाइए। तात्पय यह कि अध्याय ७ से १० तक अजुन ने भगवान से उनके सवरूप का जो वणन सुना उस सवरूप को आखो से प्रत्यक्ष देखने की उसकी इच्छा हुई। इसलिए उसन भगवान से प्राथना की कि यदि आप मझे इस योग्य समझ कि म आपका वह विश्वरूप प्रत्यक्ष देख सकता हू तो कृपा करके उसे अवश्य दिखलाइए (२ ४)। श्री भगवान बोले कि हे पाथ ! मेरे [illegible] के, नाना वर्णो तथा नाना आकृतियो वाले सकडो और हजारो तरह के दिव्य अर्थात स्थूलता से रहित केवल मानसिक दिव्य दष्टि से देखने योग्य सूक्ष्म रूपो को देख (५)। आदित्यो वसुओ, रुद्रो दोनो [illegible] तथा मरुदगणा को देख, और हे भारत ! बहुत से आश्चर्यो यानी अदभुत बनावो को देख, जो पहले कभी न देख होग (६)। हे गुडाकेश ! आज यही पर मेरे शरीर में एकत्व भाव

से स्थित सम्पूर्ण चराचर जगत को तथा और जो कुछ देखना चाहे वह (सब) देख ले (७)। परन्तु अपने इन्हीं नेत्रों (चर्म चक्षओं*) से तू मुझे (मेरे विश्वरूप को) नहीं देख सकेगा इसलिए मैं तुझे दिव्य (मानसिक*) नेत्र देता हूँ, (जिससे तू) मेरे ईश्वरीय योग अर्थात "एक में अनेक और अनेकों में एक" के अलौकिक कौशल को देख (८)। संजय बोला कि हे राजन! ऐसा कह कर फिर महा योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को (अपना) परम ईश्वरीय रूप अर्थात विश्वरूप दिखलाया (९)। अनेक मुखों†, (और अनेक) नेत्रों† वाले, अद्भुत दृश्यों सहित, अनेक दिव्य आभूषणों†, युक्त अनेक दिव्य शस्त्रों† से सुसज्जित, दिव्य मालाओं† और वस्त्रों† को धारण किये हुए, दिव्य गन्धों† (केसर चन्दन आदि) का अनुलेपन किये हुए, सब आश्चर्यों से युक्त, अनन्त विश्वतोमुख देव अर्थात अपने विश्व रूप को (अर्जुन के प्रति) दिखाया (१० ११)। यदि आकाश में हजार सूर्यों की ज्योति एक साथ उदय हो तो वह शायद उस महात्मा के तेज के समान हो सके (१२)। अनेक प्रकार के भिन्नता के भावों में विभक्त सम्पूर्ण जगत को उस समय अर्जुन ने वहां देवों के देव (भगवान श्रीकृष्ण) के शरीर में एकत्र देखा (१३)। तब वह धनंजय आश्चर्यान्वित हुआ हर्ष से रोमाचित होकर, (उस) देव को, यानी विश्वरूप धारी भगवान श्रीकृष्ण को सिर झुका कर हाथ जोड़ कर प्रणाम करके बोला (१४)।

स्पष्टीकरण—दसवें अध्याय तक भगवान ने सबकी एकता के विज्ञान सहित ज्ञान का जो निरूपण किया उससे अर्जुन को जो अपने कर्तव्य कर्म के विषय में मोह हुआ

---

* दृष्टि तीन प्रकार की होती है—(१) भौतिक स्थूल पदार्थों को स्थूल नेत्र इन्द्रिय से देखना स्थूल दृष्टि अथवा चर्म दृष्टि है (२) स्थूल नेत्रों अथवा चर्म चक्षु से न दीख सकने वाले सूक्ष्म पदार्थों को मन के ध्यान से देखना सूक्ष्म दृष्टि अथवा दिव्य दृष्टि है और (३) बुद्धि द्वारा तात्त्विक विचार से निश्चय करके सबकी एकता का अनुभव करना ज्ञान दृष्टि अथवा सम दृष्टि है (गी० अ० ५ श्लो० १८ अ० ६ श्लो० २९ अ० १३ श्लो० २७ से ३० अ० १५ श्लो० १०)।

† संसार में अनन्त प्रकार की आकृतियों एवं रूपों वाले देवता दैत्य असुर राक्षस मनुष्य पशु पक्षी एवं जीव जन्तु होते और माने जाते हैं जिनके सम्मिलित रूप में अनन्त मुख अनन्त नेत्र अनन्त हाथ अनन्त पैर अनन्त पेट आदि अंग होते हैं और वे अनन्त प्रकार के शृंगारों से सजे हुए अनन्त प्रकार के वस्त्राभूषणों से युक्त एवं अनन्त प्रकार के अस्त्र शस्त्रों को लिये हुए होते हैं वे सब भगवान के विश्व रूप के अन्तर्गत होने के कारण भगवान ही के अनन्त अंगों अनन्त प्रकार के शृंगारों एवं अनन्त प्रकार के बनावों के दृश्य अर्जुन को मानसिक दिव्य दृष्टि में दीखने लगे।

था, वह तो दूर हो गया, पर"तु उक्त ज्ञान की दढता के लिए अजुन की यह इच्छा हुई कि भगवान ने जिस सवभूतात्मक्य भाव का वणन किया ह, अर्थात अखिल विश्व को अपना ही "यक्त स्वरूप बताया ह, वह विश्वरूप भगवान प्रत्यक्ष दिखा द तो सबकी एकता का साक्षात अनुभव हो जाने पर वह ज्ञान चिरस्थायी हो जाय, क्योकि कानो से सुनी हुई बातो का चित्त पर उतना गहरा प्रभाव नही जमता, जितना कि आखो से देखी हुई घटनाओ का जमता ह। अजुन की उक्त आशय की प्राथना भगवान ने स्वीकार की, पर"तु अखिल विश्व का विराट द"य इन स्थूल आखो की अत्यन्त परिमित एव सकुचित दष्टि से दीखना सम्भव नही—उसके लिए मनो योग की दि"य दष्टि होनी चाहिए। इसलिए भगवान ने अजन को मनो-योग की दि"य दष्टि देकर अपने शरीर मे ही अखिल विश्व का दशन कराया।

"दि"य दष्टि' क्या होती ह ? इसका रहस्य एकबारगी समझने मे कुछ कठिनता अवश्य प्रतीत होती ह क्योकि यद्यपि स्वप्नावस्था म जब चम चक्षु ब"द रहते ह, तब मानसिक दष्टि से भाति भाति के विस्तत दश्य दीखने का अनभव सबको ह पर"तु जाग्रत अवस्था मे इस तरह की दि"य दष्टि का अनभव लोगो को आम तौर से नही होता। तो भी यदि पक्षपातरहित होकर अच्छी तरह विचार किया जाय तो दि"य दष्टि का रहस्य समझने में कठिनाई न रहे। जिन लोगो ने योग की सिद्धिया प्राप्त की ह वे अपने योगबल से दूसरो के मन पर अपने सकल्पो और अनुभवो का प्रभाव डाल कर इच्छानसार मानसिक दश्य दिखा सकते ह। भगवान श्रीकृष्ण महा योगेश्वर थे, उनका या" माम य अन"त प्रतिभाशाली था, अत उनके लिए अजुन के मन पर अपने योगबल का प्रभाव डाल कर, उसे अखिल विश्व का मानसिक दशन अपने शरीर मे कराना एक साधारण बात थी। वतमान समय मे जादू अथवा नजरब"दी (Mesmerısm) अथवा हथफेरी (Trıcks) के जो अदभुत दश्य इन कलाओ के जानने वाले लोग दिखाते ह वह भी मनो योग का एक छोटा सा नमूना ह।

उपयुक्त योगबल अथवा नजरब"दी के सिवाय यदि आधिभौतिक विचार से देखा जाय तो जिस तरह रेडिया शक्ति से विस्तत दश्यो का अक्स बहुत छोटा सा करके य"त्रो में ब"द कर लिया जाता ह, और फिर उसी अक्स को बहदाकार रूप मे दिखाया जाता ह, तथा अत्यन्त सूक्ष्म अणुओ एव ज"तुओ को सूक्ष्मदशक य"त्रो (Magnifying Glasses), यानी छोटी वस्तु को बडी दिखलाने वाले शीशो द्वारा बहुत बडे रूप में दिखाया जाता ह उसी तरह शरीर मे विश्व दिखाया जा सकता ह। ब्रह्माण्ड मे जो कुछ दश्य महान—विस्तत रूप से ह, उसी प्रकार का दश्य पिण्ड अथवा शरीर में छोटे—अणु रूप में ह। अत मनोयोग की दि"य दष्टि के अण-वीक्षण य"त्र द्वारा इस शरीर ही मे ब्रह्माण्ड का देख सकना असम्भव नहीं ह।

अब अर्जुन ने जिस तरह भगवान के शरीर में सूक्ष्म (आधिदविक) और स्थूल (आधिभौतिक) सष्टि का विस्तार देखा, उसका कुछ वणन आगे के श्लोको में किया गया ह।

विश्व रूप के इस वणन में जो ब्रह्मा आदि देवताओ, असुरो, यक्षो,राक्षसो, गन्धर्वों, सिद्धो अश्विनीकुमारो रुद्रो, आदित्यो, वसुओ, मरुदगणो, पितरो आदि सूक्ष्म आधिदविक बनावो का उल्लेख ह वह उस समय के लोगो की मान्यताओ और शास्त्रो तथा काव्यो के कल्पित वणनो को दष्टिगोचर रख कर किया गया ह, तात्पय यह ह कि जगत में जो कुछ भी बनाव प्रत्यक्ष देखने में आते ह और जो कुछ भी अदष्ट बनाव मन से कल्पित किये जा सकते ह वे सब एक ही परमात्मा के कल्पित रूप ह और वे सब भगवान के विश्व रूप में मानसिक दष्टि से अजुन ने देखे।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवास्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसघान ।
ब्रह्माणमीश कमलासनस्थ
मषीश्च सर्वानुरगाश्च दिव्यान ॥ १५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्र
पश्यामि त्वा सवतोऽनन्तरूपम ।
नान्त न मध्य न पुनस्तवादि
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

किरीटिन गदिन चक्रिण च
तेजोराशि सवतो दीप्तिमन्तम ।
पश्यामि त्वा दुर्निरीक्ष्य समन्ता
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम ॥ १७ ॥

त्वमक्षर परम वेदितव्य
त्वमस्य विश्वस्य पर निधानम ।
त्वमव्यय ना ।ा।मनाान।ा
मनातनास्त्व पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

अनादिमध्या तमन तवीय
मन तबाहु शशिसूयनेत्रम ।
पश्यामि त्वा दीप्तहुताशवक्त्र
स्वतेजसा विश्वमिद तप तम ।। १९ ।।
द्यावापथिव्योरिदम तर हि
व्याप्त त्वयकेन दिशश्च सर्वा ।
दृष्टवादभुन रूपमुग्र तवेद
लोकत्रय प्रव्यथित महात्मन ।। २० ।।
अमी हि त्वा सुरसघा विश ति
कचिद्भीता प्राजलयो गण ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धमघा
स्तुव ति त्वा स्तुतिभि पु[illegible] ।। २१ ।।
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनो मरुतश्चोष्मपाश्च ।
ग धवयक्षासुरसिद्धसघा
वीक्ष ते त्वा विस्मिताश्चव सर्वे ।। २२ ।।
रूप महत्ते बहुवक्त्रनत्र
महाबाहो बहुबाहूरुपादम ।
बहूदर बहुदष्टाकराल
दष्टवा लोका प्रव्यथितास्तथाहम ।। २३ ।।
नभ स्पश दीप्तमनेकवण
व्यात्तानन दाप्तविशालनत्रम ।
दृष्टवा हि त्वा प्रव्यथिता तरात्मा
धति न विदामि शम च विष्णो ।। २४ ।।
दष्टाकरालानि च ते मुखानि
दष्टवव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शम ।
प्रसीद देवेश जगन्निवास ।। २५ ।।

अमी च त्वा धतराष्टस्य पुत्रा
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोण
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगा
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो ।
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।

ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिता प्रत्यनीकेषु योधा ॥ ३२ ॥
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुक्ष्व राज्य समद्धम ।
मयवते निहता पूवमेव
निमित्तमात्र भव सव्यसाचिन ॥ ३३ ॥
द्रोण च भीष्म च जयद्रथ च
कण तथान्यानपि योधवीरान ।
मया हतास्त्व जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान ॥ ३४ ॥

अथ—अजन बोला कि हे देव ! आपके शरीर में सब देवताओ तथा (पच महा भूतो के सम्मिश्रण के विशेष बनाव रूप नाना प्रकार के स्थावर जगम) [illegible] के विशेष समुदायो को कमलासन पर स्थित प्रजापति ब्रह्मा को और सब ऋषियो को, तथा सब दिव्य (सूक्ष्म) नागो को म देखता हूँ (१५)। अनेक भुजा, (अनेक) उदर, (अनेक) मुख और (अनेक) नेत्रो से युक्त सवत्र आपके अनन्त रूप* देखता हूँ, हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप ! आपका न तो अन्त न मध्य और न आदि ही म देखता हू (१६)। मुकुट, गदा तथा चक्र धारण किये हुए, और सब प्रकार से देदीप्यमान [illegible] प्रज्वलित अग्नि एव सूय के समान कान्ति युक्त एव चकाचौंध करने वाले, सवत्र आपके अनुपम रूप को म देखता हू (१७)। आप परम अक्षर अर्थात पूण सत्य ह, आप ही जानने योग्य ह, आप ही इस विश्व के अन्तिम आश्रय ह, आप अविनाशी ह और आप ही सदा से धम के रक्षक ह, एव आप ही को म सनातन पुरुष मानता हूँ (१८)। म देखता हू कि आप आदि, मध्य एव अन्त से रहित ह, अनन्त शक्ति (और) अनन्त भुजाओ वाले ह, चन्द्र सूय (आपके) नेत्र ह प्रज्वलित अग्नि (आपका) मुख ह, और अपने तेज से आप इस अखिल विश्व को तपा रहे ह अर्थात प्रकाशित कर रहे ह (१९)। आकाश और पथ्वी के बीच के इस अन्तर में तथा सब दिशाओ मे एक मात्र आप ही व्याप्त हो रहे ह, हे महात्मन ! आपके इस अदभुत एव उग्र रूप को देख कर तीनो लोक व्यथित हो रहे ह, अर्थात जगत के अनन्त प्रकार के आश्चयजनक बनावो को देख कर लोगो की अकल चकराती ह (२०)। यह देखो देवताओ के समूह आप ही में प्रवेश कर रहे ह, यानी समा रहे ह, कई भयभीत हुए हाथ जोड कर प्राथना कर रहे ह, महर्षि और सिद्धो के समूह "स्वस्ति"

*इस अध्याय के श्लोक १० ११ का फुटनोट देखिए ।

एसा कहते हुए बहुत सी स्तुतियो द्वारा आपकी स्तुति कर रहे ह (२१)। रुद्र, आदित्य, बसु और जो साध्य गण, विश्वदेव, दोनो अश्विनाकुमार मरुदगण, पितर, गन्धव, यक्ष, असुर और सिद्धो के समुदाय सब चकित हुए आपको देख रहे ह। तात्पय यह कि सष्टि की अनन्त प्रकार की स्थूल और सूक्ष्म रचनाओ को देख देख कर कोई भयानक बनावो से डरते ह, तो कोई आश्चयजनक बनावो से विस्मित हुए अपनी अपनी भावना के अनुसार उन सब बनावो के आधार सबके आत्मा=परमात्मा स्वरूप आपका चिन्तन करते ह, और चकित हुए आपकी स्तुति करते ह (२२)। हे महाबाहो ! आपके बहुत से मुखो, (बहुत से) नेत्रो, बहुत सी भुजाओ, (बहुत सी) जघाओ (बहुत से) परो, बहुत से उदरो एव बहुत से बडे बडे दातो वाले, विकराल और महान रूप को देख कर सब लोगो को और मुझे भी घबडाहट हो रही ह, अर्थात सब व्याकुल हो रहे ह (२३)। अनेक प्रकाशमान वर्णों से युक्त, गगनस्पर्शी खले हुए मुख वाले, एव देदीप्यमान विशाल नेत्रो वाले आपको देख कर हे विष्णु ! मेरा अन्त करण डावाँडोल हो रहा ह और मुझे धय एव शान्ति नहीं होती ह (२४)। आपके बडे बडे विकराल दाँतो को और कालाग्नि के समान मखो को देख कर मझे दिशाएँ नहीं सूझतीं और न चन ही पडता ह। हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न होइए (२५)। और यह देखो, समस्त राजाओ के समदाय सहित धतराष्ट्र के पुत्र, तथा भीष्म, द्रोण और यह कण, और हमारी तरफ के मख्य-मुख्य योद्धा भी आपके विकराल दाँतो वाले भयानक मुखो में धडाधड प्रविष्ट हो रहे ह, और कइयो के मस्तक चकनाचूर होकर आपके दाँतो के बीच की सन्धियाँ में फसे हुए दीख रहे ह (२६ २७)। जिस प्रकार नदियो के बहुत से जल के प्रवाह समद्र ही की तरफ वेग से बहते जाते ह, उसी तरह मनुष्य समाज के ये शूरवीर लोग सब तरफ से आपके प्रज्वलित मुखो में प्रवेश कर रहे ह (२८)। जिस तरह पतग (अपने) नाश के लिए जलती हुई अग्नि में बडे वेग से गिरते ह, उसी तरह (ये) लोग भी (अपने) नाश के लिए आपके मखो में बहुत वेग से जा रहे ह (२९)। प्रज्वलित मुखो से सब लोगो को सब तरफ से ग्रसित करते हुए आप चाट चाट कर स्वाद ले रहे ह, हे विष्णु ! आपकी उग्र प्रभाए सारे जगत को (अपने) तेज से व्याप्त करके प्रकाशित कर रही ह (३०)। मझे बतलाइए कि एसे उग्र रूप को धारण करने वाले आप कौन ह ? हे देववर ! आपको नमस्कार ह, आप प्रसन्न होइए। आप आदि पुरुष को म जानना चाहता हू, क्योकि आपकी चेष्टाओ को म कुछ भी नहीं समझता, अर्थात आप क्या करने को प्रस्तुत हुए ह, यह मेरी समझ म नही आता (३१)। श्री भगवान बोले कि म लोगो का क्षयकारी (उनके दुष्कर्मों से) बढा हुआ काल हू, लोगो का नाश करन के लिए यहाँ पर प्रवत्त हू। ये जो सामने योद्धा लोग उपस्थित ह वे सब तेरे (लड) बिना भी (बचे) नहीं रहेग (३२)। इसलिए तू उठ खडा हो, (और) यश प्राप्त कर, शत्रुओ को जीत कर सम्पन्न राज्य भोग। हे सव्यसाची ! ये मेरे द्वारा पहले ही मारे हुए ह, तू

निमित्तमात्र हो जा (३३)। मेरे द्वारा मारे हुए द्रोणाचाय भीष्म जयद्रथ और कण तथा [illegible] मत घबडा, युद्ध कर तू युद्ध म शत्रुओ को जीतेगा। तात्पय यह कि अजन इस चिन्ता से बहुत घबडा रहा था कि "लडाई म मुझे भीष्म द्रोण आदि गरुजनो एव स्वजन बान्धवो को मारना पडगा और इसीलिए वह युद्ध करना नही चाहता था। अजन की इस चिन्ता को दूर करने के लिए भगवान दिखाते ह कि लोगो का मरना जीना अपने अपन कर्मो पर निभर रहता ह। जिनके जसे कम होते ह, उनके लिए वसे ही आयोजन (अपन अपने कर्मो के परिणाम स्वरूप) जगत की समष्टि शक्ति स्वरूप मेरी प्रकृति द्वारा बन जाते ह। इस कम विपाक के अटल नियमानुसार ये भीष्म द्रोण आदि शूरवीर लोग अपनी दुष्कृतियो से आप ही अपनी मत्य के निकट पहुच चुक ह और उन दुष्कृत्यो के परिणाम-स्वरूप 'म" सबका आत्मा=परमात्मा काल रूप होकर अर्थात समष्टि [illegible] शक्ति से इनका सहार करने को स्वय यहा उपस्थित हूँ। यद्यपि उपरोक्त कम विपाक के अटल नियम के अनुसार इन सबकी आयु समाप्त हो चकी ह और शरीरो का चोला* बदलने रूप इनका मरना निश्चित ह परन्तु इन लोगो के अत्याचारो का मुख्य शिकार तू ह इसलिए उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप इनको मारने का निमित्त मात्र बन कर इनके अत्याचारो से लोगो को मुक्त करके, नीति और धमपूवक राज्य शासन करना, और साथ ही अपने अधिकारानुसार राज्य लक्ष्मी भोगना तेरे लिए उचित ह। यदि अज्ञान और मोहवश तू ऐसा नही करेगा तो भी ये लोग तो अपनी दुष्कृतियो के परिणाम स्वरूप मरेग ही यानी शरीरो का चोला बदलग ही परन्तु तू अपने कतव्य से विमुख होगा और धर्मानुसार प्राप्त होन वाले राज्य सुख से भी वचित रहेगा (३४)।

[illegible] एकता का निश्चय दढ होने के लिए अजुन की प्राथना पर भगवान ने उसे मनो-योग की दिव्य दष्टि द्वारा अपना विश्वरूप दिखाया, और त्रिगणात्मक प्रकृति से उत्पन्न सूक्ष्म और स्थूल, स्थावर और जगम अथवा जड और चेतन के भद से जगत के अनन्त प्रकार के बनाव—जो कुछ स्थूल दष्टि से पहले देखे हुए अथवा सुने हुए थ, अथवा कल्पना मे आ सकते थे—वे सब, अजन न भगवान के शरीर में ही देखे। दूसरे शब्दो म अखिल विश्व को भगवान का ही रूप देखा। श्रीकृष्ण के शरीर में भाँति भाति के दिव्य श्रृगारो से सजे हुए विलासी देवताओ और गन्धर्वो को, शान्त और सौम्य भावो यक्त सिद्धो और महर्षियो को, क्रूर स्वभाव वाले असुरो और राक्षसो को, सुन्दर आकृति वाले नर-नारियो को, भय उत्पन्न करन वाले सप [illegible], विकराल दातो एव भयानक मुखो वाले सिह, व्याघ्र आदि हिसक जानवरो को, तरह-तरह के मनोहर रगो और मधुर स्वर आलापने वाले सुन्दर पक्षियो को, नाना प्रकार की अदभुत

*दूसरे अध्याय के श्लोक २२ का स्पष्टीकरण देखिए।

आकृतियो वाले मगर मच्छ आदि जलचर प्राणियो को, तथा कृमि कीडे आदि मले-कुचले जन्तुओ को भी एकत्र देखा। इस प्रकार विविध भाति की सष्टि को देख कर उसके मन मे हृष, आश्चय एव भय आदि भावो का सघष होने के कारण वह एकदम घबडा गया। विशेष करके जब उसन उस समय के महायुद्ध के अत्यन्त घोर जन सहार का दृश्य देखा, जिसमें दोनो पक्षो के वीर योद्धा लोग भगवान के काल रूप मुख के ग्रास होकर चबाये जा रहे थे, तब तो वह बहुत ही व्याकुल हो उठा, ओर इस बात को भल गया कि 'मेरी ही प्राथना पर भगवान कृपा करके मझे अपना मानसिक विश्वरूप दिखा रहे ह", अत वह घबराया हुआ भगवान से कहने लगा कि आप यह अत्यन्त घोर और बीभत्स काण्ड क्या कर रहे ह? मेरी समझ मे कुछ भी नही आता। इस पर भगवान श्रीकृष्ण ने उसे समझाया कि तुझे जो यह चिन्ता हो रही ह कि यदि म युद्ध करूगा तो ये मेरे स्वजन बाधव मारे जायग, जिनकी हत्या का पाप मझे लगगा और म कुल क्षय का अपराधी होऊगा, फिर इनके बिना म अकेला जीकर क्या करूगा ओर यदि म युद्ध नही करूगा तो ये सब जीते रहेग और म पाप से बच जाऊगा"—यह सब तेरा भ्रम ह। जीना मरना अपने अपने कर्मा के अधीन ह। इन लोगो के दुष्कम इतन बढ गय ह कि इनका मारा जाना समाज की सुव्यवस्था के लिए अनिवाय ह तू तो केवल निमित्त मात्र होता ह। जिस तरह किसी व्यक्ति के सडे हुए अथवा दु खदायक अग को काट देना आवश्यक होन पर डाक्टर उसे काट देता ह, तो डाक्टर को कोई दोष नही लगता, वास्तव में वह अग तो काट जान वाला ही था डाक्टर उसके काटने म निमित्त मात्र होता ह, उसे काटना डाक्टर का कतव्य होता ह, और अपना कतव्य करने मे उसे कुछ लाभ भी होता ह परन्तु यदि वह मोह से या मानसिक दुबलता के वश होकर उसे नही काटता ह, तो अपन कतव्य से विमख होता ह लाभ से वचित रहता ह और फिर डाक्टरी करन के योग्य नही रहता, जिससे उसका जीवन बिगड जाता ह, और साथ ही उक्त अग के न काटने से जो हानि होती ह उसके दोष का भागी भी वह होता ह। इसी तरह इन अत्याचारियो को मारन में निमित्त होना कोई पाप नही ह, किन्तु वीर क्षत्रिय के लिए, इनको मार कर राज्य शासन करना अवश्य कतव्य ह। अपनी व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के लिए निर्दोष प्राणियो को मारने से जितना पाप होता ह, उतना ही सावजनिक हित की उपेक्षा करके अत्याचारिय पर मोहवश अथवा ।. ।. । पुण्य सचय की कामना से दया अथवा क्षमा करना पाप ह। म सब लोगो का आत्मा, सबका एकत्व भाव इन लोगो के दुष्कर्मा के परिणाम-स्वरूप कालरूप होकर तेरे निमित्त से इनका सहार करने को उद्यत हू यह प्रत्यक्ष निश्चयकर, और इन लोगो को मारने म निमित्त होकर धमपूवक राज्य का सुख भोग। यदि तू ऐसा नहीं करेगा, तो भी ये तो किसी न किसी प्रकार से मारे ही जायेंग, किन्तु तू अपने कतव्य रूप धम से विमुख होगा जिससे तेरा भारी पतन होकर विनाश होगा।

सजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचन केशवस्य
कृताजलिर्वेपमान किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्ण
सगदगद भीतभीत प्रणम्य ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षासि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसघा ॥ ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षर सदसत्तत्पर यत ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेव पुरुष पुराण
स्त्वमस्य विश्वस्य पर निधानम ।
वेत्ताऽसि वेद्य च पर च धाम
त्वया तत विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुण शशाक
प्रजापतिस्त्व प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्व
पुनश्चभूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

नम पुरस्तादथ पष्ठतस्ते
नमोस्तु ते सवत एव सव ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्व
सव समाप्नोषि ततोऽसि सव ॥ ४० ॥

सखेति मत्वा प्रसभ यदुक्त
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।

अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

न वेदयज्ञाध्ययनन दान
न च क्रियाभिन तपोभिरुग्र ।
एवरूप शक्य अह नलोके
द्रष्टु त्वद येन कुरप्रवीर ।। ४८ ।।
मा ते यथा मा च [illegible]
दष्टवा रूप घोरमीदडममेदम ।
व्यपेतभी प्रीतमना पुनस्व
तदेव मे रूपमिद प्रपश्य ।। ४९ ।।

सजय उवाच

इत्यजुन वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वक रूप दशयामास भूय ।
आश्वासयामास च भीतमेन
भूत्वा पुन [illegible]त्मा ।। ५० ।।

अजुन उवाच

दृष्टवेद मानुष रूप तव सोम्य जनादन ।
इदानीमस्मि सवत्त सचेता प्रकृति गत ।। ५१ ।।

श्रीभगवानुवाच

सुदुदशमिद रूप दष्टवानसि यमम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्य दशनकाक्षिण ।। ५२ ।।
नाह वेदन तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवविधो द्रष्टु दष्टवानसि मा यथा ।। ५३ ।।
भक्त्या त्वनयया शक्य अहमेवविधोऽर्जन ।
ज्ञातु द्रष्टु च तत्त्वेन प्रवेष्टु च परतप ।। ५४ ।।

अथ—सजय बोला कि श्रीकृष्ण के यह वचन सुन कर अजन भयभीत होकर एव कापता हुआ हाथ जोड कर नमस्कार करके अत्यत विनीत भाव-यक्त गदगद वाणी से फिर कृष्ण को इस तरह कहने लगा (३५)। अजुन बोला कि हे हृषीकेश ! यह उचित ही ह कि सासारिक लोग आपकी महिमा का कीतन करके हर्षित होत ह और उसमें अनुराग रखते ह, तथा राक्षस लोग भयभात होकर द[illegible] दिशाओ में भागते फिरते ह, और सब

सिद्धो के समुदाय (आपको) नमस्कार करते है। तात्पर्य यह कि जो सदाचारी लोग है वे प्रसन्नता एव प्रेमपूर्वक सबके आत्मा=परमात्मा स्वरूप आपकी अदभुत महिमा का कीर्तन किया करते है, तथा आपको नमस्कार करते है और दुराचारी लोग अपने दुष्कर्मों के फल-स्वरूप डर के मारे इधर उधर भागते फिरते है यह बिल्कुल ठीक है (३६)। हे महात्मन ! आपको वे नमस्कार क्यो नही करेंगे ? आप ब्रह्मा से भी महान और उसके आदि कारण हो। हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! सत और असत एव उन दोनो से परे अक्षर आप ही हो अर्थात जो कुछ व्यक्त (इन्द्रियगोचर) और अव्यक्त (इन्द्रियातीत) है अथवा प्रकृति और पुरुष अथवा सगुण और निर्गुण आदि द्वन्द्व है वे और उन द्वन्द्वो का समावेश एव उनका एकत्व भाव परम अक्षर—पर ब्रह्म आप ही हो (३७)। आप आदि देव अर्थात देवताओ के आदि कारण हो आप पुरातन पुरुष हो, आप ही इस विश्व के अन्तिम लय स्थान हो जानने वाले—ज्ञाता आप हो, जानने योग्य—ज्ञेय आप हो और परमपद आप हो, हे अनन्त रूप ! आपसे विश्व व्याप्त हो रहा है (३८)। वायु यम, अग्नि वरुण, चन्द्रमा और प्रजापति ब्रह्मा तथा प्रपितामह अर्थात ब्रह्मा के भी कारण, आप ही हो आपको नमस्कार है, हजार बार नमस्कार करके फिर भी आपको बारबार नमस्कार है (३९)। हे सर्व ! आपको आगे से नमस्कार है पीछे से नमस्कार है और सब ओर से नमस्कार है हे अनन्तवीर्य ! आपका विक्रम अपार है, आप सबमे परिपूर्ण है, इसलिए आप सर्व है (४०)। आपकी इस महिमा को न जानते हुए (आपको) मित्र मान कर स्नेह अथवा प्रमा [illegible] कृष्ण, हे यादव, हे [illegible] बराबरी के सबोधनो का जो उपयोग हुआ, और घूमते फिरते सोते बैठते और भोजन करते समय, एकान्त में अथवा दूसरो के सामने हास्य विनोद के निमित्त जो आपका अपमान हुआ हो, उसके लिए, हे अच्युत ! हे अप्रमेय ! मै आप से क्षमा चाहता हू (४१ ४२)। आप इस चराचर विश्व के पिता हो, पूज्य हो और बडे से बडे गुरु हो, हे अप्रतिम प्रभाव ! तीनो लोको मे आपके समान कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक कोई कैसे होवे (४३) ? इसलिए सबके स्वामी और पूज्य आपको मै साष्टाग नमस्कार करके प्रार्थना करता हू कि आप प्रसन्न होइए। जिस तरह पिता पुत्र का, मित्र मित्र का पति पत्नी का (अपराध क्षमा कर देता है), उसी तरह आप मेरे अपराध क्षमा करे। तात्पर्य यह कि जिस तरह कहीं पर किसी साधारण व्यक्ति का और किसी राजा महाराजा का साथ हो जाय, और वह साधारण व्यक्ति उस राजा महाराजा के राज ऐश्वर्य का पूरा प्रभाव देखे बिना उसको अपना एक मित्र समझ कर उसके साथ बातचीत मे तथा खाने पीने, सोने बैठने घूमने फिरने, हसन खेलने आदि मे बराबरी का बर्ताव करता रहा हो, फिर वह जब उस राजा महाराजा के राज ऐश्वर्य को आखो से देख लेता है, तब वह चकित एव भयभीत होता है, और पश्चात्ताप करता है कि "मैने बडा अनर्थ किया कि इतने बडे आदमी का यथोचित सम्मान न करके उसके साथ

बराबरी का बर्ताव किया", तब वह डरता हुआ गिडगिडा कर उस [illegible] से क्षमा याचना करता ह, उसी तरह यद्यपि अजुन श्रीकृष्ण को परमात्मा मानता था, परन्तु जब तक उसन उनके सर्वात्म भाव अथवा विश्व रूप को प्रत्यक्ष न देखा था, तब तक उनके अलौकिक ऐश्वय का उतना प्रभाव उसके चित्त पर नही पडा था, जितना कि विश्वरूप देखने के बाद पडा। इस कारण विश्वरूप देखने पर वह चौक कर घबराया कि अनुपम प्रतिभा वाले भगवान श्रीकृष्ण को [illegible] से अपना मित्र समझ कर बराबरी का बर्ताव करके मन बडा अनथ किया। इसलिए वह भगवान की स्तुति द्वारा उन्ह प्रसन्न करके अपने अपराध क्षमा कराने के लिए उन की प्राथना करने लगा (४४)। पहले कभी न देखे हुए (आपके रूप) को देख कर मझे हष हुआ ह, और भय से मेरा मन व्यथित भी हुआ ह, इसलिए हे देव! मझ (अपना) वह रूप दिखाइए हे देवेश! हे जगन्निवास! प्रसन्न होइए। म आपको मकुट धारण किये हुए एव हाथो म गदा और चक्र आदि लिये हुए उसी तरह दखना चाहता हू। हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्ति! उसी चतुभुज-रूप से प्रकट होइए। तात्पय यह कि भगवान का विश्व रूप देख कर यद्यपि अजन को इस बात का हष हुआ था कि जो पहले कभी नही देखा था उस दुलभ रूप को दखन का आज मुझे सौभाग्य प्राप्त हो गया। परन्तु साथ ही साथ जगत के अनेक करुणाजनक अदभत, भीषण, रौद्र एव वीभत्स काण्ड एक साथ देख कर वह अत्यन्त ही भयभीत एव व्याकुल हो उठा, अत भगवान से प्राथना करने लगा कि अपनी इस अदभुत माया को समेट कर मुकुट, शख, चक्र गदा और पद्म को धारण किये हुए अपने चतुभुज रूप को दिखाइए, क्योकि जगत के भिन्न भिन्न प्रकार के विषम भावो वाले बनावो म उलझने से घबराहट के सिवाय शान्ति कहीं भी नही मिलती। सबकी एकता के अनुभव-रूप मकुट धारण किये हुए तथा विद्या रूप शख, कौशल रूप चक्र बल रूप गदा और अनासक्ति रूप पद्म से यक्त आप (परमात्मा) के चतुभुज रूप की उपासना ही से सब प्रकार की शान्ति पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति होती ह (४५ ४६)। श्री भगवान बोले कि मने प्रसन्नतापूवक अपने योगबल से तुझे यह तेजोमय अनन्त और अनादि परम विश्वरूप दिखलाया, जिसको तेरे से पहले किसी ने नहीं देखा। तात्पय यह कि अजन ने भगवान से प्रसन्न होने की जो प्राथना की, उस पर भगवान कहते ह कि "मन तेरे प्रेमभाव रूप श्रेष्ठ आचरण से प्रसन्न होकर ही यह विश्वरूप दिखाया ह, जो रूप दूसरो को दीखना अत्यन्त दुलभ ह। मेरे (कृष्ण के) इस शरीर के साथ तेरे सखा भाव के बर्ताव से मेरे अप्रसन्न होने का कोई कारण नही ह, क्योकि मेरे लिए छोटे-बडे, ऊच-नीच का कोई भेदभाव नहीं ह—म सबम एक समान हू, जो मुझ जसा भजते ह, उन्हें म वसा ही प्रतीत होता हूँ यह पहले कह आया हू" (४७)। हे कुरुओ मे श्रेष्ठ वीर! न वेदो और यज्ञो से न पठन पाठन से, न दान से न कमकाण्डो से और न उग्र तपो से मनुष्य लोक मे तेरे सिवाय कोई और मझे इस रूप में देख सकता ह। तात्पय यह कि कमकाण्डा

त्मक वेदो के अध्ययन तथा यज्ञादिक अन्य क्रियाओ म पथकता का भाव बना रहन के कारण मनो-योग नही होता, और पूण मनो-योग के बिना विश्वरूप देखने की दिव्य-दष्टि प्राप्त नहा हो सकती (४८)। मेरे इस घोर रूप को देख कर व्यथित मत हो और मूढ़ भी मत हो। भय छोड कर प्रसन्न चित्त से फिर तू मेरे उसी रूप को यह देख (४९)। सजय बोला कि उस समय वासुदेव श्रीकृष्ण ने अजुन को इस प्रकार कह कर अपना (चतुभुज) रूप दिखाया, और उसके बाद उस महात्मा ने फिर से सौम्य (मनुष्य रूप) होकर, उस भय भीत (अजन) को आश्वासन यानी दिलासा दी (५०)। अजन बोला कि हे जनादन! आपका यह सौम्य मनुष्य रूप देख कर अब मेरा चित्त ठिकाने आया ह, और पहले की तरह म स्वस्थ हो गया हू (५१)। श्री भगवान बोले कि मेरे जिस रूप को तूने देखा ह उसका दशन हाना अत्यन्त कठिन ह, देवता लोग भी इस रूप को देखने की सदा इच्छा करते रहते ह (५२)। न वेदो से, न तप से, न दान से न यज्ञ से, म इस प्रकार देखा जा सकता हू, जसा कि मुझे तूने देखा ह (५३)। हे अजन! हे परन्तप! केवल अनन्य भक्ति से ही म इस प्रकार तत्त्वत जाना, देखा और प्रवेश किया जा सकता हू। तात्पय यह कि यह सम्पूण जगत एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनक रूप ह, यह प्रत्यक्ष बोध होना अत्यन्त ही कठिन ह न तो व्यष्टि और न समष्टि ज्ञानेन्द्रिय रूप देवताओ को यह प्रत्यक्ष बोध होता ह, न वेदो के पाठ करते रहने से, अथवा तप करने से, अथवा दान देने से, अथवा यज्ञानष्ठान से ही यह प्रत्यक्ष बोध हो सकता ह। जो परमात्मा को सबमें एक समान व्यापक होने के दढ निश्चयपूवक सबके साथ प्रम* करने रूपी परमात्मा की अनन्य भाव की भक्ति करता ह, उसे ही इस विषय का प्रत्यक्ष बोध होता ह, और वही सबके आत्मा—परमात्मा में तन्मय हो जाता ह (५४)।

स्पष्टीकरण—सबके एकत्व भाव, सबके आत्मा—परमात्मा को भूल कर जगत के नाना भाँति के बनावो ही के पीछे पडे रहने से, अथवा केवल उन्हीं की खोज में लगे रहने से विक्षेप ही होता ह, क्योकि जगत के बनाव एक से एक अधिक एव एक से एक विलक्षण निकलते चले आते ह, उनका कही ओर छोर नहीं मिलता। उनको देखते देखते अक़्ल चकरा जाती ह। जहाँ अनुकूल बनाव दष्टिगोचर होते ह, वहीं प्रतिकूलता प्रतीत होने लगती ह। प्रकृति की त्रिगुणात्मक रचना में सात्त्विक बनावो के साथ ही साथ राजस और तामस बनाव भी दष्टिगोचर होते रहते ह। जहाँ सज्जन पुरुष अपने सत्कर्मो में सलग्न दीखते ह, तो साथ ही वहाँ दुष्ट लोग भी अपने दुराचारो में प्रवत्त दिखाई देते ह। एक तरफ हष एव मगल के उत्सव मनाये जा रहे ह, तो दूसरी तरफ शोक का करुण क्रन्दन हो रहा ह। एक तरफ सुख सम्पत्ति के ठाट लग हुए ह, तो दूसरी तरफ दरिद्रता

---

* प्रेम का खुलासा १२व अध्याय के १३व श्लोक के स्पष्टीकरण म देखिए।

नगा नत्य कर रही ह। एक तरफ जन्म और विवाह के बाजे बज रहे ह, तो दूसरी तरफ मत्यु का हाहाकार हो रहा ह। एक तरफ ग्गा धागम के साधनो के नित नये आविष्कार हो रहे ह, तो दूसरी तरफ दवी दुघटनाओ का ताँता बध रहा ह। एक तरफ शक्ति सम्पन्न लोग अपनी शक्ति के मद से मतवाले हो रहे ह, तो दूसरी तरफ उनके अत्याचारो से पीडित निबल जनता अपने भाग्य को कोस रही ह। एक तरफ पवतो, वनो महलो और बाग बगीचो की छटाए मन को मोहित कर रही ह, तो दूसरी तरफ कूडे ककट, गटर नालियो, श्मशान और कबरिस्तानो के ग दे एव वीभत्स दश्यो से अ त करण ग्लानि से याकुल हो उठता ह। पर तु मनुष्य के मन पर अनुकूल अथवा सुखदायक बनावो का उतना प्रभाव नहीं पडता जितना कि प्रतिकूल अथवा दु खदायक बनावो का पडता ह, क्योकि अनुकूलता की प्राप्ति मनुष्य अपन ही प्रयत्न का फल समझता ह इसलिए अनुकूलता अथवा सुख मे उसे अपने शरीर और शरीर से सबध रखने वाले व्यक्तियो अथवा पदार्थों के सिवाय अ य किसी अद य विषय पर विचार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, पर तु प्रति कूलता की प्राप्ति का कारण वह अपने को नही मानता। इसलिए जब कोई दु ख अथवा विपत्ति आती ह—विशेषकर अपने तथा अपने आत्मीय जनो पर भयानक रोगादिक अथवा युद्धादिक के सकट आते ह जो अनक प्रयत्न करने पर भी नहीं मिटते और मृत्य निकट दीखने लगती ह तब घबराहट बहुत बढ जाती ह, गौर भगय क्मि अदश्य शक्ति का ध्यान आता ह। उस य त्ति म ग प्रवृत्ति (Nature), दव (Providence), भाग्य (Luck) अथवा ईश्वर (God) आदि नाम, अपनी अपनी भावना के अनुसार दे देते ह, और अपने अज्ञान तथा प्रमादवश भिमान ग किये हुए पापो का पश्चात्ताप करके उनके लिए उस अदश्य शक्ति से क्षमा याचना करन ह। पर तु ऐसा करने पर भी मन की व्याकुलता नही मिटती, क्योकि उस अदृश्य शक्ति को मान लेने पर भी प्रतिकलता रूप सकट की निवत्ति नहीं हो जाती। चित्त की विक्षिप्तता तभी मिटती ह, जब कि जगत के अनन्त प्रकार के बनावो को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा यानी सबके अपन आपके अनेक रूप होने का दढ निश्चय हो जाता ह और अनकूलता, प्रतिकूलता आदि द्व द्वो से परिपूण जगत का, आत्मा अथवा परमात्मा यानी सबके अपने आपमें समावेश हो जाता ह।

यही भाव इस ग्यारहवें अध्याय में दिखाया गया ह। अजुन की प्राथना पर भगवान ने जब अपना विश्व रूप दिखाया तो उसमें अनन्त प्रकार के बनावो, खास करके विकराल एव अत्यन्त भयानक रूपो को देखकर उसके होश उड गये, और उसे इस बात का स्मरण ही न रहा कि 'म भगवान का विश्व रूप देख रहा हू", और जब उसने अपने स्वजन-बाधवो को काल रूपी भगवान के मुख में चबाये जाते हुए देखा, तब तो वह अत्यन्त ही घबडा उठा और कहने लगा कि "म यह क्या भयानक दृश्य देख रहा हूँ ?"

तब भगवान ने उसे समझाया कि "तूने अज्ञान-वश जो यह अभिमान किया था कि 'म नहीं लड़ूगा तो ये लोग जीते बच जायगे', उसको दूर करने के लिए तुझे यह दृश्य दिखाया गया ह, कि ये लोग अपनी अपनी करनी के फल स्वरूप मत्यु के निकट पहुँच चके ह, तेरा अभिमान मिथ्या ह। समष्टि हित के लिए इन लोगो का मारा जाना अनिवाय ह। समष्टि हित की उपेक्षा करके व्यष्टि स्वार्थों की रक्षा हो नही सकती, और समष्टि के विरुद्ध कोई व्यक्ति अकेला कुछ भी नहीं कर सकता। इसलिए विश्व की एकता का समष्टि भाव जो तू मेरे शरीर में देख रहा ह, उसको स्मरण रखता हुआ अपने व्यक्तित्व को मेरे विश्व रूप के समर्पित करके खेद रहित होकर सबके हित की दष्टि से अपने कतव्य पर आरूढ हो जा।'

भगवान के इस तरह समझाने पर अजन को कुछ होश हुआ, और दीन होकर अज्ञान जन्य अपने मोह पर पश्चात्ताप करता हुआ वह भगवान की महिमा की स्तुति करन लगा और अपने अपराध क्षमा करवाने लगा। साथ ही भगवान से प्राथना करने लगा कि आपके विश्व रूप के नाना प्रकार के आश्चयजनक और विकराल बनावो को देखकर मेरा मन डावाँडोल हो गया ह, अब आप कृपा करके अपनी इस माया को समेट कर मुझे अपना मकुट धारी चतुभुज स्वरूप दिखाइए, अर्थात मस्तक पर मुकुट तथा चारो हाथो में शख चक्र गदा, और पद्म धारण किये हुए हो—ऐसा रूप दिखाइए। मस्तक पर मुकुट और हाथो में शख, चक्र गदा एव पद्म धारण किये हुए भगवान के मनुष्याकृति रूप में अजुन की विशेष भक्ति होने का अभिप्राय यह था कि, यद्यपि विश्व में जितने रूप ह, वे सब परमात्मा ही के ह, परन्तु उन सबमें मनुष्य देह की योग्यता विशेष ह, अत वह सव-श्रेष्ठ ह, और जिस मनुष्य देह में सब की एकता का अनुभव-स्वरूप मुकुट धारण किया हुआ मस्तक हो, सब प्रकार की विद्याओ के सग्रह रूप शख, सब प्रकार की कलाओ में कुशलता एव कमशीलता रूप चक्र, शारीरिक एव मानसिक शक्ति की प्रचुरता रूप गदा, एव सब सांसारिक पदार्थों एव व्यवहारो में अनासक्ति रूप कमल, इन चार भावो रूप चार भुजाए हो—वही परमात्मा अथवा ईश्वर का सर्वोत्तम रूप ह। इन्हीं गुणो से जगत अथवा समाज का धारण होता ह। इसलिए जिस व्यक्ति अथवा जिस समाज में इन गुणो की जितनी अधिकता होती ह, उतना ही अधिक वह व्यक्ति अथवा समाज सब प्रकार की आधिभौतिक, आधिदविक और आध्यात्मिक उन्नति में बढा हुआ होता ह, और उस व्यक्ति अथवा समाज को उतनी ही अधिक शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति होती ह और जिस व्यक्ति अथवा जिस समाज म इन गुणो की जितनी ही कमी होती ह, उतना ही वह व्यक्ति या समाज सब प्रकार से पिछडा हुआ होता ह, और उस व्यक्ति या समाज को उतनी ही कम शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति होती ह, और जो महापुरुष इन गुणो से पूण होता ह, वह ही जगत का स्वामी, जगत का नियन्त्रण करने वाला

ईश्वर रूप होता ह । जो सबके आत्मा—परमात्मा के इस रूप की, यानी इन भावो की उपासना करता ह, उसमें उत्तरोत्तर इन गुणो की वद्धि होती जाती ह, और वह सब प्रकार की उन्नति करता हुआ अ त में परमात्म पद को पहुच जाता ह, क्योकि मनुष्य, मन की एकाग्रता एव दढ़ता से जसी उपासना करता ह, वसा ही वह स्वय हो जाता ह, उपासना का यही फल ह । इस रूप में मस्तक पर मुकुट सबकी एकता के अनुभव का चि ह ह, क्योकि मकुट उ ही गजा मह ाजाओ अथवा महान पुरुषो के सिर पर शोभा देता ह, जो बहुत से लोगो की एकता के के द्र होते ह । और जिन पर बहुत से लोगो के हित की एकत्रित जिम्मेवारी होती ह । शख सब प्रकार की विद्याओ का चि ह ह, क्योकि शख श दात्मक ह और सब विद्याए भी श द रूप ह । गदा शारीरिक और मानसिक बल का चिह्न ह, क्योकि जिस यक्ति म शारीरिक और मानसिक बल की विशषता होती ह वही गदा जसे प्रचण्ड शस्त्र को धारण कर सकता ह । चक्र काय-कौशल अथवा कम शीलता का चिह्न ह, क्योकि जगत का प्रवाह गोलाकार चक्र-रूप ह और इसकी गति अथवा चाल भी गोलाकार चक्र रूप ह, तथा यह सब लोगो की भिन्न भिन्न योग्यता के कर्मों के चक्र पर निभर ह अर्थात जिस तरह किसी कारखान की मशीनो के चक्के एक दूसरे से शृखलाबद्ध—जड हुए चक्कर काटते रहते ह, तभी वह कारखाना चलता ह, उसी तरह सब लोग अपनी अपनी योग्यता के कम अच्छी तरह कुशलता से करते हुए आपस में शृखलाबद्ध एव एक दूसरे के सहायक होते ह, तभी ससार चक्र* चलता ह । इसके अतिरिक्त जगत के नाना प्रकार के छोटे और बड उद्यम, किसी न किसी प्रकार के चक्र त्रा महायना से ही सिद्ध होते ह चाहे वह चक्र काल चक्र के रूप में अथवा घटना चक्र के रूप मे हो, अथवा पहियो, चक्को, चरखो आदि के भ्रमण-चक्र के रूप में हो । पद्म अथवा कमल अनासक्ति का चिह्न ह, क्योकि कमल सदा पानी में रहता हुआ भी उससे भीगता नहीं, इसी तरह महान पुरुष ससार के सब प्रकार के व्यवहार करते हुए और भोग भोगते हुए भी सदा अनासक्त रहते ह, अर्थात किसी भी यक्ति, किसी भी पदाथ अथवा किसी भी काय मे मोहित नहीं होते कि तु अलिप्त रहते ह ।

इसलिए अजुन को भगवान का यही भावनामय रूप विशेष प्रिय था, और भगवान ने उसकी प्राथना पर उसी दिव्य-दष्टि से उसे उस रूप का दशन कराया । फिर जब उस दि य दष्टि का सवरण कर लिया तब जिस तरह कोई मनुष्य स्वप्न से जागता ह और जागने पर स्वप्न के सब दश्य मिट कर पहले की तरह जाग्रत ससार सामने आ जाता ह, उसी तरह अजन के मनोयोग की दि य दष्टि हट जाने पर चम चक्षुओ की भौतिक दष्टि से पहले की तरह, श्रीकृष्ण रथ के सारथी की स्थिति में दिखाई देने लगे, और वह अपनी

* तीसरे अध्याय मे इसको यज्ञ चक्र के रूप से कहा ह । उस अध्याय के श्लोक १०वे से १६व तक का स्पष्टीकरण देखिए ।

पूव की स्थिति यानी प्राकृत अवस्था में आ गया । भगवान ने उसे आश्वासन देकर सम झाया कि मेरे इस घोर रूप को देखकर घबडाने का कोई कारण नहीं ह, प्रत्युत इससे तो प्रसन्नता होनी चाहिए, क्योकि यह रूप देखना बडा ही दुलभ ह । यह तेरा परम सौभाग्य ह कि इस समय अखिल विश्व तुझे एक साथ दीख पडा ह । यह "एक में अनेक और अनेको में एक" का प्रत्यक्ष अनभव न तो विशेष विभूति-सम्पन्न मनोमय देवताओ को ही होता ह न भेद प्रतिपादक वेदादि शास्त्रो के पठन पाठन करने से, न हवन-यज्ञ आदि कमकाण्डो से, न दान-पुण्य तथा अन्य धार्मिक कृत्यो से, न शरीर को कृश करने वाली तपस्या से ही होता ह क्योकि इन सब कृत्यो में पथक व्यक्तित्व का अहकार और कर्ता, कम करण आदि त्रिपुटियो के भेद का दढ निश्चय बना रहता ह, जो एकता के बोध का बाधक ह । यह सबकी एकता का दश्य उसी को दीखता ह, जो अनन्य भाव से सबके आत्मा=परमात्मा स्वरूप मेरी उपासना करता ह, अर्थात जो मुझ परमात्मा को सबमें एक समान व्यापक समझ कर सबके साथ प्रेम का बर्ताव करता ह, और उसे ही यह बोध होता ह कि यह [illegible] अनेक रूप ह। [illegible] परमात्मा ही दष्टिगोचर होता ह, जिससे वह समय पाकर अपन-आप को भी परमात्म-स्वरूप अनुभव करने लगता ह ।

\+ \+ \+

उक्त अनन्य भाव की उपासना की व्याख्या आगे की जाती ह ।

मत्कमकृन्मत्परमो मद्भक्त सङ्गवर्जित ।
निवर सवभूतेषु य स मामेति पाण्डव ।। ५५ ।।

अथ—हे पाण्डव ! जो मेरे लिए कम करता ह, अर्थात सारे जगत में मुझ सर्वात्मा=परमात्मा को व्यापक समझ कर जो सबके हित के लिए अपनी अपनी योग्यता के अनुसार अपने कत्तव्य कम करता ह, जो मेरे परायण ह अर्थात जिसने सारे जगत को मेरा ही रूप समझ कर अपने व्यक्तित्व को सबके साथ जोड दिया ह, जो मेरा भक्त ह, अर्थात आगे बारहवें अध्याय के विधानानुसार जो मेरी भक्ति करता ह, जो सग रहित ह, अर्थात जो पथकता के भावो में ममत्व की आसक्ति नहीं रखता, और जो सब भूत प्राणियो से वर नही रखता, अर्थात सबको परमात्मा ही के अनेक रूप समझ कर किसी से द्वेष नहीं करता, वह मुझे प्राप्त होता ह (५५) ।

।। ग्यारहवा अध्याय समाप्त ।।

बारहवाँ अध्याय

ग्यारहवें अध्याय मे भगवान न अजुन को अपना विश्वरूप दिखाकर सबकी एकता का प्रत्यक्ष बोध कराया, और अ त में यह कहा कि मेरी अन य भाव की भक्ति करने से ही इस प्रकार मेरे सवभूतात्मक्य भाव का प्रत्यक्ष बोध हो सकता ह और उस अध्याय के अन्तिम श्लोक में उस अन य भक्ति का स्वरूप सूत्र रूप से कहा। अब अजुन की प्राथना पर उसी की याख्या इस बारहवे अध्याय मे करते ह।

अर्जुन उवाच

एव सततयुक्ता ये भक्तास्त्वा पयुपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्त तेषा के योगवित्तमा ।। १ ।।

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मा नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता ।। २ ।।
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्त पयुपासते ।।
सवत्रगमचि त्य च कूटस्थमचल ध्रुवम ।। ३ ।।
सनियम्येन्द्रियग्राम सवत्र समबुद्धय ।
ते प्राप्नुव ति मामेव सवभूतहिते रता ।। ४ ।।
क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम यक्तासक्तचेतसाम ।
अव्यक्ता हि गतिर्दु ख देहवद्भिरवाप्यते ।। ५ ।।
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि स यस्य मत्परा ।
अन येनव योगेन मा ध्याय त उपासते ।। ६ ।।
तेषामह समुद्धर्ता मत्युससारसागरात ।
भवामि न चिरात्पाथ मय्यावेशितचेतसाम ।। ७ ।।
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न सशय ।। ८ ।।

अथ चित्त समाधातु न शक्नोषि मयि स्थिरम ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तु धनजय ॥ ९ ॥
अभ्यासे प्यसमर्थोऽसि मत्कमपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वा सद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥
अथतदप्यशक्तोऽसि कतु मद्योगमाश्रित ।
सर्वकर्मफलत्याग तत कुरु यतात्मवान ॥ ११ ॥
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्धयान विशिष्यते ।
ध्यानात्कमफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम ॥ १२ ॥

अर्थ—अजुन ने पूछा कि जो भक्त इस प्रकार सदा युक्त होकर अर्थात आपके उक्त सवरूप में मन लगाकर आपकी उपासना करते ह, और जो अक्षर और अव्यक्त भाव की उपासना करते ह, उनमें समत्व-योग के श्रेष्ठ ज्ञाता कौन ह ? तात्पय यह कि जो ग्यारहवें अध्याय के वणनानुसार अखिल विश्व को आप ही का विराट रूप समझ कर सबके साथ प्रेम करने रूपी आपकी उपासना करन में निरन्तर लग रहते ह, और जो लोग नाम रूपात्मक दश्य प्रपच को मिथ्या समझ कर इद्रियो के अगोचर अविनाशी निगुण ब्रह्म का चिन्तन करते रहते ह, उनमें समत्वयोग के उत्तम साधक कौन ह (१) ? श्री भगवान बोले कि जो मुझ (विश्वरूपधारी परमात्मा) में मन लगाकर सदा (सबके साथ प्रेम भाव में) जुडे हुए परम श्रद्धा से युक्त होकर मेरी उपासना करते ह, उन्हे म समत्व-योग के उत्तम साधक मानता हूँ (२)। और जो सब इद्रियो के समूह का निग्रह करके, अक्षर अर्थात अविनाशी, अनिर्देश्य अर्थात वणनातीत, सवत्रग अर्थात सवव्यापक अचिन्त्य अर्थात मन की पहुच से परे, कूटस्थ अर्थात सबके आधार, अचल अर्थात सवा एक सा रहने वाले, ध्रुव अर्थात अटल और अव्यक्त अर्थात इद्रियो से प्रतीत न होने वाले— निर्गण भाव की उपासना करते ह, वे, सवत्र समत्व बुद्धि से सब भूतो के हित में लगे रहने वाले (लोग) मुझको ही प्राप्त होते ह (३ ४)। उन अव्यक्त में आसक्त चित्त वालो को बहुत क्लेश होता ह, क्योंकि देहाभिमानियो के लिए अव्यक्त में गति होना बहुत ही दु ख साध्य ह (५)। श्लोक २ से ५ तक का तात्पय यह ह कि परमात्म भाव अथवा परमानन्द की प्राप्ति—जो कि सबका परम ध्येय ह, वह तो सब भूत प्राणियो में एकता एव समता के ज्ञानपूवक सबके हित में लगे रहने रूपी समत्व योग से होती ह—चाहे अखिल विश्व को परमात्मा के अनेक परिवतनशील रूप समझ कर, अर्थात "सब कुछ परमात्मा ही ह" ऐसा निश्चय करके, सबकी एकता एव समता के चिन्तन रूप, परमात्मा की विधि-मुख

यानी सगुण उपासना द्वारा मन को साम्य भाव में स्थित करके ऐसा किया जाय, या "नाम-रूपात्मक दश्य प्रपच मिथ्या ह, अत वह परमात्मा नही ह", इस तरह "नेति नति" के सिद्धा त से सबका निषेध करके, मन और इद्रियो के अगोचर, इन सबके परे, सबके आधार, सव यापक, सबकी सत्ता-स्वरूप, एक, सत्य, नित्य आत्म-तत्त्व का चि तन करने रूपी निगुण उपासना द्वारा ऐसा किया जाय। पर तु उपासना अथवा चि तन मन से होता ह, और मन के टिकने के लिए कोई न कोई अवलम्बन अवश्य चाहिए। "अस्ति" अर्थात किसी भी पदाथ के अस्तित्व में, यानी "वह ऐसा ह" इस भाव में तो मन लग सकता ह, पर तु "नेति-नेति", अर्थात "ऐसा नही ह—ऐसा नहीं ह", इस भाव में मन नहीं ठहर सकता। दूसरे शब्दो में इद्रिय-गोचर पदार्थो में तो मन सहज ही लग सकता ह। पर तु इद्रियातीत निगुण वस्तु में मन की स्थिति होना अत्यन्त दुष्कर ह । इसलिए आत्मा अथवा परमात्मा के अ यक्त अथवा निगुण भाव में मन को ठहराने के प्रयत्न में प्राय असफलता होती ह, पर तु परमात्मा के व्यक्त अथवा इद्रिय-गोचर सगण-स्वरूप—अखिल विश्व को परमात्मा ही का परिवतनशील स्वरूप समझ कर एक में अनेक और अनेको में एक होने की अटल श्रद्धा से उसमें परमात्मा का चि तन करना बहुत ही सुगम ह, अत उसमें मन सहज ही टिक सकता ह। इसलिए परमात्मा के विश्व रूप की उपयुक्त उपासना से समत्व-योग अर्थात सवभूतात्मक्य साम्य भाव में स्थिति होनी सहज ह (२ से ५)। परन्तु जो सब कर्मों का (सबके आ मा परमात्मा स्वरूप) मुझमें स यास करके, मेरे परायण हुए, (सवत्र एकता के) अनन्य भाव में मन लगाकर मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते ह, हे पाथ ! मुझ में पूणतया चित्त लगा देने वाले उन (भक्तो) को म मत्यु-रूप ससार-समुद्र से तुरन्त पार करता हू। तात्पय यह कि जो सबमें मुझ परमात्मा को एक समान व्यापक जानते हुए अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को सबके स्वार्थों में जोडकर, सबके हित के लिए कम करने-रूपी मेरी उपासना करते ह, उन सवत्र मेरा ही चिन्तन करने वाले भक्तो का म सबका आत्मा=परमात्मा फौरन उद्धार करता हूँ, यानी दसवें अध्याय के श्लोक १०वें तथा ११वें के अनुसार उनके अ त करण में आत्म ज्ञान का प्रकाश करके म उनके ा ना ाा का नाश कर देता हू (६ ७)। (अतएव) मुझमें ही मन लगा, एव मुझ में बुद्धि स्थित कर, इस तरह करने से तू उन्नत होकर नि स देह मुझमें ही निवास करेगा। तात्पय यह कि मन से सवत्र आत्मा अथवा परमात्मा ही का चिन्तन कर, और बुद्धि से सवत्र आत्मा अथवा परमात्मा ही के यापक होने का विचार कर, ऐसा करने से तू सब प्रकार की उन्नति करता हुआ शरीर भाव अथवा जीव भाव से ऊपर उठ कर मेरे परमात्म भाव को प्राप्त हो जायगा, क्योकि मनुष्य जसा चिन्तन और विचार करता ह, वसा ही वह हो जाता ह (८)। अब यदि तू मुझमें भली भाँति चित्त स्थिर न कर सकता हो तो हे धनजय ! अभ्यास-योग से मझे प्राप्त होने की

इच्छा कर, यानी बार-बार मेरी प्राप्ति के चिन्तन का अभ्यास कर (९)। यदि अभ्यास करने में भी तू असमथ हो तो मेरे लिए कम करने म तत्पर रह, मेरे लिए कम करता हुआ भी तू सिद्धि प्राप्त करेगा। तात्पय यह कि यदि मेरी प्राप्ति के चिन्तन के अभ्यास मे मन न लग, तो नवें अध्याय के छब्बीसव श्लोक के अनुसार सवव्यापक परमात्मा के लिए, यानी लोक सेवा के कम करन में लगा रह। लोक-सेवा के कर्म करते रहने से भी शन शन व्यक्तित्व का अहकार और व्यक्तिगत स्वार्थों की आसक्ति मिट कर सबके आत्मा=पर मात्मा की प्राप्ति हो जाती ह (१०)। और यदि तू मेरे लिए उपयक्त कम करने में भी असमथ हो तो प्रयत्नपूवक सब कर्मों के फल का त्याग कर। तात्पय यह कि यदि लोक-सेवा अथवा परोपकार के काय भी न बन सके, तो नवें अध्याय के सत्ताइसवें श्लोक में कहे अनसार खान-पीने आदि के सभी शारीरिक व्यवहार करने में सबके एकत्व भाव=परमात्मा के चिन्तनपूवक अपन पथक व्यक्तित्व के अहकार और व्यक्तिगत स्वाथ के व्यष्टि भाव को समष्टि में जोड देन का प्रयत्न कर (११)। **अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान की विशेषता है, ध्यान से कम फल त्याग श्रेष्ठ ह और त्याग से तुरन्त शान्ति प्राप्त होती है।** तात्पय यह कि कोरे अभ्यास की अपेक्षा परमात्मा की सवव्यापकता का परोक्ष ज्ञान श्रष्ठ ह, क्योकि परमात्मा के ज्ञान के बिना केवल अभ्यास करते रहने से कुछ भी सिद्धि नहीं होती, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ ह, क्योकि "परमात्मा सवव्यापक ह", यह जान लेने पर भी यदि उस पर सदा ध्यान न रखा जाय तो वह जानना निरथक होता ह, और ध्यान से कम फल-त्याग श्रेष्ठ ह, क्योकि परमात्मा के सवव्यापक होन का ध्यान रखते हुए उसी के अनसार आचरण होना ह, अर्थात अपना अपनी [illegible], अपने पथक व्यक्तित्व के अहकार और अपनी पृथक व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के भाव में आसक्ति न रख कर सबके साथ एकता के प्रेम भाव से होते ह, तभी ध्यान साथक होता ह। यदि परमात्मा की सवव्यापकता का ध्यान होते हुए भी व्यवहार उसके अनुसार न हो, अर्थात आचरणो में व्यक्तित्व का अहकार एव व्यक्तिगत स्वाथ की आसक्ति बनी रहे तो ज्ञान और ध्यान दोनो निरथक होते ह। **अभ्यास, ज्ञान एव ध्यान आदि सब सासारिक व्यवहार सर्वभूतात्मक्य साम्य भाव से करने के साधन मात्र ह,** अर्थात समत्व-योग की सिद्धि के सहायक ह। शान्ति, पुष्टि और तुष्टि तो सव भूतात्मक्य-साम्य भावयुक्त आचरण करने से अर्थात समत्व-योग से ही प्राप्त होती ह, और उस समत्व-योग की स्थिति के लिए अभ्यास, ज्ञान और ध्यान उत्तरोत्तर सहायक ह (१२)।

स्पष्टीकरण—गीता के प्रतिपाद्य विषय—सर्वभतात्मक्य-साम्य भाव से अपनी अपनी योग्यता के सासारिक व्यवहार करन-रूप समत्व-योग की प्राप्ति के लिए मन को

सबकी एकता के साम्य भाव में स्थित करने का उपाय, छठे अध्याय मे राज योग का अभ्यास बताया, फिर उक्त अभ्यास की कठिनता की शका होने पर सातवें अध्याय से आरभ करके परमात्मा की उपास्ना रूप सुगम उपाय का निरूपण किया, जिसमें सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप भगवान ने अपन-आपको सबमें और सबको अपने में बता कर, ग्यारहवें अध्याय में अपनी उक्त सवरूपता का प्रत्यक्ष बोध कराया, और उस सवरूप की उपासना करने, अर्थात अखिल विश्व को परमात्मा का व्यक्त रूप समझ कर सबके साथ प्रेम का ~यवहार करने रूप परमात्मा की उपासना करने का उपदेश अजुन को निमित्त बनाकर सबको दिया। इस विषय को विशेष रूप से स्पष्ट करवाने के लिए अजुन ने पूछा कि जो इस तरह सबके साथ प्रेम करने रूप आपके ~यक्त स्वरूप की सगुण उपासना करते ह, और जो आपके अव्यक्त भाव की निगुण उपासना करते ह उनमे से समत्व-योग के उत्तम साधक कौन होते ह अर्थात इन दो प्रकार की उपासनाओ में से समत्व-योग में स्थित होने के लिए श्रेष्ठ साधन कौन सा ह? इसके उत्तर में भगवान ने कहा कि समत्व योग के उत्तम साधक वह होते ह, जो कि व्यक्त और अव्यक्त, अथवा क्षर और अक्षर, जो कुछ भी ह, उस सबको मेरे अर्थात परमात्मा ही के अनेक रूप समझ कर सबके साथ एकत्व भाव के प्रेम का आचरण करते हुए सबके हित में लगे रहते ह। जो लोग मेरे व्यक्त स्वरूप—इस जगत के बनाव से परे मेरे अव्यक्त भाव की उपासना करते ह वे भी यदि समत्व बुद्धि से सबके हित में लगे रहते ह तो मुझे ही प्राप्त होते है, क्योकि परमात्म भाव की प्राप्ति तो मन और बुद्धि को सबकी एकता के साम्यभाव मे स्थित करने से होती ह—चाहे वह स्थिति व्यक्त उपासना द्वारा प्राप्त की जाय अथवा अव्यक्त उपासना द्वारा, पर तु अव्यक्त भाव की उपासना में मन नहीं लग सकता, क्योकि मन को ठहराने के लिए कोई न कोई व्यक्त अवलम्बन अवश्य चाहिए। उपासना मन और इन्द्रियो द्वारा होती ह और सब व्यक्त वस्तुओ का निषेध हो जाने पर मन और इन्द्रियाँ आदि कुछ भी शेष नहीं रहते, फिर किसके द्वारा, कौन किसकी उपासना करे?

अव्यक्त भाव केवल बुद्धि के विचार का विषय ह मन से उपासना करने का विषय नहीं, और वह विचार अत्य त ही सूक्ष्म एव गहन होने के कारण साधारण लोगो की पहुच से परे ह, इसलिए सव साधारण के हित के लिए उपासना के सरल साधन का विधान किया गया ह। अत अखिल विश्व को परमात्मा ही का ~यक्त रूप समझ कर अपने पथक व्यक्तित्व को सबके साथ जोड कर, अपने अपने शरीरो की योग्यतानुसार जगत के ~यवहार सबके हित अर्थात लोक-सग्रह की दष्टि से करना चाहिए। इसी से मनुष्य सब प्रकार की उन्नति करता हुआ परमपद=परमात्म भाव को प्राप्त होता ह। सबके

एकत्व भाव=परमात्मा में मन को स्थिर करने के लिए जिसकी जसी योग्यता और जसी रुचि हो उसी के अनसार साधनो का आश्रय लिया जा सकता ह। यदि परमात्मा की प्राप्ति के चिन्तन के अभ्यास की योग्यता हो तो वसा करे, यदि श्रद्धा विश्वासपूवक परमात्मा को सवव्यापक मानकर लोक सेवा अथवा परोपकार के काय करने की योग्यता हो तो वसा करे, और यदि अपने सभी व्यष्टि व्यवहारो को समष्टि व्यवहारो के साथ जोड देने की योग्यता हो तो वसा करे। अतिम साध्य अथवा परम गति, अपने पथक व्यक्तित्व को सबके साथ जोडकर पूण एकता एव समता के अनुभव में दढ स्थिति हो जाना ह। अभ्यास, ज्ञान और ध्यान आदि सभी इसी ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति के साधन ह।

× × ×

अब आगे तेरहवें से बीसवें श्लोक तक आठ श्लोको में भगवान सच्चे भक्त अथवा उपासक के लक्षण कहते ह। यहाँ पर पाठको का ध्यान इस बात पर विशेष रूप से आर्कषित करना आवश्यक प्रतीत होता ह कि इन आठ श्लोको में भगवान उसी को अपना प्यारा भक्त बताते ह जो पथक व्यक्तित्व के अहकार और पथक व्यक्तिगत स्वार्थों के व्यष्टि भावो को समष्टि में जोड कर सबके साथ एकता के प्रेम का व्यवहार करता ह, और जिसका अन्त करण अनुकूलता प्रतिकूलता के नाना भाँति के द्वन्द्वो में एक समान रहता ह—विचलित नही होता। अपने प्यारे और सच्चे भक्त के लक्षण आगे के आठ श्लोको में निरूपण करने में तथा श्लोक २ से १२ तक उपासना का जो यथाथ स्वरूप कह आये ह, उनमें भी भगवान ने यह कहीं भी नहीं कहा ह कि मेरे अमुक नामो का इतना जप करने वाले, या इतनी मालाए फेरने वाले, या अमुक स्तोत्रो का पाठ करने वाले, या मेरे किन्ही विशेष रूपो के ध्यान में लगे रहने वाले, अथवा प्रतिदिन इतनी बार मन्दिरो या उपासना स्थानो में पहुँच कर आराधना करने वाले, अथवा पचोपचार या षोडशोपचार आदि विधि से अचन पूजन करने वाले, अथवा इतना भोग प्रसाद चढ़ाने वाले, अथवा इतनी बार सध्या वन्दन पूजा पाठ आदि करने वाले, एव स्वय दीन और दास बन कर सवथा मुझ पर निभर रहने वाले परावलम्बी भक्त मुझे प्यारे होते ह, न यह कहा ह कि अमुक प्रकार से यज्ञानुष्ठान करने वाले अथवा आसन प्राणायाम धारणा, ध्यान, समाधि आदि हठ योग के साधनो में लगे रहने वाले, अथवा व्रत उपवास करके भूख प्यास, सर्दी, गर्मी आदि से शरीर को कष्ट देकर तप करने वाले, अथवा तीथ यात्रा के निमित्त भ्रमण करने वाले, और नदी, नालो, तालाबो और समुद्रो आदि में नहाने वाले अथवा देव कम, पित कम आदि कम काण्डो में [illegible] भक्त मुझे प्यारे होते ह, न यही कहा ह कि शरीरो पर अमुक प्रकार

के चिह्न लगाने वाले, या अमुक प्रकार की वेष भूषा रखने वाले, अथवा अमक स्थान में निवास करन वाले, अथवा अमुक शास्त्रो के मानने और उनके अध्ययन में लगे रहने वाले, अथवा शरीरो की बाहरी पवित्रता के आचार विचार को प्रधानता देने वाले, अथवा अमुक जाति, अमक वण, अमुक आश्रम के लोग अथवा अमुक धम, पथ, मजहब अथवा सम्प्रदाय के अनुयायी ही मेरे प्यारे भक्त होते ह । इमग प्पष्ट ह ि ाना म परमा मा के किसी नाम विशेष रूप विशेष अथवा उपाधि विशेष की किसी विशेष विधि से आराधना अथवा पूजन-अचन का विधान नहीं ह, न किसी धार्मिक कमकाण्ड अथवा साम्प्रदायिक रीति रिवाज का प्रतिपादन ही ह । दूसरे श दो मे गीता में धार्मिक कटटरता, अथवा मजहबी दीवानापन, अथवा साम्प्रदायिक अ धविश्वास के लिए कोई स्थान नही ह । गीता में तो सबकी एकता की समत्व-बुद्धियक्त प्रम भाव से सबके साथ यथायोग्य समता का आचरण करने का विधान ह, जिसमें सभी धर्मों सभी मजहबो एव सभी सम्प्रदायो का समावेश हो सकता ह, क्याकि मच्चा धम तो वही हो सकता ह, कि जिसका मूल उद्देश्य पारस्परिक प्रम का आचरण करना हो—चाहे उस उद्देश्य का प्रचार किसी भी भाषा अथवा किसी भी भाव में, किसी भी व्यक्ति द्वारा, किसी भी समय और किसी भी देश में किया गया हो ।

अद्वेष्टा सवभूताना मत्र करुण एव च ।
निममो निरहकार समदु खसुख क्षमी ॥ १३ ॥
सतुष्ट सतत योगी यतात्मा दढनिश्चय ।
म र्पितमनोर्बुद्धिर्यो मद्भक्त स मे प्रिय ॥ १४ ॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च य ।
हर्षामषभयोद्वेगर्मुक्तो य स च मे प्रिय ॥ १५ ॥
अनपेक्ष शुचिदक्ष उदासीनो गतव्यथ ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्त स मे प्रिय ॥ १६ ॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काक्षति ।
[illegible] भक्तिमा य स मे प्रिय ॥ १७ ॥
सम शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयो ।
शीतोष्णसुखदु खेषु सम सङ्गविवर्जित ॥ १८ ॥
तुल्यनि दास्तुतिमौ नी सतुष्टो येन केनचित ।
अनिकेत स्थिरमतिभक्तिमा मे प्रियो नर ॥ १९ ॥

रहता ह और जो दूसरो पर अत्याचार करता ह वह सदा भयभीत रहता ह इस तरह अपने तथा दूसरो के अन्त करण मे उद्वेग उत्पन्न करने वाले लोगो से सबका आत्मा=परमात्मा कभी प्रसन्न नहीं होता। पर तु जो दूसरो को उद्विग्न करने वाले कोई यवहार नहीं करता, और जो स्वय दूसरो के ऐसे आचरणो से उद्विग्न नहीं होता, इसी तरह जो धन, ऐश्वय, मान, प्रतिष्ठा आदि अनुकूलता की प्राप्ति के हर्षोत्पादक अवसरो पर स्वय हष से उन्मत्त नहीं हो जाता और उस हष के मद म एसे आचरण नहीं करता कि जिससे दूसरो को विक्षेप हो तथा किसी अनिष्ट अथवा प्रतिकूलता की प्राप्ति के अवसर पर ऐसा क्रोध नही करता कि जिससे अपने अ त करण मे जलन उत्पन्न होने के साथ साथ दूसरो को भी क्षोभ हो और जो ऐसे कुकर्मो म प्रवत्त नहीं होता कि जिनसे स्वय भयभीत हो और दूसरे भी भयत्रस्त होव—वह समत्वयोगी सबके आ मा=परमात्मा का प्यारा होता ह (१५)। अनपक्ष अर्थात स्वावलम्बी शुचि अर्थात पवित्र, दक्ष अर्थात कुशल, उदासीन अर्थात अनासक्त, गत यथ अर्थात चिन्ता, भय, पीडा आदि यथाओ से न घब रान वाला तथा सब समारभो से अलग रहन वाला जो मेरा भक्त ह, वह मुझे प्यारा होता ह। जो न हर्षित होता ह और न द्वष करता ह, न शोक करता ह और न आकाक्षा अर्थात चाह रखता ह, और जो शुभ एव अशुभ भावो का सवथा त्याग करने वाला भक्तिमान (यक्ति) ह वह मुझे प्यारा ह। तात्पय यह कि सबके ा मा ा मा ा का सच्चा भक्त वह समत्वयोगी ह, जो कि अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति तथा सब प्रकार की उन्नति के लिए, तथा अपने कत यो को पूरा करन के लिए सवदा दूसरो पर ही निभर न रह कर स्वय उत्साह और धयपूवक उद्यमशील रहता ह और आत्म विश्वासपूवक सात्त्विक भाव से अपने कत य कम करता रहता ह, जो अपने अ त करण को द्वतभाव जन्य मोह, अहकार लोभ, ईर्षा, द्वेष छल छिद्र झूठ आदि राजस-तामस मलिन विकारो से शुद्ध रखता ह, और शरीर को साफ एव सुथरा रखता ह, जो अपने कार्यों में अच्छी तरह कुशल यानी प्रवीण होता ह, जो किसी विशष काय अथवा विशेष उद्योग ही में इतना लवलीन नहीं हो जाता तथा कर्मों के परिणाम के विषय म इतनी आसक्ति नहीं रखता कि दिन रात उसी की चि ता मे निमग्न रहे, कि तु समय और आवश्यकता के अनुसार अपने कतव्य कम अच्छी तरह करता हुआ भी उनमें लिप्त नही होता, एव उनकी सिद्धि और असिद्धि मे निर्विकार रहता ह, तथा अपने आप (आत्मा) को निर पेक्ष अर्थात अकर्ता ही समझता ह, जिसका अन्त करण शोक, भय आदि मानसिक विकारो से इतना सन्तप्त नही होता और शारीरिक पीडा आदि से जो इतना व्याकुल नहीं होता कि जिनसे अपने कत य कर्मो में त्रटि आवे, और जो ऐसे राजसी एव तामसी आडम्बरो और व्यक्तित्व का अहकार बढ़ाने वाले समारम्भो से सवथा अलग रहता ह, जिनके सम्पादन करने की अपनी योग्यता एव सामथ्य न हो, अथवा जिनमें विशेष शक्ति एव

समय का अपव्यय होता हो—जिससे अपने वास्तविक कर्तव्य कर्मों मे बाधा आवे अथवा दूसरो को क्लेश हो (गी० अ० १८ श्लो० २४ २५), उपर्युक्त रीति से अपने कर्तव्य कर्म करने से यदि धन सम्पत्ति मान प्रतिष्ठा, कीर्ति आदि अनुकूलता की प्राप्ति हो तो उससे जो विशेष हर्षित नहीं होता, और हानि, अपमान, अकीर्ति आदि प्रतिकूलता की प्राप्ति हो तो उसके लिए किसी से द्वेष नही करता, प्राप्त पदार्थो का वियोग होने पर जो शोक नही करता, और अप्राप्त पदार्थो की प्राप्ति की लालसा नहीं रखता, और जिसने शुभ और अशुभ के भेदो का प्रभाव चित्त से हटा दिया ह, अर्थात जो यह समझता ह कि कोई भी कम अथवा व्यक्ति अथवा पदाथ वस्तुत न शुभ ह न अशुभ न श्रेष्ठ ह न निकृष्ट, किन्तु अपने अपने स्थान मे सभी साथक एव उपयोगी ह, ससार में निरथक कुछ भी नहीं ह, शुभ और अशुभ का भद अपना अपना भावना पर निभर रहता ह, जो जिसको जसा मानता ह उसे वह वसा ही प्रतीत होता ह वास्तव मे सब-कुछ एक ही परमात्मा के अनक रूप ह—इस प्रकार जो राजस-तामस भावो से ऊपर उठ कर सात्त्विक भाव से सबके साथ प्रम का आचरण करता ह वही परमात्मा का प्यारा भक्त होता ह (१६ १७)। जो शत्रु और मित्र, मान और अपमान, सर्दी और गर्मी, सुख और दु ख मे सम रहता ह, सग अर्थात आसक्ति से रहित ह, निन्दा और स्तुति जिसे बराबर ह, जो मननशील ह, तथा जसी परिस्थिति हो उसमें सन्तुष्ट रहता ह, जिसकी किसी स्थान विशष मे आसक्ति नही होती, और जिसकी बुद्धि स्थिर ह, वह भक्तिमान मनुष्य मुझे प्यारा ह। तात्पय यह कि शत्रुता और मित्रता के भाव मन के माने हुए होते ह—शरीरो के साथ स्वाभाविक नहीं होते, न ये सदा एक से रहते ह। जो व्यक्ति किसी विशेष समय अथवा विशष परिस्थिति मे शत्रु होता ह, वही दूसरे समय अथवा दूसरी परिस्थिति में मित्र हो सकता ह, और जो व्यक्ति किसी विशष समय अथवा विशेष परिस्थिति मे मित्र होता ह, वही दूसरे समय अथवा दूसरी परिस्थिति में शत्र हो सकता ह। वास्तव में शत्रु और मित्र, सब एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनक रूप ह, शत्रुता और मित्रता के भाव विशष कारणो से मन में उत्पन्न होते और मिटते रहते ह, इस निश्चय से जो मित्रता के भाव से किसी के साथ ममत्व की आसक्ति नही रखता और शत्रुता के भाव से द्वेष के वशीभूत नहीं होता, किन्तु जिसकी जसी भावना होती ह, उसके साथ उसी के अनुसार यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी जिसके अन्त करण में समता बनी रहती ह, लोक सग्रह के लिए अपने कर्तव्य कम करन में मान प्रतिष्ठा प्राप्त हो तो उससे जो प्रफुल्लित नहीं होता, और अपमान हो तो उससे जिसका चित्त व्यथित नहीं होता अपने कतव्य कम करने में सर्दी और गर्मी आदि की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता से होने वाले सुख दु ख से जो व्यथित नही होता, किन्तु उनको सहन करता हुआ सम बना रहता ह, निन्दा और स्तुति को एक समान झूठी समझ कर जो उनसे विचलित नहीं होता जो मननशील ह

अथवा जो बहुत वाचाल नहीं होता, अर्थात निरथक बकवाद नही करता, उन्नति के लिए सुचारु रूप से उद्यम करते रहने से जसी स्थिति प्राप्त होवे, उसी में जो मस्त रहता ह, जो किसी देश विशेष अथवा किसी ˜ग्न ि ाय म अथवा घर मे अथवा जगल में—कही भी ममत्व की आसक्ति नहीं रखता कि तु अपन कत˜य और ˜यवसाय के लिए किसी भी देश या स्थान में जाकर रह सकता ह, और जिसकी बुद्धि मे सबके आत्मा=परमात्मा की एकता एव समता का अटल निश्चय होता ह, वह समत्वयोगी सबके आत्मा=परमात्मा का प्यारा भक्त होता ह (१८ १९)। जो श्रद्धापूवक मेरे परायण हुए इस अमत तुल्य धम का जसे (ऊपर) कहा ह उसी के अनुसार आचरण करते ह, वे भक्त मुझे अत्य त ही प्यारे ह। तात्पय यह ह कि सबके आत्मा=परमात्मा म अ त करण जोड कर ऊपर कहे हुए धम म पूण विश्वास रखते हुए जो उसका आचरण—जसा ऊपर कहा ह, उसी तरह करते ह वे सबके आत्मा=परमात्मा के अत्यन्त ही प्यारे होते ह (२०)।

स्पष्टीकरण—श्लोक १३वें से १९वें तक भगवान ने जो अपने प्यारे भक्तो के लक्षण कहे ह, वे उन परमोत्तम भक्तो के स्वाभाविक आचरण ह, जो उपासना के अभ्यास की पूणता को पहुच चुके ह। भक्ति अथवा उपासना के अभ्यास की पूणता होने पर फिर उपास्य उपासक का भी भेद नही रहता अर्थात उनको अपने सहित सारा जगत एक ही परमात्मा के अनेक रूप होने यानी सबकी एकता का अटल एव अचल अनुभव हो जाता ह, और उनसे जो आचरण होते ह, वे सबकी एकता के प्रेम भाव से सबके हित के लिए होते ह, अत उपासना के अभ्यास की पूणता को पहुचे हुए उपरोक्त भक्त पूरे समत्वयोगी होते ह, और इन श्लोको में वर्णित सवभूतात्मक्य-साम्य भाव के आचरण उनसे अनायास ही होते रहते ह। परन्तु जो भक्त परमात्मा की उपरोक्त उपासना की पूणता को नही पहुचे ह, कि तु इसके अभ्यास में लगे हुए ह, अर्थात जो साधक अवस्था में ह उनके लिए प्रयत्नपूवक इन आचरणो के रहस्य को अच्छी तरह समझ कर इनका अभ्यास करना आवश्यक ह।

सच्चे भक्त के स्वाभाविक आचरणो के विवरण के अन्त में—१९वें श्लोक मे "स्थिरमति ' कह कर भगवान ने यह स्पष्ट कर दिया ह कि इन आचरणो का मूल आधार, सबकी एकता के अटल निश्चय की साम्य बुद्धि ह।

यहाँ उपासना का प्रकरण ह, इसलिए भक्ति प्रधान भाषा में यो कहना चाहिए कि "परमात्मा सबमे एक समान ˜यापक ह" यह एकता का विश्वास अ त करण में रखने से ही ये आचरण ठीक ठीक हो सकते ह। यदि दूसरो को परमात्मा से अलग समझ कर उनके हिताहित की उपेक्षा करके, केवल अपने व्यक्तित्व के अहकार से एव व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के लिए, अथवा किसी विशेष व्यक्ति अथवा ˜यक्तियो की स्वाथ सिद्धि के उद्देश्य

से ये आचरण किये जाय तो इनका विपर्यास होकर ये दुराचार में परिणत हो जाते ह, जिससे उलटा अनथ होता ह। इसलिए इन आचरणो के वणन के आरभ ही में भगवान ने इन सबके मूल-मन्त्र "अद्वेष्टा सवभूताना" के साथ "निममो निरहकार समदु खसुख क्षमी" आदि विशेषणो का प्रयोग किया ह, और साथ ही मय्यर्पितमनोबुद्धि कह कर स्पष्ट कर दिया ह कि विशेष व्यक्तियो में ममत्व की आसक्ति और व्यक्तित्व के अहकार से रहित होकर, तथा सुख-दु ख आदि को समान समझ कर, मन और बुद्धि को सबके एकत्व भाव—मुझ (परमात्मा) में लगाये हुए सबके साथ यथायोग्य प्रेम का व्यवहार करना चाहिए। प्रत्येक आचरण, व्यवहार अथवा क्रिया का अच्छापन अथवा बुरापन कर्ता के भाव और उसके उपयोग पर निभर रहता ह। कोई भी आचरण, व्यवहार अथवा क्रिया, सबकी एकता की साम्य-बुद्धि से, सबके हित के उद्देश्य से किय जाने पर श्रेष्ठ अथवा शुभ होती ह अत यह उनका सदुपयोग होता ह, और दूसरो से पथक अपने व्यक्तित्व के अहकार से, दूसरो के स्वार्थों की उपेक्षा करके, केवल अपनी व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के लिए, अथवा किसी विशेष व्यक्ति अथवा विशेष व्यक्तियो ही की स्वाथ सिद्धि के लिए किये जाने पर अशुभ अथवा बुरी होती ह, अत यह उनका दुरुपयोग होता ह। इसलिए इन श्लोको में वर्णित प्रत्येक आचरण के सदुपयोग अर्थात सच्चे स्वरूप का, तथा उसके दुरुपयोग अर्थात विकृत स्वरूप (विपर्यास) का खुलासा आगे विस्तार-पूवक किया जाता ह।

प्रेम (अद्वेष)

सब भूत प्राणी एक ही सत चित-आनन्द-स्वरूप आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक नाम और अनेक रूप ह, इस सवभूतात्मैक्य साम्य भाव से सबके साथ साधारण प्रेम का बर्ताव करना, अपनी तरफ से किसी से भी द्वेष नही रखना, सभी सुखी हो, सभी सन्माग पर चलें, सभी उन्नति करें—इस तरह सबके प्रति सदभावना रखना, और यथाशक्य सबका हित करने का प्रयत्न करना, अपनी तरफ से अहित किसी का भी नहीं करना—यह प्रेम का सदुपयोग अथवा सच्चा स्वरूप ह। परन्तु किसी व्यक्ति विशेष अथवा पदाथ विशेष अथवा समूह विशेष अथवा समाज विशेष अथवा देश विशेष ही में प्रेम को सीमाबद्ध करके, उनके प्रेम में इतना आसक्त हो जाना कि उनके साथ यथायोग्य व्यवहार भी न करना अथवा अपने कतव्यो में त्रुटि करना, अथवा उन व्यक्तियो से यथायोग्य काम न लेना, अर्थात उनसे काम लेने से उन्हे शारीरिक परिश्रम या कष्ट होगा—इस विचार से उनसे अपने-अपने कतव्य पालन करवाने की उपेक्षा करना, अथवा उनको पहले थोडा-सा कष्ट होने से उसके परिणाम में उनका अथवा दूसरो का हित होता हो तो भी प्रेम-वश उनका वह थोडा-सा कष्ट सहन न कर सकना, अथवा

उनके सुखो के लिए दूसरो पर अत्याचार करना या दूसरो के कष्टो की परवाह न करना—यह सच्चा प्रेम नहीं किन्तु प्रेम का विपर्यास अर्थात मोह ह। विशेष व्यक्तियो तथा पदार्थों में प्रेम की आसक्ति मोह में परिणत होकर उनके साथ राग और दूसरो के साथ द्वेष उत्पन्न कर देती ह, जिससे बडे अनथ होते ह। अजन को भी विशेष व्यक्तियो के साथ प्रम का आसक्ति हाकर माह उत्पन्न हा गया था जिससे वह बहुत ही व्याकुल एव किकतव्य विमूढ हो गया था, और उसी के लिए भगवान ने उसे यह उपदेश देकर उसका मोह दूर किया था। सच्चे प्रेम का खुलासा करने ही के लिए १३वें श्लोक मे भगवान ने "निमम, निरहकार' आदि विशेषणो का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया ह कि विशेष व्यक्तियो मे ममत्व की आसक्ति और व्यक्तित्व के अहकार से रहित होकर तथा सुख दु ख को समान समझ कर सबके साथ यथायोग्य प्रेम का बर्ताव करना चाहिए।

× × ×

आत्मा अथवा परमात्मा की त्रिगणात्मक प्रकृति के जगत रूपी इस खेल में नाना प्रकार के लोग होते ह और उनकी भिन्न भिन्न प्रकार की योग्यता और भिन्न भिन्न प्रकार के परस्पर के सबध होते ह, अत प्रेम का बर्ताव भी पथक पथक व्यक्तियो की योग्यता के अनुसार और परस्पर के सबध के अनरूप भिन्न भिन्न प्रकार का होता ह। जिस तरह विशेष विभूति सम्पन्न सुखी लोगो से मित्रता, दुखियो के प्रति दया, सज्जनो के साथ मदिता दुष्टो के साथ उपेक्षा, बडो के प्रति भक्ति, स्त्री का पुरुष के प्रति पातिव्रत, पुरुष का स्त्री के प्रति पत्नीव्रत, छोटो के प्रति वात्सल्य, बराबरी वालो से स्नेह और अपने से हीन स्थिति वालो के साथ अनुग्रह के रूप में प्रेम का बर्ताव होता ह। उन सबका अलग अलग स्पष्टीकरण इस प्रकार ह —

मित्रता

जो लोग सुखी हो, धनवान, बुद्धिमान, विद्वान, ऐश्वयवान, सत्तावान, सामथ्य वान—इत्यादि विशष योग्यता-सम्पन्न हो, उनके प्रति मित्रता का भाव रखना, अर्थात उनको अपना मित्र समझ कर प्रसन्न होना, उनसे ईर्षा, द्वेष आदि न करना, उनके साथ मधुरता और शिष्टाचार का बर्ताव करना और आवश्यकता होने पर उनको सहयोग देना—यह सच्ची मत्री ह। परन्तु यदि उक्त सुखी धनी, बद्धिमान, विद्वान, ऐश्वयवान, सत्तावान अथवा सामथ्यवान लोग दुष्ट और दुराचारी हा जिनमे दसग का अहित होता हो या दूसरो को कष्ट पहुचता हो, तो उनसे मित्रता रखना अथवा उनको सहयाग देना सच्ची मत्री नहीं, किन्तु मत्री का दुरुपयोग अथवा विपर्यास ह, क्योकि विशेष योग्यता सम्पन्न लोग यदि साधारण लोगो पर अन्याय अथवा अत्याचार करते हं, तो उससे सारे

समाज में बडी विश्रृंखलता उत्पन्न होती ह, और उनसे सबको कष्ट होता ह, तथा वे स्वय सबके एकत्व भाव=परमात्मा से विमुख होते ह, अत उनसे सहयोग करना स्वय उनसे तथा दूसरो से शत्रुता करना ह ।

करुणा—दया

जो प्राणी दु खी हो, अर्थात आधिभौतिक, आधिन्त्रिक अथवा आध्यात्मिक आदि किसी भी प्रकार की विपत्ति से ग्रस्त हो, अत्याचार-पीडित हो, अनाथ हो, असहाय हो, दीन हो अथवा असमथ हो, उनके प्रति दया का भाव रखना यदि अपने में सामथ्य हो तो यथाशक्य उनके दु खो में सहायक होना और उनकी दु ख निवत्ति का यत्न—तन, मन, वचन एव धन से—करना, और यदि सामथ्य न हो तो मन में दया का भाव रखके उनकी दु ख निवत्ति की कामना अवश्य करना—निष्ठुरता कदापि न करना—यह सच्ची करुणा अथवा दया ह । पर तु करुणा के वश होकर पात्रापात्र के विचार बिना, धूर्तों, पाखण्डियो दुराचारियो, आलसियो, खशामदियो मुफ्तखोरो एव ठगो आदि कुपात्रो पर दया करके उनको सहायता देकर उनके दुगणो को बढाना, भले आदमियो तथा गरीबो पर अत्याचार करने वाले दुष्टो और दुराचारियो पर दया करके उनके अपराधो तथा कुकर्मों का उ हे दण्ड न देना, जीव दया के भाव से इतना प्रभावित हो जाना कि अपने कतव्य कम अर्थात लोक-सग्रह के व्यवहार करने में, किसी प्राणी के कष्ट होने की सभावना से त्रुटि करना, हीन कोटि के प्राणियो पर दया करने के लिए उच्च कोटि के प्राणियो को कष्ट अथवा हानि होन की अवहेलना करना, किसी व्यक्ति-विशेष अथवा समाज विशेष के दु खो से आद्र होकर निर तर उसी की चिन्ता करते रहना, और उसके मोह में उलझ कर कत याकतव्य का ज्ञान भूल जाना, और लोक हित के व्यवहारो की अवहेलना करना—यह दया नहीं ह कि तु दया का दुरुपयोग एव मानसिक दुबलता ह ।

मुदिता

जो लोग शुभ काम करते हो, श्रेष्ठ आचरण वाले हो, ज्ञानी, दानी, भक्त अथवा परोपकारी हो, जिनसे उनकी कीर्ति होती हो और जिनसे लोगो में वे माननीय एव प्रति ष्ठित समन जान हो एम सज्जनो की उक्त कीर्ति, मान और प्रनिष्ठा रा मन में मोद करना, अर्थात जिस तरह अपन तथा पन आत्मीय जना के सत्कार्यों की प्रशसा सुन कर मन में मोद होता ह उसी तरह प्रसन्न होना, अ य लोगो के सत्कर्मों की प्रशसा सुनकर मन में न कुढ़ना और उनकी कीर्ति अथवा प्रशसा की क्षति पहुचाने की चेष्टा न करना—यह मुदिता ह । परन्तु आसुरी स्वभाव वाले अभिमानी एव ा नि १ प धनाढयो के धम के नाम से किये जाने वाले राजसी तामसी आडम्बरो और कपट से किये हुए ऊपरी दिखावे

मात्र की भक्ति और सत्कार्यों से प्रसन्न होकर उनकी तारीफ के ढोल पीटना—यह मुदिता नहीं किन्तु चापलूसी ह ।

उपेक्षा

मूख, दुराचारी, आततायी, धूत, ठग, दभी, पाखडी आदि दुष्ट प्रकृति के लोग, जिनकी करतूतो से जनता में एकता के विरुद्ध अनेकता और फूट के भाव बढते हो, और जिनसे लोगो को पीडा होती हो एव समाज का अहित होता हो, उनसे सहयोग और सहानभूति न रखना, यदि अपनी योग्यता और सामथ्य हो तो उनकी मूखता, दुष्टता, धोखेबाजी, दम्भ, पाखण्ड आदि छुडाने का यत्न करना, यदि समझाने और शिक्षा देने से उनकी मूखता, दुष्टता, धोखेबाजी, दम्भ पाखण्ड आदि न छूटें तो उनको डराना, धमकाना एव यथायोग्य दण्ड देना, और ऐसा करने से भी यदि उनके अत्याचार कम न हो तो अत्यन्त आवश्यकता होने पर स्वय उनके तथा सबके हित के लिए उनको प्राण दण्ड तक दे देना—इस तरह करने में उनके शारीरिक और मानसिक कष्ट अथवा शरीर नाश की परवाह न करना यानी उपेक्षा करना, और यदि सामथ्य न हो तो उनसे उदासीन रहना अर्थात उनका सग न करना—यह सच्ची उपेक्षा ह । ऐसे दुष्ट लोगो की दुष्टता छुडाने के लिए द्वेष भाव के बिना उन्हे दण्ड देना अथवा दिलाना, वास्तव में उनके साथ तथा सबके साथ प्रेम करना ही होता ह क्योकि दुष्टो की दुष्टता छुडाने से स्वय उनका तथा सबका हित होता ह । परन्तु दुष्टो की दुष्टता छडाने की योग्यता और सामथ्य होते हुए भी इस विचार से उदासीन रह कर उपेक्षा करना कि "इनकी दुष्टता से हमें क्या प्रयोजन ? अपनी करनी का फल ये आप ही भोगेंगे, यदि हम इनको दण्ड देंगे या दिला वेंगे तो हमको पाप लगेगा, अथवा हमारा अन्त करण कलुषित होगा"—यह उपेक्षा का दुरुपयोग ह, तथा दुष्टो के कुकर्मों और कुचेष्टाओ में सहायक होना ही नहीं, कितु उन्हे सहयोग देकर उनकी दुष्टता बढाना ह, और साधारण जनता के साथ अन्याय करना ह ।

मात पित भक्ति

समाज का सुव्यवस्थित रखने और दूसरो से पथक अपने व्यक्तिगत स्वाथ और व्यक्तित्व के अहकार की आसक्ति कम करने के लिए, माता पिता की भक्ति आवश्यक ह, क्योकि जिस तरह माता पिता अपनी सन्तानो का गभ से लेकर बडे होने तक पालन पोषण, रक्षण शिक्षण आदि—एकता के प्रेम तथा नि स्वाथ भाव से—करते ह, तभी सन्तान ससार के व्यवहार करने योग्य होते ह, उसी तरह वृद्धावस्था में माता पिता के शरीरो के शिथिल हो जाने पर उनकी सवा शुश्रूषा पालन-पोषण आदि एकता के प्रेम तथा निस्स्वाथ भाव से सन्तान करे, तभी वे लोग शान्तिपूवक अपना जीवन यापन कर सकते ह और परस्पर में इस तरह व्यवहार करने से व्यक्तिगत स्वार्थों के त्याग और

दूसरो के साथ एकता के प्रेम का अभ्यास होता ह। अत माता पिता की सेवा शश्रूषा एव आ र ग न्कार तथा वद्धावस्था में उनका पालन-पोषण निस्स्वाथ भाव से अपना कतव्य समझ कर करना, अपने सात्त्विक व्यवहारो से उनको सुख देना, ा न।। ागा ो व्यवहार करके तथा विषय भोगो के लिए उ्हे कभी कष्ट न देना, तथा कभी उनका अपमान न करना उनकी उचित आज्ञाओ का पालन करना एव उनकी आत्मिक उन्नति के व्यवहारो में सहायक होना—यह सच्ची मात पिन भक्ति ह। परतु माता पिता की जिन आज्ञाओ से सात्त्विक आचरणो और लोकहित के कामो में बाधा पहुँचती हो, अथवा जिनसे आत्मिक पतन होता हो, तथा जो आत्मिक उन्नति के विरुद्ध हो, उनको अ ध-श्रद्धा से, केवल इसलिए मानना कि माता पिता की आज्ञा पालन करना प्रत्येक दशा में उचित ही ह, माता पिता के अप्रसन्न होने के भय से उ्हे उचित सम्मति न देना, उनकी रजागुणी-नमागणा वत्तियो को प्रसन्न करने के लिए आत्मिक पतन और समाज का अहित करने वाले व्यवहार करना, उनके आधिभौतिक शरीर के मोह में फसे रह कर उनके सच्चे आत्मिक सुख के विषय में उपेक्षा करना, अथवा उनके जीवन-काल में उनकी उपेक्षा एव अपमान करते रह कर मरने के बाद रोना चिल्लाना शोक करना तथा क्रिया-कम, मत भोज की जीमणवारें, श्राद्ध आदि लोक दिखावे के राजमी तामसी आडम्बर करके स्वय क्लेश उठाना और दूसरो को भी क्लेश पहुँचाना—यह मात पितृ भक्ति का दुरुपयोग अथवा मात पित द्रोह ह।

गुरु भक्ति (आचार्योपामना)

सद्विद्या पढा कर ससार-यात्रा के लिए सन्माग दिखाने वाले तथा अध्यात्मज्ञान का सच्चा उपदेश देने वाले, श्रेष्ठ आचरणो युक्त सदगुरु की सेवा शश्रूषा, आदर सत्कार, भरण-पोषण आदि, भक्ति और आदर सहित करना, उससे प्राप्त की हुई विद्या तथा ज्ञान को बढ़ाना और अपनी आधिभौतिक, आधिदविक और आध्यात्मिक तीनो प्रकार की उन्नति करने में तत्पर रहना, तथा उससे दूसरो को भी लाभ पहुचाने के लिए प्रयत्न शील रहना—यह सच्ची गुरु भक्ति ह। परन्तु ऐसे सदगरु के उपदेशानसार आचरण न करके उसके शरीर ही को ईश्वर-स्वरूप मान कर उसका अचन पूजन और चरण-स्पर्शादि करने तथा भेंट चढाने मात्र ही से अपने को कृतकृत्य समझना, मूख, पाखण्डी, अज्ञानी, दुराचारी एव धूत—वशपरम्परागत अथवा साम्प्रदायिक—गुरुओ से, केवल जनेऊ, कण्ठी आदि बँधवा कर अथवा दीक्षा लेकर, अ धविश्वास से उनकी आज्ञाओ का पालन करना, अपनी बुद्धि से कुछ भी काम न लेकर उनके मुख से निकले हुए वचन ही प्रमाण मानना और उनके घेरे के पशु बन जाना, ऐसे कुपात्र गुरुओ का आदर सत्कार तथा भेंट-पूजा करके उनका गौरव बढ़ाना, तथा तन, मन, धन, आदि सब-कुछ उनको देकर उनके दुराचारो में सहायक होना—यह गुरु भक्ति का दुरुपयोग ह।

सदगुरु अपने शिष्यो को निस्स्वाथ प्रेम भाव से ˜नरा मत्र प्रराˆ ग। ˜न्नति के लिए सत्य ज्ञान का उपदेश देते ह, अत वे शरीर के अचन-पूजन आदि से तथा आर्थिक भेंट पूजा और भोग्य-सामग्रिया से सतुष्ट नहीं होते, कि तु उनके उपदेशो को धारण करने द्वारा अपनी सर्वांगीण उन्नति करने के साथ-साथ दूसरो का हित करने और उनसे प्राप्त की हुई विद्या और ज्ञान को आगे बढाने से ही वे सतुष्ट रहते ह ।

पति भक्ति अथवा पातिव्रत

इस ससार की रचना नर और मादा के जोडे के रूप में ह । जगत का आधा अग नर और आधा मादा ह, अत नर-मादा का जोडा प्राकृतिक ह । नर ˆौर माˆा की शारारिक रचना में प्राकृतिक अन्तर ह, जिसके कारण नर में कई प्रकार की विशेषताए और कई प्रकार की न्यूनताएँ होती ह, और मादा में दूसरे प्रकार की विशेषताएँ और दूसरे प्रकार की न्यूनताएँ होती ह, अत दोनो का परस्पर मेल अथवा योग होने से दोनो पूण होते ह । इसलिए नर और मादा का सहयोग एव सहवास प्राकृतिक एव ˜ा ाग्णाया आव श्यक ह । जिन प्राणियो में बुद्धि का विकास नहीं होता अथवा बहुत कम होता ह उनमें नर-मादा के सहयोग और सहवास की कोई नियमित व्यवस्था नहीं हाती—चाह जो नर, चाहे जिस मादा के साथ सहवास करता ह । पर तु मनुष्य (स्त्री-पुरुष) में बुद्धि का विशेष विकास होने के कारण, उसने अपने जीवन को इस प्रकार सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया ह, कि जिससे वह आधिभौतिक, आधिदविक और आध्यात्मिक, सब प्रकार की उन्नति करता हुआ शा ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति-रूप परमपद को पहुँच जाय । इस उद्दश्य की सिद्धि के लिए उसने समाज व्यवस्था बनाई, और उस समाज-व्यवस्था की प्रधान भित्ति, एक नर (पुरुष) का एक मादा (स्त्री) के साथ सहवास करने के नियम ह, जिनके अवलम्बन से दोनो अपने-अपने प्राकृतिक वेगो को मर्यान्ति रूप से शान्त करते हुए तथा एक दूसरे के सहयोग और सहायता से अपनी-अपनी योग्यता के सासारिक व्यवहार करने द्वारा एक दूसरे की आवश्यकताआ की पूर्ति करते हुए ससार चक्र को चलाने में सहायक हो, और साथ ही अपनी सब प्रकार की उन्नति करने में अग्रसर होते रहे । इसलिए प्रत्यक समाज में अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुकूल, एक पुरुष का एक स्त्री के साथ सहवास के नियम बनाये जाते ह और उन नियमो के अनुसार स्त्री-पुरुष के सम्ब ध जोडे जाते ह—जिनको विवाह कहते ह ।

ऊपर कह आये ह कि नर और मादा की शारीरिक रचना में प्राकृतिक अन्तर होता ह, और उनमें भिन्न भिन्न प्रकार की विशेषताए और ˜यूनताएँ होती ह । स्त्री का स्वभाव साधारणतया पुरुष की अपेक्षा विशेष कोमल, चचल, भावुक, भीरु तथा लज्जाशील होता ह और अपने जोडे के पुरुष की अपेक्षा उसमें बल और साहस कम होता

ह, सेवा भाव की अधिकता होती ह, और शरीर कुछ छोटा, सुकुमार (नाजुक) एव सु दर होता ह, गभ धारण करने और सन्तानो का पालन-पोषण करने की उसकी स्वाभा विक योग्यता होती ह । स्त्री की अपेक्षा पुरुष अधिक बलवान, साहसी, दीघ और दढ़ काय, कठोर हृदय एव विचारशील होता ह । इसलिए पुरुष जगत अथवा समाज का ज्यष्ठ अथवा दक्षिण अग माना गया ह और स्त्री कनिष्ठ अथवा बाम अग मानी गई ह । अत स्त्री के लिए पुरुष के सरक्षण और शिक्षण में रहना उसके अनुकूल होने वाले आचरण करना और उसे प्रसन्न रखना आवश्यक ह और पुरुष के लिए स्त्री के प्रति आदर और प्रेम रखते हुए उसे सदुपदेश तथा सत्परामश देकर सन्माग पर चलाना उसको सुरक्षित रखना, उमरा उचिन आवश्यकताओ की यथाशक्य पूर्ति के लिए प्रयत्न करना और सद व्यवहार से उसे सदा प्रसन्न रखना आवश्यक ह । स्त्री का मुख्य कत य घर-गहस्थी के सब काय सँभालना और करना तथा बाल-बच्चो को पालना एव उनकी रक्षा शिक्षा का प्रब ध करना ह, और पुरुष का मुख्य कत य द्रव्योपाजन करके अपने स्त्री-बच्चो आदि कुटुम्ब का भरण पोषण करना ह । दोनो अपने अपने कतव्यो का ठीक-ठीक पालन करके एक-दूसरे की आवश्यकताओ की पूर्ति करें तथा परस्पर में सहायक होवें तभी ससार के व्यवहार ठीक-ठीक चल सकते ह । अस्तु, स्त्री के लिए पति भक्ति अथवा पाति व्रत का पालन करना आवश्यक ह, अर्थात माता पिता द्वारा अथवा उनकी अनुपस्थिति में जो अ य सरक्षक हो उनके द्वारा, केवल वर-कन्या के हित के उद्दश्य से तथा उनकी पूण सम्मति लेकर सदभावना से नियत किये हुए, एव अपने समाज की पद्धति के अनुसार विवाहित सुयोग्य पति के साथ अन य प्रेम रखना, अर्थात उसके सिवाय दूसरे किसी पुरुष से स्त्री-पुरुष के महूाग मम्ज ३ा प्रानि न रखना, अपन यक्तित्व को उसके व्यक्तित्व के साथ जोड देना तन, मन और वचन से उसका कोई अहित न करना, उसके व्यवसाय में सहायक होना, उसके सुख दु ख, हानि लाभ, हष-शोक, मान-अपमान, नि दा-स्तुति आदि को अपना ही समझना घर-गहस्थी के कामो से उसे निश्चिन्त रखना, शद्ध एव सात्त्विक भोजन तथा सेवा-शश्रूषा आदि से उसके स्वास्थ्य की रक्षा करना, मीठे वचनो से तथा नम्र एव सत्य व्यवहार से उसको प्रसन्न रखना उससे कभी छल कपट और असत्य का व्यवहार न करना वस्त्राभूषण विषय भोग, ामा प्रमान धम-पुण्य, तीथ व्रत आदि के लिए खच करने के लिए उसे तग न करना, तथा उसकी प्रसन्नता के बिना इस तरह का कोई काय भी न करना, [illegible] के साधनो में सहयोग देना—यह सच्ची पति भक्ति अथवा पातिव्रत ह । परन्तु मूख, स्वार्थी, निदयी एव कत य विमख माता पिता अथवा अन्य सरक्षको आदि द्वारा नियत किये हुए, क्रूर प्रकृति के दुष्ट, दुराचारी, गुणहीन, अयोग्य, प्रमादी, कत यच्युत अथवा बेजोड पति के अत्याचारा को चुपचाप सहते रहना, [illegible] आज्ञाओ का भी

अपने अन्त करण के विरुद्ध पालन करते रहना हृदय में प्रम हुए बिना ही ऊपर से जबदस्ती प्रेम दिखाकर अपनी आत्मा का पतन करना, ऐसे दुष्ट पति को प्रसन्न करने के लिए दिन रात परिश्रम करते रहना, इस अ धविश्वास से कि "मेरे भाग्य में यही लिखा था" इस तरह के नशस पति के साथ जन्मभर बधे रह कर, इस दुलभ मनुष्य-जीवन का वास्तविक लाभ न उठाकर इसे शारीरिक एव मानसिक क्लेशो में ही बिता देना, पति के मरन पर सदा रोते चिल्लाते एव जन्मभर शोक करते रहना, तथा हठपूवक भूखे-प्यासे रहने, सर्दी-गर्मी सहने आदि शरीर को कृश करने वाले तप करके, शरीर को सुखाकर अपने अत करण को क्लेश देना, और हठपूवक बलात वधव्य रख कर अस्वा भाविक पति भक्ति को अ ध-श्रद्धा से इस दुलभ मनुष्य जीवन को शोक और दु ख ही में पूरा कर देना, तथा शरीर के प्राकृतिक वेगो को सहन न कर सकने पर दूसरा विवाह न करके व्यभिचार में प्रवत होना और गभपात आदि के पाप करना—यह पति भक्ति नहीं, कि तु आत्म हनन ह ।

पति-पत्नी भाव का विशेष सम्ब ध केवल शरीरो का होता ह, और जसा कि ऊपर कह आये ह वह सम्ब ध समाज की सुव्यवस्था और स्त्री पुरुष दोनो के सुख शान्तिपूवक जीवन यापन करने के लिए यहा ही अर्थात इन शरीरो में ही जोडा जाता ह । इस विवाह सम्ब ध का अधिक महत्त्वपूण प्रयोजन यह भी ह कि दोनो का व्यक्तित्व विवाह से एक हो जाता ह, और पथक व्यक्तिगत स्वार्थों अथवा अधिकारो की खाचातानी नहीं रहती, अत अपने पथक व्यक्तित्व को सबके साथ जोड कर सबसे एकता का अनुभव करने, अर्थात सर्वात्म भाव के अभ्यास में यह सम्ब ध सबसे बडा सहायक ह । परन्तु यह प्रयोजन तब ही सिद्ध हो सकता ह, जब कि पति और पत्नी दोनो इस रहस्य को अच्छी तरह समझ कर एक दूसरे के प्रति अपने कत य पूण रूप से पालते रहे, और विवाह के नियम इस उद्देश्य की सिद्धि के लक्ष्य से ही बनाये गये हो—इकतरफे स्वाथ के न हो, जसे कि वत मान में ह ।

पत्नी व्रत

अपने-अपने समाज की विवाह पद्धति के अनुसार विवाहित सुयोग्य पत्नी के साथ अन य भाव का प्रेम रखना, अर्थात उसके सिवाय अ य किसी स्त्री के साथ पति-पत्नी के सम्ब ध का प्रेम न रखना, आदर और सम्मानपूवक उसके साथ सद यवहार करना, सब प्रकार की आपत्तियो से यथाशक्य उसकी रक्षा करना, सुशिक्षा और सदुपदेशो द्वारा उसकी शारीरिक और आत्मिक उन्नति में सहायक होना द्रव्योपाजन करके उसके भरण पोषण का पर्याप्त प्रब ध रखना, अपनी स्थिति के अनुसार उसके लिए वस्त्र आभूषण आदि शृगार तथा अ य मनोविनोद एव चित्त की प्रसन्नता के साधनो द्वारा उसे प्रसन्न

रखना, उसके सुख-दु ख, मान-अपमान नि दा-स्तुति आदि को अपनी ट्रा गमनाना अपने यक्तित्व को उसके यक्तित्व के साथ जोड कर एकता कर देना, और इस बात का सदा ध्यान रखना कि अपनी तरफ से ––ाना ि ा प्रकार का शारीरिक एव मानसिक कष्ट न होने पावे—यह सच्चा पत्नी प्रेम अथवा पत्नी व्रत ह। पर तु पत्नी के रूप और यौवन में आसक्त होकर दिन रात उसी की उपासना में लगे रहना और अपने कतव्य को भूल जाना, उसकी मूखतापूण आज्ञाओ का पालन करके उसे निरकुश बना देना, उसके अप्रसन्न होने अथवा रूठने की आशका से उसको सुशिक्षा अथवा सदुपदेश न देना, उसकी अनुचित एव अनावश्यक मागो की पूर्ति करने के लिए अपनी शक्ति से अधिक व्यय करके तग होना, कलहकारिणी और दुराचारिणी पत्नी के साथ प्रेम न होते हुए, तथा उससे दाम्पत्य-सुख न होते हुए भी, दूसरा विवाह न करके परस्त्री-गमन आदि दुराचारो में प्रवत्त होना, और एक स्त्री के मरने पर उसके मोह और शोक में रोते रहना, एव एक पत्नी-व्रत पालन करने के हठ अथवा अभिमान में दूसरा विवाह न करना, और काम का वेग सहन न हो सकने पर वेश्या-गमन आदि पापाचार में प्रवत्त होना—यह पत्नीव्रत का दुरुपयोग ह।

स्वामी भक्ति

ससार के व्यवहार सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए नौकर का मालिक के प्रति पिता का भाव, और मालिक का नौकर के प्रति पुत्र का भाव रहना आवश्यक ह, और अपने पथक व्यक्तित्व को दूसरो के साथ जोड कर सबसे एकता करने का अभ्यास इस सबध से भी बढता ह। अत शरीर और उसके सबधियो के पालन-पोषण आदि के लिए यदि किसी की नौकरी करना स्वीकार किया हो तो जब तक उसकी नौकरी करे, तब तक उस स्वामी के प्रति एकता के प्रेमपूवक आदर और श्रद्धा के भाव रखना जो सेवा स्वीकार की हो उसको दत्तचित्त होकर सचाई, प्रसन्नता, उत्साह और तत्परता के साथ अच्छी तरह पूरी करना जो काम अपने जिम्मे हो उसमें त्रुटि न आने देना, तथा जो वस्तु अपन सुपुद हो उसकी हानि न होने देना, स्वामी का कभी अहित चि तन न करना उसके सुख दु ख, हानि लाभ, नि दा स्तुति आदि अपनी ही समझना, उससे कभी छल-कपट आदि का मिथ्या व्यवहार न करना, उसको हानि या कष्ट पहुचे ऐसा कोई काम न करना, सदा उसे उचित सम्मति देना, एव हानिकारक अथवा अनुचित कामो में प्रवत्त होने से रोकना—यह सच्ची स्वामी भक्ति ह। परन्तु दुष्ट, दुराचारी, आततायी एव मूख स्वामी की अनुचित आज्ञाओ का अ धविश्वास से पालन करते रहना, उसके अनुचित व्यवहारो में "हाँ में-हाँ" मिला कर उनका प्रतिवाद न करना, अथवा उसे उचित सम्मति न देना, और उसकी भक्ति के वश होकर अथवा वेतन के लोभ से दूसरो पर अ याय और अत्याचार

करने में उसको सहायता देना, तथा आत्मिक पतन करने वाले काय करना—यह स्वामी भक्ति नहीं अपितु स्वामा ग्राह ह।

वात्सल्य

अपनी सन्तान, प्रजा, सेवक, शिष्य एव अपने सरक्षण में आये हुए लोगो के साथ अपनी एकता का अनभव करते हुए नि स्वाथ भाव से प्रेमपूवक उनके पालन पोषण, रक्षण शिक्षण आदि की सु यवस्था करना, उनको अनिष्ट से बचाने तथा उनकी सर्वांगीण उन्नति करने के लिए सदभावना-युक्त प्रयत्न करते रहना, उनके सुख दु खो को अपने ही समान समझना सदुपदेशो द्वारा उनका अज्ञान दूर करके उनको सन्माग पर चलाना, उनसे अपने-अपने कत य पालन करवाना, और उनको बुरी सगति, खोटे यवहारो, कुव्यसनो तथा विलासिता से बचाना—यह सच्चा वात्सल्य ह। पर तु छोटे सबधियो के शरीरो के प्रेम में इतना आसक्त हो जाना कि उनकी अरुचि के कारण उनको विद्याध्ययन आदि सदगणो में प्रवत्त न करना एव सुशिक्षा न दिलाना, उनको कुमार्गी होने तथा अनथ करने से न रोकना राजस तामस आहार विहार की उनकी आदत डालना, प्रत्यक्ष मे उनको थोडा शारीरिक कष्ट होने के भय से परिणाम में प्राप्त होने वाले बहुत सुख की उपेक्षा करना उनसे उनके कत य पालन करवाने में असावधानी करना, और विपरीत आचरण करने पर उचित दण्ड न देना—यह वात्सल्य नहीं कि तु निष्ठुरता ह।

स्नेह

अपने बराबर के स्नहियो के साथ अपनी एकता का अनुभव करते हुए नि स्वाथ भाव से प्रेमपूवक उनके साथ सद यवहार करना उनकी वास्तविक आवश्यकताआ की पूर्ति तथा कष्ट निवारण में सहायक होना, अनिष्ट से बचाकर उनके सच्चे सुख तथा वास्तविक हित-साधन के लिए यत्न करना तथा उनके हित की सम्मति देना, और उनके सुख-दु ख, मान अपमान कीर्ति आदि को अपने समान ही समझना—यह सच्चा स्नेह ह। पर तु स्नेहियो के यक्तित्व के स्नेह में इतना आसक्त हो जाना कि उनकी अप्रसन्नता के भय से उ हें उचित सम्मति आदि भी न देना, उनके अनुचित एव हानिकर यवहारो में साथ देना, अथवा उनके स्नेहवश स्वय अनुचित काय करना—यह स्नेह का दुरुपयोग ह।

निममत्व अथवा अनासक्ति अथवा उदासीनता

सबके साथ प्रेम का उपयक्त यथायोग्य बर्ताव करते हुए भी किसी विशेष व्यक्ति, विशष शरीर विशष समाज, विशेष देश, विशेष काय, विशष व्यवहार अथवा विशेष पदाथ ही में इतना आसक्त न हो जाना कि जिससे दूसरो के साथ यथायोग्य प्रेम का बर्ताव करने में बाधा लग, अथवा अपना कत य पालन करने में त्रुटि आवे, अपनी योग्यता

के सब प्रकार के सासारिक व्यवहार करते हुए और इन्द्रियो के विषयो को नियमित रूप से भोगते हुए तथा धन-सपत्ति, घर-गृहस्थी आदि रखते हुए एव स्त्री-बच्चो में रहते हुए भी उनमें इतनी प्रीति नहीं रखना कि उनके न होने पर मन व्याकुल हो जाय—यह सच्ची निममता अथवा अनासक्ति अथवा उदासीनता ह। समत्वयोगी भक्त इस प्रकार निमम, अनासक्त अथवा उदासीन रहता ह। परन्तु निममता अथवा अनासक्ति अथवा उदासीनता का यह तात्पय नही ह कि घर-गहस्थी, कुटम्ब परिवार धन-सम्पत्ति तथा सब काम धधो एव जिम्मेवारियो को छोड दिया जाय अथवा बेपरवाही करके इनको रुला दिया जाय, तथा अपने कतव्य कर्मो में मन न लगाकर असावधानी से उन्हे बिगडने दिया जाय, अथवा उनके सुधरने बिगडने की परवाह न की जाय, और इन्द्रियो के विषयो तथा व्यापारो की तरफ से इतना उदासीन हो जाय कि उनके अच्छेपन बुरेपन अथवा औचित्य अनौचित्य का ध्यान ही न रहे—अथवा उन्हें सवथा छोड दिया जाय—यह निममता, अनासक्ति अथवा उदासीनता का दुरुपयोग अथवा विपर्यास ह।

निरहकार

अमुक काय "म करता हूँ, मेरे ही किये से होता ह, यदि म न करू तो नहीं हो सकता", अथवा "मने कर्मों का त्याग कर दिया अथवा कर दूगा", इस तरह कर्तापन के व्यक्तित्व का अहकार न करना, तथा "मेरा वण अथवा आश्रम ऊँचा ह, म बडा हू, म कुलीन हूँ, म पवित्र हूँ म प्रतिष्ठित हू, म धनवान हू, म बलवान हू, म रूपवान हू, म विद्वान हूँ, म बुद्धिमान हूँ म कुटुम्बवान हू" इत्यादि शारीरिक उपाधियो के झूठे अभिमान से मतवाला न होना, सदा इस बात का ध्यान रखना कि "शरीर और उसकी उपाधियाँ अनित्य अर्थात आने जाने वाली तथा सदा बदलते रहने वाली ह, और जगत सब, एक ही आत्मा के अनेक कल्पित रूप ह, इसलिए इनके सारे व्यवहार सबके सहयोग से होते ह, दूसरे व्यक्तियो अथवा शक्तिया के बिना म अकेला कुछ भी नहीं कर सकता", इस तरह अपने पथक व्यक्तित्व के अहकार का सबके एकत्व भाव में समावेश कर देना—यह सच्चा निरहकार ह, समत्वयोगी भक्त इस प्रकार निरहकारी होता ह। परन्तु अपने वास्तविक आप—आत्मा के अस्तित्व की और प्रकृति के स्वामित्व की सुध न रखना, अपने कतव्य कम करने में अपने अस्तित्व तथा दायित्व को सवथा भूल जाना, अपने को एक अत्यन्त क्षुद्र, दीन, हीन, नगण्य व्यक्ति मान कर, दूसरे किसी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष व्यक्ति अथवा शक्ति, अथवा प्रकृति पर ही निभर हो जाना, एव स्वावलम्बन के बदले परावलम्बी बन जाना—यह निरहकार नही, किन्तु प्रकृति के स्वामी—चतन आत्मा को जड बना देना ह।

क्षमा

किसी से भूल अथवा मखता से अथवा अज्ञानवश, अथवा जान कर भी कोई अपराध अथवा हानि हो जाय, और उसके लिए उसके मन में पश्चात्ताप अथवा ग्लानि हो तो उस अपराध को सहन कर लेना, उस अपराधी से बदला लेने का भाव न रखना तथा उसे दण्ड न देना, और यदि उसके मन में पश्चाताप या ग्लानि न हो तो भी एक-दो बार उसके अपराधो को क्षमा करके उसे सँभलने का अवसर देना—यह क्षमा ह, समत्वयोगी भक्त इस तरह पूण क्षमाशील होता ह। पर तु यदि कोई दुष्ट प्रकृति का व्यक्ति मना करने पर भी अपराध करता ही रहे, जिससे अपने को तथा दूसरे लोगो को पीडा अथवा हानि होती हो, और उस दुष्ट को दण्ड देने की शक्ति एव योग्यता अपने में हो, फिर भी उसके अत्याचारो को बार बार सहन करते रहना—उसे दण्ड देकर अत्याचारो से निवत्त न करना—यह क्षमा का दुरुपयोग अथवा विपर्यास ह, इससे दुष्टो का साहस बढता ह, और वे लोगो पर अधिक अत्याचार करते ह।

स तोष

अपने कतव्य-कम पूणतया शक्ति और युक्ति के साथ उत्साह और धयपूवक अच्छी तरह करते रहने से जो सुख-दु ख हानि लाभ, कीर्ति-अकीर्ति, मान-अपमान आदि प्राप्त हो जायें, उनमें स तुष्ट रहना अर्थात चित्त को शान्त रखना, उद्यम करने पर भी इच्छित फल की प्राप्ति न हो तो उसके लिये धय न त्यागना और भौतिक सुखो के साधनो की कामनाए उत्तरोत्तर बढाकर व्याकुल न होना—यह सच्चा सन्तोष ह, समत्वयोगी भक्त इस प्रकार सन्तोषी होता ह। परन्तु प्रार ध, दव, ईश्वर अथवा भवि त यता के भरोसे पर बठे रह कर कुछ उद्यम ही न करना, अपनी तथा दूसरो की आव श्यकताओ की पूर्ति तथा इहलौकिक अभ्युदय एव पारलौकिक कल्याण के लिए प्रयत्न न करना, दूसरे श दो में प्रगतिहीन होकर जसी स्थिति हो, उसी में चुपचाप पडे रहना—यह सतोष नहीं, कि तु आलस्य एव प्रमाद ह।

शम अर्थात मन का सयम

मन को बद्धि के अधीन रखते हुए अपनी-अपनी योग्यता के सासारिक व्यवहार अर्थात कतव्य कम करने में उसे लगाये रखना, उसके द्वारा इद्रियो के विषयो को भोगते हुए भी उसे इद्रियो के अधीन न होने देना, जगत की भिन्नता के बनावो में भटकने से रोक कर उसे सबकी एकता-स्वरूप आत्मा में जोडना—यह सच्चा शम ह, समत्वयोगी भक्त इस प्रकार मन को अपने अधीन रखता ह। परन्तु मन को अपने स्वाभाविक धम—सकल्प करने—से रहित कर देने अथवा सासारिक व्यवहारो से

सवथा हटाकर चेष्टा-शून्य बना देने का अप्राकृतिक प्रयत्न करना—यह सच्चा शम नहीं किन्तु मिथ्याचार ह क्योकि यह शरीर और ससार मन का खेल ह, अत जब तक शरीर और ससार ह, तब तक मन का नाश नहीं हो सकता, इसलिए उसे सात्त्विक बुद्धि के अधीन रख कर सासारिक यवहार यथायोग्य विधिपूवक करने में लगाये रखना ही उसका वास्तविक सयम ह ।

दृढ निश्चय

यह विश्व एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप ह, इस निश्चय से कभी न डिगना, इस एकता के निश्चयपूवक अपने कत य कम करने से विचलित न होना, जिस बात का अच्छी तरह विचार एव अनुसधानपूवक निश्चय कर लिया हो, उसे जब तक उसके विपरीत पर्याप्त प्रमाण न मिलें तब तक न बदलना तथा उसमें सशय न रखना—यह दढ निश्चय ह समत्वयोगी भक्त इस तरह दढनिश्चयी होता ह । परन्तु सबकी एकता-स्वरूप आत्मा अथवा परमात्मा से विमख करने वाले यवहारो में अ ध विश्वास रख कर उसमें ही लगे रहना, किसी विषय पर दुराग्रह या जिद्द रखना किसी काय में हानि या दु ख हो तो भी उसे न छोडना, देश, काल आदि की परिस्थिति की आवश्यकतानसार अपने विचारो तथा व्यवहारो में परिवतन न करना बिना विचार किसी निश्चय को पकड कर बठ जाना—उसे छोडना ही नहीं किसी अदष्ट शक्ति या व्यक्ति के भरोसे रह कर, निरुद्यमी होकर आलस्य में पडे रहना, राग, द्वेष भय, शोक, विषाद और मद के भावो में आसक्त होकर उ हे न छोडना—यह दढ़ निश्चय नहीं, कि तु दुराग्रह ह ।

अनुद्वेग

जनता को क्षुब्ध करने के उद्देश्य से शरीर, मन और वाणी से ऐसी चेष्टाएँ न करना कि जिनसे लोगो के मन में चिन्ता, भय, क्रोध, शोक अथवा ग्लानि आदि विक्षेप के भाव उत्पन्न हो, और इसी तरह मूख लोगो की इस प्रकार की चेष्टाओ से अपने मन में उपरोक्त भाव उत्पन्न करके उद्विग्न यानी खेद-युक्त न होना, कि तु शान्त बने रहना—यह अनुद्वेग का सदुपयोग ह, समत्वयोगी भक्त इस प्रकार न दूसरो को उद्विग्न करता ह और न स्वय उद्विग्न होता ह । परन्तु अनुद्वेग का यह तात्पय नहीं ह कि अपने कतव्य कम यथायोग्य करने से, अथवा लोक हित के लिए जनता में उत्क्रान्ति अथवा प्रगति के विचारो का प्रचार करने से, बेसमझ लोगो के उद्विग्न होने की सभावना के कारण, अपने उपरोक्त कतव्य कम और लोक हित के यवहार छोड दिये जाय । इसी तरह अनुद्वेग का यह भी तात्पय नहीं ह कि समझदार लोगो द्वारा तिरस्कृत एव लाछित होने की कुछ भी चिन्ता न रख कर, दुराचार एव कुकम करने में निस्सकोच अर्थात ढीठ हो जाय,

अथवा ऐसा सज्ञाहीन हो जाय कि श्रेष्ठ लोगो के लाँछन अथवा तिरस्कार का मन पर कुछ असर ही न हो—यह अनुद्वेग का दुरुपयोग ह।

हृष

अपने उद्देश्य की सिद्धि अथवा अनुकूलता की प्राप्ति होने पर हृष होना मन का स्वाभाविक धम ह, अत ‘ससार सब एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप ह ” इस विचार से सवत्र अनकूलता का अनभव करते हुए शोक, चिन्ता एव उदासी से रहित, सवदा प्रफुल्ल चित्त रहना—यह हृष का सदुपयोग ह, समत्वयोगी भक्त इस प्रकार के हृष से सदा प्रसन्न चित्त रहता ह। पर तु आत्मा अथवा परमात्मा की सव व्यापकता को भूल कर, इच्छित सासारिक पदार्थों की प्राप्ति होन पर अथवा अपने मनोरथो की सफलता होन पर, हृष से इतना मतवाला हो जाना कि कतव्याकतव्य अथवा उचित अनचित का कुछ ध्यान ही न रहे, अथवा उस हृष के आवेश में ऐसी चेष्टाए करना कि जिनसे दूसरो को कष्ट अथवा विक्षेप हो तथा इस बात को भूल कर कि “जिसका सयोग होता ह उसका वियोग होना अवश्यभावी ह”—हृष में अत्य त आसक्त हो जाना, एव अपने आमोद प्रमोद के लिए दूसरो को हानि पहुचाकर अथवा कष्ट देकर अथवा दूसरो की हानि अथवा कष्ट की परवाह न करके अथवा दूसरो की हानि एव कष्ट देख कर हर्षित होना—इस प्रकार का हृष सवथा त्याज्य ह। वास्तव में यह हृष नहीं किन्तु निष्ठुरता ह और हृष का दुरुपयोग ह, समत्वयोगी भक्त इस प्रकार के हृष के आवेश में आकर निष्ठर नहीं हो जाता।

क्रोध

अपने को किसी से हानि या दु ख पहुचने से, या किसी से अपने स्वाथ और सुख में बाधा लगने से, या किसी से अपना अपमान या तिरस्कार आदि होने के अनुमान से, अथवा अपने मन क अनुकूल कोई काय न होने से क्रोधित होकर चित्त को क्षु ध करना, और उस हानि या दु ख पहुचाने वाले से बदला लेने के लिए, उसको दु ख देन या हानि पहुँचान में प्रवत्त होना—यह क्रोध अनथ का हेतु ह, अत सवथा त्याज्य ह, सच्चा समत्व योगी भक्त एसा क्रोध नहीं करता। पर तु क्रोध भी मन का एक विकार ह, और जब तक शरीर एव मन ह तब तक वह सवथा मिट नहीं सकता तथा त्रिगुणात्मक प्रकृति के इस खेल में उसकी भी कभी कभी आवश्यकता रहना ह इसलिए आवश्यकता होने पर सात्विक बुद्धि से निणय करके उससे काम लेना, अर्थात मूख, अज्ञानियों तथा दुराचारियों को सुधारने और अपने अधीन व्यक्तियो को कत व्य विमुख होने से बचाने के लिए उचित मात्रा में उसका प्रयोग करना, अज्ञानी तथा बालक, किसी हानिकर व्यवहार का दुराग्रह करें, तो उनको क्रोध दिखाकर डाँट देना और किसी अत्याचारी का अत्याचार छुडाने

के लिए क्रोध करके उसको धमकी देना, और अधिक आवश्यकता होने पर क्रोधपूर्वक उसे दण्ड देना—यह क्रोध का सदुपयोग होता है। ऐसे अवसरो पर क्रोध के उपयोग से कोई अनर्थ नही होता, किन्तु क्रोध करना आवश्यक और ...क हितकर होता है—उसके न करने से उलटा अनर्थ और लोगो का अहित होता है, क्योकि रजोगुणी तमोगुणी लोग उनकी प्रकृति के अनुकूल क्रिया से ही सुधरते है, अत उनके तथा दूसरो के हित के लिए परिस्थिति के उपयुक्त उन पर क्रोध करना आवश्यक होता है। वह क्रोध द्वेष मूलक नही होता, किन्तु आन्तरिक प्रेम मूलक होता है। जिस तरह अपनी सन्तान को कुमार्ग से बचाने के लिए उसके हित की दृष्टि से जो क्रोध किया जाता है, वह क्रोध द्वेष-मूलक नहीं होता, किन्तु प्रेम-मूलक होता है। उसी तरह दूसरो को सुधारने के लिए प्रेम भाव से उनको क्रोध दिखाकर ताडना देना उचित होता है परन्तु इस प्रकार का क्रोध भी विशेष अवसरो पर एव विशेष आवश्यकता होने पर ही करना चाहिए, और पानी पर लकीर खीचने की तरह इस ढग से करना चाहिए कि अपने अन्त करण में उसकी कोई ताप अथवा जलन न रहे और क्रोध करने की आदत न पडे।

भय

अपनी विद्या, बुद्धि, बल, तप धन, सत्ता अथवा सामर्थ्य का भय दिखाकर लोगो को दबाना तथा दुख देना मिथ्या बातो का भय बताकर लोगो को भ्रम में डालना, डराना, ठगना तथा अपने अधीन रखना, अपने कर्तव्य पालन करने में, लोक सेवा में तथा सात्त्विक व्यवहारो और कल्याण के प्रयत्न में रजोगुणी तमोगुणी प्रकृति के पुरुषो की निन्दा आदि का भय करना, तथा देवी, देवता, भूत, प्रेत आदि की कल्पना करके उनसे स्वय डरना या दूसरो को डराना—यह भय अनर्थकारी एव त्याज्य है, समत्व योगी भक्त ऐसे भय से सर्वथा मुक्त रहता है। जो दूसरो को भयभीत करते है वे स्वय भी भयभीत होते है, क्योकि आत्मा तो सबमें एक है। परन्तु बुरे कर्मों के करने में सबके आत्मा=परमात्मा का अथवा परमात्मा के व्यक्त स्वरूप जगत का भय करना, तथा दूसरो को भी बुरे कर्मों से रोकने के लिए भय दिखाना, अपने से अधिक विद्वान बुद्धिमान, बलवान, धनवान, सत्तावान आदि विशेष योग्यता-सपन्न लोगो से सशकित रह कर उनकी प्रतिद्वद्विता न करना, तथा क्रूर प्रकृति के मनुष्य, जानवर अथवा हिंसक जन्तु, जिनका सामना करने से शरीर और मन को क्लेश अथवा हानि होने की सभावना हो, उनका भय करके उनसे बचे रहना—यह भय का सदुपयोग है, ऐसी अवस्थाओ में भय भी आवश्यक एव उचित होता है।

अनपेक्षा अथवा स्वावलम्बन

अपने कर्तव्य कर्म तथा लोक सेवा के व्यवहार करने में और सब प्रकार की उन्नति

के प्रयत्न में आत्म विश्वास रख कर उद्यमशील रहना, अपने-आपको सवथा नालायक मान कर तथा दूसरो पर निभर रह कर निरुद्यमी और निराशावादी न हो जाना, कि तु सबके साथ अपनी एकता का अनुभव करते हुए, अपनी सामथ्य पर भरोसा रख कर दूसरो की सहायता और सहयोग प्राप्त करने के निश्चयपूवक साहस के साथ आगे बढ़ते जाना—यह सच्ची अनपेक्षा अथवा स्वावलम्बन ह, समत्वयोगी भक्त इस प्रकार अन पेक्ष अर्थात स्वावलम्बी होता ह। जिस मनुष्य में आत्म विश्वास होता ह, अर्थात जिस को सबके साथ अपनी एकता का भरोसा होता ह, उसे सभी सहयोग देते ह एव उसके सहायक होते ह, और जिसमें आत्म विश्वास नहीं होता, वह दूसरो की सहायता और सहयोग भी प्राप्त नहीं कर सकता। पर तु स्वावलम्बन का यह तात्पय नही ह कि अपने व्यक्तित्व के घमण्ड में दूसरो को तुच्छ समझा जाय और दूसरो का तिरस्कार किया जाय अथवा दूसरो के सहयोग की सवथा अवहेलना की जाय—यह अनपेक्षा अथवा स्वावलम्बन का दुरुपयोग ह। ससार के सभी व्यवहार एक दूसरे की सहायता और सह योग से ही सिद्ध होते ह इसलिए आत्म-सम्मान और आत्म विश्वास रखते हुए दूसरो के सहयोग का भी यथोचित आदर करना चाहिए।

शौच—पवित्रता

अन्त करण को राग, द्वेष, ईर्षा, लोभ कपट घणा आदि भिन्नता के मलिन भावो से रहित अर्थात शद्ध रखना, इद्रियो के व्यवहार शुद्ध रखना, अर्थात आँखो से ऐसे दश्य न देखना कानो से ऐसे श द न सुनना जिह्वा से ऐसे पदाथ नहीं चखना, नाक से ऐसे पदाथ नहीं सूघना, त्वचा से ऐसी वस्तुओ का स्पश नहीं करना, जिनसे चित्त की चचलता बढे, और मन मलिन होकर आत्मिक पतन कराने वाले व्यवहारो में प्रवत्ति हो, इसी तरह कर्मेद्रियो के व्यवहार भी शुद्ध रखना, और शरीर को स्नान, मज्जन एव स्वच्छ वस्त्र आदि से साफ शुद्ध रखना—यह सच्चा शौच अथवा पवित्रता ह, समत्वयोगी भक्त इस प्रकार पवित्र रहता ह। परन्तु अन्त करण के तथा इद्रियो के व्यवहारो की शद्धि पर यथोचित ध्यान न देकर, केवल स्थूल शरीर की छूआछूत आदि में ही पवित्रता की इतिश्री समझना, और स्पर्शास्पश के सकुचित भावो से दूसरो का तिरस्कार तथा दूसरो से घणा करके लोगो को उद्विग्न करना—यह शौच (पवि त्रता) नहीं, कि तु मिथ्या घमण्ड एव अति मलिनता ह। वास्तव में यह स्थूल शरीर तो मलो का खजाना ही ह, केवल ऊपरी छुआछूत से यह शुद्ध नहीं हो सकता, चेतन जीवात्मा के सयोग से ही यह पवित्र रहता ह, जिस क्षण इससे उसका विछोह होता ह, उसी क्षण से यह छूने योग्य भी नहीं रहता। अत सबकी एकता के आत्मज्ञान से और उस ज्ञान-युक्त सबके साथ प्रेम के आचरणो से ही यह पवित्र होता ह। छुआछूत अथवा

स्पर्शास्पर्श के मिथ्या अभिमान से भिन्नता के भावो की आसक्ति बढती ह, जिससे अ त करण की मलिनता दढ होती ह और चित्त सदा विक्षिप्त रहता ह, फलत सुख शान्ति कभी प्राप्त नहीं होती ।

दक्षता अर्थात काय-कुशलता

जो अपने कतव्य कम अथवा पेशे हो, उनके ज्ञान विज्ञान एव क्रिया की पूरी जानकारी रखना, अर्थात उनमें पूण रूप से प्रवीण होना—यह सच्ची दक्षता या काय कुशलता ह, समत्वयोगी भक्त अपने कतव्य कर्मो मे इस प्रकार कुशल होता ह । पर तु प्रमाद के विषयो एव निरथक चेष्टाओ में—जिनसे अपने कतव्यो मे हानि पहुचती हो—कुशलता रखना, तथा अपने कतव्यो पर ध्यान न देकर, जिन कामो की अपने में योग्यता न हो उनमें कौशल प्राप्त करने के असफल प्रयत्न में लगे रहना—यह दक्षता या काय कुशलता नही, कि तु चपलता ह ।

शोक चि ता पश्चात्ताप

गये हुए तथा अप्राप्त धनादि पदार्थों, सम्ब धियो, मित्रो तथा विषय सुखो का चि तन करके उनके लिए रोना अथवा शोक करना, उपस्थित पदार्थों के रक्षण आदि के लिए उचित उपाय न करके केवल उनके विषय में चि ता ही करते रहना, तथा उनके बिछुडने पर या उनकी हानि होने पर अपनी मूखता, असावधाना आदि कारणो के लिए पश्चात्ताप करते रहना, और उस शोक, चिन्ता, पश्चात्ताप आदि में डूब कर अपने कत य कर्मों को भूल जाना अथवा उनमें त्रुटि करना—इस तरह के शोक, चिन्ता, पश्चात्ताप आदि सवथा त्याज्य ह समत्वयोगी भक्त इनसे विमुक्त रहता ह । पर तु अपने कतव्य कर्मों से विमुख रहने से तथा कुकम करने से, शोक और चिन्ता अवश्य उत्पन्न होती ह, इस प्रकार, शोक और चिन्ता का स्मरण करते हुए, अपने कत्तव्यो को पूरा करने के लिए सदा सावधान और चिन्तित रह कर उनको पूरा करने का प्रयत्न करते रहना, और कुकर्मों से बचे रहना, अपने भीतर, आत्म विमख करने वाले रजोगणी तमोगुणी भावो से होने वाले अनर्थों का चिन्तन करके, उन रजागणी तमोगणा भावो के सुधारने में यत्नशील रहना, तथा अपने किये हुए अनर्थों, असावधानियो एव त्रुटियो का पश्चात्ताप करके, पुन उनको न करने के लिए सावधान रहना—इस तरह शोक चिन्ता पश्चात्ताप करना हितकर एव आवश्यक ह, और यह उनका सदुपयोग ह ।

त्याग

ऐसे राजसी-तामसी आडम्बरो एव समारम्भो से अलग रहना, कि जिनसे व्यक्तित्व का अहकार बढ़े, और जिनसे अपने वास्तविक कतव्य-कम करने में बाधा

लगे, अपने कतव्य-कम करने में केवल अपनी ग्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के ही भाव न रखना, कि तु सबके हित के साथ अपना हित साधन करने के उद्देश्य से अपनी योग्यता के कतव्य-कम करना, तथा ऐसा करने में "म करता हूँ, मेरे काम ह, मेरे ही करने से ये काम होते ह, यदि म न करूँ तो नहीं हो सकते, इस कम का मुझे अमुक फल मिलेगा" इस तरह के अहकार और सग से रहित होना, गहस्थी में रहते हुए, धन, सम्पत्ति पद, प्रतिष्ठा आदि रखते हुए, शारीरिक एव कौटुम्बिक सब प्रकार के सासारिक ग्यवहार करते हुए तथा नियमित भोग भोगते हुए भी उनमें आसक्ति नहीं रखना अर्थात उनमें उलझे न रहना, कि तु उन सबको एक ही आ मा अथवा परमात्मा के अनेक परिवतन शील रूप समझ कर उनमें अपने पथक यक्तित्व की प्रीति नहीं रखना, धन सम्पत्ति पद, प्रतिष्ठा आदि के प्राप्त होने एव रहने म हष नहीं करना और उनके जाने में शोक नहीं करना, किन्तु निर्विकार रहना तथा लोक सग्रह के लिए ही धनादि पदार्थों का सग्रह और लोक-सग्रह के लिए ही उनका त्याग करना अपने ग्यष्टि भाव को समष्टि में जोड देना—यह समत्वयोगी भक्तो का त्याग या वराग्य ह। पर तु सासारिक ग्यवहार करने मे मन को विक्षेप और शरीर को कष्ट होने के भय से उ हे छोड देना, अथवा आलस्य और प्रमाद से अपने कत य कम न करना, अथवा इस तामसी अहकार से अपने कत य कम घर गहस्थी कुटम्ब धन सम्पत्ति आदि त्याग देना कि म त्यागी हूँ, वरागी हू, मने घर गहस्थी आदि सब त्याग दिये, मेरी किसी में प्रीति नहीं ह, म बडा विरक्त हू', इत्यादि और त्यागी अथवा स यासी का स्वाग धारण करके जगह जगह घूमते फिरते रहना अथवा जगलो में निवास करना, तथा हठपूवक पदार्थों का त्याग करके मन से उनका चि तन करते रहना—यह त्याग नहीं कि तु राग एव पाखण्ड ह। जब तक ग्रहण और त्याग की पथकता का भाव और व्यक्तित्व का अहकार बना रहता ह, तब तक सच्चा त्याग नहीं होता।

राग प्रीति-आसक्ति

जगत के भिन्नता के बनावो अर्थात सासारिक पदार्थों और विषयो में इतनी प्रीति रखना कि मन निर तर उ हीं में उलझा रहे और उनके वियोग होने पर विक्षेप हो, और घर-गहस्थी धन-सम्पत्ति, वेष भूषा आदि के मोह मे इतना आसक्त हो जाना कि जिससे अपने कत य कम करने में बाधा पडे अथवा उनमें त्रुटि आवे, तथा जिसके कारण अपने असली कत य—सवभूतात्मक्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए अवकाश ही न मिले——इस प्रकार का राग, प्रीति अथवा आसक्ति त्याज्य ह, समत्वयोगी भक्त इस प्रकार के राग में नहीं उलझते क्योकि भेद-बुद्धि से विशेष पदार्थों में राग करने से उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप दूसरे पदार्थों से द्वेष उत्पन्न होना स्वाभाविक ह, और राग तथा द्वेष

ही बन्धन के हेतु होते हैं। परन्तु सबकी एकता के आत्मज्ञान में तथा उसके साधन-रूप सात्त्विक व्यवहारो में राग, और सबकी एकता-स्वरूप आत्मा अथवा परमात्मा की अनन्य भाव की भक्ति में प्रीति अथवा आसक्ति रखना वाछनीय और हितकर होता है, यह राग, प्रीति अथवा आसक्ति का सदुपयोग है।

द्वेष

अपनी प्रकृति के प्रतिकूल प्रतीत होने वाले पदार्थो से, तथा अपने प्रतिकूल दीखने वाले व्यक्तियो के साथ, अथवा बिना कारण ही किन्ही को अपने विरोधी मान कर, उनसे द्वेष करना और उनके प्रतिकूल आचरण करके उनको हानि पहुँचाने या उनका अनिष्ट करने व उनको गिराने के भाव रखना—यह द्वेष निन्दनीय एव त्याज्य है, समत्वयोगी भक्त इस प्रकार का द्वेष नही करता। परन्तु जिन कारणो से दूसरो के साथ द्वेष होता हो, अथवा भेद बढता हो, तथा जो लोग दूसरो से भेद कराने या द्वेष बढाने वाले हो, उन द्वेष कराने और भेद बढाने वाले लोगो और ऐसे कारणो से द्वेष करना अर्थात द्वेष का द्वेष करना—वस्तुत द्वेष करना नही, किन्तु द्वेष मिटाना है, अत यह द्वेष का सदुपयोग होता है।

काम (इच्छा)

दूसरो के हित अथवा स्वार्थ पर दुलक्ष्य करके तथा उनमें बाधा देकर केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि ही की इच्छा रखना, अर्थात केवल अपने इहलौकिक तथा पारलौकिक सुखो की अभिलाषाओ ही में दिन रात निमग्न रह कर दूसरो के हिताहित की कुछ भी चिन्ता न रखना, अपने शरीर तथा उसके सम्बन्धियो के लिए ही आधिभौतिक और आधिदैविक सुखो तथा मान प्रतिष्ठा, कीर्ति आदि की निरन्तर कामनाए करते रहना, और विषय सुखो के लिए अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की लालसा रखना, एव कर्तव्य-अकर्तव्य उचित अनुचित का कुछ भी विचार न करके सदा कामोपभोग में ही लगे रहना—इस तरह का काम त्याज्य है। इस तरह दूसरो से पृथक अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि की कामना से भिन्नता के द्वैत भाव की दृढता होती है, और सर्वभूतात्मैक्य साम्य भाव की प्राप्ति होने में यह राजस काम ही सबसे अधिक बाधक है। सब सुखो का भण्डार तो स्वय अपना आप अर्थात आत्मा है, इसी के प्रतिबिम्ब से विषयो में सुखो का क्षणिक आभास प्रतीत होता है। अत सुख को आत्मा से भिन्न कहीं अन्यत्र मान कर, उसकी कामना करते रहने से पतन होता है, समत्वयोगी भक्त इस प्रकार के काम के अधीन नहीं रहता। परन्तु इन व्यक्तिगत स्वार्थों और विषय भोगो की अभिलाषाओ से ऊचे उठने की सदिच्छा रखना, सर्वात्म-साम्य भाव में स्थित होने की कामना रखना, समष्टि आत्मा—परमात्मा के साथ अपनी एकता का अनुभव प्राप्त

करने की लालसा रखना, तथा किसी भी प्राणी को हानि पहुचाये बिना, किसी का वास्तविक अधिकार छीन बिना तथा किसी का अहित किये बिना, जो कामोपभोग सहज ही प्राप्त हो, लोक सग्रह के लिए चित्त की शान्ति भग किये बिना भोगना—यह सात्त्विक काम ह, अर्थात यह काम का सदुपयोग ह । जगत का व्यवहार यथावत चलाने के लिए इस प्रकार के काम की भी अत्यन्त आवश्यकता ह ।

समता

अपने कर्तव्य कर्म करने मे सर्दी, गर्मी आदि अनेक कारणो से कभी सुख और कभी दुःख की प्राप्ति हो, अथवा प्रतिकूल प्रकृति के लोग शत्रुता का और अनुकूल प्रकृति के लोग मित्रता का भाव रख और प्रेम रखने वाले लोग मान करें तथा द्वेष रखने वाले अपमान करें, एव कोई निन्दा करें और कोई स्तुति करें तो इन द्वन्द्वो अथवा जोडो को परिवर्तनशील एव अस्थायी समझ कर इनसे अविचलित रहना इन जोडो को एक ही वस्तु के दो परस्पर विरोधी [illegible] भाव समझना, सुख के साथ दुःख शत्रुता के साथ मित्रता, मान के साथ अपमान और निन्दा के साथ स्तुति का अस्तित्व बना रहता ह, अर्थात जहा सुख ह वहा दुःख भी होता ह, जहा शत्रु ह वहा मित्र भी होते ह, जहा मान ह वहा अपमान भी होता ह और जहा निन्दा ह वहाँ स्तुति भी होती ह—प्रत्येक भाव के अस्तित्व के लिए उसके जोडे के विरोधी भाव का होना अनिवार्य ह, ये परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा रखते ह इसलिए वास्तव में एक ही वस्तु के अनेक कल्पित रूप ह—इस तथ्य को अच्छी तरह समझ कर इनमें से किसी की भी प्राप्ति होने पर अपने चित्त की समता अथवा शान्ति भग न करना, जो एक परिस्थिति में सुख का कारण होता ह, वही दूसरी परिस्थिति म दुःख का कारण हो जाता ह और जो एक परिस्थिति में दुःख का कारण होता ह वही दूसरी परिस्थिति में सुख का कारण हो जाता ह, जो एक परिस्थिति में शत्रु होता ह वही दूसरी परिस्थिति में मित्र हो जाता ह, और जो एक परिस्थिति में मित्र होता ह वही दूसरी परिस्थिति में शत्रु हो जाता ह, जो लोग एक परिस्थिति में अपमान अथवा निन्दा करते ह, वही लोग दूसरी परिस्थिति में मान और स्तुति करने लग जाते ह, और जो लोग एक परिस्थिति में मान और स्तुति करते ह, वही दूसरी परिस्थिति में अपमान और निन्दा करने लग जाते ह, इसलिए इन विरोधी भावो को तथ्यहीन समझ कर अपनी योग्यता के सासारिक व्यवहार सबके साथ यथायोग्य प्रेमपूर्वक साम्य भाव से करने में इन द्वन्द्वो से विचलित न होकर अन्तःकरण की समता बनाये रखना——यह वास्तविक समता ह, और परमात्मा का सच्चा भक्त—समत्वयोगी इस प्रकार इन द्वन्द्वो में सम बना रहता ह । परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं ह कि परमात्मा के भक्त अर्थात समत्वयोगी को सुख दुःख, मान अपमान

आदि की वेदनाएं प्रतीत ही नहीं होतीं अथवा उसे सुख की अनुकूलता और दुःख की प्रतिकूलता का कुछ अनुभव ही नहीं होता, अथवा वह सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिए कोई यत्न ही नही करता—शरीर को सदा कष्ट ही में रखता है, तथा वह शत्रु और मित्र के साथ एक-सा बर्ताव करता है, और मान एवं स्तुति तथा अपमान एवं निन्दा को एक-सा समझ कर ऐसे आचरण करता है कि जिनसे अपमान और निन्दा भले ही होवे—वह उनकी परवाह नहीं करता ऐसा करना समता का भाव नहीं है, किन्तु बडी भारी विषमता का भाव है। सुख दुःख, शत्रु मित्र मान अपमान, निन्दा स्तुति आदि द्वन्द्व शरीर के साथ सम्बन्ध रखते हैं, अतः इनकी वेदना जितनी साधारण लोगो के शरीरो को होती है, उतनी ही परमात्मा के भक्त अथवा आत्मज्ञानी समत्वयोगी के शरीर को भी होती है क्योकि शरीर सबका उन्हीं पंच तत्त्वो का बना हुआ होता है परन्तु परमात्मा का भक्त अथवा आत्मज्ञानी समत्वयोगी तात्त्विक विचार से इन द्वन्द्वो अथवा विरोधी भावो के जोडो की असलियत का ज्ञान रखता है इसलिए वह इनसे प्रभावित होकर अपने कर्तव्यो से विचलित नहीं होता, और न उसके अन्तःकरण में अशान्ति ही उत्पन्न होती है, उसे सदा यह ध्यान रहता है कि यह सब संसार द्वन्द्वो अर्थात परस्पर विरोधी भावो के जोडो का बनाव है, इसलिए जिस समय जो भाव उपस्थित हो, उसी के अनुरूप शारीरिक व्यवहार यथायोग्य करते हुए भी उसके अन्तःकरण में सबकी एकता का साम्य भाव बना रहता है। सुख की प्राप्ति होने पर उसका यथायोग्य उपभोग करते हुए भी वह उसमें तल्लीन नहीं होता, दुःख की प्राप्ति होने पर उसे सहन करते हुए भी उसके अन्तःकरण में व्याकुलता नहीं होती, शत्रु के साथ उसके आचरणो के अनुसार शासन अथवा उपेक्षा का बर्ताव करते हुए भी वह अन्तःकरण से उसके साथ कोई द्वेष नहीं रखता, मित्र के साथ मित्रता का बर्ताव करते हुए भी वह उसके साथ व्यक्तिगत प्रेम के मोह में आसक्त नहीं होता, मान और स्तुति का आदर करते हुए भी उनसे फूल कर कुप्पा नहीं हो जाता, अपमान और निन्दा को हेय समझते हुए भी उनसे उसके अन्तःकरण में उद्वेग नहीं होता—यही सच्ची समता है।

मौन

थोडा बोलना, अर्थात जिस अवसर और जिस परिस्थिति में जितना बोलने की आवश्यकता हो उतना ही बोलना, निरर्थक बकवास न करना, यथाशक्य थोडे शब्दो ही में अधिक भाव प्रकट कर देना, मूर्ख, दुराग्रही और अधिक वाचाल व्यक्तियो का सामना हो जाय तो चुप रहना—यह सच्चा मौन है, समत्वयोगी भक्त इसी प्रकार का मौन रखता है। परन्तु वाणी को सर्वथा बन्द करके चुपचाप बैठे रहना, हठ से मौन व्रत रख कर मन के भाव लिख कर अथवा सैनो और संकेतो द्वारा दूसरो पर प्रकट करना—

यह मौन नहीं किन्तु दम्भ ह, और कपटभरी मिथ्या बाता एव आक्षेपो का, तथा अ याय पूण एव अनचित वचनो का प्रतिवाद न करके, उ हे चुपचाप सहते रहना भीरुता ह।

अनिकेत

किसी स्थान विशेष अथवा देश विशेष ही में ममत्व की आसक्ति न रखना, कि तु अपनी उन्नति और कत य कम करने तथा लोक सेवा के लिए जहाँ रहने की आवश्यकता हो वही प्रसन्न चित्त से रहना, विद्या, ज्ञान और धन की प्राप्ति के लिए देशाटन करना, किसी विशेष देश या विशेष स्थान ही में रहने के लिए लालायित न होना—यह सच्चा अनिकेत ह, समत्वयोगी भक्त इस प्रकार अनिकेत रहते ह। पर तु समुचित कारण के बिना ही किसी एक स्थान में न टिक कर जगह जगह भटकते रहना, यह अनिकेत नहीं कि तु भटकना ह।

॥बारहवा अध्याय समाप्त॥

तेरहवाँ अध्याय

गीता के मूल प्रतिपाद्य विषय—अपनी-अपनी योग्यता के सासारिक यवहार सबकी एकता के निश्चय यक्त साम्य भाव से करने रूप समत्व-योग की सिद्धि के लिए, सबसे प्रथम सबकी एकता का (सवभूतात्मक्य) ज्ञान प्राप्त करके उसमें मन को ठहराने की आवश्यकता होती ह और उस प्रयोजन की सिद्धि के लिए भगवान ने सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक सबके आत्मा=परमात्मा की भक्ति अथवा उपासना के सुगम साधन का विधान किया, जिसमें अखिल विश्व को सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप अपना ही यक्त भाव बताकर (परमात्मा-स्वरूप) अपने में सबकी एकता दिखाई, और परमात्मा की एकता में श्रद्धा अथवा विश्वास करके उसकी उपासना करने द्वारा सव भूतात्मक्य ज्ञान में मन को स्थित करने का उपदेश दिया। परन्तु जसा कि पहले कह आये ह गीता में विवेक शू य अ ध-श्रद्धा को स्थान नहीं ह, कि तु इसमें उ हीं विषयो पर श्रद्धा रखने का उपदेश दिया गया ह जो कि तात्त्विक विचार द्वारा सिद्ध हो सकते हो। इसलिए अब आगे के तीन अध्यायो में भगवान, क्षेत्र क्षेत्रज्ञ अर्थात शरीर और जीवात्मा, प्रकृति और पुरुष एव जगत और जगदीश्वर-सबधी दाशनिक विवेचन करके फिर सबका समावेश सबके अपने आप, सबके आत्मा=परमात्मा में करने द्वारा सबकी एकता के सवभूतात्मक्य ज्ञान का निरूपण करते ह।

श्रीभगवानुवाच

इद शरीर कौ तेय क्षेत्रमि यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति त प्राहु क्षेत्रज्ञ इति तद्विद ॥१॥
क्षेत्रज्ञ चापि मा विद्धि सवक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञान यत्तज्ज्ञान मत मम ॥२॥
तत्क्षेत्र यच्च यादक्च यद्विकारि यतश्च यत।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे श्रृणु ॥३॥
ऋषिभिबहुधा गीत छ दोभिर्विविध पथक।
ब्रह्मसूत्रपदश्चव हेतुमद्भिर्विनिश्चित ॥४॥
महाभूता यहकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इ द्रियाणि दशक च पञ्च चे द्रियगोचरा ॥५॥

इच्छा द्वेष सुख दु ख सघातश्चेतना धति ।
एतत्क्षेत्र समासेन सविकारमुदाहृतम ॥६॥
अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा ान ानन ।
आचार्योपासन शौच स्थयमात्मविनिग्रह ॥७॥
इन्द्रियार्थेषु वराग्यमनहकार एव च ।
ज ममत्युजराव्याधिदु खदोषानुदशनम ॥८॥
असक्तिरनभिष्वङ्ग पुत्रदारगहादिषु ।
नित्य च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥
मयि चान ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिजनससदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननि यत्व तत्त्वज्ञानाथदशनम ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञान यदतोऽ यथा ॥११॥
ज्ञेय यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमतमश्नुते ।
अनादिमत्पर ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥
सवत पाणिपाद तत्सवतोऽक्षिशिरोमुखम ।
सवत श्रुतिमल्लोके सवमावत्य तिष्ठति ॥१३॥
सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रियविवर्जितम ।
असक्त सवभच्चव निर्गुण गुणभोक्त च ॥१४॥
बहिरन्तश्च भूतानामचर चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेय दूरस्थ चान्तिके च तत ॥१५॥
अविभक्त च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम ।
भूतभत च तज्ज्ञेय ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥
ज्यातिषामपि त ज्यातिस्तमस परमुच्यते ।
ज्ञान ज्ञेय ज्ञानगम्य हृदि सवस्य धिष्ठितम ॥१७॥
इति क्षेत्र तथा ज्ञान ज्ञेय चोक्त समासत ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

अथ—श्री भगवान बोले कि हे कौंतेय ! इस शरीर को क्षेत्र कहते हं, और इसको जो जानता ह, अर्थात जिसे यह अनुभव होता ह कि "यह शरीर अथवा क्षेत्र

ह" उसे इस विषय के जानकार अर्थात तत्त्ववेत्ता लोग क्षेत्रज्ञ कहते ह (१)। और हे भारत ! सब क्षेत्रो में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जान, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान ह, वही मेरा (परमात्मा का) ज्ञान माना गया ह । तात्पय यह कि यह शरीर, और सब शरीरो मे रहने वाला जीवात्मा तथा परमात्मा सब-कुछ "म (सबका आत्मा)" ही हूँ (गी० अ० ७ श्लो० ४ से ६), अत शरीर और जीवात्मा के विषय का जो यथाथ ज्ञान ह वही परमात्मा-स्वरूप मेरा ज्ञान ह (२)। वह क्षेत्र जो कुछ ह, जसा ह, जिन विकारो वाला ह और जिससे जो होता ह, तथा वह (क्षेत्रज्ञ) जो कुछ ह एव जिस प्रभाव वाला ह, सो सक्षेप में मुझसे सुन । तात्पय यह कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अथवा शरीर और जीवात्मा के विषय का अलग अलग विवेचन आगे के श्लोको में किया जाता ह (३)। ऋषियो द्वारा वेदो और उपनिषदो के विविध म त्रो में (यह विषय) बहुत प्रकार से अलग-अलग रूप से कथन किया गया ह, और ब्रह्म सूत्र पदा के द्वारा सुनिश्चित रूप से इसका युक्ति-युक्त वणन किया गया ह। तात्पय यह कि क्षेत्र क्षेत्रज्ञ अथवा शरीर और जीवात्मा सम्ब धी विज्ञान सहित ज्ञान का निरूपण अनेक ऋषियो ने वेदो के मत्र भाग में तथा उपनिषदो में नाना प्रकार से किया ह, और वेदा त सूत्रो में काय कारण रूप हेतु दिखाकर युक्ति-यक्त प्रमाणो से उन पथक-पथक निरूपणो की एक वाक्यता करके पूणतया निश्चित सिद्धान्त स्थिर कर दिया गया ह (४)। महाभूत अर्थात पथ्वी, जल, तेज वाय और आकाश, अहकार अर्थात 'म हू" यह व्यक्तित्व का भाव, बुद्धि अर्थात विचार शक्ति, अव्यक्त अर्थात कारण प्रकृति, ग्यारह इद्रियाँ अर्थात आँख, नाक, कान, जीभ और त्वचा के भेद से पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, तथा वाणी, हाथ पर, गुदा और उपस्थ के भेद से पाच कर्मेंद्रियाँ एव ग्यारहवाँ मन, तथा पाँच ज्ञानद्रियो के पाँच विषय, अर्थात श द, स्पश, रूप, रस, और ग ध, (इन चौबीस तत्त्वो का समूह), और इच्छा अर्थात अनुकूलता की प्राप्ति की चाहना, द्वेष अर्थात प्रतिकूलता के तिरस्कार का भाव, सुख अर्थात अनुकूल वेदना, दु ख अर्थात प्रतिकूल वेदना, सघात अर्थात इन सबका योग, चेतना अर्थात मन, बुद्धि, इद्रियों एव प्राण आदि के यापारो से प्रतीत होने वाली शरीर की चेतन अथवा जीवित अवस्था, धति अर्थात धारणा शक्ति—इन विकारो सहित, सक्षिप्त रूप से क्षेत्र कहा गया ह (५ ६)। अमानित्व अर्थात शरीर के बडप्पन, उच्चता, कुलीनता, पवित्रता, विद्या, बुद्धि, रूप, यौवन, बल धन, पद, प्रतिष्ठा आदि का अभिमान न करना (बारहवें अध्याय में "निरहकार" का स्पष्टीकरण देखिए), अदम्भित्व अर्थात दूसरो पर अपना प्रभाव जमाने के लिए, अपने मिथ्या बडप्पन आदि के ऊपरी दिखाव न करना, तथा अपनी स्वाथ सिद्धि के लिए अथवा आमोद प्रमोद आदि के लिए दूसरो को ठगने, धोखा देने अथवा भुलावा देने की नीयत से किसी से छल-कपट न करना (आगे सोलहवें

अध्याय में "दंभ" का स्पष्टीकरण देखिए) अहिंसा अर्थात अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए किसी को तन से मन से अथवा वचन से शारीरिक एवं मानसिक कष्ट न पहुंचाना और किसी की हानि न करना तथा किसी की न्याय-युक्त आजीविका में बाधा न देना (बारहवें अध्याय में "अहिंसा" का स्पष्टीकरण देखिए) क्षमा अर्थात दूसरों के अपराध सहन करना (बारहवें अध्याय में "क्षमा" का स्पष्टीकरण देखिए), आर्जव अर्थात अपनी तरफ से सबसे सरलता यानी सीधाई का बर्ताव करना—समुचित कारण के बिना किसी को दुःख देने अथवा उद्विग्न करने की नीयत से कुटिलता अथवा टेढ़ेपन का बर्ताव न करना (आगे सोलहवें अध्याय में "सरलता" का स्पष्टीकरण देखिए), आचार्योपासना अर्थात गुरु भक्ति (बारहवें अध्याय में "गुरु भक्ति" का स्पष्टीकरण देखिए), शौच अर्थात पवित्रता (बारहवें अध्याय में "पवित्रता" का स्पष्टीकरण देखिए), स्थैर्य अर्थात दृढ़ निश्चय (बारहवें अध्याय में "दृढ़ निश्चय" का स्पष्टीकरण देखिए), आत्म निग्रह अर्थात मन का संयम (बारहवें अध्याय में "शम" का स्पष्टीकरण देखिए), इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य (अ० २ श्लो० ५५ से ५८, तथा अ० ५ श्लो० ८ ९ का स्पष्टीकरण देखिए), अनहंकार अर्थात दूसरों से पृथक अपने व्यक्तित्व का अहंकार न रखना (बारहवें अध्याय में 'निरहंकार' का स्पष्टीकरण देखिए) जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, और रोग आदि व्याधियों के दुःखों और दोषों को सदा याद रखना, अर्थात इस बात का सदा ध्यान रखना कि जन्मना, मरना, बुढ़ापा और रोग शरीर के साथ लगे हुए हैं और वे बहुत ही दुःखदायक होते हैं, उनकी प्राप्ति और स्थिति का कोई ठिकाना नहीं है—न मालूम कब आ जाय और कब तक रहे, गर्भ से लेकर बाल्य अवस्था तक तथा शरीर जीर्ण हो जाने पर तथा रोगादि व्याधियों से ग्रस्त होने से, और मर जाने पर कुछ भी करने की योग्यता नहीं रहती, इसलिए अपने कर्तव्य कर्म अथवा सब प्रकार की उन्नति के साधन सम्पादन करने में आलस्य अथवा प्रमाद न करना, जो कुछ करना हो युवावस्था में और शरीर की स्वस्थ दशा में ही कर लेना—इस अमूल्य समय को व्यर्थ न गंवाना, पुत्र स्त्री और घर आदि में आसक्ति और संग न रखना, अर्थात स्त्री, बाल बच्चों कुटुम्ब परिवार आदि गृहस्थी में रहते हुए और उनके प्रति अपना कर्तव्य यथायोग्य पालन करते हुए, तथा घर, सम्पत्ति आदि को रखते हुए भी उन सबको इस अनित्य एवं परिवर्तनशील शरीर ही के संबंधी समझ कर, उनमें इतना उलझे न रहना कि उनके सिवाय और किसी विषय का ध्यान ही न रहे, और उनके ममत्व यानी मोह का इतना प्रभाव मन पर न रखना कि उनके सुख दुःख तथा संयोग वियोग आदि द्वन्द्वों में अन्तःकरण व्याकुल होता रहे (बारहवें अध्याय में 'अनासक्ति' का स्पष्टीकरण देखिए) इष्ट अर्थात अनुकूल और अनिष्ट अर्थात प्रतिकूल की प्राप्ति होने पर, दोनों दशाओं में चित्त की समता बनाये रखना (बारहवें अध्याय में "समता" का स्पष्टीकरण देखिए), मुझमें अनन्य-योग से अटल भक्ति रखना, अर्थात सब कुछ परमात्मा ही

ह, इस एकत्व भाव के दढ निश्चयपूवक पहले के अध्यायो में वर्णित परमात्मा की भक्ति में सदा लगे रहना, निरुपाधिक एव शुद्ध देश में रहना (बारहवें अध्याय में 'अनिकेत" का स्पष्टीकरण देखिए), किसी विशेष जन समुदाय में अथवा अज्ञानी लोगो के समाज में प्रीति अथवा मोह न रखना, अध्यात्म ज्ञान की नित्यता के निश्चयपूवक उसके विचार में लगे रहना, अर्थात अपने सहित सबको वस्तुत आत्म स्वरूप समझना और तत्त्वज्ञान के अथ को देखते रहना, अर्थात प्रत्येक वस्तु की असलियत के तात्त्विक विवेचन पर सदा दष्टि रखना—यह ज्ञान कहा गया ह, अर्थात इस प्रकार आचरण करने वाला व्यक्ति सच्चा ज्ञानी होता ह, और ये आचरण ज्ञान प्राप्ति के साधन भी ह, इसके विपरीत जो कुछ ह वह अज्ञान ह, अर्थात इसके विरुद्ध आचरण करने वाले अज्ञानी ह, उनको ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। ७वें से ११वें श्लोक तक का तात्पय यह ह कि इस अध्याय के दूसरे श्लोक में क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के जिस ज्ञान को यथाथ ज्ञान कहा ह, उसी ज्ञान का व्यवहारिक स्वरूप इन श्लोको में बतलाया गया ह। यहा पर यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने की ह कि ज्ञान के उपर्युक्त वणन में सबके अपने आप= आत्मा में सबकी एकता जान लेने मात्र ही को ज्ञान नही कहा ह, कितु उस ज्ञान के साथ साथ, सबके साथ अपनी एकता के प्रेम भाव से समता के आचरण करने को ज्ञान कहा ह। जिस पुरुष को क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अथवा शरीर और आत्मा, अथवा जगत और जगदीश्वर की एकता का यथाथ एव दढ ज्ञान हो जाता ह, उसके ये स्वाभाविक आचरण होते ह और जिसको सबकी एकता के उपरोक्त ज्ञान प्राप्त करने और उसमें स्थित होन की सच्ची जिज्ञासा अथवा चाह हो, उसके लिए ज्ञान के उक्त आचरण साधन रूप से प्रयत्नपूवक करना आवश्यक ह, क्योकि जब तक ज्ञान का उपरोक्त आचरण न किया जाय, तब तक केवल आत्मज्ञान की बातें बनाते रहने अथवा पुस्तक देखते रहने अथवा पद पदाथ याद करके शास्त्राथ करते रहने मात्र से सच्चे ज्ञान की प्राप्ति और उसमें स्थिति नहीं होती, इसलिए इन आचरणो ही को भगवान ने वास्तविक ज्ञान कहा ह। यहाँ साध्य और साधन की भी वस्तुत एकता दिखाई ह। इन आचरणो में दढ स्थिति होना ही यथाथ ज्ञान की स्थिति ह—जब तक इनके विपरीत अभिमान, पाखण्ड, छल कपट एव दूसरो को पीडा देने आदि अनेकता और विषमता के आचरण किये जाते ह, तब तक ज्ञान की स्थिति नहीं होती, कितु अज्ञान अवस्था ही बनी रहती ह (७ ११)। (अब) जो ज्ञेय अर्थात जानने योग्य ह वह कहता हूँ जिसे जान कर अमत की प्राप्ति होती ह, अर्थात सब प्रकार के कल्पित बधनो से छुटकारा होकर अक्षय आनन्द की प्राप्ति होती ह, (वह जानने योग्य अर्थात ज्ञेय वस्तु=आत्मा) अनादि पर-ब्रह्म है, न वह सत कहा जाता ह, न असत् (१२)। उस (ज्ञेय तत्त्व अर्थात

आत्मा) के सवत्र हाथ-पर, सवत्र आखें, सिर (और) मुख, (एव) सवत्र कान ह, और जगत में वह सबको व्याप्त करके स्थित ह (१३)। सब इन्द्रियो के गुणो का आभास (वही) ह, अर्थात सब इन्द्रिया और उनके विषय तथा व्यापार उसी से भासते ह, (और वह) सब इन्द्रियो से रहित ह अर्थात इन्द्रिया क बिना भी वह रहता ह, असक्त होता हुआ अर्थात वस्तुत सब सबधो से रहित होकर भी (वही) सबका धारण पोषण करता ह, और निगुण होकर भी गुणो का भोक्ता ह, अर्थात सब-कुछ वही होने के कारण वही सबका धारण-पोषण करने वाला ह और वही निगण तथा वही सगुण ह (१४)। वह सब भूतो के बाहर और भीतर भी ह, चर और अचर अर्थात जगम और स्थावर भी ह, सूक्ष्म होने के कारण वह (मन और इन्द्रियो से) जाना नहीं जा सकता, और वह दूर भी ह तथा पास भी ह अर्थात अत्यन्त सूक्ष्म रूप से सवत्र परिपूण ह (१५)। वह विभाग रहित होता हुआ भी भूतो में विभाजित हुआ सा स्थित ह, अर्थात एक ही अनेक रूपो में प्रतीत होता ह, और वह ज्ञेय (आत्मा) भूतो का धारण, पोषण, सहार और उत्पत्ति करने वाला ह अर्थात जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय, सब उसी में होते ह (१६)। वह ज्योति वालो की ज्योति अर्थात तेजो का तेज अज्ञानान्धकार से परे कहा जाता ह तथा ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञान से अनभव होने वाला, सबके हृदय में रहता ह (१७)। इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और ज्ञेय सक्षेप में कहे ह, मेरा भक्त इन्हे जान कर मेरे भाव को प्राप्त होता ह (१८)। श्लोक १२ वें से १८वें तक का तात्पय यह ह कि इस अध्याय के पहले और दूसरे श्लोको में, सब शरीरो में "म" रूप से रहने वाले सबके अपने आप—आत्मा का क्षेत्रज्ञ शब्द से जो कथन किया गया ह उसी क्षेत्रज्ञ आत्मा का विस्तत वणन भगवान इन श्लोको में ज्ञेय रूप से करते ह। वह सबका आत्मा=क्षेत्रज्ञ अथवा ज्ञेय अनादि ह, अर्थात वह सदा रहने वाला ह, इसलिए उसकी उत्पत्ति का कोई काल अथवा कारण नहीं ह, भूत, भविष्य और वतमान सभी काल और सभी वस्तुए उसी से सिद्ध होती ह, अत वह किसी काल अथवा किसी वस्तु में परिमित नहीं ह "म हू" यह भाव अर्थात अपने होने का अनुभव सबको सब काल में बना रहता ह—शरीरो के उत्पन्न होने के साथ वह उत्पन्न नहीं होता। वह सबका अपना आप=आत्मा पर-ब्रह्म ह, अर्थात वह कारण प्रकृति से भी परे ह और सब देश, सब काल और सब वस्तुओ में सवत्र परिपूण ह, ऐसा देश, ऐसा काल और ऐसी वस्तु कोई नहीं ह, जो अपने आप बिना हो—अपने-आप ही से सब देश, सब काल और सब वस्तुओ की सिद्धि होती ह। सबका अपना आप आत्मा ही सब-कुछ ह अत वह किसी विशेष भाव अथवा किसी विशेष गुण में परिमित अथवा सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता, इसलिए न वह सत कहा जा सकता ह और न असत, क्योकि सत कहने से असत अलग रह जाता ह और असत कहने से सत अलग रह जाता ह, वास्तव में उससे अलग कुछ ह नहीं—भेद के लिए कोई अवकाश नहीं ह, यदि इन्द्रियो, मन और बुद्धि से ज्ञात

होने वाला भाव सत कहा जाय और उनसे ज्ञात न होने वाला असत भाव कहा जाय, तो दोनो भाव अपने आप=आत्मा ही में कल्पित ह, अपना आप=आत्मा इन दोनो भावो का आधार दोना का प्रकाशक दोनो का द्रष्टा एव दोनो की सत्ता ह, दोनो भावो की सिद्धि अप । अ ात्मा से होती ह, और दोनो का समावेश भी आत्मा ही में होता ह, इसलिए आत्मा दोनो भावो मे से किसी एक भाव वाला नहीं कहा जा सकता। विश्व मे जितने शरीर ह वे सब एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक कल्पित रूप ह, इस कारण प्राणीमात्र के शरीरो की ज्ञानद्रिया एव हाथ, पर आदि सभी अग प्रत्यग उसी सबके अपने आप= आत्मा अथवा परमात्मा के ह, परन्तु यद्यपि सब इद्रिया एव अग प्रत्यग उसी के ह तथा सब इद्रिया एव अग प्रत्यग उसी से चेतना यवत होकर उसी से अपन अपने विषयो तथा व्यापारो में बतने की शक्ति प्राप्त करते ह, फिर भी वह आत्मा उन इद्रियो एव अग प्रत्यगो में ही परिमित अथवा रुका हुआ नहीं ह, किन्तु उनके बिना भी वह रहता ह और उनके न होने पर भी वह ज्यो का त्यो बना रहता ह, और सब इद्रियो के भोग भोगते हुए भी वास्तव म वह कुछ भी नहीं भोगता, क्योकि भोक्ता और भोग्य सब वही ह—एक तरफ इद्रिय रूप से वही भोगने वाला ह और दूसरी तरफ पदाथ रूप से वही भोगा जाता ह, इसलिए वास्तव में न कोई भोक्ता ह और न कुछ भोगा जाता ह। स्थावर और जगम अथवा जड और चेतन मष्टि सब कुछ आत्मा अथवा परमात्मा रूप ही ह, इस कारण भूत प्राणियो के अन्दर, बाहर और बीच में वही ओत प्रोत भरा हुआ ह, जब तक सूक्ष्म विचार नहीं किया जाता, तब तक वह (स्थूल इद्रियो से) नही जाना जाता, क्योकि स्थूल इद्रिया स्थूल बनावो की कल्पित भिन्नता ही को विषय करती ह, इन बनावो में जो सच्चा एकत्व भाव ह, उसको वे विषय नही करतीं, इसलिए उनको वह सवव्यापक आत्मा अथवा परमात्मा सदा दूर ही प्रतीत होता ह परन्तु वास्तव मे दूर भी वही ह, और नजदीक, पास अथवा समीप भी वही ह—दूरी और समीपता का प्रकाश अथवा ज्ञान अपने आप ही से होता ह। भूत प्राणियो के जो अलग अलग शरीर और अलग अलग बनाव प्रतीत होते ह, व ान अन्ग ा नहीं ह, किन्तु समुद्र की तरगो की तरह एक ही आत्मा अथवा परमात्मा अथवा सबके अपने आपके अनक रूप और अनक नाम ह, जिस तरह समुद्र में तरगें उठने से उसके टकडे नहीं हो जाते, उसी तरह जगत के नाना प्रकार के बनावो से सबके पने आप आत्मा अथवा परमात्मा के टुकडे नहीं होते, किन्तु वह सदा अखण्ड बना रहता ह। वही कभी जगत के नाना बनाव रूप बनता ह और कभी उन बनावो को अपने मे समेट लेता ह, परन्तु नाना बनावो के बनने से वस्तुत वह टूट कर अनेक नहीं हो जाता और बनावो के समेट लेने पर वह पीछा जड नही जाता, किन्तु वह अपने अखण्ड भाव में ज्यो का त्यो बना रहता ह—अपने आप का भाव सबमे सदा एक समान बना रहता ह। "म" रूप से सबके अन्त करण में रहने वाला सबका अपना आप ात्मा अथवा

क्षेत्रज्ञ परमात्मा ज्ञान-स्वरूप ह, वही सब कुछ ह, इसलिए ज्ञेय अर्थात जानने की वस्तु भी वही ह, क्योकि जिस किसी भी वस्तु का ज्ञान होता ह, वह उसी आत्मा का ज्ञान ह, और सबका प्रकाशक अथवा बोध कराने वाला भी वही ह, क्योकि अपने-आपके प्रकाश से ही सबका प्रकाश होता ह, सूय, च द्र, अग्नि, आदि जितने भी प्रकाशवान पदाथ ह, वे सब जड ह, वे चेतन आत्मा की सत्ता ही से प्रकाशित होते ह, पर तु आत्मा स्वय प्रकाश ह, स्वप्न अवस्था की सूक्ष्म सष्टि मे जाग्रत के स्थूल प्रकाशवान पदाथ नहीं होते, वहा भी अपना आप=आत्मा स्वय स्वप्न-सष्टि को प्रकाशित करता ह, इससे स्पष्ट ह कि सबका प्रकाशक आत्मा ही ह और वह आत्मा सबके अपने अ दर, सबके अपने पास ह। उस अपने-आप=आत्मा को इस प्रकार जानना अथवा अनुभव करना चाहिए, और वह अनु भव श्लोक ७ से ११ तक के वणनानुसार ज्ञान के आचरण करते रहने से होता ह। जो अन य भाव की भक्ति और इस प्रकार ज्ञान के आचरण से ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के इस रहस्य को समझ कर अपने वास्तविक आपका यथाथ अनुभव कर लेता ह वह परमात्म भाव को प्राप्त हो जाता ह (१२ से १८)।

स्पष्टीकरण—सातवें अध्याय में भक्ति अथवा उपासना के प्रकरण में विज्ञान सहित ज्ञान की याख्या करते हुए भगवान ने अपनी परा और अपरा प्रकृति का वणन उपासना की शली म किया था, अब उसी विषय को यहाँ अद्वत वेदान्त सिद्धान्त के आधार पर दाशनिक शली में कहते ह। शरीर और जगत, तथा आत्मा और परमात्मा (सब) की एकता का अ न न्ग न गि न—जि न्भ अनेक ऋषियो ने वेदो और उपनिषदो में भिन्न भिन्न प्रकार से वणन किया ह, और उन सब वणनो की एकवाक्यता महर्षि बाद रायण यास जी न पूणतया निश्चित रूप से अकाटय युक्तियो एव प्रमाणो द्वारा वेदान्त सूत्रो में अच्छी तरह कर दी ह, वही अ न ि न—भावान को मान्य ह, और उसी के अनुसार यहा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ रूप से शरीर अथवा पिण्ड तथा जगत अथवा ब्रह्माण्ड और आत्मा अथवा परमात्मा के सबध का अलग-अलग विवेचन करने के साथ ही साथ इन सबकी एकता का मर्म निम्न प्रनिपाद्न करन ह। ग ान क्त ह ि ग ा म े म रूप से विद्य मान सबका अपना आप सबका आत्मा ही परमात्मा ह, और वह आत्मा अथवा परमात्मा ही चौबीस तत्त्वो के समूह तथा नाना विकारो से यक्त क्षेत्र सज्ञा वाला शरीर (पिण्ड) और जगत (ब्रह्माण्ड) रूप से कल्पित दश्य बनता ह, तथा वही उक्त पिण्ड और ब्रह्माण्ड रूप क्षेत्र अथवा कल्पित दश्य को जानने वाला अथवा उसका अनुभव करने वाला क्षेत्रज्ञ कहा जाता ह। जिस तरह मनष्य को जब स्वप्न आता ह तब वह आप ही स्वप्न के सब प्रपच अथवा दिखाव रूप होता ह और आप ही स्वप्न का देखने वाला अर्थात स्वप्न का ज्ञाता होता ह, उसी तरह "म" रूप से सबके अ दर रहने वाला, सबका अपना आप= आत्मा ही जाग्रत जगत का दश्य अथवा दिखाव रूप होता ह, और आप ही द्रष्टा होता ह—

जो व्यवस्था स्वप्न-सृष्टि की है वही जाग्रत सृष्टि की है। जगत के नानात्व का बनाव यद्यपि प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर होने के कारण सत प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में वह प्रतिक्षण परिवर्तनशील एवं नाशवान होने के कारण सत नहीं है, और जीवात्मा इन्द्रियगोचर न होने के कारण असत प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में वह सबकी सत्ता-स्वरूप होने के कारण असत नहीं है और सबका अपना-आप=आत्मा दोनों भावों का सच्चा आधार एवं दोनों का एकत्व भाव है, इसलिए उसे न सत कह सकते हैं, न असत, क्योंकि सत कहने से असत उससे भिन्न रह जाता है, और असत कहने से सत उससे भिन्न रह जाता है, और भिन्नता वस्तुतः है नहीं सत और असत सब कुछ अपने आप=आत्मा ही से सिद्ध होते हैं। आत्मा ही सेन्द्रिय (चेतन सृष्टिरूप) और आत्मा ही निरिन्द्रिय (जड सृष्टिरूप) होता है, और आत्मा सब दृश्य प्रपंच रूप रचनाओं से अलग अथवा परे भी रहता है। सेन्द्रिय सृष्टि रूप होने के कारण इन्द्रियवान प्राणियों के जितने हाथ, पैर आँख, नाक, कान, सिर, मुख आदि अंग हैं, वे सब आत्मा ही के हैं, और सब अंग तथा इन्द्रियों से रहित जड अर्थात निरिन्द्रिय सृष्टि भी वही है।

इन्द्रियगोचर सब पदार्थों की प्रतीति अपने-आप=आत्मा ही से होती है आत्मा ही मन रूप से इन्द्रियों के सब विषयों का अनुभव करता है मन ही आँखों के द्वारा रूप देखता है, मन ही कानों के द्वारा शब्द सुनता है मन ही नाक के द्वारा गन्ध लेता है, मन ही जीभ के द्वारा स्वाद लेता है और मन ही त्वचा के द्वारा स्पर्श करता है। यदि मन का इन्द्रियों से संयोग न हो अर्थात मन ठिकाने न हो तो इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों की कुछ भी प्रतीति नहीं होती, परन्तु इस तरह मन रूप से इन्द्रियों के विषयों का प्रकाश करके भी अपना वास्तविक आप=आत्मा इन्द्रियों में ही रुका हुआ अथवा परिमित नहीं है, क्योंकि निरिन्द्रिय अर्थात जड सृष्टि भी वही है और स्वप्न अवस्था में जिस समय स्थूल इन्द्रियाँ चेष्टा शून्य होती हैं, उस समय भी आत्मा स्थूल इन्द्रियों के बिना ही सब प्रकार के विषयों का अनुभव करता है, और सुषुप्ति अवस्था में सब विषयों का अभाव होते हुए भी अपना आप=आत्मा ज्यों का त्यों रहता है, जाग्रत और स्वप्न अवस्था में सब गुणों और विषयों में बर्तता हुआ भी आत्मा, किसी भी गुण और किसी भी विषय में बन्धा हुआ नहीं रहता, सुषुप्ति अवस्था और मन की एकाग्रता एवं बुद्धि की साम्यावस्था में वह सब गुणों और सब विषयों से रहित होता है, उन अवस्थाओं में जाग्रत और स्वप्न में किये हुए अनुभवों का कोई प्रभाव नहीं रहता। इससे स्पष्ट है कि सबका अपना-आप=आत्मा जाग्रत और स्वप्न में गुणों और विषयों में बर्तता हुआ भी वास्तव में उन सबसे अलिप्त रहता है। जिस तरह आकाश सब स्थानों में रहता हुआ भी, और उसमें सब प्रकार के व्यवहार होते हुए भी वह निर्विकार रहता है, उसी तरह आत्मा सब गुणों में बर्तता हुआ और सब-कुछ करता हुआ भी वास्तव में निर्विकार रहता है।

आत्मा ही सब कुछ होने के कारण जगत के अन्दर और बाहर वही ओत प्रोत भरा हुआ है, वही चेतन रूप से चलता फिरता है, और वही अचेतन रूप से अचल—ठहरा हुआ है सूक्ष्म विचार के बिना वह दूर से भी दूर प्रतीत होता है, यानी अखिल विश्व को ढूढ डालने पर भी उसका पता नही लगता, और सूक्ष्म विचार करने पर वह सबके पास ही है, क्योकि वह सबका अपना आप है। वह एक ही अनेको की तरह प्रतीत होता है। जिस तरह समुद्र की लहरो की उत्पत्ति, स्थिति और लय समुद्र में ही होते है, उसी तरह अखिल विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय भी आत्मा ही मे होते है। सूर्य, चन्द्र, तारे, अग्नि आदि जितने भी प्रकाशवान पदार्थ है वे सब अपने आप —आत्मा ही से प्रकाशित होते है अपने आपका प्रकाश अर्थात ज्ञान होता है, तभी दूसरे पदार्थों के प्रकाश का ज्ञान होता है स्वप्न अवस्था मे जब बाहरी प्रकाश कोई भी नही होते, तब भी वहा उजेला रहता है, अत आत्मा स्वय ही प्रकाश-स्वरूप है। आप ही जानने योग्य अर्थात ज्ञेय है और आप ही सबके हृदय में स्थित जानने वाला अथवा ज्ञाता है। उस 'मै" रूप से सबके शरीर में रहने वाले सबके अपने आप—आत्मा अथवा परमात्मा को इसी तरह जानना अथवा अनुभव करना चाहिए। वह अनुभव, श्लोक ७ से ११ तक 'अमानित्व" से लेकर "तत्त्वज्ञानार्थ दर्शन' तक जो ज्ञान के आचरणो का वर्णन किया गया है, जिनका स्पष्टीकरण उक्त श्लोको में अर्थ और उनके तात्पर्य में अच्छी तरह कर दिया गया है, उसके अनुसार आचरण करने से होता है, न कि कोरे आत्मज्ञान की बातें बना लेने मात्र ही से। गीता में अव्यावहारिक ज्ञान को कोई महत्व नहीं दिया गया है, क्योकि अव्यावहारिक ज्ञान न तो वास्तविक ज्ञान है, और न उससे आत्मानुभव में स्थिति ही होती है। सच्चे ज्ञान अथवा आत्मानुभव का यही लक्षण है कि सबके साथ एकता के साम्य भाव युक्त यथायोग्य आचरण उपर्युक्त श्लोको के वर्णनानुसार स्वाभाविक रूप से होते रहे। साधन अवस्था में ये ही आचरण प्रयत्नपूर्वक करते रहने से शनै शनै ज्ञान के होने अन्त में यथार्थ आत्मानुभव की स्थिति प्राप्त हो जाती है। परन्तु इस तथ्य पर ध्यान न देकर, केवल आत्म ज्ञान की चर्चा करने में तथा अव्यावहारिक ज्ञान के अभ्यास में लगे रहने और आचरण, अनेकता एव विषमता के करने से उलटी दुर्दशा होती है। ऐसा करने से यथार्थ ज्ञान कभी नहीं होता। इसीलिए भगवान ने स्पष्ट कह दिया है कि इसके विरुद्ध आचरण करना अज्ञान है।

जो लोग परमात्मा की भक्ति करते है, उनके लिए भी भगवान ने १८वें श्लोक में साफ कह दिया है कि ज्ञान के इन आचरणो द्वारा मेरे भक्त, जो सबके एकत्व भाव ज्ञेय स्वरूप आत्मा का ज्ञान, अर्थात अनुभव प्राप्त कर लेते है, वे ही मेरे भाव को प्राप्त होते है। यद्यपि बारहवें अध्याय में श्लोक १३वें से १९वें तक, भक्तो के लिए रूपान्तर से यही आचरण करने का विस्तृत वर्णन कर आये है फिर भी यहा पर ज्ञान के प्रकरण में उसे दुहरा

कर इस बात की पुष्टि की है कि सच्चा ज्ञानी अथवा भक्त वही होता है, जिसके आचरण सबकी एकता के साम्य भाव युक्त हो। न तो अव्यावहारिक ज्ञान से और न अव्यावहारिक भक्ति से ही सच्चे आत्मानुभव की प्राप्ति और उसमें स्थिति होती है।

× × ×

यहाँ तक भगवान ने अद्वैत-वेदान्त सिद्धान्तानुसार क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के विवेचन द्वारा सबकी एकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। अब सांख्य दर्शन के सिद्धान्तानुसार, उसी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार सांख्य की परिभाषा में प्रकृति और पुरुष रूप से करते हैं। सांख्य वाले प्रकृति और पुरुष दोनो को वस्तुत स्वतन्त्र एवं भिन्न भिन्न मानते हैं, तथा दोनो के एकत्व भाव=ब्रह्म अथवा आत्मा अथवा परमात्मा को नहीं मानते, परन्तु वेदान्त-सिद्धान्तानुसार ये दोनो एक ही आत्मा अथवा परमात्मा की इच्छा अथवा कल्पना के दो भाव हैं—एक परिवर्तनशील असत जड भाव है, और दूसरा अपरिवर्तनशील सत चेतन-भाव है। इस अन्तर को छोड कर इन दोनो भावो, अर्थात प्रकृति और पुरुष के संबंध के, तथा प्रकृति के विस्तार के विषय के जो विचार सांख्य दर्शन के हैं, वे वेदान्त को भी ग्राह्य हैं। इसलिए सांख्य की परिभाषा में प्रकृति पुरुष संबंधी विचारो का आगे के श्लोको में वर्णन किया गया है, और साथ ही वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त को भी ज्यो का त्यो कायम रखा है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान ॥१९॥
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

अर्थ—प्रकृति और पुरुष दोनो ही को अनादि जान, और विकार एवं गुणो को प्रकृति से उत्पन्न हुए जान। तात्पर्य यह कि सांख्य-मतानुसार प्रकृति और पुरुष दोनो स्वतन्त्र रूप से अनादि हैं, और वेदान्त सिद्धान्तानुसार ये दोनो सबके आत्मा परमात्मा की इच्छा अथवा कल्पना के दो भाव हैं, इसलिए इनका कोई आदि नहीं कहा जा सकता,

इस प्रकार ये दोनो ही अनादि ह, और राग द्वेष, सुख दु ख, उपजना मिटना घटना-बढना एव पलटना आदि विकार तथा तीन गुणो का फलाव प्रकृति से होता ह (१९)। काय और कारण के कर्तापन में हेतु प्रकृति कही जाती ह, और पुरुष सुख दु ख के भोक्ता पन का हेतु कहा जाता ह। तात्पय यह कि काय कारण की परम्परा प्रकृति से होती ह, और प्रकृति तक ही वह रहती ह, अथवा काय रूप शरीर और कारण रूप पच महाभूत तथा तीन गुण (सब) प्रकृति के बनाव ह, और सुख दु ख की वेदनाओ की प्रतीति का कारण पुरुष की चेतनता ह (२०)। प्रकृति में स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणो को भोगता ह, "स ि ग गणमग भथान प्रकृनि क गणा का यह मग ा ही पुरुष के अच्छी और बुरी योनियो मे जन्म लेने का कारण ह। तात्पय यह कि पाच तत्त्व और तीन गुणो वाली प्रकृति के बनाव रूप शरीरो म अहभाव करके यानी अपने को शरीर मान कर पुरुष प्रकृति के गणो को भोगता ह और जिस गुण में विशष आसक्ति करता ह, उसी के अनुसार शरीर धारण करता ह (२१)। उपद्रष्टा अर्थात मन बद्धि, चित्त अहकार प्राण तथा इद्रियादि की चेष्टाओ का अनभव करने वाला—ज्ञाता अथवा साक्षी, अनुमन्ता अर्थात मन, बद्धि, चित्त अहकार, प्राण तथा इद्रियादि को उनके व्यवहारो म अनमति देने वाला—उनका प्ररक अथवा सहायक, भर्ता अर्थात मन बद्धि, चित्त, अहकार, प्राण तथा इद्रियो आदि के सघात रूप शरीर को सत्ता एव चेतना यक्त करने वाला, भोक्ता अर्थात मन रूप होकर इद्रियादिको के द्वारा विषयो को भोगने वाला, महेश्वर अर्थात व्यष्टि भाव से शरीर का और समष्टि भाव से सारे विश्व का स्वामी एव श सक—इस शरीर में रहन वाला पुरुष (प्रकृति से) परे और परमात्मा भी कहा जाता ह। तात्पय यह कि इस शरीर में जो चेतन पुरुष अर्थात व्यष्टि भावापन्न जीवात्मा रहता ह, वह जड प्रकृति से परे ह क्योकि प्रकृति निरतर बदलती रहती ह, इसलिए वह असत ह परन्तु पुरुष सदा एक-सा बना रहने के कारण सत ह इसलिए उसे पर-पुरुष कहते ह। वह पर-पुरुष व्यष्टि भाव से शरीर के अदर रहता हुआ, शरीर की पथक पथक चेष्टाओ का ज्ञान अर्थात अनुभव रखता हुआ तथा सब चेष्टाए करवाता हुआ और सब प्रकार के भोग भोगता हुआ एव इद्रियो पर शासन करता हुआ भी वास्तव में समष्टि-आत्मा=परमात्मा स्वरूप ही ह, अर्थात प्रत्यक देह में स्थित पुरुष अथवा जीवात्मा और सबके आमा=परमात्मा में कोई भेद नहीं ह—वस्तुत वे एक ही ह (२२)। जो इस तरह पुरुष को और गुणो सहित प्रकृति को जानता ह, वह सब प्रकार से बतता हुआ अर्थात जगत के सब प्रकार के व्यवहार करता हुआ भी पुनजम को प्राप्त नहीं होता। तात्पय यह कि जो पुरुष ऊपर कहे अनुसार प्रकृति और पुरुष के सबध का, और जीवात्मा परमात्मा की यानी सबकी एकता का यथाथ ज्ञान रखता हुआ सब प्रकार के सासारिक व्यवहार करता ह वह पूण रूप से मुक्त होता ह, और उसको विवशतापूवक आवागमन के चक्कर में आना नही पडता (२३)।

व्यक्तियो की योग्यतानुसार भिन्न भिन्न ह । कई लोग पातजल राज-योग के अवलम्बन से ध्यान में स्थित होकर अपने-आप ही में आत्मा अथवा परमात्मा का अनुभव करते ह, कई लोग सूक्ष्म विचार से सत्यासत्य का अन्वेषण करके तत्त्वज्ञान द्वारा सबके एकत्व भाव= आत्मा का अनुभव प्राप्त करते ह, और कई लोग सबके साथ प्रेम रखते हुए अपने-अपने शरीरो की योग्यता के सासारिक व्यवहार नि स्वार्थभाव से लोक-सग्रह के लिए करने द्वारा सबकी एकता के आत्मानुभव में स्थित हो जाते ह, परन्तु जिनकी उपयुक्त प्रकार से आत्मानुभव प्राप्त करने की योग्यता नहीं होती, वे लोग आत्मानुभवी महापुरुषो के वचनो मे श्रद्धा विश्वास करके, बारहवें अध्याय में किये हुए विधान के अनुसार सबके आत्मा परमात्मा की उपासना करने द्वारा आत्मानुभव प्राप्त करके मुक्त हो जाते ह (२४ २५)। हे भरत श्रेष्ठ ! जो कुछ स्थावर और जगम पदार्थ उत्पन्न होते ह, वे सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के सयोग से होते ह, ऐसा जान। तात्पर्य यह कि स्थावर-जगम अथवा जड चेतन रूप जगत के जितने बनाव बनते ह वे सब क्षेत्र अर्थात प्रकृति और क्षेत्रज्ञ अर्थात पुरुष के सयोग से बनते ह (२६)। जो सब नाशवान भूतो में यानी जगत में, (सदा एक समान रहने वाले) सम (Same) अविनाशी परमेश्वर अर्थात आत्मा को स्थित देखता ह, वही देखता ह। तात्पर्य यह कि जिसको जगत के भिन्न भिन्न प्रकार के परिवर्तनशील और विषम बनावो में एक ही अपरिवर्तनशील एव सम आत्मा अथवा परमात्मा की सर्वव्यापकता का अनुभव ह, दूसरे शब्दो में जो इस नानाभावापन्न जगत को एक, सत्य, नित्य एव सम आत्मा अथवा परमात्मा के परिवर्तन शील मायिक भावो का बनाव समझता ह, वही सच्चा ज्ञानी ह (२७)। सम अर्थात एक समान स्थित, इश्वर अर्थात आत्मा को सर्वत्र (उसी) समभाव ही में देखने वाला (पुरुष) अपने आप (आत्मा) की हत्या नही करता, (और) इससे (वह) परम गति को प्राप्त होता ह। तात्पर्य यह कि जो एक (One) और सम (Same) आत्मा अथवा परमात्मा की सबमें एक समान स्थिति होने के निश्चयपूर्वक सर्वत्र एकता (Oneness) और समता (Sameness) का अनुभव रखता ह, वह समदर्शी महापुरुष अपनी सब प्रकार की उन्नति करता हुआ परमात्म भाव में स्थित होता ह, परन्तु जो इसके विपरीत भिन्नता और विषमता के भावो को सच्चा मान कर एक, अखण्ड, निर्विकार एव सम आत्मा अथवा परमात्मा को अनेक विभागो वाला, तथा विकारवान एव विषम भावो वाला मानता ह, वह सबमें रहने वाले आत्मा अथवा परमात्मा स्वरूप अपने वास्तविक आपका तिरस्कार करने की आत्म-

हत्या करके अधोगति को प्राप्त होता ह (२८)। कम सब प्रकार से प्रकृति द्वारा ही किये हुए होते ह, और आत्मा अकर्ता ह, जो इस प्रकार देखता है वही देखता ह। तात्पय यह कि आत्मा क एक एव सम होने के कारण उसमें काय-कारण का कोई भद नहीं होता—ये भेद सब प्रकृति के कल्पित बनाव मात्र ह, इसलिए कर्मों का वर्तापन अथात काय कारण भाव प्रकृति तक ही रहता ह, आत्मा सदा अकर्ता ही रहता ह, जो इस रहस्य को ठीक ठीक जान लेता ह वही यथाथदर्शी अर्थात सच्चा ज्ञानी होता ह (२९)। जब भूतो के पथकता के भावो को एकत्व भाव मे स्थिर देखता है, ओर उस एकत्व भाव ही से (जगत की अनन्त प्रकार की भिन्नता का) विस्तार देखता ह, तब ब्रह्म स्वरूप होता ह। तात्पय यह कि जब मनुष्य को जगत की कल्पित पृथकता के भावो में सच्ची एकता, और उस सच्ची एकता ही से कल्पित पथकता के भावो का फलाव होने का निश्चय हो जाता ह, दूसरे शब्दो में "अनेको में एक और एक से अनेक" होने का जब यथाथ अनुभव हो जाता है, तभी ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति होती ह (३०)। हे कौन्तेय! अनादि होने के कारण और निगुण होने के कारण, यह अव्यय अर्थात निर्विकार परमात्मा शरीर में रहता हुआ भी, न (कुछ) करता ह और न लिपायमान होता ह (३१)। जिस तरह सूक्ष्म होने के कारण आकाश सबमें रहता हुआ भी लिपायमान नहीं होता, उसी तरह देह में आत्मा (सूक्ष्म रूप से) सवत्र रहता हुआ भी लिपायमान नहीं होता (३२)। हे भारत! जिस तरह एक सूय इस सम्पूण विश्व को प्रकाशित करता ह, उसी तरह (एक) क्षेत्री (आत्मा) सम्पूण क्षेत्र (शरीर एव जगत) को प्रकाशित करता ह (३३)। श्लोक ३१ से ३३ तक का तात्पय यह ह कि यद्यपि एक ही आत्मा अनेक रूपो में व्यक्त होता ह, और उस एक ही आत्मा से अखिल विश्व का फलाव होता ह, परन्तु उस आत्मा का कोई आदि अथवा कारण नहीं ह, और वह आत्मा सब-कुछ ह, इसलिए गुण और गुणी का भेद न होने के कारण वह निगुण और निर्विकार ह और नाना शरीरो के रूप धारण करता हुआ भी काय कारण का भेद न होने के कारण वास्तव में वह कुछ भी नहीं करता, और उससे पथक कुछ भी न होने के कारण वह किसी से लिपायमान अथवा बधायमान नहीं होता, किन्तु आकाश की तरह सदा निर्लिप्त रहता ह, और सूय की तरह सारे ब्रह्माण्ड को अपने सच्चिदानन्द भाव से प्रकाशित करता ह (३१ से ३३)। जो इस तरह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को, और भूतो के समुदाय-रूप जगत के कारण—प्रकृति की असत्यता रूप मोक्ष को, ज्ञान-रूपी चक्षु से याथातथ्य जान लेते हं, वे परमात्मा को पाते ह। तात्पय

यह कि जो पुरुष क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अथवा शरीर और जीवात्मा अथवा प्रकृति और पुरुष के ऊपर कहे अनुसार कल्पित भेद और वास्तविक अभेद के रहस्य को तत्वत जान लेते ह, वे प्रकृति और उसके सब विस्तार को अपने-आप=आत्मा अथवा परमात्मा का मायिक अत मिथ्या बनाव मात्र समझते ह, और मिथ्या बनाव में प्रतीत होने वाले बधन भी मिथ्या ही होते ह, इसलिए जिनको यह निश्चित ज्ञान हो जाता ह, वे अपने को सदा मुक्त ही अनभव करते ह, अत वे परमपद=परमात्म भाव में स्थित हो जाते ह (३४)।

स्पष्टीकरण—यह बात पहले कह आये ह कि गीता किसी भी दाशनिक मत का तिरस्कार नहीं करती, किन्तु जिस मत की जहाँ तक पहुँच होती ह, उसको वहाँ तक स्वीकार करती हुई उसमें जो त्रुटि होती ह, उसे पूरा कर देती ह। जड और चेतन अथवा प्रकृति और पुरुष के सयोग से उत्पन्न होने वाले शरीर और जगत, अथवा पिण्ड और ब्रह्माण्ड के विषय के तात्त्विक विवेचन में साख्य दशन—वेदान्त दशन के सिवाय—अय सब दशनो से बहुत आगे बढा हुआ ह। उसने भिन्नता के सब भावो का एकीकरण करके जड प्रकृति और चेतन पुरुष, इन दो मूल तत्त्वो में सबका समावेश कर दिया। परन्तु इससे आगे बढकर इन दो तत्त्वो का एकीकरण उसने नहीं किया। इस कमी को वेदान्त दशन ने पूरी की, अर्थात उसने जड प्रकृति और चेतन पुरुष का समावेश, सबके अपने-आप= आत्मा अथवा परमात्मा में कर दिया।

साख्य दशन जड प्रकृति को सत्त्व, रज और तम भेद से तीन गुणो की जननी, तथा नाना प्रकार के विचारो एव काय-कारण भाव का प्रसार करने वाली मानता है, और पुरुष को चेतन, निगुण, निर्विकार, काय-कारण भावो से रहित और साथ ही प्रकृति के गुणो का भोक्ता मानता ह, क्योकि प्रकृति जड ह, इस कारण उसमें स्वय भोक्तापन बन नहीं सकता। साख्य के मतानुसार पुरुष स्वय निगुण और निर्विकार होता हुआ भी प्रकृति के गुणो का सग करके उनमें उलझ कर अपन को सुखी-दुखी मानता ह, तथा जिस गुण में विशेष आसक्ति करता ह उसी के अनुसार ऊँची-नीची योनियो के शरीर धारण करता ह। यहाँ तक साख्य-दशन का मत वेदान्त दशन को भी ग्राह्य ह। परन्तु साख्य दशन का यह भी सिद्धान्त ह कि प्रकृति और पुरुष दोनो वस्तुत अलग-अलग, स्वतन्त्र, दोनो एक समान सत और दोनो स्वतन्त्र रूप से अनादि ह, तथा जड प्रकृति में चेतन पुरुष की समीपता से क्रिया उत्पन्न होती ह जिससे वह क्रियाशील होकर अपने गुणो के द्वारा जगत का पसारा करती ह और उस पसारे से पुरुष को मोहित करके फँसाती ह, परन्तु पुरुष जब प्रकृति के इस जाल से अलग होकर अपना छुटकारा कर लेता ह, तब कवल्य-पद-रूप मोक्ष पा लेता ह। साख्य का यह द्वत सिद्धान्त-वेदान्त को मान्य नहीं ह। वेदान्त का सिद्धान्त ह कि सबका अपना-आप=आत्मा अथवा परमात्मा अथवा ब्रह्म, अपनी इच्छा अथवा

कल्पना से एक तरफ निरन्तर बदलती रहने वाली जड प्रकृति-रूप होकर, उसके द्वारा जगत के नाना प्रकार के मायिक बनाव करता ह और दूसरी तरफ अपने सत चित भाव से पुरुष अर्थात जीव-रूप होकर उस मायिक बनाव को धारण करता ह तथा उसे चेतना युक्त करता ह। जड प्रकृति परिवर्तनशील, उपजने मिटने तथा घटने-बढने आदि विकारो वाली होने के कारण मिथ्या अर्थात असत ह, और चेतन पुरुष अथवा जीवात्मा, परमात्मा का सत चित भाव ह इसलिए वह सदा एक समान बना रहने वाला नित्य एव निर्विकार सत ह। व्यष्टि भावापन्न आत्मा अथवा जीवात्मा जब तक अपने समष्टि भाव की कल्पना रूप प्रकृति के मायिक बनाव को सच्चा मान कर उसमें तादात्म्य-सबध रखता ह, अर्थात अपने को प्रकृति के गुणो से उत्पन्न होने वाला सूक्ष्म अथवा स्थूल शरीर मानता ह, तब तक अपने को सुखी दुखी आदि विकारो युक्त मानता ह, तथा गुणो के सबध के अनुसार नाना योनियो के शरीर धारण करता ह, परन्तु जब उक्त प्रकृति को अपनी ही कल्पना का खेल समझ कर अपने को उस खेल का आधार, उसको सत्ता देने वाला तथा उसे चेतना युक्त करने वाला अनुभव कर लेता ह, तब उसे कोई सुख दु ख नहीं होता, न उसके लिए विवशता से विभिन्न योनियो में शरीर धारण करना ही शेष रहता ह। वह अपने यथार्थ-स्वरूप का अनुभव करके सबकी एकता-स्वरूप परमात्म भाव में स्थित हो जाता ह। अपने यथार्थ स्वरूप के अनुभव के लिए उसको किसी से अलग होने या किसी को छोडने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि छोडने के लिए उससे वस्तुत भिन्न दूसरा कुछ होता ही नहीं।

अस्तु, इस विषय में सांख्य का मत जहाँ तक अद्वत वेदान्त सिद्धान्त के अनुकूल पडता ह, उसे ग्रहण करके उसमें जो त्रुटि ह, उसे अद्वत वेदान्त सिद्धान्तानुसार पूरा करते हुए भगवान इन दोनो सर्वोच्च दर्शनो का इस प्रकार सामजस्य करते ह कि सबका अपना-आप एक नित्य एव सत्य आत्मा अथवा परमात्मा अपनी इच्छा अथवा कल्पना शक्ति से दो भावो में व्यक्त होता ह —एक सत चित्त आनन्द भाव—जिसको सातवें अध्याय में जीव भाव वाली परा प्रकृति, इस अध्याय के आरम्भ में क्षेत्रज्ञ, सांख्य की परिभाषा में पुरुष और आगे पद्रहवें अध्याय में अक्षर कहा ह, और दूसरा असत जड विकारवान भाव—जिसको सातवें अध्याय में अपरा प्रकृति, इस अध्याय के आरम्भ में क्षेत्र, सांख्य की परिभाषा में प्रकृति और आगे पद्रहवें अध्याय में क्षर कहा ह ये दोनो भाव अनादि ह अर्थात इनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि ये अमुक समय में उत्पन्न हुए। कारण यह ह कि अनादि आत्मा की इच्छा का यह खेल, काल में सीमाबद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि काल स्वय उसकी (अपरा) प्रकृति से उत्पन्न होता ह। परमात्मा की परा प्रकृति रूप पुरुष की सत्ता से (अपरा) प्रकृति द्वारा उत्पन्न सत्त्व, रज और तम भेद से तीनो गुणो की कमी-बेशी के तारतम्य-रूप गुण-वचित्र्य से जगत के नाना प्रकार के बनाव बनते ह, और प्रकृति के उक्त गुण-वचित्र्य ही से कार्य-कारण भाव अर्थात अमुक कारण से

अमुक काय हुआ—यह भाव होता ह त ग ा म ा ग ग न र र न न प्रत ा ग र ा ग र ा ि ज ा ग उत्पन्न होते ह । परा प्रकृति-रूप चेतन पुरुष, अपरा जड प्रकृति के गुणो का सग करके, अर्थात उसक साथ त्रूप होकर अपने को गुणो से युक्त मान कर, नाना प्रकार के शरीर धारण करके उक्त गण वचित्र्य से उत्पन्न नाना प्रकार के भोग भोगता ह । सत्त्वगुण में विशेष आसक्त होकर वह सात्विक शरीर धारण करता ह रजोगुण में विशेष आसक्त होकर राजस शरीर और तमोगुण में विशेष आसक्त होकर तामस शरीर धारण करता ह, तथा अपने-आपको सुखी-दुखी, विकारवान एव बन्धनयुक्त अनभव करता ह । प्रकृति में जो कुछ क्रियाएँ होती ह, वे चेतन पुरुष की सत्ता से होती ह क्योकि चेतन के बिना जड प्रकृति अकेली कुछ भी नही कर सकती । अत जगत का सारा बनाव प्रकृति और पुरुष के सयोग से बनता ह । क्षत्रज्ञ रूप पुरुष, क्षेत्र रूप सब शरीरो मे रहता हुआ बुद्धि रूप से शरीरो का ज्ञाता अथवा द्रष्टा होता ह, अपनी चेतनता से शरीर के अगो को चेतना युक्त रखता ह, अपनी एकता से भिन्न भिन्न अगो को एकता के सूत्र में पिरोये हुए रखता ह, मन रूप से सब इन्द्रियो को अपने अपने विषय भोगने की शक्ति से यक्त करता ह, और स्वामी न। । ग्न। । प ग ा ा और सब पर शासन करता ह । जिस प्रकार बिजली के प्रवाह (Current) से अनेक प्रकार के काय होते ह—लेम्पो से रोशनी होती ह, पखो से हवा चलती ह, मोटरो से अनेक प्रकार के उद्योग धन्धे होते ह, इत्यादि, यद्यपि काय भिन्न भिन्न औजारो अथवा उपकरणो द्वारा होते ह, परन्तु उन सबमें शक्ति बिजली के प्रवाह (Current) की होती ह उसी तरह चेतन पुरुष की सत्ता से जड प्रकृति के बनावो द्वारा जगत के सब काय होते ह । सब शरीरो में रहने वाला वह चेतन पुरुष सबका अपना आप वस्तुत परमात्मा ही ह और वह एक ही अनेक रूपो में विस्तृत होता ह, तथा वह सदा सबमें और सवत्र एक समान रहता ह । किसी बडे शरीर में वह बडा नहीं होता और छोटे शरीर में वह छोटा नहीं होता, उच्च कोटि के शरीर में वह उच्च नहीं होता और हीन कोटि के शरीर में हीन नहीं होता, पवित्र शरीर में वह पवित्र नहीं होता और मलिन में मलिन नहीं होता, शरीरो के विकारो से उसमें कोई विकार नहीं होता, शरीरो के सुखी दुखी होने से वह सुखी दुखी नहीं होता शरीरो की उत्पत्ति से वह उत्पन्न नहीं होता और शरीरो के नाश से वह नष्ट नहीं होता, तथा शरीरो के घटने बढने से उसमें कोई घटा बढी नहीं होती—वह सदा सम और निर्विकार रहता ह । वह जगत के सब प्रकार के व्यव हारो को सूय की तरह समान रूप से प्रकाशित करता ह यानी जगत की प्रतीति उसी से होती ह, और जगत के अनन्त प्रकार के बनावो के बनते एव बिगडते रहने पर भी वह आकाश की तरह अलिप्त और एक सा—सम बना रहता ह ।

सबके अपने आप=आत्मा अथवा परमात्मा की एकता, नित्यता, सत्यता एव पूण समता का इस प्रकार का अनुभव, कई लोगो को ध्यान-योग अर्थात पातजल राज

योग क ा ग्राम नाग चित्त का एकाग्र करने से होता है, कई लोगो को बुद्धि द्वारा तात्त्विक विचार करने से होता है, और कई लोगो को निस्स्वार्थ भाव से लोक सेवा के कर्म करने से होता है। इस तरह अपनी-अपनी योग्यता के अभ्यास करने से अन्त करण की द्वैत भाव रूपी मलिनता दूर हो जाने पर अपने आप में सबकी एकता एव समता का अनुभव शेष रह जाता है। इन तीन साधनो से आत्मानुभव प्राप्त करने की जिनकी योग्यता नही होती, वे श्रद्धापूर्वक सबके आत्मा=परमात्मा की एकता अथवा सर्वव्यापकता एव समता के उपदेशादि सुन कर परमात्मा की उपासना द्वारा आत्मा परमात्मा तथा अखिल विश्व की एकता का अनुभव प्राप्त करके मुक्त हो जाते हैं।

जिनको ऊपर कहे अनुसार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अथवा प्रकृति पुरुष, जगत जगदीश्वर और जीवात्मा परमात्मा के सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान होकर सबकी एकता के साम्य भाव का अनुभव हो जाता है, अर्थात जिनको यह निश्चय हो जाता है कि जगत में पृथकता और विषमता के जितने भाव हैं वे सबके अपने आप सबके आत्मा=परमात्मा की कल्पना-रूप प्रकृति के मायिक बनाव मात्र है, अत वे असत है, और उन नाना असत मायिक बनावो में जो एक, सत एव सम भाव है, वह सबका आधार, सबका प्रेरक एव सबका स्वामी है और वह सबका अपना आप आत्मा है—वे समत्वयोगी ससार के सब प्रकार के व्यवहार सबके साथ यथायोग्य प्रेमसहित साम्य भाव से स्वतन्त्रता पूर्वक करते हुए सब प्रकार की उन्नति करते है, और वे ही अपने आपके उद्धारकर्ता अर्थात स्वय परब्रह्म परमात्म स्वरूप होते है (ईशोपनिषद म० १२ और ६७), और जो लोग इसके विपरीत अपने आपको दूसरो से पृथक, एक तुच्छ एव दीन हीन जीव अथवा व्यक्ति मानते है, और पृथकता के विपरीत ज्ञान-युक्त दूसरो के साथ राग-द्वेष, घृणा तिरस्कार आदि विषमता के आचरण करते है, वे किसी भी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकते, किन्तु सदा अज्ञान-अन्धकार में पड़े हुए उत्तरोत्तर अपना पतन करते है अत वे आत्म हत्यारे होते है (ईशोपनिषद म० ३), और नाना प्रकार के क्लेशो से परिपूर्ण दीनता के भावो के दलदल में फँसे रहते है। मनुष्य आप ही अपना उद्धार करने वाला और आप ही अपना पतन करने वाला है। अत जिनको उक्त आत्म घात से बच कर अपना उद्धार करना हो, उनको उक्त "एक में अनेक और अनेको में एक" के तत्त्वज्ञान की प्राप्ति करके, उसके आधार पर अपनी-अपनी योग्यता के सासारिक व्यवहार सबके साथ एकता के साम्य भाव से करने-रूपी समत्व-योग में स्थित होना चाहिए।

॥ तेरहवाँ अध्याय समाप्त ॥

चौदहवाँ अध्याय

तेरहवें अध्याय में प्रकृति पुरुष के वणन में भगवान ने कहा था कि गुण, विकार और काय-कारण भावो की उत्पत्ति प्रकृति से होती ह, और पुरुष प्रकृति के गुणो के सग से सुख-दु ख आदि भोगता ह और ऊच-नीच शरीर धारण करता ह। अब इस चौदहवें अध्याय में पहले इस बात की पुष्टि करके कि प्रकृति और पुरुष मुझ (सबके आत्मा=परमात्मा) से भिन्न नहीं ह, फिर प्रकृति के फलाव और उसके गुणो के सग से पुरुष अपने को किस तरह सुखी-दुखी बद्ध-मुक्त तथा उन्नत-अवनत मानता ह, और किस तरह उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट शरीर धारण करता ह, उसका विस्तारपूवक खुलासा करके, अन्त में गुणो की उलझन से ऊपर रहने वाले गुणातीत जीवनमुक्त समत्वयोगी की स्थिति का वणन करते ह।

श्रीभगवानुवाच

पर भूय प्रवक्ष्यामि ज्ञानाना ज्ञानमुत्तमम ।
यज्ज्ञात्वा मुनय सर्वे परा सिद्धिमितो गता ।।१।।
इद ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलयेन व्यथन्ति च ।।२।।
मम योनिमहद्ब्रह्म तस्मिन्गभ दधाम्यहम ।
सम्भव सवभूताना ततो भवति भारत ।।३।।
सवयोनिषु कौन्तेय मूतय सभवन्ति या ।
तासा ब्रह्म महद्योनिरह बीजप्रद पिता ।।४।।
सत्त्व रजस्तम इति गुणा प्रकृतिसम्भवा ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम ।।५।।
तत्र सत्त्व निमलत्वात्प्रकाशकमनामयम ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ।।६।।
रजो रागात्मक विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कमसङ्गेन देहिनम ।।७।।

तमस्त्वज्ञानज विद्धि मोहन सवदेहिनाम ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥
सत्त्व सुखे सजयति रज कमणि भारत ।
ज्ञानमावत्य तु तम प्रमादे सजयत्युत ॥ ९ ॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्व भवति भारत ।
रज सत्त्व तमश्चव तम सत्त्व रजस्तथा ॥ १० ॥
सवद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञान यदा तदा विद्याद्विवद्ध सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥
लोभ प्रवत्तिरारम्भ कमणामशम स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतषभ ॥ १२ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलय याति देहभत ।
तदोत्तमविदा लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥
रजसि प्रलय गत्वा कमसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥
कमण सुकृतस्याहु सात्त्विक निमल फलम ।
रजसस्तु फल दु खमज्ञान तमस फलम ॥ १६ ॥
सत्त्वात्सजायते ज्ञान रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥
ऊध्व गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसा ।
जघन्यगुणवत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा ॥ १८ ॥
नान्य गुणेभ्य कर्तार यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च पर वेत्ति मद्भाव सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान ।
जन्ममत्युजरादु खर्विमुक्तोऽमतमश्नुते ॥ २० ॥

अजुन उवाच

कैलिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवतिप्रभो ।
किमाचार कथ चतास्त्रीन्गुणानतिवतने ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाश च प्रवत्ति च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि गप्रवत्तानि न निवत्तानि गा‍ग‍ति ।। २२ ।।
उदासीनवदासीनो गुणर्यो न विचाल्यते।
गुणा वत‍त इत्येव योऽवनिष्ठति नेङ्गते ।। २३ ।।
समदु खसुख स्वस्थ समलोष्टाश्मकाञ्चन ।
तुल्यप्रियाप्रिया धीरस्तुल्यनि दात्मसस्तुति ।। २४ ।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयो ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीत स उच्यते ।। २५ ।।
मा च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणा गमती त्या ब्र भ याय कल्पते ।। २६ ।।
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममतस्या ययस्य च।
शाश्वतस्य च धमस्य सुखस्यैका तिकस्य च ।। २७ ।।

अथ—श्री भगवान बोले कि (सब) ज्ञानो में परम उत्तम ज्ञान फिर से कहता हू, जिसे जान कर सब मुनि लोग यहाँ से परम सिद्धि पा गये। तात्पय यह कि भगवान कहते ह कि इससे पहले के अध्यायो में जिस परम उत्तम ज्ञान का वणन किया था, उसका फिर से विस्तारपूवक खुलासा करता हूँ, इसी ज्ञान को प्राप्त करके विचारशील लोग मुक्त हुए ह (१)। इस ज्ञान के अवलम्बन से मेरे साथ एकत्व भाव को प्राप्त होकर (मनुष्य) ससार में न तो जन्मते ह और न मरण की व्यथा से पीडित होते ह। तात्पय यह कि इस ज्ञान को प्राप्त करके मनष्य—परमात्म-स्वरूप हो जाता ह, फिर उसे विवशतापूवक जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आना पडता (२)। हे भारत! महद्-ब्रह्म अर्थात प्रकृति मेरी योनि ह, जिसमें म गभ रखता हू, उससे सब भूतो की उत्पत्ति होती ह। तात्पय यह कि म अपने क्षेत्रज्ञ अथवा चेतन पुरुष भाव से क्षेत्र-रूप अपनी जड प्रकृति में चेतना अथवा स्फुरणा-रूप बीज डालता हू, जिससे, अर्थात उस जड चेतन के सयोग से जगत के नाना प्रकार के मायिक बनाव बनते ह (३)। हे कौन्तेय! सब योनियो में जो-जो नाना रूपो वाले बनाव अथवा शरीर उत्पन्न होते ह उनकी प्रकृति माता ह और म बीज देने वाला पिता हूँ। तात्पय यह कि जगत के जो अनन्त प्रकार के बनाव बनते हं, उन सबको, मेरे सत चित भाव की सत्ता, चेतना एव स्फुरणा रूप बीज को धारण करके, मेरी जड प्रकृति प्रसव करती ह (४)। हे महाबाहो! प्रकृति से उत्पन्न सत्त्व, रज और तम ये गुण देह में अविकारी देही अर्थात जीवात्मा को बाँधते है। तात्पर्य यह कि प्रकृति

और पुरुष के उपयुक्त सयोग से जो-जो बनाव बनते हं, उनमें जो प्रकृति का जड—भाव ह, वह विकार वाला ह, और जो पुरुष का चेतन भाव ह, वह वस्तुत अविकारी ह, परन्तु प्रकृति के सत्त्व, रज और तम भेद वाले तीन गुण उस अविकारी चेतन पुरुष को नाना रूपो वाले शरीरो में उलझाते ह (५)। हे अनघ! उनमें से निमल (स्वच्छ) होने के कारण प्रकाशवान और सुख-रूप सत्त्वगुण, सुख के सग से तथा ज्ञान के सग से (जीवात्मा को) बाँधता ह। तात्पय यह कि उक्त तीनो गुणो में से सत्त्वगण का स्वभाव निमल यानी दिव्य अथवा उज्ज्वल होने के कारण वह प्रकाश अथवा बोध एव सुख का हेतु होता ह, इसलिए वह चेतन जीवात्मा को ज्ञान और सुख में आसक्ति कराकर उलझाता ह (६)। हे कौन्तेय! तष्णा और सग को उत्पन्न करने वाले रजोगुण को रागात्मक अर्थात आकषण रूप जान, वह देहधारी जीवात्मा को कर्मों के सग से बाधता ह। तात्पय यह कि रजोगुण आकषण अथवा खिचाव-रूप राग धर्मी ह अत उससे सासारिक पदार्थों और विषयो में प्रीति और उनकी प्राप्ति की तष्णा उत्पन्न होती ह, जिनके लिए प्राणी कम करने में उलझा रहता ह (७)। और हे भारत! सब देहधारियो को मोह में डालने वाले तमोगुण को अज्ञान उत्पन्न करने वाला समझ, वह (जीवात्मा को) प्रमाद अर्थात विवेकशून्यता अथवा मूढता, आलस्य और नींद से बाधता ह। तात्पय यह कि तमोगुण अज्ञान-रूप होने के कारण मोह उत्पन्न करने वाला ह, अत वह प्राणियो को अविचार, भूल, मूढता अथवा जडता, आलस्य और नींद में उलझाये रखता ह (८)। हे भारत! सत्त्वगुण सुख में जोडता ह, रजोगुण कम में (प्रवत्ति कराता ह), और तमोगुण ज्ञान को ढाँक कर प्रमाद अर्थात मूढता में जोडता ह। तात्पय यह कि देहधारियो को सत्त्वगुण सुख का उपभोग कराने वाला, रजोगुण क्रियाशील रखने वाला और तमोगुण विचारशून्य एव मूढ़ बनाये रखने वाला ह (९)। हे भारत! रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण की प्रधानता होती ह, रजोगुण और सत्त्वगुण को दबाकर तमोगुण की एव तमोगुण और सत्त्वगुण को दबाकर रजोगुण की प्रधानता होती ह। तात्पय यह कि शरीर में जब कभी सत्त्वगुण की प्रधानता होती ह, तब रजोगुण और तमोगुण दबे हुए रहते ह, जब रजोगुण की प्रधानता होती ह, तब सत्त्वगुण और तमोगुण दबे हुए रहते ह, और जब तमोगुण की प्रधानता होती ह, तब सत्त्वगुण और रजोगुण दबे हुए रहते ह (१०)। इस देह के सब द्वारो में जब ज्ञान-रूप प्रकाश उत्पन्न होता ह तब जानना चाहिए कि सत्त्वगुण बढा हुआ ह। तात्पय यह कि जब शरीर में सत्त्वगुण बढा हुआ होता ह तब बद्धि, मन एव नानेन्द्रियो को अपने अपने विषयो का यथाथ ज्ञान होता ह (११)। हे भरतश्रेष्ठ! लोभ, कर्मों में प्रवत्ति अर्थात निरन्तर क्रियाशील रहना, आरम्भ अर्थात नित-नये आडम्बर रचने के मनसूबे बाँधना, कम करने में सन्तोष न होना और विषयो तथा पदार्थों की चाह बनी रहना—ये रजोगुण की वद्धि में होते ह। तात्पय यह कि जब शरीर में रजोगुण बढा हुआ होता ह,

तब सासारिक विषयो और पदार्थों की प्राप्ति का लोभ उत्तरोत्तर बढता जाता ह निरन्तर कम करते रहन की प्रवत्ति होती ह, नित-नये अडगे खडे करने के सकल्प उठते रहते हैं, काम करने में कभी तप्ति नहीं होती और चाहनाए लगातार एक दूसरे के बाद उत्पन्न होती रहती ह (१२)। हे कुरुनन्दन! अप्रकाश अर्थात अज्ञान, अकमण्यता, मूढता और मोह—ये तमोगुण के बढने से उत्पन्न होते ह। तात्पय यह कि जब शरीर में तमोगुण बढा हुआ होता ह तब अन्त करण और इन्द्रियो को अपने-अपने विषयो का यथाथ ज्ञान नही होता, आलस्य से निकम्मे रहने विचारशून्यता अर्थात कुछ भी विचार न करने अथवा असावधानी और मोह की दशा रहती ह (१३)। जब सत्त्वगण बढा हुआ होता ह, उस समय देहधारी (जीवात्मा) शरीर छोडता ह तो उसे उत्तम विचारवानो के निमल लोक प्राप्त होते ह। तात्पय यह कि जिस समय शरीर में सत्त्वगुण की प्रबलता होती ह, उस समय जिसका शरीर छूटता ह वह पुण्यात्मा ज्ञानी लोगो के कुल अथवा समाज में दूसरा जन्म लेता ह (१४)। रजोगुण (की प्रबलता) में शरीर छोडने वाला कर्मों में आसक्त रहने वाले लोगो में जन्म लेता ह, और तमोगुण (की प्रबलता) में शरीर छोडने वाला मूढ योनियो में जन्म लेता ह। तात्पय यह कि जब शरीर में रजोगुण बढा हुआ होता ह, उस समय शरीर छूटन पर, जो लोग रात दिन कर्मों में लगे रहते ह उनके घर में दूसरा जन्म होता ह, और जिस समय तमोगुण बढ़ा हुआ होता ह, उस समय मरने से पशु, पक्षी वक्ष लता आदि ज्ञान-शून्य मूढ यानिया में जन्म होता ह (१५)। सुकृत अर्थात सात्त्विक कम का फल सात्त्विक, निमल (सुख-रूप) कहा गया ह, और राजस कम का फल दुख, (तथा) तामस कम का फल अज्ञान कहा गया ह। तात्पय यह कि जो लोग सात्त्विक कम करते ह, वे सुखी होते ह, राजस कम करने वालो को दुख होता ह और तामस कम करने वाले अज्ञान में ही पडे रहते ह (१६)। सत्त्वगुण से ज्ञान होता ह रजोगुण से लोभ आदि होते ह और तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान होते ह (१७)। सत्त्वगुण प्रधान लोग ऊपर को जाते ह, रजोगुणी बीच में ठहरते ह (और) निकृष्ट गुण की वत्ति वाले तामसी लोग नीचे को जाते ह। तात्पय यह कि जिनमें सत्त्वगुण की प्रधानता होती ह वे उन्नत होते ह और तमोगुण की प्रधानतावालो का अधःपतन होता है, तथा रजोगण की प्रधानता वालो की स्थिति इन दोनो के बीच में रहती ह (१८)। जब द्रष्टा पुरुष गुणो के सिवाय और किसी को कर्ता नहीं देखता, और (अपने-आप= आत्मा को) गुणो से परे जानता ह, तब वह मेरे भाव को प्राप्त होता ह। तात्पय यह कि विवेकी पुरुष जब यह अनुभव कर लेता ह कि जगत का सारा खेल तीन गुणो के परस्पर में बतने से ही होता ह, और अपने आप=आत्मा को गुणो से ऊपर, गुणों का द्रष्टा, उनका आधार एव उनका स्वामी समझता ह, तब वह परमात्म-स्वरूप हो जाता ह (१९)। देह की उत्पत्ति कराने वाले इन तीन गुणो से अतीत होने पर देही अर्थात पुरुष, जन्म,

मृत्यु और बुढ़ापे (आदि) के दु खो से मुक्त होकर, अमृत अर्थात अक्षय आनन्द को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि शरीरो की उत्पत्ति के कारण प्रकृति के तीन गुण ही है, अर्थात तीन गुणो के परस्पर गुणन की विचित्रता से नाना प्रकार के शरीर होते है, अत जो पुरुष इन तीन गुणो का अतिक्रमण कर जाता है, उस पर शरीर के जन्मने, मरने, बुढ़ापे और रोगादि से ग्रस्त होने के दु खो का कुछ भी प्रभाव नहीं पडता— वह इन दु खो से अलिप्त एव अविचलित रहता है और वह परमानन्द परमात्म-स्वरूप हो जाता है (२०)।

अर्जुन बोला कि हे प्रभो! इन तीन गुणो से अतीत पुरुष के क्या-क्या लक्षण होते है? उसके आचरण कैसे होते है? और वह इन तीन गुणो से परे कैसे रहता है? तात्पर्य यह कि भगवान ने जब यह कहा कि सब कर्म प्रकृति के तीन गुणो से ही होते है, और शरीर के कारण भी उक्त तीन गुण ही है—गुणो के बिना कुछ भी नहीं होता और जो पुरुष इन गुणो से परे होता है वही मुक्त होता है, तब यह शका अवश्य उठती है कि, जब कि गुणो के बिना न तो शरीर रहता है और न कुछ व्यवहार ही होते है, तो गुणातीत अर्थात गुणो से रहित हो जाने वाले पुरुष का शरीर कैसे रहता है और वह आचरण किस तरह करता है? दूसरे शब्दो में शरीर के रहते मनुष्य गुणातीत अर्थात गुणो से रहित कैसे हो सकता है? तथा उस गुणातीत पुरुष की पहचान कैसे हो? क्योकि पहचानने के लिए चिन्ह भी गुणो से ही होते है। अर्जुन के प्रश्न का यही आशय है, जिसके उत्तर में भगवान इस विषय का आगे खुलासा करते है (२१)। श्री भगवान बोले कि हे पाण्डव! प्रकाशरूप सत्त्वगुण, प्रवृत्तिरूप रजोगुण और मोहरूप तमोगुण के प्राप्त होने पर जो उनसे द्वेष नही करता, और निवृत्त होने पर उनकी इच्छा नही रखता, उदासीन की तरह स्थित हुआ जो गुणो से विचलित नही होता, "गुण ही गुणो में बर्तते है" यह समझ कर जो अविचल रूप से स्थिर रहता है, जो सुख दु ख में सम अर्थात एक समान अविचलित रहने वाला, अपने-आप में मस्त, मिट्टी, पत्थर, सोने तथा प्रिय और अप्रिय को समान जानने वाला, धैर्य से युक्त, और अपनी निन्दा स्तुति में सम, मान अपमान में सम तथा शत्रु मित्र के विषय में एक समान रहने वाला, एव सब आडम्बरो का परित्याग करने वाला है—वह गुणातीत कहलाता है। तात्पर्य यह कि अर्जुन की उपरोक्त शका का समाधान करने के लिए भगवान कहते है कि गुणातीत होने का अभिप्राय गुणो से सर्वथा अलग होकर निर्गुण होने का नही है, किन्तु गुणो से ऊपर उठ कर उनमें उलझे बिना, उनके स्वामी भाव से उनको अपने

अधीन रखते हुए उनके द्वारा जगत के व्यवहार करने का ह। जो इस प्रकार गुणो से परे अथवा गुणातीत होता ह, वह न तो किसी गुण से और न किसी गुण के काय अथवा विस्तार से द्वेष करता ह, और न उसके निवत्त होने पर उसे उस की इच्छा रहती ह, क्योकि वह गुणो और उनके विस्तार को अपनी ही कल्पना का खेल समझता ह, इसलिए उसे उनसे कोइ बाधा नहीं होती, अत उन नानो गुणो मे यथायोग्य बतता हुआ भी नि शक एव अविचलित रहता ह। गुण-वचित्र्य से उत्पन्न होने वाले जितने भी द्वद्व भाव—सुख दु ख अनुकूल प्रतिकूल उत्कृष्ट निकृष्ट, प्रिय-अप्रिय, निदा-स्तुति, मान-अपमान, शत्रु मित्र आदि होते ह, उनके विषय में उसका अन्त करण सम* बना रहता ह। किसी भी प्रकार की अनुकूलता प्रतिकूलता में उसका धय नहीं टूटता, क्योकि उसको यह अनुभव रहता ह कि यह सब गुणो की विचित्रता के खेल के सिवाय और कुछ नहीं ह। इस गुण-वचित्र्य के दिखावटी आडम्बरो में उसकी कोई आसक्ति नहीं रहती (२२ २५)। और जो अनय भाव के भक्ति-योग से मेरी उपासना करता ह वह इन गुणो से अतीत होकर ब्रह्म-रूप हो जाता ह, क्योकि अविनाशी एव अविकारी ब्रह्म का, शाश्वत धम का और ऐकान्तिक सुख का आश्रय म ही हू। तात्पय यह कि सबके अदर "म" रूप से रहने वाले आत्मा अथवा परमात्मा के एकत्व भाव की उपासना करन से मनष्य स्वय परमात्मा-स्वरूप हो जाता ह, फिर उसके लिए गुणो का कोई विकार शेष नहीं रहता, क्योकि "म" रूप से सबके अदर रहने वाला सबका आत्मा=परमात्मा सब प्रकार के विकारो से रहित ब्रह्म ह, वही सबका आधार होने के कारण सबको धारण करने वाला धम ह, और वही सदा आनद-रूप होने के कारण दु खरहित पराकाष्ठा का सुख ह। इन सबकी सिद्धि सबके अपने आप—आत्मा से होती ह (२६ २७)।

[illegible] गुणो के पथक-पथक स्वभाव तथा उनके पथक पथक कार्यों का वणन करने के पहले, भगवान यह स्पष्ट कर देते ह कि म सबका आत्मा ही अपनी इच्छा अथवा कल्पना से जड प्रकृति और चेतन पुरुष रूप होकर सारे ब्रह्माण्ड की रचना रूप खेल करता हूँ। "म" सबका आत्मा अपने पुरुष-रूप पिता भाव से प्रकृति-रूप माता भाव में सष्टि रचना का स्फुरण रूप बीज डाल कर जगत का प्रसव करता हू, अर्थात मेरे सत चित भाव रूप पुरुष की सत्ता पाकर मेरी जड प्रकृति सत्त्व रज और तम भेद से तीन गुणो को प्रसव करती ह जिनके परस्पर के गुणन से अनन्त प्रकार के जगत के

---

*द्वन्द्वो म सम रहन का खुलासा छटे अध्याय के श्लोक ७ से ९ तक तथा बारहवें अध्याय मे समता के स्पष्टीकरण में देखिए।

बनाव बनते ह और पुरुष इन तीन गुणो के परस्पर के गुणन से उत्पन्न होने वाले बनावो में उलझ कर अपने को सुखी-दुखी आदि विकारो से युक्त मानता ह। यद्यपि पुरुष मेरा सत चित भाव होने के कारण उसकी सत्ता ही से सब बनाव बनते ह, इसलिए वस्तुत वह इन गुणो का स्वामी होता ह, परन्तु वह अपने स्वामी भाव को भूल कर प्रकृति के गुणो के इन बनावो में ही तादात्म्य कर लेता ह, अर्थात अपने आपको तीन गुणो का कोई विशेष बनाव यानी शरीर ही मान लेता ह, अत शरीर के साथ लगी हुई नाना प्रकार की उपाधियो के कारण अपने को सुखी, दुखी, छोटा, बडा, धनी गरीब, ऊँचा, नीचा आदि अनेक प्रकार के विकारो वाला तथा भाँति भाति के ब धनो से बधा हुआ अनुभव करता ह। जिस तरह कोई राजा स्वप्न में अपने को एक अत्यन्त ही निबल निधन, विपदग्रस्त एव भिखारी अनुभव करके दुखी होता ह, उसी तरह पुरुष, अपने ही सकल्प से अपने को सुखी, दुखी आदि विकारो युक्त मान कर याकुल होता ह। सत्त्वगुण प्रकाश अथवा ज्ञान-रूप ह, अत प्रत्येक वस्तु एव विषय के ज्ञान, प्रकाश अथवा बोध होने का कारण सत्त्वगुण ही ह—चाहे वह ज्ञान इद्रियो द्वारा हो अथवा अ त करण द्वारा, और वह ज्ञान ही सुख का जनक होता ह, इसलिए सत्त्वगुण से ज्ञान और सुख होता ह, और वह पुरुष का ज्ञान और मन में उलझाता ह। रजोगुण आकषण, क्रिया अथवा हलचल-रूप ह, इसलिए सब भूत प्राणियो एव जगत के पदार्थों का पारस्परिक खिचाव अथवा प्रीति, तथा हलचल अर्थात क्रियाशीलता रजोगुण से ही होती ह, अत रजोगुण पुरुष को जगत के बनावो की प्रीति में और नाना प्रकार की क्रियाओ में उलझाता ह। तमोगुण जडता, स्थिरता एव अ धकाररूप ह, इसलिए उससे आलस्य, मूढ़ता मोह भूल, नींद, अकमण्यता स्थिति पालकता एव विचार शू यता आदि होती ह, अत तमोगुण पुरुष को उपरोक्त मूढ़ता, आलस्य आदि में उलझाता ह। यद्यपि पिण्ड और ब्रह्माण्ड रूप जगत त्रिगुणा मक प्रकृति का बनाव होने के कारण, इन तीनो में से किसी भी गुण का अभाव किसी भी दशा में नहीं होता—तीनो ही निरन्तर बने रहते ह, पर तु उनकी कमी-बेशी बनी रहती ह, कभी सत्त्वगुण की प्रधानता होती ह, कभी रजोगुण की और कभी तमोगुण की। जब एक गुण की प्रधानता होती ह, तब दूसरे गुण उससे दबे हुए रहते ह। जब शरीर में सत्त्वगुण की प्रधानता होती ह, तब सब इद्रियो को अपने-अपने विषयो का यथाथ ज्ञान होता ह, अन्त करण में दूसरो के साथ एकता का प्रेम भाव होता ह, बुद्धि में विवेक होता ह, मन में शुभ सकल्प उठते ह चित्त में अच्छे सस्कारो की स्मति होती ह। जब रजोगुण की प्रधानता होती ह तब अ त करण में दूसरो से पथकता ज य राग द्वेष के भावो की प्रब लता, कर्मों मे प्रवत्ति, पदार्थो के सग्रह का लोभ, तष्णा और असतोष उत्पन्न होते रहते ह। और तमोगुण की प्रधानता में मूढता, आलस्य अकमण्यता स्थिति-पालकता, निद्रा आदि दबाते रहते ह। सत्त्वगुण की प्रधानता में यदि शरीर छूटता ह तो दूसरा जन्म

पुण्यवान उन्नत विचारो वाले ज्ञानी पुरुषो के समाज में होता ह । रजोगुण की प्रधानता में शरीर छूटने पर निरन्तर क्रियाशील रहने वाले अथवा कर्मों में आसक्ति रखने वाले लोगो के कुल अथवा समाज में दूसरा जन्म होता ह, और तमोगुण की प्रधानता में शरीर छूटन पर जड पदार्थो के रूप म स्थिति होती ह, अथवा पशु-पक्षी आदि विवेक-शून्य योनियो में जन्म होता ह । सात्त्विक कर्मो (गी० अ० १८ श्लो० २३) से सुख, राजस कर्मों (गी० अ० १८ श्लो० २४) से दु ख और तामस कर्मो (गी० अ० १८ श्लो० २५) से जडता अथवा मूखता उत्पन्न होता ह । साराश यह कि सत्त्वगुण ऊचा उठाने वाला ह, अत वह सब प्रकार की उन्नति का कारण ह, तथा तमोगुण नीचे गिरानेवाला ह अत वह अधोगति का कारण ह, और रजोगुण दोनो के बीच में रहता ह अत वह सत्त्वगुण की समीपता से उन्नति म सहायक होता ह, और तमोगुण की समीपता से अधोगति में सहायक होता ह ।

जो पुरुष इस प्रकार गणो की विचित्रता के रहस्य को समझ कर, इस गुण-वचित्र्य को ही जगत की भिन्नता के अनन्त प्रकार के बनावो का कारण जानता ह, तथा अपने आपको इन गुणो से परे एव इनका आधार अनुभव करता ह, वह इन तीन गुणो की उलझन से रहित एव शारीरिक विकारो एव बन्धनो से मुक्त होकर परमात्म-स्वरूप हो जाता ह ।

परन्तु गुणो से परे होने अथवा उनसे ऊपर उठने या उनसे मुक्त होने का यह तात्पय नहीं ह कि तीन गणो से सवथा रहित होकर पूण निगण होन से ही मनुष्य मुक्त होता ह, क्योकि शरीर और जगत तीन गुणो के गुणन से ही होते ह, अत शरीर और जगत के रहते तीन गणो से सवथा रहित होना बन नहीं सकता, और जब तक शरीर ह, तब तक ही गण-वचित्र्य के रहस्य को समझने और अपने-आपको उससे परे अनुभव करने की योग्यता हाती ह । इस विषय का अच्छी तरह स्पष्टीकरण करने के लिए अर्जुन की शका के उत्तर में भगवान कहते ह कि, गुणो से परे अथवा गुणातीत होने का यह तात्पय नहीं ह कि मनुष्य गणो से सवथा रहित होकर शरीर ही छोड दे । वास्तव में गुणातीत पुरुष वह ह, जो तीनो गुणो को अपना कल्पित खल समझ कर गुणो के स्वामीभाव से उनका यथायोग्य उपयोग करता हुआ भी उनमें नहीं उलझता, तथा उनका उस पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पडता । सत्त्वगुण के द्वारा वह ज्ञान और सुख का स्वय अनुभव करता ह तथा दूसरो को कराता ह, रजोगुण के द्वारा वह नाना प्रकार के लोक-सग्रह के व्यवहार करता ह और तमोगुण के द्वारा वह विश्राम और नींद भी लेता ह, परन्तु सब कुछ करता हुआ भी वह निर्विकार और अविचल रहता ह इसलिए उसे किसी भी गुण से द्वेष करने या उससे निवत्त होने की इच्छा ही नहीं होती किन्तु सबका समावेश उसके अपन-आपमें ही हो जाता ह । गुणो से उत्पन्न सुख-दु ख, अनुकूलता प्रतिकूलता

आदि नाना प्रकार के द्वन्द्वो को अपनी कल्पना समझ कर वह इनमें एक समान अविचलित रहता ह । दूसरो से पथक उसका यक्तित्व नहीं रहता, इसलिए अपनी पथक यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के लिए उसे किसी भी गुण का आश्रय करके किसी प्रकार के आडम्बर करने की आवश्यकता नहीं रहती, कि तु सवत्र अपने-आपका अनुभव करते हुए वह अपने आपमें स्थित एव मस्त रहता ह ।

उपयुक्त गुणातीत अवस्था, सबके आत्मा=परमात्मा की अनन्य भाव से उपासना करने से सहज ही प्राप्त होती ह, क्योकि मनुष्य जसी उपासना करता ह वसा ही हो जाता ह, अत बारहवे अध्याय म विधान की हुई उपासना के अवलम्बन से, जब सारे भेद मिट कर सवत्र एकत्व भाव का अनुभव हो जाता ह, तब गुणो की पथकता का समावेश "म" रूप से सबमें रहने वाले, सबके अपने-आप, सबके आत्मा=परमा मा में हो जाता ह । वह सबका अपना-आप सबका आत्मा=परमात्मा सत चित-आन द-स्वरूप ह, अत वह सदा एक-सा बना रहता ह, और वह सबका आधार ह, अर्थात सबकी सिद्धि अपने-आपसे होती ह—अपने-आपके बिना किसी की सिद्धि नहीं होती । इसलिए सबकी एकता एव सबके आधार, परमात्मा-स्वरूप अपने-आप=आत्मा के यथाथ अनुभव की ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होने पर फिर गुणो का कोई ब धन नहीं रहता ।

॥ चौदहवा अध्याय समाप्त ॥

पंद्रहवाँ अध्याय

अखिल विश्व की एकता के आत्मज्ञान का निरूपण करते हुए भगवान ने तेरहव अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ तथा प्रकृति पुरुष के विवेचन के रूप में शरीर और आत्मा के सम्ब ध का ज्ञान विज्ञान कहा, और फिर क्षेत्र क्षेत्रज्ञ प्रकृति-पुरुष अथवा जड चेतन सबका समावेश सबके अपने-आप एक एव सम आत्मा अथवा परमात्मा में कर दिया, और चौदहवें अध्याय में अपने जड और चतन भाव के सयाग से उत्पन्न तीन गुणो के विस्तार का वणन करके, तीन गणो से ऊपर सबके एकत्व भाव ब्रह्म स्वरूप अपन आप में स्थित होन वाले गणातीत पुरुष के लक्षण कहे। अब इस प द्रहवें अध्याय में जगत की भिन्नता के कल्पित अथवा मायिक बनावो की असत्यता को कल्पित अश्वत्थ वक्ष की उपमा द्वारा समझा कर उसमें ममत्व की आसक्ति से रहित होन, और सबके एकत्व भाव, सत्य एव नित्य आत्मा अथवा परमात्मा में स्थिति करने का उपदेश देते ह, और साथ ही जीव भाव और परमात्म भाव की अलग-अलग याख्या करके, फिर दोनो की पूण एकता सिद्ध करते ह।

श्रीभगवानुवाच

ऊध्वमूलमध शाखमश्वत्थ प्राहुरव्ययम ।
छ दासि यस्य पर्णानि यस्त वेद स वेदवित ॥ १ ॥
अधश्चोध्व प्रसतास्तस्य शाखा गुणप्रवद्धा विषयप्रवाला ।
अधश्च मूला यनुसन्ततानि कर्मानुब धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते ना तो न चादिन च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेन सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥
तत पद तत्परिमार्गितव्य यस्मि गना न निवर्त ति भूय ।
तमेव चाद्य पुरुष प्रपद्ये यत प्रवत्ति प्रसता पुराणी ॥ ४ ॥
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवत्तकामा ।
द्व द्वविमुक्ता सुखदु खसञ्ज्ञगच्छ त्यमूढा पदमव्यय तत ॥ ५ ॥
न तद्भासयते सूर्यो न शशाको न पावक ।
यदगत्वा न निवत न्ते तद्धाम परम मम ॥ ६ ॥

अथ—श्री भगवान बोले कि ऊपर जड (और) नीचे शाखा वाले (ससार वक्ष) को अश्वत्थ (और) अ यय कहते ह (और) वेदो के म त्र जिस (ससार वक्ष) के पत्त ह, उसको जो (इस प्रकार) जानता ह, वह वेद का जानन वाला ह । तात्पय यह कि ससार की उत्पत्ति सबके आत्मा=परमात्मा के सकल्प से होती ह, और आत्मा अथवा परमात्मा सबके (परे) ऊपर ह इसलिए उस ससार-वक्ष का मल ऊपर को और उसकी शाखाओ का फलाव नीचे को कहा गया ह और उसके रूप निर तर बदलते रहते ह, इसलिए उसे अश्वत्थ कहते ह, तथा एकत्व भाव में वह सदा बना ही रहता ह, अर्थात उसका प्रवाह कभी टूटता नही, इसलिए उसको अ यय भी कहते ह । कमकाण्डात्मक वेनादि शास्त्रा में ससार के अनेक प्रकार के सुहावने वणन करके उसे बहुत ही शोभाय मान बना रखा ह इसलिए वे उस ससार-वक्ष के पत्ते कहे गय ह क्योंकि वक्ष की शोभा पत्तो ही से होती ह, जो इस प्रकार उस ससार-वक्ष के रहस्य को जानता ह वही सच्चा ज्ञानी ह (१) । उस (ससार वक्ष) की शाखाए (सत्त्वादि) गणो से बढती हुई ऊपर और नीचे को फल रही ह जिनमें (शब्द-स्पश रूप रस-ग ध रूपी) विषयो के अकुर निकल रहे ह, और (उसकी) जडें नीचे को भी गहरी चली गई ह, (वे) मनष्य लोक में कम के ब धनो से बाँधने वाली ह । तात्पय यह कि सात्त्विक, राजस और तामस भेद से ऊँची नीची योनियो अथवा ऊँचे नीचे के लोको के रूप में उस ससार वक्ष की शाखाए सब ओर फली हुई ह, और वे ऊँची-नीची योनियाँ अथवा ऊचे और नीचे के लोक-रूपी शाखाएँ तीन गुणो के गुणन से पुष्ट हो रही ह, और पाँच विषयो के सयोग से नये-नये शरीर रूपी अकुर निकाल कर बढ रही ह, तथा नाना प्रकर की वासना रूपी उस ससार वक्ष की जडें नीचे की तरफ भी मजबूती के साथ जम रही ह, जिन (वासनाओ) के कारण मनुष्य कर्मों के ब धनो से बधे रहते ह (२) । यहाँ न तो इसके रूप का, न इसके अन्त का, न इसकी आदि का और न इसकी स्थिति का ही कुछ पता लगता ह अत्यन्त मजबूती से जमी हुई जडो वाले इस अश्वत्थ वक्ष को दढ अमग शस्त्र से काट कर, फिर उस पद की खोज करना चाहिए जिसमें गये हुए फिर नहीं लौटते, और (एसी भावना करनी चाहिए कि) जिस आदि पुरुष से (इस ससार वक्ष की) सदा से प्रवत्ति चली आ रही ह उस ही को म प्राप्त हो रहा हूँ । तात्पय यह कि ससार रूपी वक्ष के नाना भाति के कल्पित बनाव निरन्तर बदलते रहते ह—एक क्षण के लिए भी एक से नहीं रहते, तथा जिसकी जसी कल्पना होती ह, उसको वे उसी तरह प्रतीत होते ह, इसलिए लौकिक ज्ञान के साधनो अर्थात मन और इद्रियो द्वारा इसके यथाथ स्वरूप का पता नहीं लग सकता, और यह भी नही जाना जा सकता कि इसका आरम्भ कब, किस प्रकार, किसके द्वारा और क्यो हुआ ? तथा इसका अन्त कब, किस प्रकार और किससे होगा ? और यह किसके आधार पर कसे स्थित ह ? क्योकि ये सब प्रश्न देश, काल, वस्तु और क्रिया

को लेकर होते ह, और देश, काल, वस्तु एव क्रिया भी कल्पित जगत के अ तगत ही ह, इसलिए न तो ये प्रश्न ही ठीक बन सकते ह और न इनका ठीक ठीक उत्तर ही हो सकता ह। यद्यपि यह कल्पित ससार वक्ष इम प्रकार अदभुत रहस्यमय ह, तथा इसके बनाव सवथा अस्थिर होन के कारण असत्य ह पर त जिस आत्मा अथवा परमात्मा के सकल्प के आधार पर यह अवलम्बित ह वह इसका मूल सत्य ह, इसलिए इसका मूलोच्छेद नहीं हो सकता, इस कल्पित प्रपच की उलझन से छूटने का एक मात्र यही उपाय ह कि इसको सबके अपने आप=आत्मा अथवा परमात्मा का मायिक खेल समझ कर, मनुष्य इसके नाना प्रकार के बनावो में आसक्ति न रखे, और जिससे इस खेल का पसारा हुआ ह, उस सबके आत्मा=परमात्मा का अनभव प्राप्त करे, अर्थात यह अनुभव करे कि यह ससार सबके अपने आप=आत्मा अथवा परमात्मा की कल्पना का खेल-मात्र ह अपने-आपसे भिन्न इसका स्वत त्र अस्तित्व नहीं ह, ऐसा करने से फिर इस ससार प्रपच की कोई उलझन शेष नहीं रहती (३ ४)। जो मान और मोह से रहित ह, जि होने सग दोष को जीत लिया ह, जो निरन्तर अध्यात्म विचार में लगे रहते ह, जिनकी कामनाए सवथा निवत्त हो गई ह, और सुख-दु ख सज्ञा वाले द्वन्द्वो से जो मुक्त ह, वे ज्ञानी पुरुष उस अव्यय पद को पहुचते ह। तात्पय यह कि जगत के कल्पित बनाव से आसक्ति हटाकर आत्म-स्वरूप में वे ही पुरुष स्थित हो सकते ह, जो अध्यात्म विचार से युक्त होकर शरीर के सग से उत्पन्न होने वाले मान और मोह के विकारो तथा सुख दु ख आदि द्वन्द्वो पर विजय पा लेते ह तथा जिनको किसी प्रकार की कामनाए नहीं रहतीं (५)। उस पद को न सूय प्रकाशित करता ह, न च द्रमा और न अग्नि ही, जहाँ जाने पर फिर लौटना नहीं पडता, वह मेरा परम धाम ह। तात्पय यह कि जगत की कल्पित भिन्नताओ का सच्चा एकत्व भाव, सबका अपना-आप=आत्मा अथवा परमात्मा स्वत प्रकाश-स्वरूप ह, वह सूय, च द्र अथवा अग्नि के प्रकाश से प्रकाशित नहीं होता, कि तु उसके प्रकाश से ही ये सब प्रकाशित होते ह, अथवा वह सबका अपना-आप, सबका आत्मा=परमात्मा आँखो* से देखा नहीं जा सकता, मन* से उसकी कल्पना नहीं हो सकती और वाणी* से उसका वणन नहीं हो सकता—वह केवल अपने अनभव का विषय ह। वह अपने आपका यथाथ अनुभव ही परम धाम ह, जिसकी प्राप्ति होने पर फिर जगत की भिन्नताओ के बनावो की उलझन नहीं होती (६)।

स्पष्टीकरण—सबके अपने-आप, सबके आत्मा=परमात्मा की इच्छा-शक्ति अथवा कल्पना के मायिक बनाव-रूप इस ससार का रहस्य भगवान कल्पितवक्ष का

---

* आँख मन और वाणी के अधिदेव अथत् समष्टि भाव क्रमश सूय च द्र और अग्नि ह, इसलिए यह अथ भी बन सकता ह।

रूपक बाँध कर समझाते ह । लौकिक (इन्द्रियगोचर) वक्ष का बीज अथवा मूल नीचे होता ह और उसका धड तथा शाखाएँ ऊपर को होती ह, परन्तु इस कल्पित अथवा मायिक ससार वक्ष का मूल ऊपर, और धड तथा शाखाए नीचे की तरफ कही गई ह, जिसका भावाथ यह ह कि ससार का मूल कारण सबके आत्मा=परमात्मा की इच्छा अथवा कल्पना ह और आत्मा=परमात्मा सबसे परे सबसे उच्च ह, इसलिए ससार रूपी वक्ष का मूल ऊपर को कहा ह, परमात्मा से ऊँचा कुछ नहीं होता, जो कुछ होता ह सो सब उससे नीचे ही होता ह, इसलिए इस कल्पित वक्ष का फलाव नीचे की ओर कहा ह । यदि इस कल्पित वक्ष के रूपक को शरीर पर घटाया जाय तो प्रत्येक शरीर का आरम्भ चेतना-शक्ति के केन्द्र—सिर से होता ह, और उसका पोषण भी सिर में स्थित मुख आदि ऊपर की इन्द्रियो द्वारा ही होता ह , दूसरे सारे अग प्रत्यग उसके नीचे होते ह, इसलिए मस्तक ही इसका मूल स्थान ह दूसरा सारा फलाव नीचे कहा ह । शरीर अथवा पिण्ड, ब्रह्माण्ड के एक छोटे-से मान का नमूना ह, इसलिए जो व्यवस्था पिण्ड की ह, वही ब्रह्माण्ड की ह । ससार प्रतिक्षण परिवतनशील ह—वतमान क्षण से पीछे क्या होगा, इसका कोई ठिकाना नहीं ह, इसलिए इस वक्ष का नाम अश्वत्थ रखा गया हैं, और इस कल्पित ससार क नाना भाँति के बनावो का प्रवाह निरन्तर चलता हा रहता ह, कभी बद नहीं होता, इसलिए एकत्व भाव में इस वक्ष को अव्यय अर्थात अखूट कहा ह । वक्ष के पत्त होते ह, जिनसे वह सुशोभित होता ह, और पत्तो से ही वह सुरक्षित रहता ह अत इस ससार-वक्ष के कमकाण्डात्मक वेदादि शास्त्र पत्ते ह, जो कि इसके विषय के नाना प्रकार के चित्ताकषक साहित्य से इसे शोभायमान बनाते ह (गी० अ० २ श्लो० ४२) तथा इसमें जीवो को मोहित रख कर इसकी रक्षा करते ह । जगत में ऊँची-नीची नाना प्रकार की योनियाँ होती ह, तथा स्वर्गादि लोक ऊपर की तरफ और पाताल आदि लोक नीचे की तरफ फले हुए माने गए ह, वे ही इस कल्पित ससार वक्ष की, ऊपर और नीचे फली हुई डालियाँ कही गई ह । जिस प्रकार जल के सींचन से वक्ष पुष्ट होता ह, उसी प्रकार तीन गुणो के विस्तार से सींचा जाकर यह ससार पुष्ट होता ह । जिस प्रकार वक्ष के नये-नये अकुर निकलने से वह बढता ह, उसी प्रकार भूत प्राणियो के नाना प्रकार के विषय भोगो से शरीर उत्पन्न होते रहते ह, जिनसे इस ससार की वद्धि होती ह । जिस तरह वक्ष अपनी शाखाएँ नीचे की तरफ पसारता ह और उनसे पथ्वी में दूसरी जडें जमाकर मजबूत होता ह, उसी तरह कल्पित ससार की जडें मनुष्यो की नाना प्रकार की वासनाओ से तथा उन वासनाओ युक्त कम करते रहने से अधोगति का तरफ बढता से गहरी जमी हुई ह । आत्मा से भिन्न इसका स्वतन्त्र अस्तित्व न होने के कारण आत्म-ज्ञान के बिना केवल लौकिक ज्ञान से इसका वास्तविक स्वरूप नहीं जाना जाना—इसके जिस रूप की लौकिक दृष्टि से जाँच की जाय, वही कल्पित अत मिथ्या सिद्ध होता ह,

इसलिए इसका कोई आदि, अत और मध्य भी नहीं जाना जा सकता। इस ससार वक्ष को इस प्रकार कल्पित समझ कर इसके नाना प्रकार के भिन्नता के बनावो से प्रीति हटाकर, तथा अध्यात्म विचार से व्यक्तित्व के अहकार और ममत्व की आसक्ति तथा सासारिक पदार्थो एव विषयो की कामना मे रहित होकर, जिसके सकल्प अथवा इच्छा से यह पसारा हुआ ह उस सबकी एकता स्वरूप सबके आत्मा=परमात्मा के अनुभव रूप परमपद म स्थित होना चाहिए। वह परमपद अपने-आपका अनुभव रूप होन के कारण स्वत प्रकाशित ह—उसको प्रकाशित करन अथवा अनुभव कराने वाला दूसरा कोई नहीं ह, और वह आखो से देखने का मन से कल्पना करने का तथा वाणी से कहने का विषय नहीं ह। उस स्वप्रकाश अपन-आपके यथार्थ अनुभव रूप परमपद म स्थित होने पर फिर इस जगत के नाना प्रकार के कल्पित बनावो का बधन नहीं रहता।

+ + +

अब भगवान इस कल्पित जगत के मोह में उलझने वाले जीवात्मा के तथा परमात्मा के अलग-अलग भावो का और दोनो की एकता का निरूपण करके फिर जीव जगत और ईश्वर—सबका समावेश अर्थात सबकी एकता, सबके अपने आप=आत्मा अथवा परमात्मा अथवा पुरुषोत्तम में करके आत्मज्ञान के प्रकरण को समाप्त करते हं।

ममवाशो जीवलोके जीवभूत सनातन।
मन षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥
शरीर यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वर।
गृहीत्वैतानि सयाति वायुर्गन्धानिवाशयात ॥ ८ ॥
श्रोत्र चक्षु स्पर्शन च रसन घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चाय विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥
उत्क्रामन्त स्थित वापि भुजान वा गुणान्वितम।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुष ॥ १० ॥
यतन्तो योगिनश्चैन पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैन पश्यन्त्यचेतस ॥ ११ ॥
यदादित्यगत तेजो जगद्भासयतेऽखिलम।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम ॥ १२ ॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधी सर्वा सोमो भूत्वा रसात्मक ॥ १३ ॥

अह वश्वानरो भूत्वा प्राणिना देहमाश्रिन ।
प्राणापानसमायुक्त पचाम्यन्न चतुर्विधम ।। १४ ।।
सवस्य चाह हृदि सनिविष्टा मत्त स्मतिर्ज्ञानमपोहन च ।
वेदश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदा तकृद्वेदविदेव चाहम ।। १५ ।।
द्वाविमौ पुरुषो लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षर सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।। १६ ।।
उत्तम पुरुषस्त्वन्य [illegible] ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय इश्वर ।। १७ ।।
यस्मात्क्षरमतीत'ऽहमक्षरादपि चोत्तम ।
अतोस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तम ।। १८ ।।
यो मामेवमसमूढो जानाति पुरुषोत्तमम ।
स सवविद्भजति मा सवभावेन भारत ।। १९ ।।
इति गुह्यतम शास्त्रमिदमुक्त मयानघ ।
एतदबुद्ध वा बुद्धिमा स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ।। २० ।।

अर्थ—मेरा ही सनातन अश जीव लोक में जीव भाव होकर, प्रकृति में रहने वाली, मन को आदि लेकर छ इन्द्रियो को खीच लेता ह । इश्वर, अर्थात प्रकृति का स्वामी व्यष्टि भावापन्न आत्मा (जीवात्मा), जिस शरीर को धारण करता ह और जिसको छोड कर निकलता ह, (उस समय) जिस तरह वायु गन्ध वाले पदार्थों से गन्ध को ले जाता ह, उसी तरह (यह) इनको अपने साथ ले जाता ह । यह जीवात्मा कान, आँख, त्वचा जीभ, नाक और मन में रहकर इनके द्वारा विषयो को भोगता ह। तात्पय यह कि सबका अपना आप सबका आत्मा—पर मात्मा एक से अनेक होने की इच्छा करता ह तब अपने एक अश में व्यक्ति भाव से जीव रूप होकर अपनी अपरा प्रकृति में रहने वाले मन और पाँच सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियो के मनोमय लिंग अथवा सूक्ष्म शरीर से युक्त होता ह । फिर जब स्थूल शरीर धारण करता ह तब उस मनोमय सूक्ष्म शरीर से स्थूल शरीर रूप होकर, उसके साथ अपना तादात्म्य सम्बन्ध मानकर, स्थूल शरीर के विकारो का अनभव करता ह, तथा जब स्थूल शरीर से रहित होने की इच्छा करता ह तब उस मनोमय सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर के साथ तादात्म्य सबध विच्छेद कर लेता ह । यहाँ जो 'शरीर छोड कर जाता ह" कहा ह, इसका अभि प्राय किसी एक स्थान को छोडकर दूसरे स्थान में जाने का नही [illegible]

शरीर का स्थूल शरीर के साथ तादात्म्य सम्बन्ध छोडने का ह । आत्मा तो देश, काल, वस्तु आदि परिच्छद से रहित सदा सवदा सवत्र एक समान विद्यमान रहता ह, इसलिए उसमें कहीं आने जाने का प्रश्न नहीं उठता, और मन किसी स्थूल देश विशष या काल विशेष या वस्तु विशेष में सीमाबद्ध नही रहता किन्तु देश, काल और वस्तु सब मन के सकल्प में होते ह । इसलिए मनोमय सूक्ष्म शरीर का किसी स्थूल (भौतिक) काल में किसी स्थूल भौतिक देश म आना जाना नहीं होता कि तु उसके सकल्प में ही आना जाना प्रतीत होता ह । जिस तरह स्वप्न अवस्था में अथवा कभी कभी जाग्रत अवस्था मे भी बहुत थोडे समय में ही मन का अनेक स्थानो में आना जाना प्रतीत होता ह पर तु वहाँ न तो स्थूल काल ह और न स्थूल देश, केवल सकल्प के ही देश और काल रा । ु ाजाना ह, उसी तरह शरीर छोड कर जाने की मानसिक प्रनीति होती ह । वास्तव म शरीर में रहने और छोडने का अभिप्राय मनोमय सूक्ष्म शरीर भाव का स्थूल शरीर भाव के साथ तादात्म्य करने और छोडने का ह । यहाँ जो हवा का गध को ले जाने का स्थूल दष्टान्त दिया गया ह वह सूक्ष्म विषय को स्थूल रूपक देकर समझाने मात्र के लिए दिया गया ह (७ ९) । शरीर से निकलते हुए अथवा शरीर में रहते हुए अथवा भोग भोगते हुए अथवा गुणो से युक्त हुए को भी मूख लोग नहीं देखते, (केवल) ज्ञान रूपी नेत्र वाले ही देखते ह । तात्पय यह कि आत्मज्ञानी लोगो को शरीर छोडते हुए, शरीर में रहते हुए, तथा सत्त्वगुण, रजोगण और तमोगुण से युक्त होकर विषयो को भोगते हुए भी अपने वास्तविक स्वरूप—आत्मा का ज्ञान रहता ह, अर्थात वे अनुभव कन्ते ह कि 'म मन, इन्द्रियो एव शरीर का स्वामी, अज, अविनाशी एव अविकारी आत्मा हू, और मन आदि के सूक्ष्म शरीर को लेकर स्थूल शरीर धारण करता हूँ और छोडता हूँ, तथा नाना प्रकार की चेष्टाए करता हूँ", परन्तु अज्ञानी लोगो को इस प्रकार आत्मा का ज्ञान नहीं रहता, किन्तु वे अपने आपको स्थूल शरीर का पुतला ही समझ कर शरीर के साथ अपना जन्मना और शरीर के साथ ही मरना, तथा शरीर के विकारो से विकारवान होना एव अपने को परवशता से इनमें बधा हुआ मानते ह (१०) । यत्न करने वाले समत्वयोगी लोग इस (आत्मा अथवा परमात्मा) को अपने आपमें स्थित देखते ह, परन्तु (भौतिकता में आसक्त) मलिन अन्त करण वाले मूख लोग प्रयत्न करने पर भी इसे नहीं देखते। तात्पय यह कि जो लोग सबकी एकता की समत्व-बुद्धि से सबके साथ एकत्व भाव का आचरण करते ह, वे अपने-आपको मन, इन्द्रियो एव शरीर आदि का स्वामी अथवा ईश्वर अनभव करते ह पर तु जिनकी बुद्धि पथकता के मिथ्या ज्ञान से मलिन होती ह वे अज्ञानी लोग भेद भाव मे विषमता के आचरण करते हुए चाहे कितना ही प्रयत्न करें, पर तु उनको उपयुक्त आत्मानभव नहीं हो सकता (११) । सूय में रहने वाला जो तेज अखिल विश्व को प्रकाशित करता है, और जो तेज च द्रमा में ह, और

जो तेज अग्नि में ह वह तेज मेरा ही समझ (१२)। म पथ्वी में व्याप्त होकर अपनी शक्ति से सब भतो को धारण करता हूँ, रस रूप सोम होकर सब वनस्पतियो का पोषण करता हूँ (१३)। म प्राणियो के शरीरो म रहता हुआ वश्वानर अर्थात जठराग्नि होकर प्राण-अपान वायु से यक्त हुआ चार प्रकार के आहार को पचाता हूँ (१४)। और म सबके हृदय में रहता हूँ, मझसे ही स्मति, ज्ञान तथा उनका अभाव होता ह, और सब वेदो द्वारा जानने योग्य म ही हू, एव वेदान्त का कर्ता और वेदो के जानने वाला भी म ही हूँ (१५)। श्लोक १२व से १५वें तक का तात्पय यह ह कि ७वें से ११वें श्लोक तक यष्टि जीव भाव का स्वरूप कह कर इन श्लोको मे भगवान अपन समष्टि—ईश्वर अथवा परमात्म भाव का वणन करते ह कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड रूप मे जो भी कुछ ससार ह, वह "म" रूप से सबके अन्दर रहने वाले समष्टि आत्मा=परमात्मा का ही बनाव ह, "म" ही तेज रूप होकर सूय चन्द्रमा और अग्नि द्वारा सारे विश्व को प्रकाशित करता हू, "म" ही पथ्वी-रूप होकर स्थावर-जगम सब भूतो को धारण करता हूँ, 'म" ही रस रूप होकर सब खाद्य पदार्थों को उत्पन्न करता और बढाता हूँ और "म" ही सब प्राणियों के शरीरो में जठराग्नि रूप होकर, पथ्वी से उत्पन्न, जल से उत्पन्न, तेज से उत्पन्न तथा वाय से उत्पन्न, अथवा खाने, पीने, चूसने एव चाटने योग्य—चार प्रकार के आहार को पचाता हूँ। दूसरे शब्दों में "म" ही खाद्य पदाथ ह और 'म" ही खाने वाला हूँ। सब प्राणियो के हृदय में रह कर सब प्रकार की चेष्टाएँ "म" ही करवाता हूँ, प्रतिक्षण परिवतनशील, अनित्य एव जड शरीरो के अन्दर भी 'म" सत चतन आत्मा सदा एक समान रहता हूँ, इसलिए पहले के अनभवो की स्मति अर्थात याददाश्त का कारण "म" ही हू, और "म" सत चेतन आत्मा ही वतमान के अनभवो के ज्ञान का कारण हूँ, एव भूल तथा अज्ञान का कारण भी "म" सत चेतन आत्मा ही हूँ, क्योकि भूल और अज्ञान भी अचेतन में नहीं हो सकते। वेदादि सब शास्त्रो के अवलबन से जिस अन्तिम लक्ष्य अर्थात सत्य वस्तु को जानना चाहिए वह "म" ही हू, अर्थात शास्त्रो में जो भी कुछ वणन ह वह सब "मेरा" ही ह। वेदान्त अर्थात जिसम जानने का अन्त अथवा ज्ञान की परिसमाप्ति होती ह, वह सबका अपना आप "म" ही ह, और वेद का जानने वाला अर्थात ज्ञाता भी "म" ही हूँ (१२ से १५)। इस जगत में क्षर अर्थात निरन्तर बदलने वाला नाशवान, और अक्षर अर्थात सदा एक-सा रहने वाला अविनाशी—य दो पुरुष अर्थात शक्तिया ह, सब भूत, क्षर (नाशवान) और कूटस्थ अर्थात उन सब भतो का आधार, अक्षर (अविनाशी) कहा जाता ह। परन्तु उत्तम पुरुष दूसरा ह, वह परमात्मा कहा जाता ह, जो सदा एक सा रहने वाला ईश्वर, तीनो लोको में व्याप्त होकर सबको धारण करता ह। तात्पय यह कि यह जगत परमात्मा की जड (अपरा) और चेतन (परा) प्रकृति का खेल ह। इसमें जो अपरा प्रकृति का अनन्त भेदो वाला भौतिक बनाव ह, वह प्रतिक्षण परिवतन-

शील एव नाशवान ह और इस भौतिक बनाव के अन्दर रहने वाला इसका आधार परा प्रकृति रूप सत चेतन जीव भाव ह वह अपरिवर्तनशील एव अविनाशी ह । ये दोनो प्रकृतियाँ सबके आत्मा=परमात्मा ही की दो शक्तियाँ ह, इसलिए वह परमात्मा इनसे उत्तम कहा जाता ह, और वह परमात्मा सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होकर सबको धारण करता हुआ भी निर्विकार रहता ह (१६ १७) । क्योकि 'म' समष्टि आत्मा क्षर अर्थात निरन्तर बदलने वाली अपरा प्रकृति रूप जड भाव से परे, और अक्षर अर्थात सदा एक समान रहने वाली परा प्रकृति रूप चेतन अथवा व्यष्टि जीव भाव से भी उत्तम हूँ, इसलिए लोको और वेदो में "म" पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हू । तात्पर्य यह कि "म" रूप से सबके अन्दर रहने वाले सबके आत्मा=परमात्मा में क्षर और अक्षर, जड और चेतन, प्रकृति और पुरुष दोनो का समावेश हो जाता ह, क्षर भाव वाली अपरा प्रकृति सबके आत्मा=परमात्मा का मायिक खल मात्र ह, इसलिए वह परमात्मा इस दिखाव से परे, इसका आधार कहा जाता ह, और अक्षर अर्थात जीव भाव वाली परा प्रकृति वस्तुत परमात्मा से भिन्न नहीं ह, किन्तु उसका व्यष्टि भाव ही ह, अत उस (व्यष्टि) जीव भाव अथवा पुरुष भाव की अपेक्षा (समष्टि) परमात्म भाव उत्तम कहा जाता ह, इसलिए भगवान कहते ह कि सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप मझे लोक में तथा बेद में पुरुषोत्तम कहते ह (१८) । जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार पुरुषोत्तम जानता ह, वह सब-कुछ जानने वाला सब प्रकार से मझे ही भजता ह । तात्पर्य यह कि जो इस प्रकार क्षर और अक्षर, जड और चेतन अथवा प्रकृति और पुरुष को, सबके अन्दर "मैं" रूप से रहने वाले पुरुषोत्तम-स्वरूप "मेरा" ही इच्छा अथवा सकल्प के दो भाव समझ कर, मुझ पुरुषोत्तम में सबकी एकता का अनुभव करता ह, उसे सर्वत्र सबके अपने आप, सबके आत्मा-स्वरूप 'मेरा" ही अनुभव हो जाता ह, इसलिए वह सब-कुछ जानने वाला सर्वज्ञ होता ह (१९) । इस प्रकार हे अनघ ! मने यह गुह्यतम अर्थात अत्यन्त रहस्यमय शास्त्र कहा ह, हे भारत ! इसे समझ कर बुद्धिमान पुरुष कृतकृत्य होता ह । तात्पर्य यह कि सबकी एकता का प्रतिपादन करने वाला यह सत्य शास्त्र अत्यन्त ही गहन और सूक्ष्म ह, इस सत्य शास्त्र के रहस्य को जो अच्छी तरह समझ लेता ह, वह पूर्ण हो जाता ह, और फिर उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता (२०) ।

स्पष्टीकरण—जीवात्मा और परमात्मा की एकता के विषय में पहले बहुत कुछ वर्णन किया गया ह । दूसरे अध्याय में जीवात्मा का स्वरूप परमात्मा की तरह एक, अज, अविनाशी नित्य, शाश्वत, सर्वव्यापक, अचल, सनातन, अनादि और अनन्त कहा । सातवें अध्याय में जीवात्मा को भगवान ने अपनी परा प्रकृति कहा । तेरहवें अध्याय में अपने ही को क्षेत्रज्ञ कह कर फिर प्रकृति पुरुष के वर्णन में गुण विकार और कार्य-कारण

भाव जड प्रकृति के धर्म बताये, और पुरुष अर्थात जीवात्मा को प्रकृति के गुणो का भोक्ता एव परम-पुरुष परमात्मा कहा (गी० अ० १३ श्लो० २२)। अब उसी विषय का फिर से खुलासा करते हुए भगवान कहते ह कि जीव मेरा ही अश ह, वह प्रकृति में स्थित मन और सूक्ष्म इद्रियो के लिंग शरीर से युक्त होकर स्थूल शरीर में रहता हुआ विषयो का भोगता ह। यहा मेरा अश" कहने से यह नही समझना चाहिए कि जीवात्मा-परमात्मा से निकला हुआ—अग्नि से निकली हुई चिनगारी की तरह—कोई टुकडा ह। यहा अश से मतलब व्यष्टि भाव से ह जो अपने समष्टि भाव से वस्तुत अलग नहीं होता। जिस तरह समुद्र मे छोटी बडी अनन्त लहरें होती ह वे समुद्र से भिन्न नहीं होतीं—लहरो से समुद्र के टुकडे नहीं हो जाते, क्योकि लहरे वस्तुत समुद्र ही ह अथवा जिस तरह बर्तनो और मकानो के अन्दर जो पोल रूप आकाश होता ह वह बाहर के महा आकाश से भिन्न नहीं होता—बनना और मकानो में जो आकाश का अश आ जाता ह, उससे आकाश के टुकडे नही हो जाते, किन्तु आकाश सब दशाओ म एक ही रहता ह अथवा जिस तरह राष्ट्र अथवा जाति का व्यक्ति उस राष्ट्र अथवा जाति का अश होता ह परन्तु उस राष्ट अथवा जाति से भिन्न नही होता, प्रत्यत राष्ट अथवा जाति रूप ही होता ह, उसी तरह सबके आत्मा - परमात्मा में व्यष्टि जीव भाव और समष्टि ईश्वर अथवा ब्रह्म भाव होते हुए भी सब एक ही ह, भिन्नता कुछ नहीं ह। अजन्ता आदि गुफा मन्दिरो में पर्वतो को काटकर जो बहुत-सी मूर्तियाँ बनाई गई ह, वे पर्वत से पृथक नही ह, किन्तु पर्वत ही ह, उसी तरह यह सब एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनन्त नामो और रूपो का बनाव ह। सबका आत्मा=परमात्मा ही सूर्य, चन्द्र और अग्नि रूप होकर प्रकाश करता ह, वही पृथ्वी रूप होकर सब भूत प्राणियो को धारण करता ह, वही नाना प्रकार के खाद्य पदार्थ रूप होता ह, वही उनको खाता और पचाता ह वही शरीर-रूप होता ह, वही शरीर के अन्दर निवास करता ह वही बुद्धि होकर विचार करता ह, वही मन होकर मनन करता ह वही चित्त होकर चिन्तन करता ह, वही अहकार होकर अहकार करता ह, और वही इन सब भावो को अपने में लय कर लेता ह वही ज्ञाता अर्थात जानने वाला ह, वही ज्ञान अर्थात जानने की क्रिया ह, और वही ज्ञेय अर्थात जानने की वस्तु ह, ज्ञान के जितने साधन ह, उनसे यही रहस्य जानने योग्य ह। जो सबकी एकता के निश्चय से समत्व योग का आचरण करता ह उसको जीवात्मा=परमात्मा की एकता का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता ह, परन्तु जिनकी बुद्धि भेद ज्ञान से दूषित रहती ह, जिससे वे विषमता के आचरण करते ह, उनको जीवात्मा परमात्मा की उपरोक्त एकता का अनुभव नहीं हो सकता।

जिन जड और चेतन भावो से जगत के अनन्त प्रकार के बनाव होते ह, वे दोनो भाव सबके आत्मा=परमात्मा ही के ह, उनमें नामो और रूपो वाला जड भाव परि

वतनशील एव नाशवान ह, और चेतन भाव सदा एक-सा बना रहने वाला ह । जो मनुष्य "यष्टि भाव के अहकार से ऊपर उठ कर उन दोनो भावो की एकता का अनुभव अपने-आपमें कर लेता ह, अर्थात नाम रूपात्मक जड भाव को परिवतनशाल एव अनित्य दिखाव मात्र समझ कर उसमें मोहित नही हाता और चेतन भाव को अपना अश समझ कर अपन-आपमें उसका समावेश समझता ह, उसकी पुरुषोत्तम सज्ञा होती ह । अत जो ज्ञानवान पुरुष अद्वत वेदात सिद्धात के सत शास्त्रो के रहस्य को अच्छी तरह समझ कर अपने-आपको इस प्रकार सबकी एकता स्वरूप पुरुषोत्तम अनुभव करता ह, उसे फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता—यही पुरुषाथ की परमावधि अथवा चरम सीमा ह, और यही ज्ञान की पराकाष्ठा एव अन्तिम गति ह ।

॥ पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥

सोलहवाँ अध्याय

सबकी एकता के ज्ञान विज्ञान का निरूपण, सातवें अध्याय से आरम्भ करके, पहले भक्ति अथवा उपासना के विधान में श्रद्धा को प्रधानता देकर किया गया और फिर तेरहवें अध्याय से पन्द्रहवें अध्याय तक दार्शनिक विवेचन करके उसकी समाप्ति की गई। उस निरूपण के बीच-बीच म उक्त ज्ञान विज्ञान के आधार पर, अर्थात सव भूतात्मक्य-साम्य भाव से, ससार के व्यवहार करने का वणन भी प्रमगानमार यथा स्थान विविध प्रकार से किया गया ह। अब भगवान उक्त सवभूतात्मक्य-साम्य भाव-युक्त किये जाने वाले आचरणो का, तथा उसके विरुद्ध सबकी पथकता के मिथ्या ज्ञान-यक्त विषमता के आचरणो का तुलनात्मक विवेचन आगे के तीन अध्यायो में करते ह, ताकि लोग भेद भावजन्य विषमता के आचरणो को छोडकर सबकी एकता के साम्य भाव के आचरणो में प्रवत्त हो, क्योकि जब तक सबकी एकता के ज्ञान का व्यवहार में उपयोग नहीं होता, अर्थात उक्त ज्ञान के अनुसार सबके साथ एकता के साम्य भाव के आचरण करने में जब तक प्रवत्ति नहीं होती, तब तक उससे कोई लाभ नहीं होता। इस सोलहवें अध्याय से उस तुलनात्मक विवेचन का आरम्भ करते ह जिसमें जिन लोगो के पूवजन्म में किये हुए समत्व-योग के अभ्यास के शभ सस्कारो के कारण यहाँ दवी प्रकृति के शरीर होते ह, तथा जिनके पूवजन्म के अशुभ सस्कारो के कारण यहाँ आसुरी प्रकृति के शरीर होते ह, उन दोनो के आचरणो का विवेचनात्मक वणन विस्तारपूवक करते ह। यहाँ पर इस विषय का खुलासा कर देना आवश्यक प्रतीत होता ह कि पूवजन्म के सस्कारो के अनुसार यहाँ जिस प्रकृति का शरीर प्राप्त होता ह, वही प्रकृति जन्मभर वसी ही बनी रहे, यह आवश्यक नहीं ह। शिक्षा, सगति और पुरुषाथ से मनुष्य अपनी प्रकृति में बहुत कुछ परिवतन कर सकता ह। अच्छी शिक्षा सत्सग और सत्पुरुषाथ से मनष्य अपनी आसुरी प्रकृति को शन शन बदल कर दवी बना सकता ह, और कुशिक्षा, कुसगति और विपरीत पुरुषाथ से मनुष्य दवी प्रकृति को बदल कर आसुरी बना सकता ह। इसलिए अपनी उन्नति के इच्छक व्यक्तियो को प्रयत्नपूवक सुशिक्षा एव सतसग प्राप्त करना, तथा शुभ पुरुषाथ में लगे रहना चाहिए।

जिन लोगो की बुद्धि सूक्ष्म आध्यात्मिक विचार को सहज ही ग्रहण नहीं कर सकती, उन साधारण लोगो के लिए भी आगे के तीन अध्याय अत्यन्त उपयोगी एव लाभ दायक ह, क्योकि इनमें सवसाधारण के रात दिन के व्यवहारो की विस्तत व्याख्या करके

यह स्पष्ट कर दिया गया ह कि किस प्रकार के व्यवहारो से मनुष्य अपनी सर्वांगीण उन्नति कर सकता ह, और किस प्रकार के व्यवहारा से अपना पतन कर लेता ह। इन तीन अध्यायो में दाशनिक तत्त्वज्ञान के विचारो की इतनी गहराई नहीं ह कि जिनके समझने में कठिनाई का सामना करना पडे। इसलिए प्रत्यक यक्ति—चाहे स्त्री हो या पुरुष—को चाहिए कि यदि पहले के अध्यायो के निरूपण हृदयगम न हो सके तो इन अध्यायो में विशेष रूप से मन लगाकर इनका अध्ययन करे, और अवनति करने वाले आचरणो का त्याग कर उन्नति करने वाले यवहारो में लगे।

श्रीभगवानुवाच

अभय सत्त्वसशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थिति ।
दान दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आजवम ॥ १ ॥
अहिसा सत्यमक्रोधस्त्याग शान्तिरपशुनम ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्व मादव ह्रीरचापलम ॥ २ ॥
तेज क्षमा धति शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पद दवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोध पारुष्यमेव च ।
अज्ञान चाभिजातस्य पाथ सम्पदमासुरीम ॥ ४ ॥
दवी सम्पद्विमोक्षाय निब धायासुरा मता ।
मा शुच सम्पद दवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

अथ—अभय अर्थात निडर होना, सत्त्व-सशुद्धि अर्थात अन्तकरण को राग, द्वेष, झूठ, कपट, ईर्षा आदि मलिनताओ से दूषित न रखना, ज्ञान-योग व्यवस्थिति अर्थात बुद्धि को सबकी एकता के ज्ञान*युक्त साम्य भाव में स्थित रखना, दान अर्थात आगे सत्रहवें अध्याय में वर्णित सात्त्विक दान देने की प्रवत्ति, दम† अर्थात इन्द्रियो को अपने वश में रखना, यज्ञ अर्थात आगे सत्रहवें अध्याय में वर्णित सात्त्विक यज्ञ करना, स्वाध्याय* अर्थात विद्याध्ययन करना, तप अर्थात आगे सत्रहवें अध्याय में वर्णित शरीर, वाणी और मन के द्वारा सात्त्विक तप यानी शिष्टाचार की प्रवत्ति आजव अर्थात सरलता*, अहिसा* अर्थात शरीर, मन और वाणी से किसी को शारीरिक एव मानसिक पीडा न देना, और किसी की आजीविका में आघात न पहुचाना, सत्य* अर्थात सच बोलना तथा सचाई का यवहार करना, अक्रोध अर्थात क्रोध† के वश में न होना त्याग अर्थात

*दूसर अध्याय म स्थितप्रज्ञ के विवरण का स्पष्टीकरण देखिए।
†बारहवे अध्याय म दम का स्पष्टीकरण देखिए।

आगे अठारहवें अध्याय में वर्णित सात्त्विक त्याग†, शान्ति† अर्थात मन की शीतलता, अपशून्य* अर्थात किसी की निन्दा अथवा चुगली न करना, प्राणियो पर दया† अर्थात दुखी प्राणियो पर दया करना, अलोलुपत्व अर्थात लोभ* न करना, मार्दव* अर्थात मधुरता, ह्री अर्थात बुरे कामो में लज्जा* रखना अचपलता* अर्थात निकम्मी चेष्टाए न करना, तेज* अर्थात प्रभावशालीपन, क्षमा† अर्थात दूसरो के अपराधो का बदला लेने का भाव न रखना, धृति अर्थात धैर्य* अथवा अठारहवें अध्याय में वर्णित सात्त्विकी धृति, शौच† अर्थात शरीर की शुद्धता, अद्रोह अर्थात किसी से द्वेष† न करना, और अतिमानी न होना अर्थात अपने बडप्पन का अनुचित अभिमान† न करना—(ये लक्षण), हे भारत ! दैवी सम्पत्ति में जन्मे हुए लोगो के होते है, अर्थात दैवी प्रकृति के लोगो में ये गुण होते है (१ ३)। दम्भ* अर्थात मन में कुछ हो और बाहर कुछ और ही दिखाकर लोगो को भुलावा अथवा धोखा देना, अथवा वास्तविकता के विरुद्ध आडम्बर करके लोगो पर अपना मिथ्या प्रभाव या रोब जमाना, अथवा भीतर कुछ भी न होते हुए भी ऊपर से थोथे दिखाव का ढोंग करना दर्प* अर्थात अपने धन, मान, बल, यौवन कुलीनता, पवित्रता, विद्वता आदि के घमण्ड में दूसरो को दबाना अथवा लोगो का तिरस्कार करना, अभिमान† अर्थात अपने बडप्पन, उच्चता, श्रेष्ठता, कुलीनता, बुद्धिमत्ता, धन, पद, प्रतिष्ठा, धार्मिकता आदि का अहकार रखना क्रोध† अर्थात अपने मन के अनुकूल कोई बात न होने पर क्रोध के वश होकर आप तपना तथा दूसरो को तपाना, पारुष्य* अर्थात सूखे लक्कड की तरह कठोर, रूखा एव ऐंठा हुआ रहना, और अज्ञान अर्थात सत्यासत्य के विवेक से रहित होना—(ये लक्षण), आसुरी सम्पत्ति में जन्मे हुए लोगो के होते है, अर्थात आसुरी प्रकृति के लोगो में ये दुर्गुण होते है (४)। दैवी सम्पत्ति मोक्ष का कारण और आसुरी सम्पत्ति बन्धन का कारण मानी गई है। हे पाण्डव ! तू तो दैवी सम्पत्ति में जन्मा हुआ है, (इसलिए) चिन्ता मत कर। तात्पर्य यह कि जो लोग दैवी सम्पत्ति के गुणो से युक्त होते है, अर्थात उपर्युक्त दैवी सम्पत्ति के आचरण करते है, वे मुक्त अथवा स्वतन्त्र हो जाते है, और जो आसुरी सम्पत्ति के आचरण करते है, वे अनेक बन्धनो से बँधे हुए पराधीन रहते है, तू तो दैवी सम्पत्ति से युक्त है, इस कारण तेरे लिए कोई बन्धन नहीं है, तू चिन्ता मत कर (५)।

स्पष्टीकरण—दैवी और आसुरी प्रकृतियो के तुलनात्मक वर्णन का सूत्रपात नवें अध्याय के ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोको में कर दिया गया था। वहाँ भगवान ने कहा था कि दैवी प्रकृति के महात्मा लोग अनन्य भाव से मेरा भजन करते है, अर्थात मुझ परमात्मा को सारे विश्व में एक समान व्यापक समझ कर सबके साथ एकता का

*आगे स्पष्टीकरण मे इन भावो का खुलासा देखिए।

†बारहवे अध्याय मे इन भावो का स्पष्टीकरण देखिए।

प्रेम करते ह, और राक्षसी एव आसुरी प्रकृति के लोग अपने व्यक्तित्व के अहकार में आसक्त होकर सबकी एकता-स्वरूप मेरा तिरस्कार करते ह* । यहाँ पर उस विषय की विस्तत ्याख्या की गई ह । छठे अध्याय के ४१ वें श्लोक से ४४ वें श्लोक तक के वणना नुसार पूवजन्म में समत्व योग के अभ्यास म लगे रहने वाले लोगो को इस जन्म में सात्त्विकी प्रकृति का शरीर प्राप्त होता ह और साधारणतया उनके आचरण सबके साथ एकता के साम्य भाव यक्त होते ह, जिससे उनके कर्मों के ब धन कम होते जाते ह, और उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए अन्त में वे सब ब धनो से मुक्त होकर परमात्म भाव में स्थित हो जाते ह । एक तरफ सबकी एकता के ज्ञान के अभ्यास से सात्त्विक आचरण बनते ह, और दूसरी तरफ इन सात्त्विक आचरणो से सबकी एकता का ज्ञान बढता और दढ़ होता ह—इस प्रकार यह दोनो ही परस्पर में सहायक अथवा उपकारी उपकाय होते ह । "अभय" से लेकर नानिमानिना तक दवी प्रकृति के जो २६ गुण कहे ह, उनके आचरण ज्ञान योग की यवस्था से, अर्थात सबकी एकता की समत्व बुद्धि से किये जायें, तभी वे सात्त्विक अर्थात सुखदायक होते ह पर तु यदि ये ही आचरण पथकता के राग द्वष आदि भावो से किय जाय तो वे राजस तामस अर्थात दु खदायक एव ब धन के हेतु हो जाते ह । इसी अभिप्राय को भगवान ने प्रथम श्लोक म "अभय सत्त्वसशुद्धि' के बाद 'ज्ञानयोग यवस्थिति कह कर स्पष्ट कर दिया ह । इस विषय का खुलासा बारहवें अध्याय के श्लोक १३ वें से २० वें तक के स्पष्टीकरण में कर आय ह । जिन आचरणो का स्पष्टीकरण वहाँ नहीं हुआ ह, उनका यहाँ किया जाता ह ।

अभय

अपने कतव्य-कम करने में किसी प्रकार का इहलौकिक अथवा पारलौकिक, दष्ट अथवा अदष्ट भय न रखना, यदि अपने कतव्य पालन में शरीर के छूटने, अर्थात मत्यु हो जाने तक की भी आशका हो तो भी नहीं डरना, क्योंकि शरीर तो नाशवान ही ह और आत्मा अमर ह, इसलिए वास्तव में डर का कोई कारण नहीं ह, लोक हित के कार्यों में और आत्मिक उन्नति के उद्योग में किसी से भी न डरना, तथा ऐसा करने में शरीर पर आपत्ति आने की सभावना हो तो भी न घबराना, तथा दूसरो को भी इस प्रकार के कामो में सहायना देकर और इस तरह की शिक्षा देकर अभय करना—यह अभय का सच्चा स्वरूप ह, और इस प्रकार निभय होना दवी प्रकृति के पुरुषो का सबसे पहला लक्षण ह । पर तु राक्षसी-आसुरी आचरण करने में तथा दूसरो पर अत्याचार करने में निभय हो जाना, और दुष्ट-दुराचारियो को कुकम करने में निभय कर देना—यह अभय का दुरु पयोग ह, दवी प्रकृति के बुद्धिमान पुरुष इस प्रकार अभय का विरुद्धाचरण नहीं करते ।

*नव अ याय म उक्त श्लोको का स्पष्टीकरण देखिए ।

अभय का यह तात्पय नहीं ह कि अनथ करने में किसी का डर न रख कर मनुष्य उद्दण्ड एव ढीठ हो जाय, तथा दूसरो को भी अनथ करने में स्वच्छन्द कर दे। इसी तरह निभय होने का यह तात्पय भी नहीं ह कि निडर होने के घमण्ड में सबकी अवहेलना और तिरस्कार करके लडाइयाँ खरीदी जाय, अथवा समुचित कारण के बिना अपने को खतरे (जोखम) में डाला जाय।

ज्ञान योग व्यवस्थिति

स्वय अपने में तथा दूसरो मे अर्थात ससार के सब जड एव चेतन पदार्थों में एक ही आत्मा परमात्मा एक समान व्यापक ह, जो अपने में ह वही दूसरो में ह, एक आत्मा अथवा परमात्मा के सिवाय और कुछ भी नहीं ह, यह जगत प्रपच उस एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूपो का बनाव ह—यह निश्चय बुद्धि मे निरन्तर रखना, और सबकी एकता के इस निश्चयपूवक पना अपना योग्यता के सासारिक व्यवहार साम्य भाव से करना तथा अपने वास्तविक आप=आत्मा अथवा परमात्मा से भिन्न किसी भी पदाथ अथवा विषय में ममत्व की आसक्ति न रखना और न उनसे सुख की प्राप्ति की ही आशा करना—यह सच्चा ज्ञान-योग ह, दवी प्रकृति के मनष्य इस प्रकार के ज्ञान-योग में अवस्थित रहते ह। परन्तु मुह से तो आत्मज्ञान और सवभूतात्मक्य-साम्य भाव की बातें बनाना तथा शास्त्राथ करना, किन्तु व्यवहार उसके अनुसार कुछ भी न करना अर्थात मुह से अपने को "आत्मा" अथवा "ब्रह्म" कहना, और साथ ही शरीर तथा शरीर की नाना प्रकार की उपाधियो का अभिमान रखना, तथा शरीर से सबध रखने वाले व्यक्तियो एव पदार्थों में अत्यन्त आसक्त रहना, और दूसरो को भिन्न समझ कर उनसे राग, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि भेद भाव के आचरण करके, तथा सासारिक पदार्थों एव विषयो में आसक्त होकर नाना प्रकार के अनथ और कुकम करना—यह ज्ञान-योग का दुरुपयोग एव पाखण्ड ह।

स्वाध्याय

ज्ञान की वद्धि एव बुद्धि को सूक्ष्म करने के लिए, तथा लोक-सेवा के निमित्त अपनी योग्यता बढ़ाने के लिए एव अपनी सर्वांगीण उन्नति करने के लिए सत शास्त्रो तथा अन्य प्राचीन एव नवीन विद्याओ एव भाषाओ का अध्ययन करना और लोक हित के लिए उनका उपयोग एव प्रचार करना—यह सच्चा स्वाध्याय ह, दवी प्रकृति के सज्जन पुरुष इस प्रकार स्वाध्याय में लगे रहते ह। परन्तु केवल ग्रन्थो को रटकर कण्ठ कर लेना, अथवा अनेक ग्रन्थ पढते ही जाना और बुद्धि से कुछ भी काम न लेना, अर्थात बुद्धि को ग्रन्थो के गिरवी रख कर केवल शास्त्रो के कीड बन जाना, अपनी बुद्धि से उन पर स्वतन्त्रतापूवक विचार करके उनसे वास्तविक लाभ न उठाना, शास्त्रो की प्रक्रियाओ को याद करके वाद-

विवाद ही में लगे रहना, पढी हुई विद्याओ के वास्तविक अर्थ की तरफ विचार न करके उनके सूखे कलेवर का अध्ययन करते रहना, तथा बहुत शास्त्रो के ज्ञाता अर्थात पण्डित होने का अभिमान करना—यह स्वाध्याय का दुरुपयोग अथवा उसका विपर्यास है।

सरलता

साधारणतया स्वभाव सरल अर्थात सीधा रखना, अपनी तरफ से किसी के साथ छल कपट टेढपन, ऐंठन, रुखाई अथवा कूट नीति के भाव चित्त में न रखना, तथा वाणी और शरीर से ऐसे व्यवहार न करना—यह सच्ची सरलता है, दैवी प्रकृति के महापुरुष इस प्रकार सरल स्वभाव के होते है। परन्तु मूर्खों, दम्भियो, ठगो, धूर्तों तथा दुष्टो के साथ सरलता तथा सीधेपन का भाव रख कर उनसे प्रभावित हो जाना एवं उनके फंदे में फंस जाना, और उनके कुकर्मो को न पहचान कर उन पर विश्वास करके अपने कर्तव्य बिगाड देना—यह सरलता का दुरुपयोग एवं भोदूपन है।

अहिंसा

प्राणिमात्र एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप है, इस निश्चय से मन, वाणी तथा शरीर से किसी भी प्राणी को बिना कारण अपनी तरफ से शारीरिक एवं मानसिक कष्ट न पहुंचाना, अपने भोग विलास अथवा विनोद के लिए, अथवा प्रमादवश किसी के शरीर की हत्या न करना, न करवाना, तथा किसी की आजीविका में बाधा न देना—यह सच्ची अहिंसा है, दैवी प्रकृति के सज्जन इस प्रकार अहिंसा व्रत के व्रती होते है। परन्तु किसी को किसी बडे कष्ट से बचाने के लिए थोडा कष्ट भी न देना, किसी बडी हिंसा को रोकने के लिए थोडी हिंसा न करना, किसी श्रेष्ठ की रक्षा के लिए दुष्ट को दण्ड न देना, यदि कोई दुराचारी अपनी आर्थिक शक्ति से दूसरो पर अत्याचार करता हो तो उसकी आर्थिक शक्ति न छीनना, उच्च कोटि के प्राणियो की रक्षा के लिए हीन कोटि [illegible] मिथ्या दया के वश होकर उसका सहन न कर सकना और उसको रोकने का प्रयत्न करना—अथवा हिंसा के पाप के भय से अपने कर्तव्य कर्मों की अवहेलना करना—यह अहिंसा का दुरुपयोग एवं [illegible] हिंसा है।

अहिंसा धर्म के विषय में केवल आधिभौतिक दृष्टि से ही विचार करने के कारण, कई भावक लोगों में बडा भ्रम फैला हुआ है, और अहिंसा एवं दया के दुरुपयोग से बहुत से अनर्थ हो रहे है। समाज की सुव्यवस्था के लिए, चातुर्वर्ण्य व्यवस्थानुसार अपने कर्तव्य कर्म करने में यदि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्राणियो की हिंसा का संबंध आ जाय तो कर्तव्य कर्म त्याग दिये जाते है, विषैले जंतु और क्रूर जानवर मनुष्य समाज तथा उपयोगी पशुओ की हानि करते रहे तो भी उन्हें मारना हिंसा समझी जाती है, डाकुओ, दुष्टो,

दुराचारियो, समा ाटियो तथा खूनियो को प्राणदण्ड देकर उनको कुकम करने से रोकना तथा उनसे समाज की रक्षा करना और चोरो, ठगो, पाखण्डिया ए कुकर्मियो की आर्थिक शक्ति छीनने में सहायक होना तथा उनको उचित दण्ड दिलाना भी अहिसा धम से विमुख होना माना जाता ह, इसी तरह दु ाचारिया से भले मनुष्यो की तथा असहाय गरीबो की रक्षा करने के लिए उनको मारना या दण्ड देना भी अहिसा धम के विरुद्ध समझा जाता ह—यह अहिसा धम का विपर्यास ह।

यह जगत सबके आत्मा=परमा मा की त्रिगुणात्मक माया का खेल ह, और इस मायिक खेल की सुव्यवस्था के लिए जिस शरीर की जसी योग्यता हो उसके साथ वसा ही व्यवहार करना चाहिए। ससार में सभी प्राणी एक दूसरे के भा ता भाग्य ह इसलिए हिंसा से सवथा रहित कोई भी नहीं हो सकता। अत जिस हिसा से जगत अथवा समाज की सुव्यवस्था बनी रहे वह वास्तव में हिंसा नही होती, और जिस अहिसा से जगत अथवा समाज की सुव्यवस्था बिगडती हो वह वास्तव में अहिसा नहीं होती। अस्तु, बिना कसूर तथा बिना उचित कारण के किसी निरपराध प्राणी की हत्या करना, या उसको कष्ट देना, या उसका वत्ति छानना अवश्य ही हिंसा ह पर तु परिणाम के बडे सुख या बडे लाभ पहुँचाने के उद्दश्य से एक बार थोडी देर के लिए किसी को कष्ट दिया जा—ि ग तरह फोड़ा मिटाने के लिए उसे काट देना, भयानक रोग से बचाने के लिए टीका देना, अजीण के बीमार को भोजन न देना, इत्यादि, अथवा बडी हिंसा रोकने के लिए थोडी हिंसा करना, अथवा उच्च कोटि के जीवो की रक्षा क लिए हीन कोटि के जीवो को मारना—जिस तरह मनुष्यो के प्राण बचाने के लिए हिंसक एव हानिकर ज तुओ को मारना, भले आदमियो की प्राण रक्षा के लिए किसी हत्यारे अथवा डाकू को मार देना—इस प्रकार की हिसा वास्तव में हिसा नहीं होती, प्रत्युत वह अहिसा ही हाती ह।

सत्य

सच्ची, मीठी और हितकर वाणी बोलना, किसी को हानि पहुँचाने अथवा किसी का अनिष्ट करने अथवा किसी को ठगने के उद्देश्य से, अथवा समुचित कारण के बिना झूठ कभी न बोलना, सबके साथ सचाई का व्यवहार करना झूठे यवहार से किसी को धोखा, भुलावा एव मानसिक कष्ट न देना—यह वास्तविक सत्य ह, दवी प्रकृति के सज्जन इस प्रकार सत्य का आचरण करते ह। पर तु जिन सत्य वचनो से दूसरो को बिना कारण ही उद्वेग उत्पन्न होता हो, अथवा वाणी की कठोरता से दूसरो के चित्त पर आघात पहुँचता हो, अथवा जिन सत्य वचनो से लोगो का अहित होता हो, ऐसे वचन केवल सत्यवादीपन के अहकार और हठ से बोलना, तथा जिस सचाई के यवहार से झूठो, ठगो, दुष्टो, धूर्तों तथा अत्याचारियो को उनके दुष्ट आचरणो और अत्याचारो में प्रोत्साहन मिलता हो—यह सत्य नहीं किन्तु सत्य का विपर्यास—असत्य ह।

जो सत्य हित का विरोधी हो वह वस्तुत सत्य हो ही नहीं सकता, क्योकि हित की बात एव हित का "यवहार किसी समय सत्य या प्रिय न हो तो उससे किसी की हानि नहीं होती, पर"तु अहित की बात एव अहित का व्यवहार यदि सत्य और प्रिय भी प्रतीत हो तो उससे हानि के सिवाय लाभ नहीं होता। अतएव प्रधान लक्ष्य हित पर ही रखना चाहिए। सबके लिए हितकर वाणा और हितकर आचरण वास्तव में सत्य ही होते ह। केवल मुख से उच्चारण कर देन मात्र से कोई बात सत्य या झूठ नहीं होती, कि"तु सत्यता या असत्यता, बोलने एव "यवहार करन वाले के भाव और उससे होने वाले परिणाम पर निभर होती ह।

अपशू"य (दूसरो की नि"दा अथवा चुगली न करना)

किसी की मान प्रनि"" धन अथवा साख (मालबरी) को [illegible] के उद्देश्य से, अथवा अ"य प्रकार के कष्ट देने के निमित्त उसकी पीठ पीछे नि"दा या चुगली करना, अथवा झूठी गवाही देना—यह पशू"य ह, दवी प्रकृति के सज्जन एसा नही करते। परन्तु किसी के सच्चे दोषो अथवा चालबाजियो अथवा छल, कपट, पाखण्ड आदि से दूसरो को हानि पहुचती हो तो उस हानि से लोगो को बचाने के उद्देश्य से, जिनको हानि पहुचती हो, उ"हें सावधान करना तथा उन दोषो और चालबाजियो अथवा पाखण्ड आदि को प्रकट कर देना—यह पशू"य का सदुपयोग ह, और दवी प्रकृति के लोग, लोक हित के लिए इसका यथावसर उपयोग करते ह।

निर्लोभ

सांसारिक पदार्थों में आत्मा से भिन्न सुख समझ कर अपने व्यक्तिगत भाग विलास के लिए उनका सग्रह करने में स"तोष न करना, कि"तु आवश्यकता से भी अधिक येन केन प्रकारेण धनादि पदार्थों का सग्रह करने में ही लगे रहना, और सग्रह किये हुए पदार्थों को अपने तथा दूसरो के हित के लिए तथा आवश्यक कामो के निमित्त न लगाना—यह लोभ ह, दवी प्रकृति के सज्जन इस प्रकार का लोभ नहीं करते। पर"तु आत्मज्ञान की प्राप्ति की लालसा रखना, लोगो से प्रेम करने सबका हित करने और अपने कतव्य कम करने में स"तोष न रखना, लोक हित के कामो में लगाने के लिए धनादि पदार्थों का सग्रह करना, तथा अनावश्यक एव अयोग्य "यवहारो में उनका व्यय न करना—यह लोभ का सदुपयोग ह। इस प्रकार का लोभ दवी प्रकृति के पुरुष भी करते ह।

मदुता

साधारणतया लोगो के साथ मधुरता, कोमलता और नम्रतायुक्त प्रेम का बर्ताव करना जिससे उनके अन्त करण में प्रसन्नता हो, मीठी बोली बोलना, बिना कारण किसी के दिल को चोट लगे अथवा किसी को नागवार गुजरे, एसी चेष्टा न करना—यह मदुता

का बर्ताव ह, दवी प्रकृति के पुरुष इस प्रकार मधुरता का बर्ताव किया करते ह। परन्तु आसुरी प्रकृति के क्रूर एव दुष्ट लोगो से उपयुक्त मधुरता का बर्ताव करने से उनकी क्रूरता तथा दुष्टता बढ़ती ह, अत ऐसे लोगो के साथ दवी प्रकृति के पुरुष मदुता का बर्ताव नहीं करते।

लज्जा

अपने कतव्य के विरुद्ध अनुचित और बरे काम करने में ग्लानि रखना सच्ची लज्जा ह, दवी प्रकृति के पुरुष इस प्रकार की लज्जा से शोभित होते ह। पर तु अपने कतव्यो के पालन करने में, तथा लोक हित के सात्त्विक यवहारो में मूख लोगो की टीका से लज्जित होकर उनमें त्रुटि करना, अथवा अपने कत य कर्मों को नीचे दर्जे का अथवा हीन कोटि का समझ कर उनसे ग्लानि करके उनकी उपेक्षा करना—यह लज्जा का दुरुपयोग एव कतव्य विमखता ह।

अचपलता

अपने कतव्य कर्मों में मन न लगाकर दूसरी निरथक चेष्टाए करते रहना, किसी एक निश्चय पर स्थिर न रह कर क्षण क्षण में बदलते रहना और किसी एक स्थान पर अथवा किसी एक स्थिति में थोडी देर के लिए भी न टिकना—यह चपलता ह, दवी प्रकृति के लोग इस तरह चपल नही होते। पर तु अपने कत य कम करने में फुर्ती और तत्परता रखना, आलस्य व प्रमाद न करना, और आवश्यकता एव परिस्थिति के अनुसार उनमें फेरफार करते रहना—यह चपलता का सदुपयोग ह। इस प्रकार की चपलता बुद्धिमान कायकर्ताओ के लिए आवश्यक ह।

तेज

किसी से दब कर अ त करण के विरुद्ध कोई अनचित काम न करना तथा अपने कर्तव्य को न छोडना, जो अपन मातहत हो, उनसे उनके कतव्य-कम समचित रूप से करवाने, तथा अपनी स तान, शिष्य, प्रजा आदि जो अपने सरक्षण में हो, उनको विपरीत आचरणो से रोकने के लिए उन पर उचित प्रभाव रखना—यह सच्चा तेज ह, दवी प्रकृति के सज्जन ऐसे तेज से दीप्त रहते ह। पर तु अपने तेजस्वीपन के अभिमान में बिना कारण ही दूसरो पर रोब जमाना, तथा दूसरो को अनुचित रूप से दबाना—यह तेज का दुरुपयोग एव अत्याचार ह।

धैय

सुख-दु ख, हानि लाभ हृष-शोक, मान-अपमान, नि दा-स्तुति आदि अनुकूल प्रतिकूल द्वन्द्वो, एव शारीरिक कष्टो तथा आपत्तियो से व्याकुल होकर धीरज न छोडना, और अपने कतव्य-कर्मों में दृढ़ता और उत्साह के साथ आरूढ़ रहना—यह धय ह, दवी

प्रकृति के सज्जन इस प्रकार धयवान होते ह। परन्तु कष्ट और विपत्तियो को टालने की सामर्थ्य होते हुए भी उत्साहहीन होकर चुपचाप बठे रहना, तथा जिस काम में सफलता तथा लाभ होने की कोई सभावना न दीखे, उसे भी करते ही जाना, उसे बदलने की चेष्टा करने में अनावश्यक विलम्ब करना—यह धय नहीं, किन्तु प्रमाद ह, दवी प्रकृति के सज्जन इस तरह प्रमादी नहीं होते।

× × ×

जो लोग पूवजन्म की बुरी वासनाओ को लेकर यहा जन्मते ह, उनके शरीर आसुरी प्रकृति के होते ह। उनमें सा ारणन्‌ग्रा ‍यनि‍ज का अहकार बहुत बढा हुआ और अत्यन्त दढ होता ह, जिसके कारण वे अपने ‍यक्तिगत स्वार्थो ही में आसक्त रहते ह। वे लोग दूसरो से पथक अपने ‍यक्तित्व के अहकार से और ‍यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि के लिए, दम्भ, दप, अभिमान, कठोरता एव क्रोध आदि से दूसरो को ठगते, दबाते और कष्ट देते रहते ह। यद्यपि साधारणतया यह दम्भ, दप आदि के दुष्ट भाव आसुरी प्रकृति के लोगो में ही होते ह, पर‍तु कभी कभी लोक हित के निमित्त, ऐसे आसुरी प्रकृति के लोगो को दबाने के लिए, इ‍ही भावो का उपयोग करना श्रेष्ठाचार होता ह, और दवी प्रकृति के लोगो को भी इनका उपयोग करना आवश्यक होता ह। इसलिए इस विषय का भी विशेष रूप से ग्पा‍ग्गक्‍रण ाग ‍िया ाा ह।

दम्भ

छल कपट करके अथवा लोगो को ठगने के लिए मिथ्या बडप्पन की वेष भूषा का स्वाँग करके धोखा देना, मन में कुछ हो और ऊपर से कुछ और ही बताकर किसी को ठगना, जो गुण और योग्यता अपने में न हो, उनके होन की डींगें हाँक कर, तथा भीतर से रागी, मलिन, पापाचारी अथवा वस्तुत धनहीन होते हुए भी ऊपर से त्यागी, पवित्र, धर्मात्मा अथवा धनवान होने का ढोग करके लोगो को भुलावा देना और अपना कलुषित स्वाथ साधना—यह दम्भ ह, और यह आसुरी प्रकृति के पुरुषो का प्रधान लक्षण ह। ऐसे दम्भ अथवा पाखण्ड से दूसरो का तथा स्वय दम्भ करने वाले का भी अनिष्ट होता ह। परन्तु दुष्ट, दभी, दुराचारी, आसुरी राक्षसी प्रकृति के लोगो के अत्याचारो से जनता को बचाने के लिए, और विशेष करके छल कपट करने वाले दभियो और दुराचारियो से अपनी तथा अपने सरक्षण में आये हुओ की रक्षा करने के लिए उन दुष्टो से छल-कपट का व्यवहार करना, तथा दम्भ से उनको भुलावा देना आवश्यक एव ‍याय-सगत होता ह। भगवान ने स्वय १०वें अध्याय में "द्यूत छलयतामस्मि" कह कर यह स्पष्ट कर दिया ह कि छल करने वालो को छल से ही जीतने के लिए सबसे बडा छल जुआ भी "म" परमेश्वर ही हू। इस प्रकार छल का उपयोग दवी प्रकृति के सज्जन भी किया करते ह, परन्तु यह छल जन साधारण को अथवा किसी निर्दोष व्यक्ति को ठगने या हानि पहुँचान की नीयत से

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १२ ॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

अर्थ—इस (मनुष्य) लोक में दो प्रकार के लोग होते हैं—एक दैवी प्रकृति के, दूसरे आसुरी प्रकृति के, हे पार्थ! (उनमें से) दैवी प्रकृति वालों

का वणन विस्तारपूवक पहले कर दिया, (अब) आसुरी प्रकृति वालो का (वणन) मुझ से सुन। तात्पय यह कि देवो और असुरा का कोइ अलग लोक अथवा देश नही होता, न उनकी कोइ विशेष जाति ही होती ह, और न वे साधारण मनुष्यो से विलक्षण आकृतियो अथवा विलक्षण रूपो वाले होते ह, जसा कि बहुत से भोले लोग मानते ह, कितु इसी मनुष्य समाज में जो उप र्युक्त (श्लोक १ से ३ तक कहे हुए) दवी सम्पत्ति के गुणो से युक्त होते ह वे देव ह, और जो (चौथे श्लोक में कहे हुए) आसुरी सम्पत्ति के गुणो से युक्त होते ह वे असुर ह। दवी प्रकृति के मनुष्यो के आचरणो का वणन दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ के विवरण में, बारहव अध्याय मे भक्त के विवरण में, तरहवें अध्याय में ज्ञान के विवरण में, तथा इस अध्याय के आरम्भ में दवी सम्पत्ति के विवरण में विस्तार पूवक कर आये ह। आसुरी प्रकृति के मनुष्यो के आचरणो का विस्तत वणन अब आगे किया जाता ह। राक्षसो का समावेश आसुरी प्रकृति के मनष्यो में ही होता ह, अर्थात जो उग्र आसुरी प्रकृति के नास्तिक* लोग होते ह वे ही राक्षस कहे जाते ह (गी० अ० ९ श्लो० १० ११ का स्पष्टीकरण देखिए) (६)। आसुरी प्रकृति के मनष्य प्रवत्ति और निवत्ति को नहीं जानते, उनमें न पवित्रता होती ह, न आचार, (और) न उनमें सत्य ही रहता है। तात्पय यह कि आसुरी प्रकृति के लोग इस बात का कुछ भी विचार नहीं करते कि कौन सी चेष्टाएँ प्रवृत्ति* रूप और कौन-सी निवत्ति* रूप होती ह? किस तरह के आचरणो से बधन होता ह और किस तरह के आचरणा से मोक्ष? और कौन से कम अच्छे होते ह और कौन से बुरे? दूसरे शब्दो में लोगो की भलाई बुराई का व कुछ भी परवाह नहा करते, कितु अपनी मनमानी करते ह। समाज की सुव्यवस्था उनके लिए कुछ भी महत्त्व नहीं रखती। अत वे गण कम विभागानुसार किसी भी वण के कर्मों को यथावत नहीं करते, कितु जिन चेष्टाओ से उनको अपने प्रत्यक्ष क भौतिक सुखो की प्राप्ति हाने का निश्चय होता ह, उन्हे ही करते ह। उनका अन्त करण दम्भ, दप, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्षा,

---

* यहाँ नास्तिक शब्द का तात्पय उन दवी प्रकृति के भौतिकवादी सज्जनो से नही ह जो यधपि चावाक आदि भौतिक मता को मानते ह और ईश्वर मजहब एव परलोक आदि म विश्वास नही रखते, परन्तु लोक हित के व्यवहारो म लगे रहते ह और अपन कतव्य कम अच्छी तरह पालन करते ह। वे वास्तव म नास्तिक नही ह किन्तु जो लोग आस्तिक होने का झूठा दम भरते ह परन्तु आचरण इन श्लोको म वर्णित राक्षसो और असुरो जसे करते ह, वे वास्तव मे सबसे बड नास्तिक ह ([illegible] देखिए)।

* चौथ अध्याय के श्लोक १६वे से १८वे तक का स्पष्टीकरण देखिए।

द्वेष आदि विकारो से सदा ग्रसित रहने के कारण मलिन रहता ह, एव उनका शरीर तथा रहन-सहन अत्यन्त मला कुचला रहता ह, एव सभ्यता और शिष्टता के आचरणो से वे सवथा शून्य होते ह, क्योकि देह अभिमान, स्वाथपरता, ऐंठन, कठोरता एव उजड्डपन उनमें कूट-कूट कर भरे हुए रहते ह, और झूठ बोलने तथा झूठे व्यवहार करने में वे कुशल होते ह—सत्य के महत्त्व को वे कुछ समझते ही नहीं (७)। वे कहते ह कि जगत असत्य, आधार रहित और बिना ईश्वर का ह, काम वासना के कारण नर और मादा के सयोग से उत्पन्न होता ह इसके सिवाय दूसरा अदष्ट हेतु इसका क्या हो सकता ह? तात्पय यह कि आसुरी प्रकृति के नास्तिक लोग केवल प्रत्यक्षवादी होते ह, अदष्ट आत्मा अथवा परमात्मा को वे नही मानते। उनके मत में न कोई आत्मा ह, न कोई परमात्मा, न कोई पुण्य ह, न पाप, आत्मा, परमात्मा, परलोक एव पुण्य पाप का अदष्ट फल आदि सब कल्पनाए झूठी ह, जो कुछ ह वह (भौतिक) स्थूल जगत ही ह, शरीरो के जन्म से पहले कुछ भी नहीं होता और मरने के बाद कुछ शेष नहीं रहता, काम वासना से प्रेरित नर और मादा के सयोग से सष्टि की उत्पत्ति होती ह और मरने पर उसकी समाप्ति हो जाती ह, इस तरह जगत का प्रवाह आप ही चलता रहता ह, इसके सिवाय इसका कोई अदष्ट अथवा सूक्ष्म कारण नहीं ह और न कोई इसका अदष्ट अथवा सूक्ष्म आधार ही ह। इस लिए स्थूल शरीरो के प्रत्यक्ष के भौतिक सुखो के साधन जिस तरह भी बन सके, उसी तरह करते रहना चाहिए, इसके सिवाय और कुछ भी कतव्य नहीं ह। खाने-पीने, विषय भोगने एव ऐशा आराम करन के सिवाय किसी अदष्ट अथवा सूक्ष्म विषय पर विचार करने की उनके नजदीक कोई आवश्यकता नहीं रहती (८)। इस दष्टि का अवलम्बन किये हुए (वे) उग्र कम करने वाले तथा (सबका) अहित यानी बुरा करने वाले, विवेकहीन मूख लोग जगत का क्षय करने क लिए ही हाते ह। तात्पय यह कि इस तरह स्थूल शरीर और इसके विषय भोगो ही को सब-कुछ मानने, तथा स्थूल शरीर ही में आसक्ति रखने वाले प्रत्यक्षवादी लोगो को सत्यासत्य एव अच्छे-बुरे का कुछ भी विवेक नहीं होता, अत वे अपने शारीरिक सुखो और विषय भोगो के लिए चोरी, डकती, ठगी, लूट-खसोट, जबदस्ती, झूठ, कपट, पाखण्ड आदि अत्यन्त उग्र कम करके लोगो पर जुल्म करते ह। वे लोग समाज में उच्छृखलता उत्पन्न करने और जनता को पीडा देने के ही कारण होते ह, इसके सिवाय उन से किसी भी प्रकार की भलाई नहीं होती (९)।

आसुरी प्रकृति के नास्तिक लोगो का वणन तीन श्लोको में करके अब आसुरी प्रकृति के आस्तिक लोगो का वणन करते ह, जो प्रत्यक्ष के दष्टिगोचर विषयो के अतिरिक्त परोक्ष के सुखो तथा अदष्ट विषयो में भी अन्धविश्वास रखने ह।

कभी समाप्त न होने वाली कामनाओ के अधीन होकर दभ, अभिमान और मद में ग्रस्त हुए (आसुरी प्रकृति के लोग) मूढ़ता से झूठी भावनाओ का आसरा लेकर (अन्ध

विश्वास से) अपवित्र व्रता में प्रवत्त होते ह। तात्पय यह कि आसुरी प्रकृति क ाग्नित्र ोग इहलौकिक द ष्ट अथवा प्रत्यक्ष के तथा स्वर्गादि पारलौकिक अदष्ट अथवा परोक्ष के सासारिक सुखो, एव धन, मान, कुटम्ब परिवार आदि की अन त प्रकार की कामनाओ में दिन रात उलझे रहते ह, और कामनाए लगातार एक के बाद दूसरी नित नयी उत्पन्न होती रहती ह, इसलिए उनकी कभी पूर्ति नहीं होती। उन कामनाओ की सिद्धि के लिए वे लोग मिथ्या विश्वासो के आधार पर नाना प्रकार के मलिन कमकाण्डो में लगे रहते ह, अर्थात मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि के मले म त्र साधने, देवी ेवताओ के नाम पर पशुओ की बलि देने, रात के समय श्मशान आदि अपवित्र स्थानो में जाकर भरव, योगिनी एव भूत प्रेतादि को जगाने का ढोग करके मले म त्रो को जपने, उनके नाम पर अपवित्र एव मादक खान पान करने, तथा अश्लील अगो की पूजा करके ग्लानि उत्पन्न करने वाली क्रियाए करने में लगे रहते ह, अथवा तामसी तप से शरीर को कृश करते ह, और नख, केश, आदि बढ़ाकर एव नहाना धोना आदि बद करके मले-कुचले रहते ह। इस प्रकार अत्य त मलिन एव पापकम करते हुए भी वे बडे पवित्र एव धर्मात्मा होने का ढोग करते ह, और चौके चूल्हे आदि की छूआछूत का बडा पाखण्ड करते ह, अपनी पवित्रता, धार्मिकता एव कुलीनता का बहुत अभिमान करते ह और उस मद म चूर हुए दूसरो का अपमान और तिरस्कार करते ह (१०)। मरणपय त बनी रहने वाली अन त प्रकार की चिन्ताओ में ग्रसित हुए, "विषय भोग ही सब कुछ ह" इस निश्चय से उ हीं में दिन रात लगें रहने वाले, आशाओ के सकडो ब धनो में जकड हुए, काम क्रोध परायण (वे असुर लोग) विषय भोगो की पूर्ति के निमित्त अ याय से धन-सग्रह की चेष्टाए करते रहते ह। तात्पय यह कि वे असुर लोग विषय सुखो को ही सब कुछ मानते ह, इसलिए इस जन्म में विषय भोगो की प्राप्ति और उनकी रक्षा के लिए तथा परलोक में स्वर्गादि सुखो की प्राप्ति के लिए ज म भर इतनी चिन्ताओ में डूबे रहते ह कि जिनका कभी अन्त नहीं होता। विषय भोगो की आशाए एक के बाद दूसरी लगातार बनी ही रहती ह उन आशाओ की फाँसियो से वे कभी निकल ही नहीं सकते, और उन विषय भोगो की पूर्ति के लिए, समुचित परिश्रम किये बिना तथा किसी भी प्रकार की लोक सेवा किये बिना, चोरी, ठगी, जोर-जुल्म एव मठमर्दी से अथवा धूतता, झूठ, कपट, छल, छिद्र आदि चालाकियो अथवा हथफरियो से तथा नाना प्रकार के अ यायपूण उपायो से निबलो को सताकर अथवा उ हें दबाकर, अथवा भोले भाले लोगो को अपन चगुल में फसाकर धोखे अथवा भुलावे से उनका धन ऐंठ ऐंठकर उसके सग्रह करन में लगे रहते ह (११ १२)। आज मनें यह (मनोरथ) प्राप्त कर लिया, यह मनोरथ अर्थात इच्छित पदाथ (मुझे) प्राप्त हो जायगा, यह धन मेरे पास ह और यह भी फिर मेरा हो जायगा, इस शत्रु को मने मार लिया और दूसरो को भी मारूगा मैं ईश्वर अर्थात सव सामर्थ्यवान हू, म भोगी हू,

म सिद्ध हूँ, म बलवान और सुखी हूँ, म बडा धनवान (और) बडा कुलीन हूँ, मेरे समान और कौन ह ? म यज्ञ करके दान दूगा, आमोद प्रमोद करूँगा—इस प्रकार अज्ञान से मोहित, मन की अनेक प्रकार की कल्पनाओ के भ्रम में पडे हुए एव मोह जाल में खूब ही फसे हुए, विषय भोगो में अत्यन्त आसक्त (वे आसुरी प्रकृति के मनुष्य) मलिन नरक में गिरते ह । तात्पय यह कि वे आसुरी प्रकृति के लोग अपने मन में रात दिन यही मनसूबे बाँधा करते ह कि आज मने इतनी धन सम्पत्ति प्राप्त कर ली, इतनी फिर आने वाली ह, मेरे पास इस समय इतनी सम्पत्ति जमा हो चुकी ह और भविष्य में इतनी अवश्य प्राप्त हो जायगी, अमुक शत्रु को मने मार लिया अथवा उस पर विजय पा ली, जो बाकी बचे ह उनको फिर पछाड दूगा म सबसे अधिक शक्तिसपन्न हू दुनिया के सब भोग मेरे ही लिए ह, सब सिद्धिया मेरे दरवाजे पर हाथ बाधे खडी ह मेरे समान न कोई बलवान ह न कोई सुखी, म सबसे अधिक बलवान हू, मेरा कुल सबसे ऊचा और बहुत बडा ह, ससार में मेरी बराबरी करने वाला कोई नही ह धन, मान एव भोग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए म यज्ञ करके बडा बडा दक्षिणाए दगा जिनसे मेरी बहुत अधिक प्रतिष्ठा और कीर्ति होगी, तथा उनके फल-स्वरूप मझे धन, मान एव भोग्य पदाथ प्राप्त होगे, फिर म खूब ऐशो आराम, आमोद प्रमोद करके इतनी मौज उडाऊगा कि जिसकी कोई बराबरी नहीं कर सकता । इस प्रकार मूखता से भरे हुए खयाली किले बाँधते रहने वाले, शारीरिक विषयो में आसक्त आसुरी प्रकृति के लोग अन्त में महान दु खदायक भयानक नरको में गिरते हं, अर्थात उनकी बडी दुदशा होती ह (१३ १६) । अपने बडप्पन के मिथ्या घमण्ड में ऐंठे हुए, धन और मान में मतवाले (आसुरी प्रकृति के लोग) दभ से, अर्थात केवल लोक दिखावे के निमित्त तथा लोगो में रोब जमाने के लिए, शास्त्र विधि से रहित नाम मात्र के यज्ञ करते ह । तात्पय यह कि आसुरी प्रकृति के लोग अपने मन में अपने बडप्पन, धर्मात्मा पन, विद्वत्ता, कुलीनता, श्रेष्ठता तपस्वीपन आदि के मिथ्या घमण्ड से ऐंठे रहते ह और दूसरो का तिरस्कार करते ह, तथा उनके पास थोडा या बहुत जो कुछ धन आदि होता ह, और उस धन आदि के कारण लोगो में जो प्रतिष्ठा होती ह—उसके नशे में मतवाले होकर दूसरे लोगो को तुच्छ समझते ह । ससार में धर्मात्मा कहलाने के लिए वे लोग यज्ञो के आडम्बर करते ह, परन्तु वे यज्ञ नाममात्र के होते ह न तो उनमें उनकी श्रद्धा होती ह और न शास्त्र की विधि ही (१७) । अहकार, बल, घमण्ड, काम और क्रोध से भरे हुए, दूसरो में दोष देखने वाले (वे) ईर्षालु लोग, अपने तथा दूसरो के शरीरो में रहने वाले मुझ (परमात्मा) से द्वेष करते ह । तात्पय यह कि दूसरो से पथक अपने व्यक्तित्व के अह कार, बडप्पन कुलीनता धार्मिकता, विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता एव शारीरिक बल आदि के घमण्ड में चूर, तथा नाना प्रकार की कामनाओ से उत्पन्न होने वाले क्रोध से भरे हुए, वे आसुरी प्रकृति के लोग सदा अपनी बडाई करने तथा दूसरो के दोष निकालने में तत्पर रहते हैं,

तथा वे दूसरों से ईर्षा-द्वेष करते रहते ह, और परमात्मा सब में व्यापक ह, इसलिए वह द्वेष सबके आत्मा=परमात्मा के साथ ही होता ह (१८)। उन द्वेष करने वाले दुष्ट, पातकी, अधम पुरुषो को "म" ससार में सदा आसुरी योनियो में ही पटकता हू। तात्पय यह कि सबके साथ द्वेष करने वाले उन दुष्ट प्रकृति के नीच पापियो को "म" सबका आत्मा=परमात्मा उनके पापाचार के फलस्वरूप बिल्ली, कुत्ते, सिंह, व्याघ्र, सप, शूकर, गीध, बाज, चील आदि हिसक पशु पक्षियो की पाप योनियो में गिराता हू (१९)। हे कौन्तेय! वे मूढ़ लोग ज म ज म में उन आसुरी योनियो को प्राप्त होते हुए मुझे न पाकर उत्तरोत्तर नीचे ही गिरते रहते ह। तात्पय यह कि उन पाप योनियो को भुगतते हुए वे मूख लोग उत्तरोत्तर अधोगति ही की तरफ लढकते रहते ह, उ हें कभी अपने सच्चिदा न द-स्वरूप परमात्म भाव के ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती (२०)।

त्रिविध नरकस्येद द्वार नाशनमात्मन ।
काम क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रय त्यजेत ॥ २१ ॥
एतर्विमुक्त कौ तेय तमोद्वारस्त्रिभिनर ।
आचरत्यात्मन श्रेयस्ततो याति परा गतिम ॥ २२ ॥
य शास्त्रविधिमुत्सज्य वतते कामकारत ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुख न परा गतिम ॥ २३ ॥
तस्माच्छास्त्र प्रमाण ते कार्याकायव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्त कमकतुमिहाहसि ॥ २४ ॥

अथ—काम, क्रोध और लोभ ये तीन प्रकार के नरक के दरवाजे बुद्धि का नाश करने वाले ह, इसलिए इन तीनो को त्यागना चाहिए। हे कौन्तेय! इन तीन अ धकारमय दरवाजो से मुक्त होकर, (जो) मनुष्य अपने कल्याण का आचरण करता ह, तो उससे (वह) परम गति को जाता ह। तात्पय यह कि काम, क्रोध और लोभ मनुष्य को अधो गति-रूप नरक में ले जाने वाले ह, इसलिए इनकी अधीनता से छूटना चाहिए, जो इनके अधीन नहीं होते, वे ही कल्याणकारक आचरण करके परम पद को पहुँच जाते ह, अर्थात परमात्म-स्वरूप हो जाते ह (२१ २२)। जो शास्त्र* की विधि को छोडकर मनमानी करता ह उसको न सिद्धि अर्थात किसी भी प्रकार की सफलता प्राप्त होती ह, न सुख और न परम गति ही। इसलिए काय और अकार्य की -यवस्था के विषय में, अर्थात कौन-सा कम करना चाहिए और कौन-सा नहीं करना चाहिए, इसका निणय करने के लिए तुझे शास्त्रो*

*यहाँ 'शास्त्र" शब्द का अभिप्राय आत्मा अथवा परमात्मा की एकता एव सव यापकता के अभेद प्रतिपा क सावजनिक शास्त्रो से ही ह क्योंकि गीता

को प्रमाण मानना चाहिए, शास्त्रों* में जो विधान किया हुआ है, उसे समझ कर तुझे इस ससार में कम करना चाहिए। तात्पय यह कि जो लोग पहले के दो श्लोको में कहे हुए काम, क्रोध और लोभ के वश होकर अभेद प्रतिपादक सत-शास्त्रो में वर्णित वण व्यवस्था नुसार अपने अपने कतव्य कम लोक-सग्रह के लिए नहीं करते, किन्तु उसके विरुद्ध पथकता के भाव से अपनी व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के लिए, लोगो को हानि पहुँचाने और दुःख देने वाली मनमानी चेष्टाए करते ह, वे अपनी उन्नति नहीं कर सकते, न उनको सच्ची सुख शान्ति मिलती ह और न उन्ह कल्याण की प्राप्ति ही होती ह। इसलिए भगवान अजुन को लक्ष्य कर के सबको उपदेश देते ह कि परमात्मा की एकता एव सव व्यापकता के सच्चे ज्ञान के आधार पर अपने अपने शरीर की योग्यता के कतव्य कम की व्यवस्था बाधने वाले जो अभेद प्रतिपादक सावजनिक सत शास्त्र ह—जसे ज्ञानकाण्डात्मक वेद, उप निषद एव गीता आदि—वे ही कतव्याकतव्य के विषय में यथाथ प्रमाण ह, अत उन सत शास्त्रो के यथाथ तात्पय को, और उनमें किये हुए विधान को अच्छी तरह समझ कर प्रत्येक मनष्य को उनके अनुसार अपनी अपनी योग्यता के सासारिक व्यवहार करते रहना चाहिए।

स्पष्टीकरण—आसुरी प्रकृति के लोगो के आचरणो का जो वणन श्लोक ७ से २० तक किया गया ह, उसका स्पष्टीकरण उक्त श्लोको के अथ और तात्पय में अच्छी तरह कर दिया गया ह। पाँचवें अध्याय के श्लोक १८ के स्पष्टीकरण में साम्य भाव के आचरणो के विवेचन में, और नवें अध्याय के श्लोक ११ १२ के स्पष्टीकरण में रा नमा ागु ा प्रकृति के लोगो के आचरणो के प्रकरण में भी इस विषय का काफी खुलासा हो चुका ह, इसलिए यहा उसे दुहरा कर तूल बढ़ाने की आवश्यकता नहीं ह। यहा पर यह बात विशेष रूप से कहनी ह कि गीता व्यावहारिक वेदान्त का कतव्य शास्त्र ह। इसमें भगवान ने प्रत्येक मनुष्य के लिए एव मनुष्य समाज के लिए जीवन यात्रा का वह सच्चा और निश्चित माग बताया ह, कि जिसका अवलम्बन करके प्रत्येक मनुष्य एव मनुष्य समाज अपनी ागि गै ि आधिदविक और आध्यात्मिक—सब प्रकार की उन्नति करता हुआ शान्ति, पुष्टि और तुष्टि प्राप्त कर सकता ह। मनुष्य की उन्नति अथवा अवनति उसके आचरणो पर निभर ह, इसलिए इस अध्याय में भगवान ने दैवी

में सवत्र सबकी एकता के आधार पर सासारिक व्यवहार करने ही का विधान है। पन्द्रहवे अध्याय के अन्तिम श्लोक म अभेद प्रतिपादक उपदेश को ही शास्त्र कहा है और तेरहव अध्याय के चौथ श्लोक मे भी इन्ही का उल्लेख किया ह भेद वाद के साम्प्रदायिक शास्त्रो को तो अनक स्थलो पर त्याज्य कहा ह, इसलिए यहाँ पर भद वाद के शास्त्रो के विधान को ग्राह्य मानना पूर्वापर के सामजस्य के विरुद्ध पडता ह। साराश यह कि अभेद प्रतिपादक शास्त्रो का विधान ही यहाँ अभिप्रेत ह।

और आसुरी सम्पत्तियो का साथ-साथ वणन किया ह, ताकि अपनी सर्वांगीण उन्नति चाहने वाले लोग इस विषय को अच्छी तरह समझ कर आसुरी सम्पत्ति के आचरणो को छोड़ें और दवी सम्पत्ति के आचरणो में प्रवत्त हो। भगवान न यह स्पष्ट रूप से कह दिया है कि दवी सम्पत्ति के आचरणो से मनुष्य स्वतन्त्र होकर सब प्रकार की सुख शान्ति को प्राप्त होता ह, और आसुरी सम्पत्ति के आचरणो से मनुष्य पराधीन होता ह और अपना पतन करता ह। इसलिए यहाँ पर हमको यह देखना चाहिए कि इस समय हम लोग जो आचरण करते ह, वे दवी सम्पत्ति के ह अथवा आसुरी सम्पत्ति के ? क्योकि मनुष्य जब तक अपनी कमजोरियो और अवगुणो की खोज न करके केवल दूसरो ही के दोषो को देखता ह और उन पर टीका टिप्पणी करता ह, तब तक न तो उसकी कमजोरिया और अवगण दूर होते ह और न वह अपनी उन्नति ही कर सकता ह। यदि हम इस वणन को केवल सर सरी तौर पर पढ़ कर ही रह जाय, और इस पर गहरे विचारपूवक आत्म-अन्वेषण न करे, तथा इसका यह अभिप्राय निकाले कि देव और असुर हमसे भिन्न किसी विशेष जाति के प्राणी होते ह, जिनके एसे स्वभाव एव एसे आचरण होते ह, तो उससे कुछ भी लाभ नही होगा, क्योंकि देव अथवा असुर हमसे भिन्न किसी अन्य जाति के प्राणी नहीं ह, न कोई उनका अलग लोक ह और न उनका कोई अलग समाज ही, किन्तु हममें से ही कई लोग दवी प्रकृति के होते हैं और कई आसुरी प्रकृति के—इस बात को भगवान ने इस वणन के आरम्भ ही में स्पष्ट रूप से कह दिया ह। इसलिए इस वणन पर हमको गभीरता से विचार करना चाहिए, और इसमें जो दवी एव आसुरी आचरण कहे ह, और जो आचरण हम कर रहे हैं, उनका मिलान करके देखना चाहिए कि हमारे आचरण कसे ह ? क्या वे असुरो के से तो नहीं ह ?

यदि हम अपने पूवजो के बड़प्पन और उनकी उन्नत अवस्था के अभिमान को उन्हीं के लिए छोड़ कर अपनी वतमान दशा पर शुद्ध अन्त करण से गभारतापूवक विचार करे तो अत्यन्त खेद के साथ हमें स्वीकार करना पडगा कि वतमान समय में हम लोगो के अधि कांश आचरण उपरोक्त वणन के अनुसार राक्षसो एव असुरो क से हो रहे ह। राक्षस उनको कहते ह जो कि दूसरो को रुला रुलाकर खाते ह। वतमान समय में हम लोगो मे से जो गरु, पुरोहित, आचाय, साधु, महन्त, पण्ड, पुजारी आदि धम का व्यवसाय करने वाले लोग है अर्थात जो धम के ठकेदार ह, और जो राज्य शासन के अधिकारी—सरकारा अफ सर, राजनतिक नेता, ओहदेदार आदि सत्ताधारी अर्थात जो राज्य शासन के ठेकेदार ह तथा जो बड़े-बड़े लक्ष्याधीश एव कोटयाधीश श्रीमन्त लोग है यानी जो धन के ठकेदार हैं, एव जो अलग अलग जातियो के पन्च ह यानी जो समाज के ठेकेदार ह, उनके आचरणो की तरफ दृष्टि डालें तो उनमें अधिकतर ये ही लक्षण पाये जाते ह। उन लोगो में से अधि कांश को इस बात का ज्ञान भी नहीं रहा ह कि हमारा सच्चा कतव्य क्या ह ? हमारे अलग

अलग काय विभाग की चातुवण्य-व्यवस्था किस उद्देश्य से बनाई गई थी, और हम उस व्यवस्था का यथावत पालन करते ह कि नहीं ? और उनमें यह विचारने की योग्यता भी नहीं रही कि जो आचरण हम इस समय कर रहे ह वे उचित ह या अनुचित ? समाज की सुव्यवस्था ग्न ग ा ानि पर उन आचरणो का क्या प्रभाव पडता ह ? तथा पारस्प रिक सेवा करने का जो हमारा मुख्य कतव्य ह, उसे हम पूरा करते ह कि नही ?

उपरोक्त चारो प्रकार की ठेकेदारिया एक दूसरे के अत्याचारो में सहायक होती ह, और एक दूसरे की मा यता बढाती ह । धम के ठेकेदार शासको, धनिको तथा पचो के अत्याचारो पर धम की छाप लगा देते ह, अर्थात उनके कृत्यो को शास्त्रानुकूल बताकर उनको न मानने से धम के नाश होने, ईश्वर के क्रुद्ध होने, तथा नरक में पडने के भय का हौआ खडा कर देते ह । राज्य के कानूनो में धम की व्यवस्थाओ, धन के अधिकारो और समाज के रीति रिवाजो को प्रधानता दी जाती ह, और शासक वग इन लोगो की बडी खातिर करता ह । धनिक लोग धम व्यवसायियो, शासको और पचो को धन की सहायता देकर उनके अत्याचारो में सहायक होते ह तथा उनको अपने अनुकूल बनाते ह । और समाज के पच लोग धम के ठेकेदारो, शासको और धनिको के अनुकूल रह कर अपनी सत्ता, प्रतिष्ठा एव गौरव बनाये रखते ह, और अपनी अपनी जाति के लोगो पर उक्त तीनो प्रकार की ठेकेदारियो का । ।। ।गा । । । सहायक होते ह ।

साधारण जनता प्राय अपन नेताओ का ही अनुसरण करती हुई उनके बनाये हुए माग पर चलती ह । इसलिए समाज के नेता, जो उपरोक्त चार प्रकार के ठेकेदार लोग होते ह, उ ही के आचरणो के अनुरूप साधारण जनता के आचरण होना स्वाभाविक ह । साधारण जनता में अपने नेताओ जितनी सामथ्य न होने के कारण वह यदि अत्यन्त उग्र राक्षसी प्रकृति के आचरण न कर सके, तो भी आसुरी प्रकृति के आचरण करने में तो भरसक कसर नहीं रखती । हम लोगो के अत्याचारो का सबसे बडा शिकार तो हमारा ही आधा अग अर्थात स्त्री जाति ह, जिसको हम लोग ज म से लेकर मरणपयन्त पूण रूप से पददलित रख कर मनुष्यता के अधिकारो से ही वचित रखते ह । यद्यपि स्त्री और पुरुष, दोनो के मेल से सष्टि होती ह, और दोनो ही गाहस्थ्य एव समाज के आधे-आधे अग ह, एव दोनो की एक समान आवश्यकता ह परन्तु हमारे समाज में पुत्र जन्म पर तो बडे बडे हर्षोत्सव किये जाते ह, और पुत्री के जन्म पर शोक मनाया जाता ह, मानो स्त्री के बिना ही पुरुष कहीं आकाश से टपक पडते ह, अथवा वक्षो में लग जाते ह । हममें से कई लोग तो धन की एवज में कन्याओ को बेचते ह, और दूसरे लोग धन के साथ उनको लेते ह, अर्थात धन लिये बिना उनसे विवाह नहीं करते, दोनो ही सौदो में उन बेचारियो की बडी दुदशा होती ह । धन के कारण ही उनकी क़दर होती ह—धन बिना उनका कोई मूल्य नहीं होता ।

पुरुषो के अधिकार और उनकी स्वेच्छाचारिता बेहद ह, परन्तु स्त्री को सदा ही पददलित एव मनुष्यता के सारे अधिकारो से वचित रखना ही सनातन मर्यादा मानी जाती है। पुरुष एक स्त्री के मरने पर और उसके जीवित रहते भी अनेक स्त्रियाँ ब्याह सकता ह—इससे उसके धम और मर्यादा में कोई कमी नहीं आती, परन्तु स्त्री के शरीर में अठगुना काम होना माने जाने पर भी वह एक पति के मरने पर दूसरा विवाह नही कर सकती। यदि काम के वश होकर किसी पुरुष से सहवास कर ले अथवा दुराचारी पुरुषो द्वारा फुसलाई जाकर या जबरदस्ती भ्रष्ट कर दी जाय, तो वह जन्मभर के लिए पतित हो जाती ह, और कुल्टा एव व्यभिचारिणी आदि नाना प्रकार के लाछनो से लाछित एव कलकित की जाती ह, परन्तु उसे भ्रष्ट । । । [illegible] र्गम कला में रत्तीभर भी फक नहीं आता। इस समाज में पुरुष सब प्रकार से सम्पन्न होता हुआ भी स्त्री के बिना अकेला जीवन यात्रा करन में असमथ समझा जाता ह—उसकी सेवा करने वाली और मरने के बाद रोन वाली एक अथवा एक से अधिक स्त्रियो का होना हर हालल में जरूरी ह, उसके लिए पुत्र उत्पन्न करना भी लाजमी ह, ताकि वह बुढापे में काम आवे, और मरने के बाद भी परलोक में पिण्डोदक के रूप में खाना [illegible] रहे, और धार्मिक कृत्य सम्पादन करन के लिए भी पत्नी को साथ रखना अनिवाय रखा गया ह। परन्तु स्त्री अबला एव अशिक्षिता होने के कारण उसके लिए सब अवस्थाओ में पुरुषो के सरक्षण में रहना आवश्यक होत हुए भी, पति विहीना एव नि सन्तान विधवा पुनर्विवाह करके सनाथ एव सुरक्षित नहीं बन सकती, मानो विधवा होने पर वह पत्थर की पुतली हो जाती ह, इसलिए न तो उसे प्राकृतिक वेगो को शान्त करने की आवश्यकता रहती ह, न उसे अपने रक्षण एव पालन करने वाले पुरुष (पति) की, और न उसे बुढापे में शुश्रूषा करने वाली सतान की ही आवश्यकता रहती ह, और मरने के बाद (शायद पत्थर हो जाने से) उसे पिण्डोदक की भी आवश्यकता न रहती होगी? धार्मिक कृत्यो का तो स्त्री को कोई अधिकार ही नहीं रखा।

पुरुष चाहे कितने ही विवाह किये हुए हो, अथवा अविवाहित (कुआँरा) हो या विधुर (रँडवा) हो, कितना ही आचरणहीन व्यभिचारी अथवा दुराचारी हो—वह कभी अमांगलिक नहीं होता, परन्तु स्त्री का एक बार विवाह-सस्कार होने के बाद यदि तुरन्त ही पति मर जाय, तो भी वह दुर्भागिनी सदा के लिए अशुभ एव तिरस्कृता हो जाती ह—चाहे वह कितनी ही सदाचारिणी, सती, साध्वी तथा तपस्विनी क्यो न हो, परन्तु वह किसी भी मागलिक माने जाने वाले काय में सम्मिलित नहीं हो सकती। यदि ऐसे अवसरो पर अकस्मात् उसका मुह दीख जाय तो यह महान अनिष्टकारक (अपशकुन) माना जाता ह। हाँ, रोने और पुरुषो की बीमारी आदि के कष्टो में उनकी सेवा करने के लिए वह अवश्य ही काम आती ह। एक विधुर भाई किसी अडोस-पडोस की सुहागिन स्त्री से रक्षा-बन्धन

और तिलक करवाना अपने लिए मगलदायक समझता ह, परन्तु अपना सदा शुभ चाहने वाली, सहोदरा विधवा बहिन से वह तिलक एव रक्षा बन्धन नहीं करवाता। यदि कोई विधवा पुनर्विवाह करके पुन सौभाग्यवती हो जाय, तब तो उसका घर और समाज दोनो से काला मह हो जाता ह—वह मगल और अमगल, सबसे गयी गजरी समझी जाती ह। कितना अन्याय ह कि यह सर्व-श्रेष्ठ मानव देह पशु पक्षियो आदि से भी हीन और अशुभ मानी जाती ह। हिसक पशु पक्षी भी अपनी सन्तानो के साथ बडा प्रेम रखते ह, परन्तु हम लोग अपनी ही सन्तानो अर्थात कन्याओ पर इतनी नृशसता करते हुए भी बडे धर्मात्मा, बडे कुलीन, बडे शिष्ट एव सभ्य होने का घमण्ड करते ह।

नीच जाति के माने जाने वाले गरीब भाइयो के साथ हम इतना घृणित बर्ताव करते ह और उन पर इतने अत्याचार करते ह कि मानो वे मनुष्य ही नही ह। उनके दर्शन करने से भी हम अपवित्र हो जाते ह, और यदि उनका स्पर्श हो जाय तब तो हमारे क्रोध का कोई ठिकाना नहीं रहता। हमारी निर्दयता के कारण उनको सुखपूर्वक एक वक्त खाना और शान्ति से रहना भी नसीब नहीं होता। हम लोग, मूर्तियो अथवा चित्रो को ईश्वर अथवा देवता-स्वरूप समझ कर, उनके लिए बढ़िया से बढिया खाने, पीने, पहिनने, रहने आदि अनेक प्रकार के भौतिक सुखो की सामग्रियाँ तयार करने में पदार्थों का बे हिसाब अपव्यय करना, नदियो, समद्रो तथा तालाबो आदि में दूध, दही आदि मनुष्योपयोगी पदार्थ बहा देना, और अग्नि म अन्न, धृत, मेवा आदि पौष्टिक पदार्थ जला देना, तथा देवी देवताओ को प्रसन्न करने के निमित्त बचारे अबोध एव मूक पशुओ की बलि देकर (वध करके) खा जाना, बडे ही धार्मिक कृत्य मानते ह, परन्तु अपने शारीरिक परिश्रम से अत्यन्त कठिन एव घृणोत्पादक लोक सेवा करने वाले दीन हीन एव पददलित नर नारी भूखे प्यासे मरे, अथवा वस्त्रहीन एव गृहहीन होने के कारण ऋतुओ की कठोरता जन्य शारीरिक क्लेशो से पीडित रहे, तो कोई अधर्म नहीं मानते, और उनके लिए कुछ भी व्यवस्था करने की आवश्यक्ता का अनुभव नही करते। अपने मरे हुए सबधियो के पीछे श्राद्ध आदि के बडे बडे भोज करना, तथा बहुत समय पहले के मरे हुए पितरो के निमित्त जल के नाले बहा देना, और पशु पक्षियो के पीने के लिए जलादि के विशेष स्थान बनवा कर उनके लिए पानी पीने का प्रबन्ध कर देना तो अपने लिए बडा ही पुण्य कार्य मानते ह, परन्तु मरदे जानवरो तथा कूडे करकट साफ करने की अत्यावश्यक कार्य लोक सेवा करने के कारण अन्त्यज अथवा चाण्डाल माने जाने वाले मनुष्यो (स्त्री पुरुषो) को स्वास्थ्य कर एव सादा भोजन करने तथा स्वच्छ पानी पीने के अधिकारी भी नहीं मानते। सर्पों जसे विषले जन्तुओ, गधो और कुत्तो जसे मलिन पशुओ, चीलो और कौओ जसे हिंसक पक्षियो तथा कीडो चींटियो और मछलियो जसे क्षुद्र जीवो की पूजा करके उनको अच्छे अच्छे मनुष्योचित्त पदार्थ खिलाना सनातन धर्म समझा जाता ह, परन्तु अछूत माने जाने

वाले स्त्री पुरुषो को उनकी अतुलनीय सेवाओ के बदले थोडा बहुत बचा खचा बासी खूसी, सडा गला, निकम्मा एव उच्छिष्ट अन्न तिरस्कार सहित फक दिया जाता ह, जिससे उनका पेट नही भरन के कारण विवश होकर उन्हें अखाद्य वस्तुए खानी पडती ह—जिसके लिए उलट वे ही दोषी ठहराये जाते ह। देवस्थानो और भोजनालया आदि पवित्र मान जाने वाले स्थानो म बिल्ली, चूहे, मक्खी कीडे, चीटी आदि जन्तु प्रवेश करके मला फलाते रहें, उससे धम में कोई त्रुटि नही आती और न चौका ही बिगडता ह, परन्तु एक अछूत मान जान वाले नर-नारायण की देह की कही छाया भी पड जाय तो चौका और धम दोनो ही बिगड जाते ह।

अपनी कामनाओ की सिद्धि के लिए तथा अपनी मान प्रतिष्ठा और बडप्पन का थोथा ढोल पीटन के लिए हम लोग कई प्रकार के नामना नामना ठाठ के धार्मिक और सामाजिक आडम्बरो के समारोह किया करते ह, जिनमें अनाप शनाप धन का अपव्यय करते ह, जिसकी पूर्ति के लिए १२वें श्लोक में कहे हुए अन्यायपूण साधनो से धन-सचय करते ह। सारांश यह कि १०वें श्लोक से १९वें श्लोक तक जो आसुरी प्रकृति के लक्षण कहे ह वे अधिकांश में हम लोगो पर ही घटते ह।

॥ सोलहवाँ अध्याय समाप्त ॥

सत्रहवाँ अध्याय

सोलहवें अध्याय के अ त में भगवान ने काम, क्रोध और लोभ को सब पापो का मूल बताकर फिर यह कहा कि जो लोग इनके वश होकर सत शास्त्रो के ˆ
अपने कत य-कम न करके मनमाने आचरण करते ह, उनका यह लोक तथा परलोक दोनो बिगड जाते ह, इसलिए काम, क्रोध और लोभ को जीत कर सत शास्त्रो में वर्णित सबकी एकता के प्रेम सहित अपनी अपनी योग्यता के कत य कम सबको करना चाहिए। इस पर यह शका होती ह कि जो लोग काम, क्रोध और लोभ के वश होकर पापाचरण करें, उनकी दुदशा होना तो ठीक ह, पर तु जो लोग श्रद्धापूवक धार्मिक कृत्य करने में सत शास्त्रो की विधि के पाब द न रहे, उनकी क्या दशा होती ह ? क्योकि श्रद्धा का महत्त्व तो गीता में अनेक स्थलो पर वणन किया गया ह, अत श्रद्धापूवक धार्मिक कृत्य करने वालो की दुदशा नही होनी चाहिए यद्यपि ऐसा करना आध्यात्मिक सत्शास्त्रो के विरुद्ध भी हो। अजन क उक्त आ य के प्रश्न के उत्तर में भगवान इस अ याय में श्रद्धा के सात्त्विक राजस और तामस भेदो का खुलासा करके बताते ह, कि मनुष्य की श्रद्धा अपने अपने स्वभाव के अनुसार होती ह और जिसकी जसी श्रद्धा होती ह, उसी के अनुसार उसके जीवन की स्थिति होती ह। इसी प्रसग में फिर आगे भोजन के सात्त्विक, राजस और तामस भेदो का वणन करते ह, क्योकि मनुष्य के भोजन का प्रभाव उसके स्वभाव पर पडता ह। फिर आग यज्ञ, तप और दान के भी सात्त्विक, राजस और तामस भेदो की व्याख्या करते ह, क्योकि चौदहवें अध्याय में कह आये ह कि सत्त्वगुण ज्ञान और सुख का कारण ह, रजोगुण दु ख का और तमोगुण अज्ञान एव अवनति का कारण ह, और मनुष्य शरीर में यह योग्यता होती ह कि वह विचार द्वारा मन को वश में करके सात्त्विक आहार और सात्त्विक यज्ञ, दान तप आदि से अपने स्वभाव को सात्त्विक बना सके, जिससे सबकी एकता के साम्य भाव में स्थिति होकर शा ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति हो सके।

यहा पर यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य ह कि सात्त्विक आहार, यज्ञ, तप और दान का जो वणन आगे किया गया ह, उससे स्पष्ट होता ह कि इसका उद्देश्य इन कृत्यो की परोक्ष फल देने वाली धार्मिकता का विवेचन करना नहीं ह, कि तु इसका मुख्य उद्देश्य समाज की सु यवस्था, अर्थात लोक सग्रह में इनकी उपयोगिता बतान का ह। साराश यह कि सात्त्विक आहार, यज्ञ तप और दान समत्व योग के प्रधान साधन ह।

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सज्य यजन्ते श्रद्धयान्विता ।
तेषा निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तम ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिना सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति ता शृणु ॥२॥
सत्त्वानुरूपा सवस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽय पुरुषो यो यच्छ्रद्ध स एव स ॥३॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षामि राजसा ।
प्रेतान्भतगणाश्चान्ये यजन्ते तामसा जना ॥४॥
अशास्त्रविहित घोर तप्यन्ते ये तपो जना ।
दम्भाहकारसयुक्ता कामरागबलान्विता ॥५॥
कषयन्त शरीरस्थ भूतग्राममचेतस ।
मा चवान्त शरीरस्थ नान्विद्ध्यासुरनिश्चयान ॥६॥

अथ—अजुन ने पूछा कि हे कृष्ण ! जो (पुरुष) शास्त्र विधि को छोडकर श्रद्धा से युक्त हुए, यजन अर्थात धार्मिक कृत्य करते ह, उनकी निष्ठा कौनसी ह—सात्त्विकी राजसी या तामसी ? तात्पय यह कि जो लोग सत शास्त्रो में वर्णित सबकी एकता के साम्य भावयुक्त आचरण करने के विधान पर ध्यान न देकर केवल श्रद्धा के आधार पर हवन-यज्ञ, सध्या-वदन, पूजा-पाठ, नित्य कम आदि धार्मिक कृत्यो में लगे रहते ह, उनके जीवन की स्थिति सात्त्विक, राजस और तामस में से कौनसी होती ह (१) ? श्री भगवान बोले, कि देहधारियो की वह स्वाभाविक श्रद्धा तीन प्रकार की होती ह—सात्त्विकी, राजसी और तामसी, उसको सुन । हे भारत ! सबकी श्रद्धा अपने-अपने स्वभावानुसार होती ह, यह पुरुष श्रद्धामय ह, जिसकी जसी श्रद्धा होती ह, वह वसा ही होता ह । तात्पय यह कि अजन ने पूछा था कि जो लोग श्रद्धापूवक धार्मिक कृत्य करते ह, उनके जीवन की स्थिति किस प्रकार की होती ह ? उसके उत्तर में भगवान कहते ह कि प्रत्यक मनष्य की श्रद्धा अथवा भावना ही अपने अपने पूव के सस्कारानसार सात्त्विकी राजसी और तामसी भेद से तीन प्रकार की होती ह, और जिसकी जसी श्रद्धा अथवा भावना होती ह, उसी के अनुसार उसका जीवन सात्त्विक, राजस और तामस होता ह, क्योकि मनुष्य श्रद्धा अथवा भावनामय ही होता ह (२ ३) । सात्त्विक लोग देवो की उपासना करते ह, राजसी लोग यक्षो एव राक्षसो की, और तामसी लोग प्रेतो एव भूत

गणो की पूजा करते ह्। तात्पय यह कि सात्त्विकी श्रद्धा वाले लोग सबकी भलाई अर्थात लोक-सग्रह के निमित्त तीसरे अध्याय के श्लोक ११ १२ के वणनानुसार जगत को धारण करने वाली समष्टि दवी शक्तियो की उपासना करते ह, तथा दवी सम्पत्ति के गुणो वाले प्रत्यक्ष देवो की निस्वाथ भाव से पूजा करते ह्। राजसी श्रद्धा के लोग अपनी व्यक्तिगत कामनाओ की सिद्धि के लिए धन सम्पत्ति के अधिकारी माने जाने वाले कुबेरादि अदष्ट यक्षो की उपासना करते ह, तथा प्रत्यक्ष में धनवान मनुष्यो की खुशामद करते ह और अपन शत्रुओ का नाश करने के लिए द्वेषपूवक हिसा करने वाले अदष्ट माने हुए राक्षसो की उपासना करते ह, तथा सोलहवें अध्याय में वर्णित आसुरी एव राक्षसी प्रकृति के मनष्यो का आश्रय लेकर उनके अनुयायी होते ह्। और तामसी श्रद्धा के लोग परलोक गत अदष्ट प्रेतो और भूतो को मान कर उनकी उपासना करते ह, अर्थात मरे हुए पितरो के निमित्त श्राद्ध-तपण आदि पित कम करते ह, और पाचभौतिक पदार्थों मे ईश्वर, देवी देवता, भरव, भूत आदि की भावना करके उनका पूजन करते ह, अथवा भौतिक जड पदार्थों ही को सब-कुछ मान कर भौतिकता (Materialism) के उपासक होते ह्। (४) जो लोग दम्भ और अहकार से यक्त होकर काम, राग और हठ पूवक सत शास्त्रो के विरुद्ध घोर तप करते ह, (वे) मूख लोग शरीर में स्थित भूत समुदाय को कृश करते ह, और शरीर के अन्दर रहने वाले मुझको भी (कष्ट देते ह), उनको आसुरी श्रद्धा के जानो। तात्पय यह कि जो अत्यन्त उग्र तामसी प्रकृति के मूख लोग अपने तपस्वी होने के अहकार से और लोगो में तपस्वी कहलाने के लिए, तथा दुष्ट मनोरथो की सिद्धि के लिए, हठ और दुराग्रहपूवक तप करने का ढोग करके कठिन व्रत एव उपवास आदि करन द्वारा भूख-प्यास आदि से शरीर को सुखाते ह, तथा सरदी में नगे रह कर शरीर पर ठडी जलधारा डालने और गरमी में पचधूनी तापने, सूलियो पर सोने अथवा औंधे लटकने आदि से शरीर और जीवात्मा को घोर कष्ट देने वाले उग्र तप करते हैं, उनकी श्रद्धा आसुरी* होती ह (५ ६)।

स्पष्टीकरण—इन श्लोको में उन लोगो के जीवन की स्थिति का वर्णन किया गया ह, जो केवल श्रद्धा विश्वास के आधार पर धार्मिक कृत्य आदि किया करते हं। चौदहवें अध्याय में कह आये ह कि यह जगत त्रिगुणात्मक प्रकृति का बनाव ह, इसलिए इसके सभी व्यवहार त्रिगुणात्मक होते ह। उसी सिद्धात के अनुसार धार्मिक कृत्य करने वाले श्रद्धाल लोगो की श्रद्धा भी सात्त्विकी, राजसी और तामसी भेद से तीन प्रकार की होती ह। जिनकी सात्त्विकी श्रद्धा होती ह वे अपनी व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि की किसी भी प्रकार की कामना के बिना, निस्स्वाथ भाव से लोक हित के लिए जगत को धारण

*सोलहवें अध्याय के श्लोक १०वें का तात्पय देखिए।

करने वाली अदष्ट समष्टि दवी शक्तियो का यजन पूजन करते ह, जिनसे उनको यह विश्वास होता ह कि देवता लोग प्रसन्न होकर सबकी आवश्यकताएँ पूरी करग, तथा वे सात्त्विक श्रद्धावान लोग अपने माता पिता, सद गरु अतिथि, एव जिनमे दवी सम्पत्ति के गुण पूणतया विद्यमान हो, एसे सज्जन —जो प्रत्यक्ष देव माने जाते ह, उनकी भी निस्स्वाथ भाव से, श्रद्धा एव आदर सत्कारसहित सेवा सुश्रूषा आदि करते ह । जिनकी राजसी श्रद्धा होती ह वे लोग अपनी व्यक्तिगत कामनाओ की पूर्ति के निमित्त जो धन सम्पत्ति देने वाले परोक्ष देवता माने जाते ह और जिन्हे यक्ष कहते ह—उनको प्रसन्न करने के लिए सकाम कमकाण्ड करते ह, तथा अपने शत्रओ का नाश करने और दूसरे लोगो को दबान के लिए अदष्ट राक्षसी शक्तियो की कल्पनाकर के मले मन्त्रो आदि द्वारा उनकी उपासना करते ह, और वे राजसी श्रद्धा के लोग प्रत्यक्ष में भी उपरोक्त प्रयोजनो की सिद्धि के लिए धनी लोगो की तथा दुष्ट अत्याचारी शक्ति सम्पन्न लोगो की खुशामद करते ह एव उनके अनयायी बनते ह। जो तामसी श्रद्धा के लोग ह वे अपन मरे हुए सम्बन्धियो को भयावनी प्रेत योनि प्राप्त होन की कल्पना करके उनसे डरते हुए, उनको प्रसन्न करने के लिए उनका पूजन करते ह, तथा परलोक गत पितरो को इस लोक के पदाथ पहुँचाने के अन्धविश्वास से नाना प्रकार के श्राद्ध आदि पित कर्मों के समारोह करते ह, एव उन पितरो की सवत्सरी आदि के दिन उनको याद कर करके रोने और शोक मनाने द्वारा उनकी उपासना करते है, और वे तामसी श्रद्धा के लोग भौतिक जड पदार्थों में ही ईश्वर, देवी देवता भूत, भरव आदि की मान्यता करके उनसे अपने मनोरथो की सिद्धि होने की आशा से उनका पूजन करते ह, अथवा पथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश रूप पञ्च महाभूतो के सम्मिश्रण के बनाव ही को सब-कुछ मान कर इन जड पदार्थों के ममत्व में निमग्न रहते है, अर्थात भौतिकता के अनन्य भक्त होते ह । और जो आसुरी प्रकृति के लोग होते ह, उनकी श्रद्धा अत्यन्त उग्र तामसी होती ह, वे लोग हठ और दुराग्रह से शरीर को पीड़ा देकर उसे कृश करने वाली नाना प्रकार की तपस्याए करते ह, जिनसे स्वय उनको तथा दूसरे लोगो को बहुत कष्ट होता ह, और उनकी अन्तरात्मा में सदा अशान्ति बनी रहती ह । इस तरह अपनी अपनी श्रद्धा के अनसार वे लोग भिन्न भिन्न प्रकार के यजन पूजन, उपासनाएँ अथवा तपस्याए करते रहते ह, और जिसकी जसी श्रद्धा होती ह, वसी ही उसके जीवन की स्थिति होती ह, अर्थात सात्त्विकी श्रद्धा वालो का जीवन ज्ञान और सुखमय होता ह, राजसी श्रद्धा वालो का जीवन विक्षिप्त और दु खयुक्त होता ह, और तामसी श्रद्धा वाले लोगो का जीवन मूढ़ता अथवा जडता रूप अज्ञान अन्धकारमय होता ह । मनुष्य की जसी मति होती ह वसी ही उसकी गति होती ह ।

यहाँ पर यह बात स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता ह, कि यह तीन प्रकार की श्रद्धा व्यष्टि शरीरो में अहभाव रखने वाले साधारण मनुष्यो की कही गई ह, आत्मज्ञानी

समत्वयोगी तीनो प्रकार की श्रद्धाओ से परे होता ह, क्योकि वह गुणो के अधीन नहीं होता, कि तु गुणो का स्वामी होता ह—यह बात चौदहवें अध्याय में कह आये ह। उसके लिए अपने से भिन्न धार्मिक क्रियाए कुछ रहती ही नहीं, न उसके जीवन की स्थिति किसी प्रकार की श्रद्धा पर ही अवलम्बित रहती ह।

× × ×

अब आगे के सोलह श्लोको में सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार के आहार, तीन प्रकार के यज्ञ, तीन प्रकार के तप और तीन प्रकार के दान का वणन किया जाता ह।

आहारस्त्वपि सवस्य त्रिविधो भवति प्रिय ।
यज्ञस्तपस्तथा दान तेषा भेदमिम श्रणु ।। ७ ।।
आयु सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवधना ।
रस्या स्निग्धा स्थिरा हृद्या आहारा सात्त्विकप्रिया ।। ८ ।।
कटवम्ललवणा युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिन ।
आहारा राजसस्येष्टा दु खशोकामयप्रदा ।। ९ ।।
यातयाम गतरस पूति पयुषित च यत ।
उच्छिष्टमपि चामेध्य भोजन तामसप्रिय ।। १० ।।

अथ—और आहार भी सबको (अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार) तीन प्रकार का प्रिय होता ह, (इसी प्रकार) यज्ञ, तप तथा दान भी (तीन प्रकार के) होते ह, उनके अलग अलग भेद के इस वणन को सुन (७)। आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढाने वाले, रसदार, चिकने, अधिक ठहरने वाले और हृदय को बल देने वाले आहार सात्त्विक व्यक्ति को प्यारे होते ह। तात्पय यह कि जिस खान पान से शरीर की आयु, विवेक, बल और स्वास्थ्य बढ़ें, जिससे सुख की वद्धि हो, और परस्पर में प्रेम भाव बढ़े, जिसमें मधुर रस तथा घत मक्खन आदि चिकने पदार्थों की प्रधानता हो, तथा जिससे बहुत काल तक तप्ति बनी रहे, एव जो हृदय को बलदायक [illegible] ह। सात्त्विकी प्रकृति के लोगो को एसा भोजन प्यारा लगता ह, और जो लोग अपने में सत्त्वगण की वद्धि करना चाहे उनको एसा भोजन करना चाहिए (८)। कडवे, खट्टे, खारे, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाह उत्पन्न करने वाले आहार—जो दु ख शोक तथा रोग के देने वाले होते ह, वे (राजस आहार) राजस स्वभाव के व्यक्ति को प्यारे लगते ह। तात्पय यह कि बहुत कडवे बहुत खट्टे, बहुत खारे, बहुत गरम, बहुत तीखे, रूखे तथा शरीर में दाह उत्पन्न करने वाले खान पान से उत्तेजना दु ख और शोक उत्पन्न होते ह, तथा उस भोजन से अनेक प्रकार की बीमारियाँ उत्पन्न होती ह, अत वह राजस भोजन ह। ऐसे

भोजन से रजोगुण की वद्धि होती ह, और रजोगुणी प्रकृति के लोगो को इस प्रकार के भोजन प्रिय एव अच्छे लगते हं (९)। ठडा बासी, नीरस, दुगन्धियुक्त बिगडा हुआ, जूठा और बुद्धिनाशक भोजन तामसी लोगो को प्यारा होता ह। तात्पय यह कि जो भोजन बहुत पहले का पकाया हुआ हो, जिसका रस सूख गया हो, जिसमें दुगन्धि उत्पन्न हो गई हो, जिसका स्वाद बिगड गया हो, जो दूसरे किसी न खाकर छोडा हो अथवा दूसरे किसी का चखा हुआ हो, जो अच्छी तरह साफ किया हुआ न हो कि तु म ा कुचल ा हो, जिससे बुद्धि बिगडती हो—वह तामस भोजन ह। ऐसे भोजन से तमोगुण की वद्धि होती ह, और तामसी प्रकृति के लोगो को यह भोजन अच्छा लगता ह (१०)।

स्पष्टीकरण—जगत के यवहार के लिए भोजन की यवस्था भी अत्यावश्यक ह, क्योकि शरीर का अस्तित्व भोजन पर ही निभर ह, भोजन करने से ही शरीर, इद्रियाँ, मन, बुद्धि आदि अपन-अपने व्यापार करने योग्य होते ह, भोजन के बिना सभी शिथिल और व्याकुल हो जाते ह, फिर इनसे कुछ भी नहीं हो सकता। अच्छे अथवा बुरे भोजन का असर शरीर, इद्रियो, मन एव बुद्धि पर इतना पडता ह कि जसा भाजन किया जाना ह, उसी के अनुसार मनुष्य का स्वभाव बन जाता ह। इसलिए खान पान के विषय में मनुष्य को बहुत ही सावधानी और सयम रखने की आवश्यकता ह। सात्त्विक भोजन से सत्त्वगुण की वद्धि होती ह, राजस भोजन से रजोगुण की और तामस भोजन से तमोगुण की वद्धि होती ह। सात्त्विकी प्रकृति के लोगो को सात्त्विक भोजन राजसी प्रकृति के लोगो को राजस भोजन और तामसी प्रकृति के लोगो को तामस भोजन प्यारे लगते ह। पर तु अपनी सब प्रकार की उन्नति की इच्छा रखने वालो को प्रयत्नपूवक राजस तामस आहारो से यथाशक्य बच रह कर सात्त्विक आहार करना चाहिए। क्योकि सत्त्वगुण ही ज्ञान और उन्नति का कारण ह।

मधुर रस की प्रधानता वाला, स्वादिष्ट, ताजा और चिकना भोजन—जिसके खाने से बहुत देर तक तप्ति और तरावट बनी रहे, तथा जो हृदय को बल देने वाला हो—सात्त्विक होता ह। ऐसे भोजन से मनुष्य की आयु दीघ होती ह, बुद्धि निमल अर्थात सात्त्विकी होती ह, शरीर बलवान एव स्वस्थ रहता ह, और जिस मनुष्य का शरीर आरोग्य एव बलवान होता ह, बुद्धि सात्त्विकी हाती ह और आयु दीघ होती ह, वही ससार में आधिभौतिक, आधिदविक और आध्यात्मिक सभी प्रकार की उन्नति कर सकता ह जिससे वह स्वय सुखी हो सकता ह और दूसरो को भी सुख दे सकता ह, तथा वही दूसरो से प्रम कर सकता ह, एव स्वय दूसरो का प्रेम प्राप्त कर सकता ह।

जो लोग कड़वे, खटटे, खारे, तीखे, रूखे, जलते हुए और दाह उत्पन्न करने वाले राजस भोजन करते हैं, उनका स्वभाव उत्तेजनापूण एव चिडचिडा होता ह, शरीर कई

प्रकार के रोगो से ग्रसित रहता ह, अत उनका जीवन दु ख और शोक से परिपूण रहता ह, और वे दूसरो को भी दुखी एव शोकयक्त करते ह ।

जो ठडा, बासी, सूखा, नीरस, सडा, गला, बदबू देने वाला, झूठा और अशद्व (मला) तामस आहार करते ह, वे आलस्य और प्रमाद म ही जीवन व्यतीत करते ह—वे कुछ भी उन्नति करने योग्य नही रहते ।

यहा भोजन के त्रिगणात्मक भेद की व्याख्या करने में खाद्य पदार्थों के विशेष नामो का उल्लेख नहीं किया गया ह क्योकि भिन्न भिन्न देशो और भिन्न भिन्न जातियो के लोगो के भिन्न भिन्न खाद्य पदाथ होते ह । ससार मे अधिकाश लोग मासाहारी ह और कुछ लोग निरामिषभोजी—शाकाहारी ह । गीता सावजनिक एव सावदेशिक अर्थात सावभौम शास्त्र ह, इसलिए इसमे किसी विशेष देश अथवा विशेष जाति के लोगो के विशेष खाद्य पदार्थों का उल्लेख न करके साधारणतया भोजन के गणो ही से उसके सात्त्विक, राजस और तामसपन की व्याख्या कर दी गई ह । जिस पदाथ में जिस तरह के गुण हो, उसी के अनुसार उसका उपरोक्त सात्त्विक, राजस और तामसपन समझ लेना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी ह कि पदार्थों के सस्कार करने, अर्थात उन्हे पकाने आदि की विधि, और उनके उपयोग के अनुसार उनके गुणो में कमी बेशी अथवा फेरफार भी हो जाता ह । उदाहरणाथ—मिश्री शहद, दूध, मलाई, मक्खन, घी आदि मधर रस वाले एव चिकने पदाथ यद्यपि साधारणतया सात्त्विक होते ह, परन्तु बहुत काल तक पडे रहने से, अथवा अधिक पकाने से, अथवा कम पकाने से, अथवा मात्रा से अधिक खा लेने से वे ही राजस-तामस हो जाते ह । इसी तरह अजीण आदि बीमारियाँ हो जाने पर कडवे, खटटे, खारे, तीखे आदि राजस पदाथ खाना भी हितकर होता ह, और रूखा भोजन पथ्य होता ह, तथा किसी अवसर पर ताजा भोजन न मिले तो बासी एव सूखे भोजन से भूख की ज्वाला शान्त करके शरीर की रक्षा करना श्रेयस्कर होता ह । यदि किसी दूसरे के घर भोजन किया जाता ह, तो उसके आचरणो का थोडा बहुत असर भी भोजन पर पडता ह, तथा भोजन बनाने वाले की प्रकृति का भी थोडा-बहुत असर अप्रत्यक्ष रूप से भोजन में आये बिना नहीं रहता। इसलिए भगवान ने भोजन के किसी विशेष पदाथ की कद नहीं रखी ह, किन्तु साधारणतया आय सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढाने वाले भोजन को सात्त्विक कह कर यह स्पष्ट कर दिया ह कि चाहे खाद्य पदाथ कुछ भी हो, उनमें ये गुण होने से वे सात्त्विक होते ह, दूसरी तरफ रोग, दु ख, शोक, आलस्य और प्रमाद के बढ़ाने वाले खाद्य पदाथ राजस और तामस होते ह ।

मनुष्य के स्वभाव पर खान-पान का गहरा प्रभाव पडता ह, इसलिए आय-सस्कृति में खाद्याखाद्य के विषय में बहुत बारीकी से विचार किया गया ह और आहार की शुद्धि

पर बडा जोर दिया गया ह। यहाँ तक विधान किया गया ह कि नीति से उपाजन किये हुए आहार से बुद्धि निमल रहती ह, और अनीति से प्राप्त आहार से बुद्धि मलिन होती ह, तथा दुराचारी मनुष्य के घर का एव दुराचारी मनुष्य के हाथ का भोजन करना मना ह। परन्तु वतमान समय में आय सस्कृति को मानन वाले लोग आहार शुद्धि के रहस्य पर समुचित विचार नही करते, अत खान पान के विषय में बहुत ही विपर्यास हो गया ह।

पुराने विचारो के अन्ध परम्परावादी लोग खान पान के विषय में केवल छआछूत, जाति पाति और कच्ची पक्की आदि के विचारो को ही विशेष महत्त्व देते ह—खाने पीने की सामग्री के गुण अवगुण तथा उसकी शद्धता पर बहुत कम ध्यान देते ह। दूसरी तरफ नई रोशनी के लोग आहार शुद्धि के विचार को ही ढकोसला मानते ह, अत जो कुछ स्वादिष्ट लगे और फशन के अनकूल हो, उस पदाथ के खाने पीन से कोई परहेज नहीं करते। इसलिए आहार की व्यवस्था बहुत बिगड रही ह, जिसके परिणाम स्वरूप जनता की आयु, बल और स्वास्थ्य क्षीण हो रहे ह, नाना प्रकार के रोगो की भरमार ह बुद्धि राजसी-तामसी हो रही ह, और देश में दु ख एव दरिद्रता का साम्राज्य ह।

× × ×

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मन समाधाय स सात्त्विक ॥ ११ ॥
अभिसन्धाय तु फल दम्भाथमपि चव यत।
इज्यते भरतश्रेष्ठ त यज्ञ विद्धि राजसम ॥ १२ ॥
विधिहीनमसृष्टान्न मन्त्रहीनमदक्षिणम।
श्रद्धाविरहित यज्ञ तामस परिचक्षते ॥ १३ ॥

अथ—"शास्त्र विधि के अनसार यज्ञ करना ही कतव्य ह" इस प्रकार मन के दढ निश्चयपूवक फल की इच्छा से रहित पुरुषो द्वारा जो यज्ञ किया जाता ह—वह सात्त्विक यज्ञ ह। तात्पय यह कि अभेद प्रतिपादक सत शास्त्रो में यज्ञ का जो यह विधान ह कि "दूसरो से पृथक अपन व्यक्तित्व के भाव की पशु वत्ति को समष्टि भाव रूपा ब्रह्माग्नि में होम कर, व्यक्तिगत स्वार्थो को सबके स्वार्थों में मिला देन का यज्ञ करना प्रत्येक मनुष्य का सच्चा कतव्य ह", उसको अच्छी तरह समझ कर और उस पर मन में दढ निश्चय रखके, दूसरो से पथक अपनी किसी भी स्वाथ सिद्धि की कामना से रहित होकर, लोक हित के लिए अपनी अपनी योग्यता के कतव्य कम करना—सात्त्विक यज्ञ ह (११)। और फल के उद्देश्य से, तथा दभ अर्थात लोक दिखावे के मिथ्या आडम्बर करन के लिए भी, जो यज्ञ किया जाता ह, हे भरतश्रेष्ठ ! उस यज्ञ को राजस यज्ञ जान। तात्पय यह कि

भेद-वाद के शास्त्रो में मन लभाने वाले रोचक वचनो ।[illegible] जो काम्य कम, अपनी व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के लिए किये जाते ह (गी० अ० २ श्लो० ४२ से ४४), अथवा लोगो में धर्मात्मा कहलाने के लिए व्यक्तित्व का अहकार बढाने वाले हवन अनुष्ठान आदि नाना प्रकार के धार्मिक कृत्यो का जो आडम्बर किया जाता ह—वह राजस यज्ञ ह (१२)। विधि से हीन, अन्न दान से रहित, मन्त्रो के बिना, दक्षिणा न देकर, अश्रद्धा से किया जाने वाला यज्ञ तामस कहा जाता ह। तात्पय यह कि अभेद प्रतिपादक सत-शास्त्रो में यज्ञ का जो विधान ऊपर कहा गया ह, उसके अभिप्राय को कुछ भी न समझ कर, उसके विपरीत, मूल्यवान खाद्य पदार्थों से भूखो के पेट की ज्वाला शान्त न करके, जो मूढता से हवन के नाम पर अग्नि म उन पदार्थों को जलाया जाता ह, और अभेद प्रतिपादक वेदो तथा उपनिषदो के वचनो की अवहेलना करके स्वार्थी लोगो की चिकनी चुपडी बातो के जाल में फस कर यज्ञ के नाम से जो पशुओ की हत्या और द्रव्य का अप व्यय किया जाता ह, जिससे किसी का भी लाभ अथवा उपकार नहीं होता—वह तामस यज्ञ ह (१३)।

स्पष्टीकरण—इन तीनो श्लोको में जो तीन प्रकार के यज्ञो की व्याख्या की गई ह, उससे स्पष्ट होता ह कि सच्चा यज्ञ वह ह, जो अभद प्रतिपादक सत शास्त्रो में विधान किया गया ह। उन शास्त्रो का सिद्धान्त ह कि यह सारा जगत एक ही आत्मा अथवा पर मात्मा के अनक रूप ह, इसलिए प्रत्येक मनुष्य को दूसरो के साथ अपनी एकता के प्रेम पूवक सहयोग रखते हुए, जगत की सुव्यवस्था के निमित्त अपनी अपनी योग्यता के कतव्य कम करन रूपी यज्ञ अवश्य करना चाहिए। परन्तु इस एकता के रहस्य के अज्ञान के कारण मनुष्य में जो दूसरो से पथक अपनी व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि का भाव रहता ह, वह मनुष्यपन नहीं किन्तु पशुपन ह, क्योकि पशु-शरीर में बुद्धि का विशेष विकास नहीं होता, इसलिए उसको सबकी एकता का ज्ञान नही हो सकता, परन्तु मनुष्य शरीर में बुद्धि का विकास होने पर भी, वह यदि अपने पथक व्यक्तित्व के भाव में डूबा रहे तो यह उसका मनुष्यपन नहीं किन्तु पशुपन ह। इसलिए प्रत्येक मनुष्य का कतव्य ह कि वह अपने पथक व्यक्तित्व के भाव रूपी पशुपन को सबकी एकता रूपी अग्नि में होमने का यज्ञ करे, अर्थात वह वेदो और उपनिषदो के अभेद प्रतिपादक मन्त्रो में श्रद्धा करके सबकी एकता के विश्वासपूवक अपने पथक व्यक्तित्व को सबके साथ जोड कर अपने स्वार्थों को दूसरो के स्वार्थों के अन्तगत समझे, तथा सबकी भलाई एव सबके हित में अपनी भलाई एव अपना हित समझ कर सबके हित की भावना से अपने अपने शरीर की योग्यतानुसार चातुवण्य विहित अपने कतव्य कम करे, और जो खाद्य सामग्री अपने पास हो उसे असमथ भूखे लोगो को उनकी भूख की ज्वाला शान्त करने के लिए बाँट कर आप खाय तथा जो धन-सम्पत्ति अपने पास हो, उसे दीन-दुखी लोगो के कष्ट निवारण

करने तथा उनकी वास्तविक आवश्यकताओ की पूर्ति में सहायता देन के उपयोग में लाते हुए स्वय उसका उपयोग करे—यह सच्चा सात्त्विक यज्ञ ह।

इसके विपरीत, इस लोक तथा परलोक में व्यक्तिगत भोगश्वय आदि प्राप्त करने की कामना से, अथवा अन्य किसी प्रकार की स्वाथ सिद्धि के लिए, जो पथक व्यक्तित्व के भाव में दढता कराने वाले भेद वाद के शास्त्रो में विधान किये हुए सकाम हवन, अनुष्ठान, यजन पूजन आदि के आडम्बर किये जाते ह, और उन धार्मिक कृत्यो से धर्मात्मा कहलाने का जो ढोग किया जाता ह तथा जिन अज्ञानी लोगो की अभेद प्रतिपादक सत शास्त्रो में श्रद्धा नही होती, वे यज्ञ के वास्तविक तात्पय को नहीं समझते हुए, मूल्यवान खाद्य पदाथो को भूखो को न खिलाकर अग्नि मे जला देते ह, तथा जो लोग धूत एव स्वार्थी मनुष्यो के फदे मे पडकर उनके कहने पर देवी देवताओ अथवा भूतो को प्रसन्न करने के मिथ्या विश्वास से पशुओ को होमते एव उनकी बलि चढाते ह, तथा अन्य धार्मिक एव साम्प्रदायिक कम काण्डो के समारोह किया करते ह, जिनमें द्रव्य की अपार बरबादी होती ह, परन्तु उस बरबादी से दीन दुखियो के कष्ट निवारण में कोई सहायता नहीं पहुचती, न किसी का कोई उपकार अथवा किसी प्रकार की सेवा ही होती ह—केवल कुपात्रो को उनके दुराचारो में प्रोत्साहन मिलता ह—इस तरह के आडम्बर राजस-तामस यज्ञ ह, जो वास्तविक यज्ञ नहीं किन्तु उनका विपर्यास एव उनकी विडम्बना मात्र ह।

वतमान में प्रत्यक्ष देखने में आता ह कि इस देश में प्राय सच्चे सात्त्विक यज्ञो का अभाव सा ह, और इसके विपरीत राजस तामस यज्ञो की भरमार हो रही ह। जब तक यह व्यवस्था नही सुधरती, तब तक अवनति और दु खो से छुटकारा नही हो सकता।

+ + +

अब तप के सात्त्विक, राजस और तामस भेदो की व्याख्या करने से पहले भगवान शरीर, वाणी और मन से किये जाने वाले तीन प्रकार के तप का वणन करते ह, जिस पर अच्छी तरह विचार करने से निश्चय होता ह कि गीता में शिष्टाचार ही सच्चा तप माना गया ह—काया को कष्ट देने वाली चेष्टाओ को वास्तविक तप नहीं माना ह।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजन शौचमाजवम ।
ब्रह्मचयमहिसा च शारीर तप उच्यते ॥ १४ ॥
अनुद्वेगकर वाक्य सत्य प्रियहित च यत ।
स्वाध्यायाभ्यसन चव वाङमय तप उच्यते ॥ १५ ॥
मन प्रसाद सौम्यत्व मानमात्मविनिग्रह ।
भावसशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तप्त नग ्नर्ग ्नग्नि त्र नर ।
नफ ्नरफ ्नभिर्ग्रेम्न सात्त्विक परिचक्षते ।। १७ ।।
सत्कारमानपूजाथ तपो दम्भेन चव यत ।
क्रियते तदिह प्रोक्त राजस चलमध्रुवम ।। १८ ।।
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तप ।
परस्योत्सादनाथ वा तत्तामसमुदाहृतम् ।। १९ ।।

अथ—देव, ब्राह्मण, बडे और बुद्धिमानो का पूजन, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचय और अहिंसा—(यह) शारीरिक तप कहा जाता ह । तात्पय यह कि माता, पिता, गुरु, अतिथि, तथा जिन व्यक्तियो में दवी सम्पत्ति के गुणो की अधिकता हो—इन सबको प्रत्यक्ष देव मान कर इनका यथायोग्य आदर सत्कार एव सेवा शुश्रूषा आदि द्वारा पूजन करना*, तथा अठारहवें अध्याय के ४२वें श्लोक में वर्णित गुणो वाले ब्राह्मणो का तथा जो आय विद्या, ज्ञान आदि गुणो में बडे हो उनका तथा जो अपनी बुद्धिमत्ता के लिए विख्यात हो एसे लोगो का, आदर सत्कार एव सेवा शुश्रूषा आदि रूप से पूजन करना, शरीर को पवित्र और निमल रखना किसी से टढ़ेपन रूखेपन अथवा अकडन का बर्ताव न करना, इन्द्रियो के सभी विषयो में—खासकर स्त्री पुरुष के सयोग के विषय में—सयम रखना, कोई एसा व्यवहार नही करना कि जिससे किसी निर्दोष प्राणी को बिना कारण पीडा या हानि हो—यह शरीर का तप ह (१४)। एसे वचन बोलना, कि जिनसे उद्वेग उत्पन्न न हो, तथा जो सच्चे, प्यारे एव हितकर हो, और विद्याध्ययन के अभ्यास में लगे रहना—यही वाणी का तप कहा जाता ह । तात्पय यह कि वचन ऐसे बोलना कि जिनसे बिना कारण किसी के मन में उद्वग उत्पन्न न हो, और जो सत्य होने के साथ साथ प्यारे, मीठे और हितकर हो, अर्थात वाणी में कठोरता, कडुआपन, टेढ़ापन एव रूखापन न हो, तथा किसी की बराई करने के भाव न हो, और विद्याध्ययन करना—यही वाणी का तप ह (१५) । मन की प्रसन्नता, सौम्य भाव, मननशीलता सयम और अन्त करण की शुद्धि—यह मन का तप कहा जाता ह । तात्पय यह कि मन को सदा प्रसन्न, शान्त और शीतल बनाये रखना, जो विषय देखे, पढे या सुन उनका अच्छी तरह मनन करना, विषयो में आसक्त न होना, तथा छल कपट, दम्भ, कुटिलता आदि मलिन भावो से रहित होना—यह मन का तप ह (१६) । फल की इच्छा से रहित और सबकी एकता के साम्य भाव में जुडे हुए मनुष्यो द्वारा परम श्रद्धा से किया हुआ यह तीन प्रकार का तप सात्त्विक

*मात पित भक्ति गुरु भक्ति आदि गुणो का विशष विवरण बारहवें अध्याय के स्पष्टीकरण म देखिए ।

कहलाता है। तात्पर्य यह कि न ा ना। एकता के साम्य भाव से युक्त होकर, ऊपर कहा हुआ तीन प्रकार का तप अर्थात शिष्टाचार, इस सात्त्विकी श्रद्धा से किया जाय कि उक्त शिष्टाचार का पालन करना अपना सच्चा कर्तव्य है, तथा उसमें किसी भी प्रकार की व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि की कामना न रखना—यह सात्त्विक तप होता है (१७)। जो तप सत्कार, मान और पूजा प्राप्त करने के निमित्त पाखण्ड से किया जाता है, उस अस्थिर और अनिश्चित तप को यहां राजस (तप) कहा है। तात्पर्य यह कि आदर, सम्मान, प्रतिष्ठा अथवा भेंट-पूजा की प्राप्ति के उद्देश्य से अथवा केवल लोक दिखावे के लिए उपरोक्त तप अथवा शिष्टाचार का जो ढोंग कपटपूर्वक किया जाता है वह चचल और अनिश्चित होता है—कभी किया जाता है, कभी नहीं किया जाता, कभी किसी प्रकार से किया जाता है, कभी दूसरे किसी प्रकार से, जिस समय जिस तरह करने से सत्कार, मान, पूजा अथवा धन की प्राप्ति होने की आशा होती है, उस समय उस प्रकार से किया जाता है, और जब ऐसी आशा नहीं होती, तब नहीं किया जाता—वह राजस तप होता है (१८)। मूर्खतापूर्ण दुराग्रह से शरीर और मन को पीड़ा देकर, अथवा दूसरों का बुरा करने के लिए जो तप किया जाता है, उसे तामस (तप) कहते हैं। तात्पर्य यह कि व्रत उपवास आदि करके भूखे प्यासे रहने द्वारा, अथवा सर्दी-गरमी सहन करने द्वारा शरीर को क्लेश देने वाला जो तप हठ अथवा दुराग्रह से किया जाता है, अथवा जो दूसरों के मारण, मोहन, उच्चाटन वशीकरण आदि के खोटे उद्देश्य से किया जाता है—वह तामस तप होता है (१९)।

स्पष्टीकरण—श्लोक १४ से १९ तक तप का जो वर्गीकरण किया गया है, वह वास्तव में आर्य संस्कृति के शिष्टाचार का संक्षिप्त संग्रह है। भगवान शिष्टाचार को ही तप मानते हैं। माता, पिता, गुरु, अतिथि (पाहुने) इन प्रत्यक्ष देवों की, तथा जिन सज्जनों में दैवी सम्पत्ति के गुणों की प्रधानता हो उनकी, तथा विद्या और विनय से सम्पन्न श्रेष्ठाचारी ब्राह्मणों की, तथा बड़े बूढ़ों की, एवं बुद्धिमान पुरुषों की विनम्र भाव से आदर पूर्वक वन्दना और सेवा शुश्रूषा करना, नका ि ग र गा उनके साथ कोई ऐसा बर्ताव न करना कि जिससे उनके मन में आघात पहुंचे या वे अप्रसन्न हों, शरीर को स्वच्छ रखना तथा साफ-सुथरे वस्त्र पहिनना—मैले कुचैले न रहना, लोगों के साथ सरलता, नम्रता और मधुरता का बर्ताव करना, किसी से कठोरता, रूखेपन, लापरवाही, निष्ठुरता अथवा कुटिलता का बर्ताव न करना, सभी इन्द्रियों के विषयों में संयम रखना, किसी भी इन्द्रिय के विषय में आसक्त होकर कोई अनुचित व्यवहार न करना—खासकर अपनी स्त्री अथवा अपने पुरुष के सिवाय अन्य किसी स्त्री अथवा पुरुष के साथ सहवास-सम्बन्धी किसी प्रकार की चेष्टा न करना, अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए अथवा बिना कारण ही

किसी भी प्राणी को किसी प्रकार की पीडा न देना तथा किसी की जान बूझकर हानि न करना, सच्ची, मीठी और हितकर वाणी बोलना, अपनी तरफ से किसी को चुभने वाले अथवा उद्वेग उत्पन्न करने वाले अथवा किसी का तिरस्कार अथवा अपमान करने वाले अथवा कड ए एव रूखे वचन मुख से नहीं कहना, सद्विद्याओ और सत शास्त्रो का अध्ययन करना, मन को सदा प्रफुल्लित, शा त और शीतल रखना, दूसरो की बातो को अच्छी तरह ध्यान देकर सुनना, उनका तिरस्कार न करना, मन को चचल होने से रोकना, तथा कूड, कपट, ̄ ̄ ग ि ज्ञि ग ा ̄ रहित रखना—यह आय सस्कृति का शिष्टाचार ह। यह शिष्टाचार भी अपनी किसी प्रकार की प्रयोजन सिद्धि के उद्देश्य अथवा केवल ऊपरी दिखावे-मात्र के लिए न हो, कि तु सबके साथ एकता के प्रेम भाव से समाज की सु यवस्था के लिए आवश्यक और कतव्य समझ कर सहज स्वभाव से किया जाय, तभी यह सच्चा तप कहा जाता ह । यदि यही शिष्टाचार अपनी किसी प्रकार की मान-बडाई अथवा स्वाथ सिद्धि के उद्देश्य से कपट के साथ किया जाय तो वह तप नहीं होता, कि तु पाखण्ड होता ह । इस विवरण से स्पष्ट ह कि गीता में उपरोक्त शिष्टाचार ही सच्चा तप माना गया ह । वतमान समय में आम तौर से तप का जो अभिप्राय शरीर को सुखाने, शिथिल करने अथवा पीडा देने की नाना प्रकार की चेष्टाए करना समझा जाता ह—जिस तरह निराहार एव निजल व्रत उपवास आदि करना, शीत काल में आश्रय और वस्त्ररहित रहना तथा शरीर पर ठडा पानी डालना, गरमी में कडी धूप में तपती हुई रेत में और अग्नि के सम्मुख बठना यानी पचधूनी तापना, कठिन और नुकीली चीजें शरीर में चुभाना, दीघ काल तक खडे रहना या कठिन आसन करके किसी एक स्थिति में बठे रहना, पर ऊपर और सिर नीचे करके औंधे लटकना, ककर पत्थर की भूमि पर लेटना, नख केश आदि बढ़ाना, शरीर पर खाक रमाना और मले-कुचले रहना आदि, जिनसे ऐसा करने वाले स्वय क्लेश पाते ह और दूसरो को भी पीडा देते ह—इस तरह के हठ और दुराग्रह को भगवान ने तामस व आसुरी तप कहा ह, जिससे समाज में अव्यवस्था एव आतक फलने के सिवाय और कुछ भलाई नहीं होती ।

दातव्यमिति यद्दान दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दान सात्त्विक स्मतम ।। २० ।।
यत्तु प्रत्युपकाराथ फलमुद्दिश्य वा पुन ।
दीयते च परिक्लिष्ट तद्दान राजस स्मतम ।। २१ ।।
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञात तत्तामसमुदाहृतम ।। २२ ।।

अथ—दान अवश्य देना चाहिए, इस भाव से देश, काल और पात्र का विचार

करके, बदले में उपकार न करन वाले को जो दान दिया जाता ह—वह सात्त्विक दान कहा गया ह। तात्पय यह कि मनष्य को जो पदाथ प्राप्त होते ह, वे उसके अकेले के प्रयत्न से नही होते, कि तु सबके सहयोग से होते ह, इसलिए किसी भी पदाथ पर केवल अपना ही अधिकार नहीं समझना चाहिए, कि तु उसमें सबका साझा समझ कर, जिसको उस पदाथ की अत्य त आवश्यकता हो, उसे निस्स्वाथ भाव से देना अपना कत य समझना चाहिए, और जिसको दान दिया जाय, उसके बदले में उससे कोई अपना काम करवाने अथवा किसी प्रकार की पत्रानाि ि करने की, तथा मान और कीर्ति की, अथवा इस लोक तथा परलोक के फल की किसी प्रकार की आशा नहीं करनी चाहिए, दूसरे शब्दो में दान देने मे सटटे का भाव नही रखना चाहिए, परन्तु इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि जिस देश मे, जिस काल में और जिस यक्ति को जिस पदाथ की अत्यन्त आवश्यकता हो और जिसके बिना वह कष्ट पाता हो अथवा जिसके बिना उसका अनिष्ट होता हो अर्थात वह अपनी यथाथ उन्नति न कर सकता हो, और जिस दान को प्राप्त करके वह अपना हित कर सकता हो अर्थात जिसका सदुपयोग करके वह अपनी तथा दूसरो की भलाई कर सकता हो—इस तरह का दान देना सात्त्विक दान ह (२०)। पर तु प्रत्युपकार अर्थात बदले में अपना किसी भी प्रकार का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए, अथवा फल के उद्देश्य से, तथा क्लेश पाकर जो दान दिया जाता ह—वह राजस दान कहा गया ह। तात्पय यह कि जिस दान में उपयुक्त कतव्य पालन का भाव न हो, कि तु अपनी किसी भी प्रकार की स्वाथ सिद्धि के प्रयोजन से, अथवा इस लोक तथा परलोक के परोक्ष फल मिलने के उद्देश्य से जो दान दिया जाय, अथवा अपनी उदारता दिखाने तथा कीर्ति प्राप्त करने के लिए अपनी सामथ्य से अधिक, अथवा कज लेकर जो दान दिया जाय, जिससे स्वय देने वाले को कष्ट भोगना पडे—वह राजस दान ह (२१)। अयोग्य देश और अयोग्य काल में कुपात्रो को सत्कार के बिना, तिरस्कारपूवक जो दान दिया जाता ह—वह तामस दान कहा गया ह। तात्पय यह कि जिस देश और जिस काल में जिन व्यक्तियो को जिस पदाथ की आवश्यकता ही न हो, अथवा जिसके बिना उनको कोई कष्ट, हानि या अनिष्ट न हो, अथवा जिसके देने से उसका दुरुपयोग होता हो, अथवा जिस दान से दान लेने वाले का तथा दूसरो का अनिष्ट होता हो और जनता में अनाचार बढ़ता हो तथा जो दान दानीपन के अहकार से दूसरो का तिरस्कार करके दिया गया हो—वह तामस दान होता ह (२२)।

स्पष्टीकरण—यज्ञ और तप की तरह दान भी समाज की सु यवस्था के लिए बहुत ही आवश्यक ह, पर तु वही दान समाज के लिए हितकर होता ह, जो उपयुक्त सात्त्विक भाव से दिया जाता ह, अर्थात देने वाले के मन में यह भाव हो कि "मेरे पास जो भी कुछ देने योग्य ह, वह मुझे सबके सहयोग से प्राप्त हुआ ह, इसलिए इसमें सबका

साझा ह, और वह मेरी ही तरह दूसरो के भी उपयोग में आना चाहिए"—इस विचार से वह अपने अधीनस्थ पदार्थों को दूसरो के हित के लिए दे, और उनके देने में न तो अपने व्यक्तित्व का अहकार रख कर लेने वालो पर कोई एहसान का भाव दिखावे, और न उनसे किसी प्रकार का बदला लेने अथवा किसी भी प्रकार की स्वार्थ सिद्धि करने के भाव रखे, तथा इस बात की बहुत सावधानी रखे कि जो कुछ दिया जाय उसका अच्छी तरह सदुपयोग हो, अर्थात वह न तो निरर्थक जाय और न उससे किसी की हानि अथवा बुराई हो, और इस तरह का दान न दिया जाय कि दान देने वाला खुद तथा उसके बाल-बच्चे दीन होकर कष्ट पावे और कर्जदार हो जावे, दूसरी तरफ, अपने दान देने के घमण्ड में दूसरो को ताने दे देकर अथवा दूसरो का अपमान करके उन्हे लज्जित एव उद्विग्न न करे।

दान के विधान के मुख्य दो प्रयोजन ह—एक तो दाता को त्याग का अभ्यास होता ह, जिससे उसकी ममत्व की आसक्ति कम होती ह, और दूसरा, जिन लोगो के पास अपनी वास्तविक आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन न हो तथा जिनमें अपनी वास्त विक उन्नति करने की सामर्थ्य न हो, उनको दूसरे लोग अपनी अपनी योग्यतानुसार सहायता देकर उनकी वास्तविक आवश्यकताओ की पूर्ति कराने तथा उनकी वास्तविक उन्नति करान मे सहयोग दें, ताकि समाज और जगत में अनुचित विषमता जन्य अव्यवस्था उत्पन्न न हो, किन्तु समता एव सुख शान्ति बनी रहे। इसलिए दान की योग्यता का माप उसकी मात्रा से नही होता, किन्तु देन वाले के भाव, देने की विधि और दान के उपयोग से होता ह। अधिक सामर्थ्यवालो के अधिक मात्रा के दान की जितनी योग्यता होती ह, उतनी ही कम सामर्थ्यवालो के कम मात्रा के दान की होती ह—यदि दान उपयुक्त सात्त्विक भाव से देश, काल और पात्र का अच्छी तरह विचार करके दिया जाय। अत थोडी सामर्थ्यवालो को यह सकोच कदापि न करना चाहिए कि इसमें से क्या दिया जाय, अथवा इतने से दान से क्या उपकार होगा? जिनके पास द्रव्यादि पदार्थ न हो, विद्या, बुद्धि, बल, कला, ज्ञान आदि गुण हो, वे अपने उन गुणो का दान कर सकते ह। जसे, विद्वान लोग विद्या पढान द्वारा, बुद्धिमान लोग सद्विचारो एव सुसम्मतियो द्वारा, बलवान लोग निबलो की भय से रक्षा करने द्वारा, कलावान लोग कलाओ को सिखाने द्वारा लोगो का हित कर सकते ह और ज्ञानी पुरुष ज्ञान के उपदेशो द्वारा लोगो को ससार भय से मुक्त करने का लाभ पहुचा सकते ह। अभय दान की महिमा सब दानो से अधिक है। परन्तु वतमान समय में इस देश के लोगो का ध्यान दान के इस यथार्थ सिद्धान्त की तरफ बहुत कम रहता ह, इसलिए राजस तामस दान की बहुत भरमार हो रही ह।

जो पुरान विचार के लोग धार्मिक अन्धविश्वासो में कट्टरता रखते हैं, वे दान को, या तो एक धार्मिक विधि मानते ह, या उसे इस लोक तथा परलोक में सुख सम्पत्ति प्राप्त करान का साधन समझते ह। इसलिए उनका दान इस प्रकार का होता ह, कि

जिससे या तो उनके माने हुए धर्म का सम्पादन एवं उसकी पुष्टि और विस्तार हो या उनका दान सट्टे के रूप में होता है, जिससे दान के बदले में उससे कई गुना अधिक मूल्य भविष्य में—इस लोक में अथवा परलोक में मिलने की आशा होती है। उनकी समझ में दान देने के योग्य देश प्रायः तीर्थस्थान ही होते हैं, और ग्रहण, संक्रान्ति, एकादशी, अमावस्या आदि पर्व, और यज्ञोपवीत विवाह एवं मृत्यु आदि संस्कारों के अवसर ही दान के योग्य काल होते हैं, तथा दान के पात्र केवल ब्राह्मण, गुरु, आचार्य साधु, संन्यासी आदि धर्म के ठेकेदार एवं भिखमंगे ही होते हैं। जिन तीर्थ स्थानों पर बहुत से मठ, मन्दिर, धर्मशालाएँ आदि पहले ही विद्यमान होती हैं—जिनका अधिकतर उपयोग पण्डे पुजारियों और दुराचारी महन्तों की धींगा मस्ती में होता है—प्रायः वहीं पर ये लोग उसी तरह की संस्थाएँ अधिकाधिक बनवाते रहते हैं और वहाँ पर निरुद्यमी आलसी एवं प्रमादी लोगों को बिना परिश्रम किये खाने, पीने रहने और पहिनने ओढ़ने का सामान मिलने के लिए एक दूसरे से बढ़कर छेत्र (क्षत्र अर्थात् अन्नसत्र) लगाते रहते हैं। उन मन्दिरों में भोग प्रसाद तथा पूजन अर्चन की ढेर की-ढेर सामग्रियाँ पहुँचाते रहते हैं, और दूध, दही, घी, खाण्ड आदि मूल्यवान खाद्य पदार्थ नदियों में बहाते हैं। उपर्युक्त पर्वों तथा उत्सवों के अवसर पर उक्त ब्राह्मण, साधु आदि भिखमंगों को मिष्टान्न भोजन करवाकर दक्षिणाएँ देते हैं और पण्डे पुरोहितों को मूल्यवान वस्त्राभूषणों की पहरावनियाँ पहिनाकर तथा अन्नदान, गोदान, सुवर्णदान भूमिदान आदि देकर अपने परलोक की यात्रा के लिए सामान करने की दिलजमई कर लेते हैं, तथा धर्माचार्यों, मठाधीशों, मण्डलेश्वरों, महन्तों आदि को बड़ी बड़ी रकमें तथा बहुमूल्य वस्तुओं की भेंटें दे देकर उनसे स्वर्ग और मोक्ष का सौदा करते हैं। सूर्य ग्रहण, चन्द्र ग्रहण, कुंभी, अर्धकुंभी आदि पर्वों पर नहाने के लिए लाखों नर नारी तीर्थ स्थानों एवं नदी संगमों पर जाते हैं, जिनमें इस प्रकार के दान देने के अतिरिक्त लाखों रुपये प्रति वर्ष रेलवे के किराये के दे दिये जाते हैं। भारतवर्ष में इस तरह के दान में प्रति वर्ष करोड़ों रुपये व्यय होते हैं।

इस प्रकार राजसी तामसी दानों में लगने वाली इतनी बड़ी धन राशि का सदुपयोग किया जाकर यदि वह वस्तुतः दुःखियों का दुःख निवारण करने, [illegible] आवश्यकताएं पूरी करने तथा उनकी हर प्रकार की उन्नति करने में लगाई जाय तो देश की दरिद्रता शीघ्र ही दूर हो सकती है।

जिन लोगों के पास विद्या, कला, बुद्धि, बल, ज्ञान आदि गुणों की विशेषता होती है वे पूरे मूल्य बिना अपने उन गुणों से किसी को लाभ पहुँचाना नहीं चाहते, इसलिए जिनके पास धन नहीं होता, वे इन गुणों के लाभ से वञ्चित रहते हैं। सारांश यह कि समाज की सब प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति और उन्नति के सभी साधन एक मात्र धन पर निर्भर हैं, और यदि धन के दान का सदुपयोग किया जाय तो सभी आवश्यकताओं की

पूर्ति और उन्नति के साधन उपलब्ध हो सकते ह । इसलिए धन का दान करने में बहुत विचार और सावधानी की आवश्यकता ह ।

इस समालोचना का यह अभिप्राय कदापि नहीं ह कि इस देश में सात्त्विक दान का सवथा अभाव ह । हमारे यहाँ ऐसे अनक दानी सज्जन भी ह, जिनके सात्त्विक दान से लोगो का बहुत उपकार हो रहा ह और जिनके लिए देश को बडा गौरव ह, परन्तु एसे महानभावो की सख्या बहुत थोडी ह, इसलिए राजस नामस दान की तुलना में सात्त्विक दान की मात्रा बहुत कम ह ।

× × ×

यज्ञ तप और दान के सात्त्विक, राजस और तामस भेदो का अलग अलग वणन करके, अब भगवान प्रत्येक काम करने में सबकी एकता के अन्त सिद्धान्त को याद रखने के लिए, सबकी एकता-स्वरूप—ब्रह्म के निर्देशक "ओ तत्सत" मत्र के उच्चारणपूवक यज्ञ, तप और दान आदि सब कम करने का विधान करते ह, क्योकि जो भी कुछ कम किये जाते ह, वे वास्तव में सात्त्विक तभी होते ह, जबकि उनमें सबकी एकता का ब्रह्म भाव हो, अनेकता के भाव से किये हुए सात्त्विक व्यवहार भी राजस-तामस हो जाते ह । इसलिए इस मूल मत्र के उच्चारणपूवक व्यवहार करने से सबके एकत्व भाव=ब्रह्म अथवा परमात्मा की स्मति बनी रहती ह, जिससे सभी व्यवहारो में सात्त्विकता आती ह ।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध स्मत ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिता पुरा ॥ २३ ॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतप क्रिया ।
प्रवतन्ते विधानोक्ता सतत ब्रह्मवादिनाम ॥ २४ ॥
तदित्यनभिसन्धाय फल यज्ञतप क्रिया ।
दानक्रियाश्च विविधा क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभि ॥ २५ ॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कमणि तथा सच्छब्द पाथ युज्यते ॥ २६ ॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थिति सदिति चोच्यते ।
कम चव तदर्थीय सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥
अश्रद्धया हुत दत्त तपस्तप्त कृत च यत ।
असदित्युच्यते पाथ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

अर्थ—'ओ-तत सत" यह तीन प्रकार का निर्देश ब्रह्म का कहा गया ह, पूव-काल में इससे ब्राह्मणो, वेदो, और यज्ञो की व्यवस्था की गई थी । तात्पय यह कि "ओ",

"तत" और "सत" ये तीन शब्द सबके एकत्व भाव सबके आत्मा, सत् चित् आनन्द परमात्मा अथवा ब्रह्म के सूचक ह। अत इन तीन शब्दो के समूह "ओ तत्सत" मन्त्र के स्मरण द्वारा सबकी एकता को लक्ष्य में रखते हुए समाज की सुव्यवस्था के लिए, ब्राह्मण आदि चार वण, वेदादि शास्त्र, और सबकी अपनी अपनी योग्यता के कतव्य कम-रूप यज्ञ का विधान, समाज सगठन के आरम्भ काल ही में किया गया था (२३)। इसलिए विद्वान पुरुषो के यज्ञ, दान और तप की विधिवत क्रियाए सदा "ओ" का उच्चारण करके हुआ करती ह। तात्पय यह कि "ओ" शब्द आधिभौतिक, आधिदविक और आध्यात्मिक आदि सारी त्रिपुटियो की एकता स्वरूप परमात्मा का सूचक ह, अत विद्वान पुरुष सदा इस "ओ" शब्द के उच्चारणपूवक सबकी एकता का स्मरण रखते हुए समाज की सुव्यवस्था के लिए पूवकथित सात्त्विक यज्ञ, दान और तप की क्रियाए किया करते ह (२४)। "तत" इस शब्द का उच्चारण करके फल की चाह छोड कर मोक्षार्थी जन यज्ञ, तप और दान आदि की अनक प्रकार की क्रियाएँ करते रहते ह। तात्पय यह कि "तत" शब्द भी सबके आत्मा=परमात्मा का सूचक ह, अत ममक्षु लोग इस 'तत' शब्द द्वारा परमात्मा का चिन्तन करते हुए परमात्मा के व्यक्त स्वरूप—जगत की सुव्यवस्था के निमित्त कम करते ह, और उन कर्मों से व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि की कामना नहीं रखते (२५)। सत भाव और श्रेष्ठ भाव में "सत" शब्द का प्रयोग किया जाता ह , और हे पाथ ! इसी प्रकार उत्तम कर्मों के लिए भी "सत" शब्द प्रयक्त होता ह। यज्ञ, तप और दान में स्थिति अर्थात प्रवत्ति को भी "सत" कहते ह, और उनक निमित्त का कम भी "सत" कहा जाता ह। तात्पय यह कि किसी भी वस्तु या विषय या व्यक्ति या घटना के अस्तित्व अर्थात 'होने', और उसकी सत्यता के लिए, तथा किसी भी वस्तु, विषय, व्यक्ति अथवा व्यवहार की श्रेष्ठता अर्थात अच्छेपन के लिए "सत" शब्द का प्रयोग होता ह, और सबके एकत्व भाव, सबके अपने आप=आत्मा अथवा परमात्मा का अस्तित्व ही वस्तुत "सत" ह और वही वास्तव में श्रेष्ठ अर्थात अच्छा ह, इसलिए "सत" शब्द परमात्मा का वाचक ह, अत सबकी एकता-स्वरूप परमात्मा की सवत्र अवस्थिति के बोध कराने वाले "सत" शब्द के प्रयोगपूवक जो उत्तम काय किये जाते ह, वे सत-कम कहलाते ह तथा सात्त्विक यज्ञ, तप, और दान सबके आत्मा=परमात्मा के व्यक्त स्वरूप—जगत अथवा समाज की सुव्यवस्था अर्थात लोक-सग्रह के निमित्त होते ह, इसलिए इनकी प्रवत्ति भी "सत" कही जाती ह, और उक्त यज्ञ, तप एव दान के निमित्त जो कम किये जाते ह, वे भी सत कम ही कहलाते ह, अत "सत" शब्द के उच्चारणपूवक यज्ञ, तप एव दान आदि कम करने से सदभाव रूप सबकी एकता स्वरूप परमात्मा की स्मति रहती ह, इसी से सब कम सात्त्विक होते ह (२६ २७)। श्रद्धा के बिना जो हवन किया हो, जो (दान) दिया हो, जो तप किया हो और जो (कुछ) किया हो, हे पाथ ! वह असत कहा जाता ह, उससे न परलोक सधता

ह और न यह लोक। तात्पय यह कि उपयुक्त सबकी एकता स्वरूप आत्मा अथवा परमात्मा में श्रद्धा अर्थात विश्वास न रख कर पथक व्यक्तित्व के भाव से तथा पथक यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के उद्देश्य से जो राजस नामस हवन दान, तप तथा और जो कुछ कम किये जाते ह, वे सब असत होत ह, उनसे न तो इस लोक में अर्थात इस ज म में किसी प्रकार का अभ्यदय हाता ह, और न मर7 के वाद परलोक में श्रेय की प्राप्ति होनी ह (२८)।

स्पष्टीकरण—समाज की सुव्यवस्था के लिए आवश्यक जो यज्ञ, तप और दान करने का विधान प्रत्येक मनुष्य के लिए इस अध्याय में किया गया ह, उसकी मनुष्यो के भिन्न भिन्न स्वभाव के अनुसार सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार की अलग अलग याख्या की गई। अब इस विषय का उपसहार करते हुए भगवान यह निश्चित सिद्धान्त या मूल म त्र बताते ह, कि यज्ञ तप, दान और जो भी कम सबकी एकता के विश्वासपूवक सबके ा मा परमा मा अथवा ब्रह्म का स्मरण करते हुए किये जाते ह, उ हीं से समाज और जगत की सुव्यवस्था रहती ह और वे ही सबके लिए हितकारक होते ह, अत वास्तव में वे ही सात्त्विक होते ह, और जो यज्ञ, दान, तप अथवा किसी भी प्रकार के कम एकता के विश्वास से नहीं होते, कि तु अनेकता को सच्ची मान कर पथक व्यक्तित्व के भाव से, अथवा पथक व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि की कामना से किये जाते ह, वे राजस तामस होते ह, उनसे किसी का हित नहीं होता, कि तु उनका उलटा दुष्परिणाम होता ह।

सब अनेकताओ का एकत्व भाव जो सबका अपना आप, सबका आत्मा=परमात्मा अथवा ब्रह्म ह, उसका सूचक मत्र "ओ तत्सत" ह, क्योंकि "ओ" शब्द अ, उ, और म अक्षरो का समूह ह, और यह तीन अक्षरो का समूह, जगत की एकता स्वरूप परमात्मा के सत चित आन द भाव का बोधक ह, "तत" शब्द का अथ "वह" आत्मा, परमात्मा अथवा ब्रह्म ह, "सत" शब्द का अथ "सत्य", "सदा विद्यमान रहने वाला" एव "श्रेष्ठ" ह। इन तीन श दो के समूह का यह अथ होता ह कि सबका एकत्व भाव आत्मा, परमात्मा अथवा ब्रह्म सत्य एव श्रेष्ठ ह। इस "ओ तत्सत" शब्द के उच्चारण से ब्रह्म अथवा परमात्मा की सवत्र एकता, सत्ता एव श्रेष्ठता का स्मरण होता ह, अत उसका स्मरण करते हुए कम करने से वे कम किसी का अनिष्ट करने वाले नहीं होते कि तु सबके हितकारक लोक-सग्रह के हेतु होते ह। अत सबकी एकता के निश्चय से अपनी अपनी योग्यता के कम समाज और जगत की सु यवस्था के निमित्त करना—यही सात्त्विक आचरण ह, और इसी से सबका कल्याण अर्थात शा ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति होता ह।

॥ सत्रहवाँ अ याय समाप्त ॥

अठारहवाँ अध्याय

कुरुक्षेत्र के मदान में लडाई आरम्भ होने के समय अजुन अपने स्वजन-बाधवो को, मरने मारने के लिए उद्यत देख कर प्रेम और करुणा के वश होकर एकदम घबडा गया, और उसे धर्माधम अथवा कत याकन य के विषय में मोह हो गया अर्थात वह इस बात का निणय न कर सका कि इस विकट परिस्थिति में उसके लिए यद्ध करके इतने बडे जन समूह की हत्या का पाप सिर पर उठाना श्रेयस्कर ह, अथवा राज्य की आशा छोड कर स यास ले लेना और भीख माग कर निर्वाह करना श्रेयस्कर ह ? उसके अ त करण का झकाव स यास लेकर भीख पर निर्वाह करने की ओर अधिक रहा, इसलिए वह शस्त्र छोड कर बठ गया, और भगवान श्रीकृष्ण से कत याकत य के विषय में शिक्षा देन एव सच्चा श्रेयस्कर माग दिखाने की उसन प्राथना की। इस पर भगवान ने गीता के दूसरे अध्याय के श्लोक ११ से आरम्भ करके, अजुन के निमित्त से सारे ससार को कम-त्याग की अपेक्षा कम योग को ही श्रेष्ठ बताकर सबकी एकता के ज्ञानयुक्त, अर्थात स भूतात्मक्य साम्य भाव से अपनी अपनी योग्यता के सासारिक व्यवहार करने की शिक्षा दी। गीता का उपक्रम अर्थात आरम्भ इस प्रकार हुआ ह, और सत्रहवें अध्याय तक भगवान ने सबकी एकता के उक्त सिद्धा त की विस्तत याख्या करने के साथ साथ उस एकता के ज्ञान की प्राप्ति के साधन कह कर, उस ज्ञानयुक्त अपनी अपनी योग्यता के सासारिक व्यवहार करने का विधान विविध प्रकार से किया।

यह अठारहवाँ अध्याय गीता का उपसहार अर्थात उसकी समाप्ति ह। इसमें पहले के सत्रह अध्यायो का सक्षिप्त निचोड कह कर भगवान अपने निश्चित निणय को पुष्ट करते हुए फिर से स्पष्ट शब्दो में जोर देकर कहते ह कि कर्मों का स यास कभी नहीं करना चाहिए, कि तु अपनी अपनी योग्यता के कत य कम सबको अवश्य ही करते रहना चाहिए—इसी से मनुष्य सब प्रकार की उन्नति करता हुआ श्रेय की प्राप्ति कर सकता ह। साथ ही मनुष्यो को अपने अपने कत य कम किस प्रकार से करन चाहिए कि जिससे उ हें कोई ब धन अथवा क्लेश न हो, कि तु पूण सिद्धि प्राप्त हो—इस विषय का फिर से खलासा करके गीता के उपदेश की समाप्ति करते ह।

अर्जुन उवाच

स यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम।
त्यागस्य च हृषीकेश पथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम्याना कमणा न्यास स यास कवयो विदु ।
सवकमफलत्याग प्राहुस्त्याग विचक्षणा ॥ २ ॥
त्याज्य दोषवदित्येके कम प्राहुर्मनीषिण ।
यज्ञदानतप कम न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥
निश्चय शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविध सप्रकीर्तित ॥ ४ ॥
यज्ञदानतप कम न त्याज्य कायमेव तत ।
यज्ञो दान तपश्चव पावनानि मनीषिणाम ॥ ५ ॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा फलानि च ।
कतव्यानीति मे पाथ निश्चित मतमुत्तमम ॥ ६ ॥
नियतस्य तु सन्यास कमणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामस परिकीर्तित ॥ ७ ॥
दु खमित्येव यत्कम कायक्लेशभयात्त्यजेत ।
स कृत्वा राजस त्याग नव त्यागफल लभेत ॥ ८ ॥
कायमित्येव यत्कम नियत क्रियतेऽजुन ।
सङ्ग त्यक्त्वा फल चव स त्याग सात्त्विको मत ॥ ९ ॥
न द्वेष्टचकुशल कम कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसशय ॥ १० ॥
न हि देहभता शक्य त्यक्तु कर्माण्यशेषत ।
यस्तु कमफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥
अनिष्टमिष्ट मिश्र च त्रिविध कमण फलम ।
भवत्यत्यागिना प्रेत्य न तु सन्यासिना क्वचित ॥ १२ ॥

अथ—अजन ने कहा कि हे महाबाहो ! हे हृषीकेश ! हे केशिनिषूदन ! अब मै सन्यास का और त्याग का तत्त्व पथक-पथक जानना चाहता हू । तात्पय यह कि यद्यपि कम-सन्यास अथवा कम-त्याग, और कम योग के विषय में भगवान ने पहले के अध्यायो में अपना स्पष्ट निणय दे दिया ह, कि व्यक्तित्व के अहकार और व्यक्तिगत स्वाथ की आसक्ति से रहित होकर अपने अपने कतव्य कम करना ही सच्चा सन्यास अथवा त्याग ह, परन्तु उपसहार में भगवान से फिर असदिग्ध शब्दो में अन्तिम निणय लेने के अभिप्राय

से यह प्रश्न किया गया ह (१)। श्री भगवान बोले कि काम्य कर्मों के त्याग को पडित लोग स न्यास कहते ह, और सब कर्मों के फल के त्याग को बुद्धिमान लोग त्याग कहते ह। कई विचारशील पुरुष यह कहते ह कि कम दोषयक्त ह, इसलिए उसे त्याग ही देना चाहिए, और दूसरे कहते ह कि यज्ञ, दान और तप सबधी कम नहीं त्यागना चाहिए। तात्पय यह कि प्रथम श्लोक में किय गये सन्यास एव त्याग विषयक प्रश्न के उत्तर में पहले भगवान दूसरे विचारशील पण्डितो के मतो का उल्लेख करते हुए कहते ह, कि कई लोग वदिक काम्य कर्मों के छोड देने को स न्यास कहते ह, और कर्मों के फल के छोडने को कई लोग त्याग कहते ह, दूसरे कई लोगो का मत ह कि कम सभी दोषपूण ह, इसलिए सब कर्मों को छोड ही देना चाहिए, और अ य कई लोगो का कहना ह कि यज्ञ, तप और दान-सबधा धार्मिक कृत्य कभी नहीं छोडना चाहिए (२ ३)। हे भरतश्रेष्ठ! अब त्याग के विषय में मेरा निश्चय सुन, हे पुरुषव्याघ्र! त्याग भी तीन प्रकार का कहा गया ह। यज्ञ, दान और तप-सबधी कम त्यागने नहीं चाहिएँ कि तु उ हें करना ही चाहिए, यज्ञ दान और तप विचारशील पुरुषो को पवित्र करने वाले ह। परन्तु हे पाथ! ये कम भी आसक्ति और फल को त्याग कर करने चाहिएँ, यह मेरा निश्चित और उत्तम मत ह। तात्पय यह कि भगवान दूसरे लोगो का मत कह कर अब अपना निश्चित निणय कहते ह, कि स न्यास अथवा त्याग भी सात्विक, राजस और तामस [illegible] होता ह, जिसका अलग अलग वणन आगे किया जायगा। परन्तु उसके पहले यह बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अपने शरीर, समाज अथवा जगत की सुव्यवस्था रूप लोक-सग्रह के लिए अपने अपने शरीर की योग्यता के चातुवण्य विहित कम करने-रूप सात्विक यज्ञ, शिष्टाचार रूप सात्विक तप और सात्विक दान-सबधी कम जिनसे मनुष्य की व्यक्तित्व के भाव-रूपी मलिनता अथवा पशवत्ति मिट कर वास्तविक मनष्यता प्राप्त होती ह, उनको कदापि नहीं त्यागना चाहिए, कि तु उनको भी व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति और व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि की कामना से रहित होकर करना चाहिए, यही मेरा निश्चित और उत्तम मत ह (४ ६)। नियत कम का स न्यास करना उचित नहीं ह, मोह से उसका त्याग करना तामस त्याग कहा जाता ह। तात्पय यह कि अपने शरीर के स्वाभाविक गुणो की योग्यतानुसार अपना जो वण हो, उस वण के लिए नियत कम का त्याग किसी को भी नहीं करना चाहिए। जो कोई मूखता से अपने नियत कम का त्याग करता ह वह त्याग तामस होता ह (७)। "(कम करना) दु ख रूप ही ह" ऐसा समझ कर शारीरिक कष्ट के भय से जो कम त्याग देता ह—वह राजस त्याग करने वाला त्याग के फल को नहीं पाता। तात्पय यह कि इस झूठी समझ से कि कम सब दु ख ही के हेतु होते ह, और कम करने में शरीर को भी कष्ट और परिश्रम होता ह, (इस भय से) जो अपने कत य कम छोड देता ह, वह उसका राजस त्याग होता ह, उस त्याग से त्याग का कोई प्रयोजन

सिद्ध नहीं होता, अर्थात वह वास्तविक त्याग नहीं, कि तु राग यानी स्वाथ ह (८)। हे अजन ! (कम) करना ही कतव्य ह ऐसा समझ कर, जो नियत कम आसक्ति और फल को त्याग कर किया जाता ह—वह सात्त्विक त्याग माना गया ह। तात्पय यह कि अपन शरीर की स्वाभाविक योग्यता के अनुसार जो कम अपने लिए नियत हो, उनको अवश्य कत य समझ कर करना, उनमें यक्तित्व के भाव की आसक्ति और व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि की कामना न रखना—यह सात्त्विक त्यागह (९)। बुद्धिमान, म ाय रहि सत्त्व गुणयुक्त, त्यागी पुरुष, अर्थात नवें श्लोक के अनुसार सात्त्विक त्याग करने वाला यक्ति, अकुशल अर्थात अकल्याणकर, दोषयुक्त, अथवा निकृष्ट माने जाने वाले कम से द्वेष नहीं करता, और कु ल अथात क याणकर निर्दोष अथवा श्रेष्ठ माने जाने वाले कम में आसक्ति नहीं रखता। तात्पय यह कि जो उपयुक्त सच्चा सात्त्विक त्यागी पुरुष होता ह, वह बडा बुद्धिमान सशयरहित एव दढ निश्चयवान होता ह अत उसका नियत कम यदि दोषयक्त, हीन कोटि का, कष्ट साध्य, अथवा दूसरो की अपेक्षा निकृष्ट माना जाने वाला—मला कुचला एव हिंसात्मक हो तो वह उससे द्वेष करके उसे त्याग नहीं देता, और उसका नियत कम यदि उच्च कोटि का, सुखसाध्य, अथवा दूसरो की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाने वाला—मलिनता एव हिसा आदि दोषो से रहित हो तो वह उसमें विशष आसक्त नहीं होता, कि तु दोनो अवस्थाओ में एक समान रहता हुआ अपना कतव्य कम यथावत करता रहता है (१०)। क्योकि (कोई भी) देहधारी कर्मों का सवथा त्याग नही कर सकता, अतएव जिसने कमफल का त्याग किया ह—वही त्यागी कहा जाता ह। तात्पय यह कि शरीर के रहते कम नि शेषत किसी से भी छूट नही सकते—चाहे गृहस्थ हो या स यासी, इसलिए सच्चा त्यागी वही ह, जिसके कम केवल अपनी व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि मात्र के लिए ही नहीं होते, कि तु जगत की सुव्यवस्था के निमित्त अर्थात लोक-सग्रह के लिए होते ह (११)। फल की कामना से कम करने वाले पुरुषो को काला तर में कम का अच्छा, बुरा और मिला हुआ तीन प्रकार का फल मिलता ह, पर तु (कमफल त्यागने वाले) सन्यासियो को कुछ भी फल नहीं मिलता। तात्पय यह कि जो व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के लिए कम करते ह, उनको अच्छे, बुरे और दोनो प्रकार के मिश्रित फल मिलते ह, परन्तु जो व्यक्तित्व की आसक्ति से रहित होकर सात्त्विक भाव से अपने कतव्य कम करते ह, उन सच्चे स यासिया का कमा के फल कभी भी कुछ बाधा नही देत (१२)।

× × ×

यहाँ तक भगवान ने कम-स यास अथवा कम त्याग की तात्त्विक मीमासा करके प्रत्येक यक्ति के लिए अपनी अपनी योग्यता के कतव्य कम अवश्य करने का स्पष्ट आदेश किया। अब भगवान बताते ह कि कोई भी व्यक्ति अकेला कुछ भी कम नहीं कर सकता, कि तु प्रत्येक कम समष्टि शक्तियो के सहयोग से होता ह, अत कोई यह अहकार करे

कि "म कम करता हूँ" अथवा "म नही करूँगा' तो यह उसकी मूखता ह, इसी से बधन और दु ख होते ह । परन्तु जो यह अहकार नहीं करता, वह सब-कुछ करता हुआ भी मक्त रहता ह ।

पञ्चतानि महाबाहो ग ग।नि निबोध मे ।
सारये कृता ते प्रोक्तानि सिद्धये सवकमणाम ।। १३ ।।
अधिष्ठान तथा कर्ता करण च पथग्विधम ।
विविधाश्च पथक्चेष्टा दव चवात्र पञ्चमम ।। १४ ।।
शर्ग याम्मनाभिय त्म प्रारभत नर ।
न्याय्य वा विपरीत वा पञ्चते तस्य हेतव ।। १५ ।।
तत्रव नि त्नात्मा मान केवल तु य ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुमति ।। १६ ।।
यस्य नाहकृतो भावो बुद्धियस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स माँ ल्ग्कान्न ह्ति न निबध्यते ।। १७ ।।

अथ—हे महाबाहो ! सब कर्मों की सिद्धि के लिए साख्य सिद्धा त में ये पाँच कारण कहे गये ह सो मुझसे जान । अधिष्ठान अर्थात जिस स्थान में अथवा जिस आश्रय में रह कर कम किया जाता ह, वह स्थान अथवा आश्रय, कर्ता अर्थात "म कम करता हूँ" इस प्रकार कम करने का अहकार करने वाला यष्टि भावापन्न जाता मा, विविध प्रकार के करण, अर्थात मन, बुद्धि, इद्रियाँ तथा काम करने के अनेक तरह के औजार अथवा हथियार आदि साधन, भिन्न भिन्न प्रकार की चेष्टाए अर्थात काम करने की नाना प्रकार की शली अथवा यक्ति अथवा यापार, और पाचवा कारण यहा दव, अर्थात जगत को धारण करने वाली सूक्ष्म दवी शक्तिया, एव अदष्ट अर्थात पूव कर्मा का सचित प्रभाव या प्रारब्ध भी ह । शरीर, वाणी और मन से जो कुछ अच्छा या बुरा कम मनुष्य करता ह, उसके ये पाँच साधन होते ह । एसा होते हुए भी जो पुरुष अशुद्ध बुद्धि के कारण केवल अपने को ही कर्ता समझता ह वह मूख कुछ भी नही समझता । तात्पय यह कि मनुष्य जो भी कुछ भला-बुरा कम करता ह, उस कम के सम्पादित होने में साख्य सिद्धा त के अनुसार उपयुक्त पाच कारण होते ह, उन सबके सयोग से कम का सम्पादन होता ह, और वे सब अनुकूल हो तभी कम सागोपाग सिद्ध होता ह और तभी सफलता मिलती ह । उनमें से यदि एक भी पूणतया अनुकूल न हो अथवा किसी में किसी प्रकार की त्रुटि हो तो कम की सिद्धि में उतनी ही त्रुटि रहती ह । यदि काम करने का स्थान एव आश्रय उपयुक्त न हो, काम में मन न लग, उसके विषय में विचार करने में कमी या भल हो, इद्रियें स्वस्थ न हो,

काम करन के हथियार उपयुक्त न हों, काम करने की शैली ठीक न हो, क्रिया और युक्तियो की कुशलता न हो, और दवी शक्तिया प्रतिकूल हो, एव पूर्व-कर्मों के सचित प्रभाव रूप प्रारब्ध बाधक हो तो कोई भी काम सिद्ध नहीं हो सकता। एसी दशा में जो मनुष्य अपनी राजस-तामस बुद्धि के कारण अहकार करे कि "कर्मों का करने वाला केवल म ही हू, मेरे करने से ही कर्मों की सिद्धि होती है" और इस अहकार से कर्मों को अपने लिए दु ख रूप अथवा बन्धन रूप समझ कर उन्हें त्यागता ह, तो यह उसकी मूखता ह, क्योकि व्यक्तित्व के अहकार से कम करने और उन्हें त्याग देने—दोनो ही अवस्थाओ में दु ख एव बन्धन होता ह (१३ १६)। जिसमें यह भावना हो नहीं होती कि "म कम करता हूँ" और जिसकी बुद्धि लिपायमान नही होती वह इन लोको को मारकर भी न तो मारता ह और न बँधता ह। तात्पय यह कि आत्मज्ञानी समत्वयोगी सम्पूण जगत को अपन से अभिन्न अनुभव करता ह, इसलिए उसे कम करने में यह व्यक्तित्व का अहकार नही रहता कि "म अमुक कम करता हू" अत सबकी एकता के साम्य भाव से वह अपने शरीर की स्वाभाविक योग्यता के जो सांसारिक व्यवहार समाज और जगत की सुव्यवस्था के लिए करता ह, उनमें यदि लोगो का सहार भी हो जाय, अर्थात बहु सख्यक लोगो की हत्या हो जाय तो भी वास्तव में वह हिसा नहीं होती, और न वह आत्म ज्ञानी समत्वयोगी हिंसा के पाप से बधता ह। अपने कतव्य कम के सिवाय, यदि कोई अपनी व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के लिए अथवा द्वेष भाव से अथवा मूखता से किसी निर्दोष प्राणी को मारता ह तो उससे अवश्य ही हिंसा होती ह, परन्तु आत्मज्ञानी समत्वयोगी के सभी व्यवहार लोक हित के लिए ही होते ह, उसका न कोई व्यक्तिगत स्वार्थ होता है, न किसी व्यक्ति से राग अथवा द्वेष। समाज अथवा जगत की सुव्यवस्था के लिए यदि वह दुष्ट पापियो को दण्ड देता ह और मारता ह, तो उससे लोकहित होता ह। उसकी दृष्टि व्यष्टि शरीरो की पथकता के भाव से परे सबके समष्टि भाव पर रहती ह। इसलिए समष्टि हित के लिए व्यष्टि शरीरो के मरने या कष्ट पाने को वह महत्त्व नहीं देता। वह जानता ह कि वास्तव में मरना जन्मना कुछ ह नहीं, जीवात्मा एक शरीर का स्वाँग छोड़ कर दूसरा स्वाँग धारण करता ह (गी०अ०२ श्लो०२२)। जिस तरह बाग का माली बाग की सु व्यवस्था के लिए हानिकारक घास-पात, पौधो और वक्षो को समय समय पर काटता और उनकी कलम करता ह, उसी तरह सर्वात्म भावापन्न महापुरुष जगत की सुव्यवस्था के लिए अनेक बार दुष्ट एव हानिकारक प्राणियो का सहार करते ह, इससे उनको हिंसा आदि का कोई पाप नहीं होता।

अजुन व्यक्तित्व के अहकार के कारण युद्ध करने में हिंसा के पाप के भय से अपना उक्त कतव्य कम छोडना चाहता था, उसी के लिए भगवान कहते ह कि आत्मज्ञान की समत्व-बुद्धि से अपनी योग्यता के कतव्य कम लोक-सग्रह के लिए करने में चाहे कितने ही

अयुक्त प्राकृत स्तब्ध शठो नष्कृतिकोऽलस ।
विषादी दीघसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥
बुद्धेर्भेद धतेश्चव गुणतस्त्रिविध शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पथक्त्वेन धनञ्जय ॥२९॥
प्रवत्ति च निवत्ति च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्ध मोक्ष च या वेत्ति बुद्धि सा पाथ सात्त्विकी ॥३०॥
यया धममधम च काय चाकायमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धि सा पाथ राजसी ॥३१॥
अधम धममिति या मन्यते तमसावता ।
सर्वार्थान्विपरीताश्च बुद्धि सा पाथ तामसी ॥३२॥
धत्या यया धारयते मन प्राणेन्द्रियक्रिया ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धति सा पाथ सात्त्विकी ॥३३॥
यया तु धमकामाथान्धत्या धारयतेऽजुन ।
प्रसगेन फलाकाक्षी धृति सा पाथ राजसी ॥३४॥
यया स्वप्न भय शोक विषाद मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृति सा पाथ तामसी ॥३५॥

अथ—ज्ञान, ज्ञय और ज्ञाता रूप से कम की भीतरी प्ररणा का तीन भेदो वाला सूक्ष्म स्वरूप ह, और करण, कम और कर्ता रूप से कम के बाहरी सपादन का तीन भेदो वाला स्थूल स्वरूप ह। तात्पय यह कि कम करने की जब अन्त करण में प्रेरणा होती ह, तब जिस कम के करन का मन म निश्चय होता ह, वह कम का सूक्ष्म स्वरूप "ज्ञेय" ह, तथा जिस विधि से कम करने का निश्चय होता ह, वह निश्चित की हुई विधि "ज्ञान" ह, और जो निश्चय करन वाला ह, वह "ज्ञाता" ह। इन तीनो के योग से कम करने की प्रेरणा होती ह, अत यह कम की प्रेरणा का तीन प्रकार का सूक्ष्म स्वरूप ह। तथा जिन साधनो से कम किया जाता ह, वह करण ह, और जो क्रिया की जाती ह, वह कम ह, तथा कम करने वाला कर्ता ह। इन तीनो के सयोग से कम का सम्पादन होता ह, अत यह कम सम्पादन का तीन प्रकार का स्थूल स्वरूप ह (१८)। ज्ञान, कम और कर्ता साख्य शास्त्र में गुणो के भेद से तीन प्रकार के कहे गये ह, उनको भी यथावत सुन। तात्पय यह कि कम की प्रेरणा और कम सम्पादन के जो तीन-तीन विभाग अठारहवें श्लोक में कहे हैं, वे भी सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणो के भेद से तीन प्रकार के होते ह, उनमें से करण का समावेश ज्ञान में, ज्ञेय का समावेश कम में, और ज्ञाता का समावेश कर्ता में करके सांख्य

शास्त्रानुसार उनकी अलग-अलग व्याख्या आगे की जाती है (१९)। जिस (ज्ञान) से अलग अलग सारे भूत प्राणियों में एक, अविभक्त अर्थात बिना बँटे हुए और सदा एक समान रहने वाले भाव का अनुभव होता है—उस ज्ञान को सात्त्विक (ज्ञान) समझ। तात्पर्य यह कि जगत के नाना प्रकार के परिवर्तनशील एवं विषम बनावों में एक, अपरिवर्तनशील एवं सम आत्मा का अनुभव करना सात्त्विक ज्ञान है (२०)। जिस ज्ञान से मनुष्य सब भूत प्राणियों में भिन्न भिन्न प्रकार के अनेक भावों को (वस्तुत) पृथक-पृथक जानता है—उस ज्ञान को राजस ज्ञान समझ। तात्पर्य यह कि जगत के नाना प्रकार के बनावों को वस्तुत अलग अलग जानना अर्थात अनेकता को सच्ची जानना—यह भेद ज्ञान राजस ज्ञान है (२१)। और जो तात्त्विक विचार से शून्य किसी हेतु अथवा युक्ति के बिना, एक ही कार्य को सब कुछ मान कर उसी में आसक्त रहने का तुच्छ ज्ञान है—वह तामस ज्ञान कहा जाता है। तात्पर्य यह कि जो स्थूल पदार्थ मनुष्य की इन्द्रियों से प्रतीत होते हैं, वही सब कुछ है, उनके सिवाय और कोई सूक्ष्म तत्त्व नहीं है—ऐसा मानना, तथा स्थूल शरीर और जगत का कोई सूक्ष्म कारण अथवा आधार है कि नहीं, इस विषय में किसी युक्ति अथवा प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं समझना, एवं कुछ भी सूक्ष्म विचार न करना—यह कोरा इन्द्रिय जन्य भौतिक ज्ञान अस्थायी, अत मिथ्या होने के कारण बहुत ही तुच्छ है, और यह तामस ज्ञान कहा जाता है (२२)। फल की इच्छा और राग-द्वेष के बिना जो नियत कर्म, व्यक्तित्व की आसक्ति से रहित होकर किया जाता है—वह (कर्म) सात्त्विक कहा जाता है। तात्पर्य यह कि अपने शरीर की स्वाभाविक योग्यता के अनुसार जिस वर्ण की योग्यता का कर्म अपने लिए नियत हो वह कर्म व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि की कामना के बिना, तथा अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष के भाव से रहित होकर, अर्थात साम्य भाव से किया जाता है—वह सात्त्विक कर्म कहा जाता है (२३)। और जो कर्म कामना की इच्छा रखने वाले अथवा अहंकारी मनुष्य के द्वारा अत्यधिक परिश्रम से किया जाता है, वह राजस कर्म कहा जाता है। तात्पर्य यह कि किसी प्रकार की व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि की इच्छा से एवं व्यक्तित्व के अहंकार से जो कर्म बहुत ही कष्ट उठाकर अर्थात शक्ति से अधिक एवं बेहिसाब परिश्रम करके किया जाता है—वह राजस कर्म होता है (२४)। बन्धन अथवा परिणाम क्षय, हिंसा और सामर्थ्य का विचार न करके, (केवल) मूर्खता से जो कर्म आरम्भ किया जाता है—वह (कर्म) तामस कहा जाता है। तात्पर्य यह कि इन बातों का कुछ भी ध्यान न देकर कि इस कर्म में कितनी उलझन होगी तथा इसका आगे चलकर क्या नतीजा निकलेगा, इसमें समय, शक्ति और धन का कितना व्यय होगा तथा इससे क्या-क्या हानियां उठानी पड़ेंगी, और इसके सम्पादन में अपने को तथा दूसरों को कितना परिश्रम तथा कितना कष्ट उठाना होगा और कितनी पीड़ा अथवा हिंसा होगी, तथा इसके सम्पादन करने की योग्यता और सामर्थ्य अपने में

ह कि नहीं ?—केवल मूखता से जिस कम को उठा लिया जाता ह—वह तामस कम होता ह (२५)। आसक्ति से रहित, अहकार की बातें न बनाने वाला, धय और उत्माह से युक्त, सफलता और असफलता में निर्विकार रहने वाला कर्ता—सात्त्विक कहा जाता ह। तात्पय यह कि जो पुरुष किसी विशेष काय ही में इतना नही उलझ जाता कि जिससे दूसरी किसी बात का ध्यान ही न रहे, तथा जो अपने कर्तापन के अहकार की डींगें नहीं हाँकता, कि तु निरभिमानी और गभीर रहता ह, और काम करने में अडचनो तथा कठिनाइयो का सामना होने पर विचलित एव हताश नहीं टाता कि तु धय और उत्साहपूवक अग्रसर होता रहता ह, तथा काम की सफलता होने पर हष से फूल नहीं जाता और असफलता होने पर उदास अथवा याकुल नही होता—वह सात्त्विक कर्ता ह (२६)। रागी अर्थात बहुत आसक्त, कर्मों के फल की चाह रखने वाला, अत्य त लोभी, हिसा अथवा पीडा देने वाला, मलिन आचरणो वाला हष और शोक से यक्त कर्ता राजस कहा जाता ह। तात्पय यह कि अपनी व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के लिए अत्य त लोभ के वश होकर दिन रात कम करने ही मे लगा रहने वाला, अपने तथा दूसरो के शरीर को पीडा देकर तथा दूसरो को हानि पहुचा कर भी अपनी स्वाथ सिद्धि करने वाला, छल, कपट, झूठ, फरेब, कुटिलता आदि खोट व्यवहार करन वाला, तथा अनुकूलता में हष से फूल कर कुप्पा होने वाला, और प्रतिकूलता में बहुत शोकयक्त होकर व्याकुल होने वाला कर्ता—राजस होता ह (२७)। काम में मन न लगाने वाला, प्राकृत स्थिति ही में रहने वाला, अकडा हुआ, मूख और दगाबाज, दूसरो की हानि करने वाला, आलसी, व्याकुल रहने वाला और दीघ सूत्री कर्ता तामस कहा जाता ह। तात्पय यह कि जो दत्तचित्त होकर मनोयोग से काम नहीं करता, अथवा काम के अ दर न घुस कर ऊपरी तौर से उसे करता ह, जो प्राकृत अवस्था अथवा वतमान स्थिति में ही पडा रहता ह—समय की गति एव परिस्थिति के अनुसार आगे नही बढ़ता, अथवा उन्नति करने में अग्रसर नहीं होता, एव काय शली में समयानुकूल फेरफार नही करता, जो अपनी समझ अथवा स्थिति पालकता के अभि मान में अकडा रह कर दूसरो के सत्परामश का लाभ नही उठाता तथा दूसरो से शिक्षा नहीं लेता, जो मूख एव धोखबाज होता ह, जो बिना कारण ही दूसरों का काय बिगाडने में लगा रहता ह, जो आलस्य से ग्रसित होकर काम में तत्परता नहीं रखता, जो उत्साह हीनता, सशय और चि ता से ग्रसित एव व्याकुल रहता ह, और जो थोड़े काम को बहुत लम्बा कर देता ह, अर्थात मिनटो में पूरे होने वाले काम में घटे लगा देता ह—वह तामस कर्ता कहा जाता ह (२८)। हे धनजय! बुद्धि का तथा धति का भी गुणो के अनुसार तीन प्रकार का सारा भेद अलग अलग कहता हू, सो सुन। तात्पय यह कि ज्ञान, कम और कर्ता की तरह बुद्धि और धृति भी सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार की होती ह, उसके भेद आगे अलग-अलग कहे जाते ह (२९)। प्रवृत्ति अर्थात कम करने, और

निवत्ति अर्थात कम से रहित होने, काय अर्थात कौन-सा काम करना चाहिए, और अकाय अर्थात कौनसा काम नहीं करना चाहिए, भय अर्थात किस बात से डरना चाहिए, और अभय अर्थात किस बात से नही डरना चाहिए, बन्धन क्या ह और मोक्ष क्या ह, (इनके रहस्य को) जो बुद्धि यथाथ रूप से जानती ह, हे पाथ ! वह (बद्धि) सात्त्विकी ह। तात्पय यह कि जिस व्यवसायात्मिका बद्धि मे सबकी एकता का सात्त्विक ज्ञान होता ह, वही इस बात का यथाथ निणय कर सकती ह कि सवभूतात्मक्य-साम्य भाव से अपना अपनी योग्यता के सासारिक व्यवहार व्यक्तित्व के अहकार और व्यक्तिगत स्वाथ की आसक्ति से रहित होकर करने की प्रवत्ति वस्तुत निवत्ति ह, और दूसरो से पथक अपने व्यक्तित्व के अहकार से और व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के लिए कम करना अथवा उन्हें त्यागना वस्तुत प्रवत्ति ह, इसी तरह अपने शरीर की योग्यता के अनुसार अपने लिए जो कम नियत हो, उन्हे जगत और समाज की सुव्यवस्था रूप लोक-सग्रह के लिए करना अवश्य कतव्य ह, और इसके विरुद्ध जिन कर्मों के करने की अपनी योग्यता नहीं ह और जिनसे जगत और समाज में अव्यवस्था उत्पन्न होती ह, उन्ह करना अकतव्य ह, तथा दूसरो से पथकता के भाव से राग-द्वेषपूवक आचरण करना भय और बन्धन का हेतु होता ह और सबके साथ एकता के प्रेम भाव से आचरण करना अभय और मोक्ष का हेतु होता ह, अत इस प्रकार यथाथ निणय करन वाली बुद्धि सात्त्विकी होती ह (३०)। हे पाथ ! जिस बुद्धि से (मनुष्य) धम और अधम को तथा काय और अकाय को अयथाथ-रूप से जानता ह—वह बुद्धि राजसी ह। तात्पय यह कि राजसी बद्धि वाले मनुष्य का धम अधम तथा कतव्य-अकतव्य के विषय में एक सा निश्चय नहीं होता—वह कभी किसी कृत्य को धम मानता ह कभी उसी को अधम मान लेता ह और कभी किसी कृत्य को अधम मानता ह कभी उसी को धम मान लेता ह इसी तरह कभी किसी आचरण को अपने करने योग्य अर्थात कतव्य कम मानता ह कभी उसी आचरण को अपने न करने योग्य—अकतव्य मानता ह, और कभी किसी आचरण को अपने न करने योग्य—अकतव्य मानता ह, तो कभी उसी आचरण को अपने करने योग्य—कतव्य मान लेता ह इस तरह राजसी बुद्धि से किसी भी बात का यथाथ निणय नहीं हो सकता (३१)। हे पाथ ! मोह से आच्छादित जो बुद्धि अधम को धम मानती ह तथा सम्पूण अर्थो को विपरीत ही समझती ह—वह तामसी बुद्धि ह। तात्पय यह कि तामसी बुद्धि के अज्ञानी मनुष्य सब बातो का उलटा अथ करके अधम को ही धम मानते ह अर्थात सत्रहवें अध्याय के चौथे श्लोक में कहे हुए तामसी श्रद्धा के यजन पूजन को, तथा उसी अध्याय के पाचवें छठे और उन्नीसवें श्लोक में वर्णित आसुरी तामसी तप को और उसी अध्याय के तेरहवें श्लोक मे वर्णित तामसी यज्ञ को, एव बाइसवें श्लोक में वर्णित तामसी दान को और इस अध्याय के सातवें श्लोक में वर्णित तामसी त्याग को धम मानते ह, जो वस्तुत अधम ह—वह विपरीत समझ वाली

बुद्धि तामसी होती ह (३२)। सबकी एकता के साम्य भाव में निरन्तर लगी रहने वाली जो धति मन, प्राण और इद्रियो के व्यापारो को धारण करती ह, हे पाथ! वह सात्त्विकी धति ह। तात्पय यह कि जिस धारणा से मन, प्राण और इद्रियो के सारे व्यापार अर्थात जीवन के सभी व्यवहार सबकी एकता के साम्य भावयक्त निरन्तर होते रहें—वह सात्त्विकी धति ह। (३३)। और हे अजुन! जिस धति से फल का अभिलाषी मनुष्य धम, काम और अथ को धारण करता ह—वह राजसी धति ह। तात्पय यह कि दष्ट अथवा अदष्ट अर्थात इस लोक अथवा परलोक में सुखो की प्राप्ति के उद्देश्य को लेकर मनुष्य जिस धारणा से धार्मिक कमकाण्डो मे, तथा इद्रियो के विषय भोगो में एव द्रव्योपाजन के साधनो में लगा रहता ह—वह राजसी धति ह (३४)। हे पाथ! बेसमझ मनुष्य जिस धति से नींद, भय, शोक, खद और मद को नही छोडता वह धति तामसी होती ह। तात्पय यह कि तामसी प्रकृति के मूढ पुरुष जिस तामसी धारणा के कारण दीघ काल तक नींद लेते रहते ह, सदा भयभीत रहते ह, चिन्ता तथा पश्चात्ताप करते रहते ह, और नशे आदि से मतवाले रहते ह, और इन कुगुणो को छोडना ही नहीं चाहते—वह तामसी धति ह (३५)।

× × ×

उपयुक्त श्लोको में भगवान ने यह प्रतिपादन किया कि सबकी एकता के सात्त्विक ज्ञान-युक्त, सात्त्विक भाव से, सात्त्विक बुद्धि और सात्त्विक धति द्वारा सात्त्विक कम करने से दुख या बन्धन नहीं होता, प्रत्युत वे कम सुख एव मोक्ष के हेतु होते ह, और पथकता अथवा मूढ़ता के राजस तामस ज्ञान से, राजस तामस भाव से, राजसी तामसी बुद्धि और राजसी तामसी धृति के द्वारा राजस-तामस कम करने से दुख एव बन्धन होता ह। अब जिन लोगो का ख्याल ह कि मनुष्य को वास्तविक आवश्यकता तो सुख प्राप्ति की ह, और वह सुख इद्रियो के विषय भोगो में, तथा नींद, आलस्य और प्रमाद में पडे रहने में प्रत्यक्ष ही दीखता ह, अत सात्त्विक ज्ञान, सात्त्विक कम आदि के झमेले में पडने की क्या आवश्यकता ह? निरन्तर विषय भोगो में अथवा नींद, आलस्य और प्रमाद आदि में ही क्यो न आयु बिताई जाय? उनका उक्त भ्रम मिटाने के लिए भगवान सुख के भी सात्त्विक, राजस और तामस भेद बताकर कहते ह, कि आत्मज्ञान का सात्त्विक सुख ही सच्चा सुख ह, विषय भोग, नींद, आलस्य और प्रमाद आदि में प्रतीत होने वाला सुख सच्चा सुख नहीं ह, किन्तु वह तो सुखाभास मात्र ह, अत वह मिथ्या और दुख का हेतु ह।

सुख त्विदानीं त्रिविध शृणु मे भरतषभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुखान्त च निगच्छति॥ ३६ ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ।। ३७ ।।
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।। ३८ ।।
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ।। ३९ ।।

अर्थ—हे भरतश्रेष्ठ ! अब सुख के भी तीन भेद मेरे से सुन जिसमें अभ्यास द्वारा रमण करने अर्थात बर्तने से दुःख का अन्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि आगे के तीन श्लोकों में जो कहा है कि, सात्त्विक सुख पहले दुःखदायक प्रतीत होने पर भी उसका परिणाम अच्छा होता है राजस सुख पहले अच्छा लगता है परन्तु उसके परिणाम में दुःख होता है, और तामस सुख मोह रूप है—इस रहस्य को सदा स्मरण रखते हुए, तरह-तरह के सुखों में यथायोग्य बर्तते हुए भी मनुष्य को दुःख नहीं होता (३६)। जो पहले (साधन काल में) विष के समान प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम में अमृत के समान होता है, वह आत्मनिष्ठ बुद्धि की प्रसन्नता से होने वाला सुख सात्त्विक कहा जाता है। तात्पर्य यह कि सच्चा सात्त्विक सुख वह है जो आत्मज्ञान के द्वारा अन्तःकरण की प्रसन्नता से होता है, वह यद्यपि पहले साधन अवस्था में कड़ुआ अथवा नीरस होने के कारण जहर सा लगता है, परन्तु उसका परिणाम अमृत-सा होता है क्योंकि आत्मा आनन्द घन है, इसलिए आत्मानुभव का सुख अक्षय और एक-सा रहता है, और उस सुख से अधिक कोई दूसरा सुख नहीं होता (३७)। इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने से जो सुख होता है, वह पहले (भोग काल में) तो अमृत के समान प्रतीत होता है, पर परिणाम में जहर के तुल्य होता है—वह राजस सुख कहा गया है। तात्पर्य यह कि विषय भोगों में जो सुख प्रतीत होता है, उस सुख का अनुभव केवल भोग काल ही में होता है भोगों के अनन्तर वह बहुत ही बुरा लगता है, क्योंकि उसके परिणाम में अवश्य ही दुःख होता है, और उसके नाश होने का भय बना रहता है, तथा दूसरों का सुख अपने से अधिक देख कर अन्तःकरण में जलन भी होती है, इसलिए वह दुःखमिश्रित एवं दुःख परिणाम वाला सुख* राजस सुख है (३८)। जो सुख आरम्भ में तथा परिणाम में भी, अर्थात सब अवस्थाओं में आत्मा को मोह में फंसाता है, और निद्रा, आलस्य एवं प्रमाद से उत्पन्न होने वाला है—वह (सुख) तामस कहा गया है। तात्पर्य यह कि नींद, आलस्य अथवा मूढ़ावस्था का जो सुख

---

* पाँचवें अध्याय के श्लोक २१ से २३ तक के स्पष्टीकरण में सुख दुःख की व्याख्या देखिए।

है, उससे बुद्धि विवेकशून्य रहती है, जिससे जीवात्मा को अपने वास्तविक स्वरूप का अज्ञान रहता है, अत उससे मनुष्य का सब प्रकार से पतन हो जाता है—वह तामस सुख है (३९)।

× × ×

कर्म-संन्यास अथवा कर्म-त्याग की तात्त्विक मीमांसा करके, तथा सात्त्विक भाव से कर्म करने की व्यवस्था देकर, कि जिससे सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करता हुआ, मनुष्य सच्चे एव अक्षय सुख को प्राप्त हो सकता है अब भगवान इस बात की फिर से पुष्टि करते है कि यह सारा विश्व सबके आत्मा परमात्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति का खेल है, और इस खेल की सुव्यवस्था के लिए उक्त तीन गुणों के तारतम्य के अनुसार मनुष्यों की अपनी अपनी स्वाभाविक योग्यता के कर्म करने की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था बनाई गई है, उक्त व्यवस्था के अनुसार अपनी अपनी योग्यता के कर्म करने से न कोई कर्म उत्तम अथवा शुभ है, और न कोई कर्म निकृष्ट अथवा अशुभ है किन्तु सभी कर्म श्रेष्ठ ही होते है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने आपको सबके आत्मा—परमात्मा से अभिन्न—उसी का व्यष्टि भावापन्न अंश अनुभव करता हुआ, इस खेल में अपना साझा समझ कर इसमें जो पार्ट अपने जिम्मे हो, उसे कर्मों के स्वामी भाव से बजाकर इस खेल के सम्पादन में सहयोग दे।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुन ।
सत्त्व प्रकृतिजैर्मुक्त यदेभि स्यात्त्रिभिर्गुण ॥४०॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशा शूद्राणा च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुण ॥४१॥
शमो दमस्तप शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञान विज्ञानमास्तिक्य ब्रह्मकर्म स्वभावजम ॥ ४२ ॥
शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्य युद्धे चाप्यपलायनम ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्र कर्म स्वभावजम ॥ ४३ ॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्य वैश्यकर्म स्वभावजम ।
परिचर्यात्मक कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम ॥ ४४ ॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरत संसिद्धि लभते नर ।
स्वकर्मनिरत सिद्धि यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥
यत प्रवृत्तिर्भूताना येन सर्वमिद ततम ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव ॥ ४६ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुण परधर्मात्स्वनुष्ठितात ।
स्वभावनियत कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम ॥ ४७ ॥
सहज कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता ॥ ४८ ॥
असक्तबुद्धि सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृह ।
नैष्कर्म्यसिद्धि परमा स यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥
सिद्धि प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धत्यात्मान नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयास्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानस ।
ध्यानयोगपरो नित्य वैराग्य समुपाश्रित ॥ ५२ ॥
अहकार बल दर्प काम क्रोध परिग्रहम ।
विमुच्य निर्मम शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥
ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोचति न काक्षति ।
सम सर्वेषु भूतेषु मद्भक्ति लभते पराम ॥ ५४ ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत ।
ततो मा तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम ॥ ५५ ॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रय ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वत पदमव्ययम ॥ ५६ ॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्यस्य मत्पर ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्त सतत भव ॥ ५७ ॥
मच्चित्त सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥
यदहकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वा नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्ध स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत ॥ ६० ॥

इश्वर सवभूताना हृद्देशेऽजुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सवभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।। ६१ ।।
तमेव शरण गच्छ सवभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परा शाति स्थान प्राप्स्यसि शाश्वतम ।। ६२ ।।
इति ते ज्ञानमाख्यात गुह्याद्गुह्यतर मया ।
विमश्यतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।। ६३ ।।

अथ—पथ्वी पर, आकाश मे अथवा देवताओ में भी ऐसा कोई सत्त्व अर्थात पदाथ नहीं ह, जो कि प्रकृति के इन तीन गणो से रहित हो। तात्पय यह कि विश्व में स्थूल और सूक्ष्म जितने भी पदाथ ह, वे सब त्रिगणात्मक ह, अर्थात सारा विश्व त्रिगुणात्मक प्रकृति का बनाव ह—तीन गणो से रहित कुछ भी नही ह (४०)। हे परतप! ब्राह्मणो, क्षत्रियो, वश्यो और शूद्रो के कम उनके स्वाभाविक गुणो के अनुसार बँटे हुए ह। तात्पय यह कि समाज की सुव्यवस्था के लिए तीनो गणो की कमी बेशी के भेद के कारण मनुष्यो के जो अलग अलग स्वभाव होते ह, उनके अनसार उनके चार विभाग किये गये ह, जिनकी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वश्य और शूद्र सज्ञा रखी गई ह, और उनके अलग अलग गुणो के अनुसार उनके लिए अलग अलग कतव्य कम नियत किये गय ह (४१)। शम* अर्थात मन का सयम, दम* अर्थात इद्रियो का निग्रह, तप अर्थात सत्रहवें अध्याय में वर्णित शरीर, वाणी और मन का सात्त्विक तप यानी शिष्टाचार शौच* अर्थात भीतरी और बाहरी पवित्रता, क्षाति अर्थात क्षमाशालना*, आजव‡ अर्थात सरलता, ज्ञान अर्थात अध्यात्म ज्ञान, विज्ञान अर्थात सासारिक पदार्थों का तात्त्विक विज्ञान, और आस्तिकता अर्थात आत्मा अथवा परमात्मा मे विश्वास—य ब्राह्मण के स्वाभाविक कम ह। तात्पय यह कि जिन मनुष्यो के शरीर में सत्त्वगुण की प्रधानता, रजोगुण की समानता और तमोगुण की न्यूनता होती ह, उनकी स्वभाव ही से सासारिक पदार्थों एव विषयो में आसक्ति कम होती ह, और वे श्रेष्ठाचारी पवित्र, क्षमाशील, सरल स्वभाव वाले एव आत्मविश्वासी होते ह, और आत्मा परमात्मा की एकता के ज्ञान और सांसारिक पदार्थों के विज्ञान (Science) में वे कुशल होते ह। इसलिए उनमें शिक्षा-सबधी कामो की विशेष योग्यता होती ह, अत सदाचारयुक्त ज्ञान (अध्यात्म विद्या) और विज्ञान (भौतिक पदाथ विद्या) की शिक्षा, प्रचार एव नाना प्रकार के आविष्कार करने द्वारा, तथा उक्त ज्ञान विज्ञान की उन्नति करने द्वारा, लोक सेवा करने वाले ब्राह्मण वण का कम उनके

---

* शम दम शौच और क्षमा का स्पष्टीकरण बारहव अध्याय म देखिए।

‡ आजव का स्पष्टीकरण सोलहव अध्याय म देखिए।

लिए नियत किया गया ह (४२)। शूरवीरता, तेजस्विता, धय, काय कुशलता अथवा नीति निपुणता युद्ध में पीछे न हटना, दान देने की प्रवत्ति और ईश्वर भाव, अर्थात स्वामी भाव से सबकी एकता के प्रेम और साम्य भाव से न्यायपूवक प्रजा का रक्षण और शासन करना—क्षत्रिय का स्वाभाविक कम ह। तात्पय यह कि जिन मनुष्यो के शरीर में रजोगुण की प्रधानता, सत्त्वगुण की समानता और तमोगुण की न्यूनता होती ह, उनमें स्वभाव ही से शक्ति साहस, निर्भीकता आदि गुणो की विशेषता होने के कारण वे शूरवीर, तेजस्वी धयवान, नीति निपुण, काय कुशल, युद्ध से न घबडाने वाले, दान दने में उदार, और सबकी एकता के साम्य भाव से प्रेम और न्यायपूवक प्रजा का रक्षण और उस पर शासन करके समाज की सुव्यवस्था रखने योग्य होते ह, इसलिए जनता की रक्षा एव उस पर शासन करके समाज को सुव्यवस्थित रखने की लोक-सेवा करने वाले क्षत्रिय वण का कम उनके लिए नियत किया गया ह (४३)। खेती, गोपालन और व्यापार वश्य के स्वाभाविक कम ह और सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कम ह। तात्पय यह कि जिन मनुष्यो के शरीर में रजोगुण की प्रधानता, तमोगुण की समानता एव सत्त्वगुण की न्यूनता होती ह, उनमें खेती करने, पशुओ का पालन करने, तथा वाणिज्य-व्यापार आदि द्वारा जन-समाज के जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक पदाथ उत्पन्न करके उनका व्यवसाय करने की स्वाभाविक योग्यता होती ह, इसलिए लोगो के जीवन के उपयोगी पदार्थों की पूर्ति करने की लोक सेवा करने वाले वश्य वण का कम उनके लिए नियत किया गया ह। और जिन मनुष्यो के शरीर में तमोगुण की प्रधानता रजोगुण की समानता और सत्त्वगण की न्यूनता होती ह, उनमें शारीरिक श्रम द्वारा सेवा करने की स्वाभाविक योग्यता होती ह इसलिए कारीगरी, मजदूरी आदि शारीरिक श्रम की लोक सेवा करने वाले शूद्र वण का कम उनके लिए नियत किया गया ह* (४४)। अपने अपने कर्मों में अच्छी तरह लगा हुआ

---

* चार प्रधान वर्णो म से भी प्रत्यक म गुणो के न्यनाधिक्य की मात्रा के अनुसार काय करने की योग्यता के बहुत से भद होते ह। जिस तरह शिक्षक वग ब्राह्मण वण म बड-बड तत्त्ववनाआ शास्त्राचार्यो विज्ञानाचार्यो एव आविष्कर्ताओ से लेकर साधारण योग्यता के शिक्षका आदि तक बहुत सी श्रणिया होती ह रक्षक वग क्षत्रिय वण में सम्राटो अधिनायको राष्टपतियो राजा महाराजाओ जागीरदारो और आफिसरा से लेकर साधारण फौजी सिपाहियो और चपरासियो तक अनेक दर्जे होत ह यवसायी वग वश्य वण म बडे-बडे साहूकारो कोठीदारो कम्पनियो और कारखानो के धन कुबेर मालिको दुकानदारो फेरी करने वालो एव गुमाश्तो दलालो तथा खेती का काम करने वाले जमीदारो से लेकर छोट छोटे किसानो तक बहुत से दर्जे होते ह। इसी तरह श्रमिक वग, शूद्र वण म सूक्ष्म कलाओ मशीना एव निर्माण-कला के चतुर इजीनियरो से

मनुष्य सब प्रकार की सिद्धि प्राप्त करता है, अपने कर्मों में लगे रहने से जिस तरह सिद्धि प्राप्त होती है सो सुन। जिससे समाज की प्रवृत्ति हो रही है और जिससे यह सम्पूर्ण विश्व व्याप्त हो रहा है, उस (सबके आत्मा परमात्मा) का अपने कर्मों द्वारा पूजन करने से मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है अर्थात आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनो प्रकार की उन्नति करता हुआ स्वय परमात्म स्वरूप हो जाता है। तात्पर्य यह कि सबका आत्मा परमात्मा अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति अथवा इच्छा शक्ति से प्रवृत्ति रूप होकर जगत् का सब खेल करता है, अत यह जगत प्रवृत्ति अथवा कर्म रूप है, और सब भूत प्राणी सबके आत्मा—परमात्मा से अभिन्न होते है, इस कारण अपनी अपनी योग्यता के कर्म करना सबके लिए आवश्यक ही नहीं किन्तु अनिवार्य है। सबके अपने अपने कर्म करने से ही जगत रूपी खेल का सम्पादन ठीक ठीक हो सकता है। इसलिए प्रत्येक व्यष्टि भावापन्न शरीरधारी को अपने समष्टि भाव के इस खेल की सुव्यवस्था के लिए अपनी अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म करने द्वारा अपने समष्टि भाव से सहयोग करने रूप उसका पूजन अवश्य करना चाहिए। अपने अपने कर्तव्य कर्म करके आपस में एक दूसरे की आवश्यकताएं पूरी करने की लोक सेवा रूप यत्न करने से समष्टि भाव—परमात्मा का पूजन होता है, और इस पूजन से व्यष्टि भावापन्न जीवात्मा अपनी सर्वांगीण उन्नति करता हुआ, सब प्रकार के भेद मिटा कर अपने समष्टि (परमात्म) भाव का अनुभव करने रूप परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। परमात्मा की प्राप्ति का यही यथार्थ साधन है और यही उसकी सच्ची उपासना है। इस अभेद उपासना को छोड कर व्यक्तित्व के भाव से व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए की जाने वाली नाना प्रकार की भेदोपासना से परमात्मा की सच्ची पूजा नहीं होती (४५ ४६)।

लेकर साधारण मजदूरी और कडा कर्कट साफ करने का हीन माना जाने वाला पेशा करने वाले लोगो तक बहुत सी श्रेणियाँ होती है।

ससार मे सभी भूत प्राणियो के नर और मादा रूप से दो भाग होते है और दोनो के सयोग अथवा मेल से सृष्टि का सारा व्यापार होता है। अस्तु मनुष्य समाज के भी पुरुष और स्त्री रूप मे दो अग होते है [illegible]

निर्भर रहता है। पुरुष दाहिना अर्थात प्रबल (विशेष शक्ति सम्पन्न) अग है और स्त्री बायाँ अर्थात निर्बल (कम शक्ति सम्पन्न) अग है अत स्त्री अपने समान गुणो वाले पुरुष की सहधर्मिणी एव सहचारिणी होती है। इसलिए स्त्री का वर्ण पुरुष से अलग नही रखा गया है किन्तु जिस वर्ण अथवा जिस पेशे के पुरुष की वह सहधर्मिणी हो उसी को सहयोग और सहायता देने और उसकी घर गृहस्थी का कार्य करने द्वारा लोक सेवा करना ही स्त्री के लिए नियत कर्म है।

दूसरो के धम का आचरण (यदि) उत्तम (प्रतीत) हो और उसकी अपेक्षा अपने धम का आचरण निकृष्ट (प्रतीत) हो तो भी (अपने लिए) वही श्रेष्ठ ह, स्वाभाविक नियत कम करने से पाप नही लगता (४७)। हे कौन्तेय! स्वाभाविक कम यदि दोषयुक्त हो तो भी उसे नहीं छोडना चाहिए क्योकि सभी आरम्भ दोष से उसी तरह घिरे हुए ह, जिस तरह धुए से अग्नि (४८)। सवत्र अनासक्त बुद्धि से मन को वश में किये हुए, एव कामना से रहित (समत्वयोगी), सात्त्विक त्याग रूप सन्यास के द्वारा निष्कम की परम सिद्धि को पाता ह (४९)। श्लोक ४७ से ४९ तक का तात्पय यह ह कि अजन को युद्ध करने का अपना क्षात्र धम पालन करने मे निदयता और हिसा आदि अनक दोष प्रतीत होते थे, अत उसे छोड कर अहिसात्मक भिक्षावत्ति से निर्वाह करना उसको श्रेष्ठ जचता था, यानी वह दूसरो के कम करन में प्रवत्त होना चाहता था। उसकी इस मानसिक दुबलता को दूर करने के लिए भगवान कहते ह कि जगत और समाज की सुव्यवस्था के निमित्त मनुष्यो के भिन्न भिन्न गणो की योग्यता के अनसार काय विभाग की चातुवण्य व्यवस्था बनाई गई ह, ताकि लोग अपना अपना स्वाभाविक योग्यता के अनसार अपन अपने कम करके आपस में एक दूसरे की आवश्यकनाएँ पूरी करने की लोक सेवा करते हुए उन्नति करें और कल्याण को प्राप्त हो। इस प्रकार लोक सेवा के भाव से करने पर उपरोक्त चातुवण्य-व्यवस्थानसार सबके कम अपने अपने स्थान में आवश्यक अत श्रेष्ठ होते ह। जिसकी अपने स्वाभाविक गुणो के अनुसार जसा योग्यता हो उसके लिए वे ही कम उत्तम ह, । । योग्यता के कतव्य कम करने म हिसा आदि का कोई पाप नहीं लगता। इस ससार में ऐसा कोई व्यवहार नहीं ह कि जो सवथा निर्दोष हो, क्योकि यह त्रिगणात्मक ससार जोडे के रूप में ह, और गण दोष का भी जोडा होता ह, अत सभी व्यवहार गुण एव दोष युक्त ही होते ह। किसी व्यवहार में कोई गुण होता ह और कोई दोष और किसी व्यवहार में दूसरा कोई गुण एव दोष होता ह। दोषयक्त दष्टि से देखने पर सभी व्यवहार दोषयुक्त प्रतीत होते है। वास्तव में कम में निज का न कोई गुण होता ह और न कोई दोष गुण अथवा दोष कर्ता के भाव से उत्पन्न होते ह। जो कम दूसरो से पथक अपने व्यक्तित्व के अहकार से और केवल व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि के निमित्त दूसरो के हित एव समाज की सुव्यवस्था की अवहेलना करके किया जाता ह वह यदि ऊपर से निर्दोष प्रतात होता हो तो भी वास्तव में वह सदोष ही होता ह, और जो कम अपने शरीर की स्वाभाविक योग्यतानुसार समाज की सुव्यवस्था-रूप लोक सग्रह के उद्देश्य से उपरोक्त चातुवण्य व्यवस्था के आधार पर किया जाता ह, वह यदि हिसा आदि के कारण दोषयक्त प्रतीत होता हो तो भी वास्तव म वह निर्दोष एव श्रेष्ठ होता ह, अत उसे कभी नहीं छोडना चाहिए। इस प्रकार व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति के बिना एव दूसरो से पथक अपनी व्यक्तिगत स्वाथ सिद्धि का चाहना से रहित होने के सात्त्विक त्याग-युक्त अपनी अपनी योग्यता के कतव्य कम करन वाला

समत्वयोगी वस्तुत अकर्ता ही होता ह, उसको कर्मों का कोई बन्धन नहीं होता अत वह सदा मुक्त रहता ह (४७ से ४९)। हे कौन्तेय ! (उपरोक्त निष्कम की) सिद्धि को प्राप्त हुआ मनष्य जसे ब्रह्म को प्राप्त होता ह, और जो ज्ञान की परा निष्ठा ह, सो सक्षेप में मेरे से जान। तात्पय यह कि पूवकथित अपनी अपनी योग्यता के नियत कम करता हुआ मनुष्य सात्त्विक त्याग-रूप सन्यास द्वारा निष्कम की परम सिद्धि को पाता ह, उसी से ब्रह्म भाव अथवा परमात्म भाव में स्थिति होती ह—यही ज्ञान की पूणावस्था ह और इसी बात को सक्षेप से फिर आगे कहते ह (५०)। शुद्ध अर्थात आत्मनिष्ठ सात्त्विक बद्धि से सबकी एकता के साम्य भाव में जडकर, सात्त्विक धति से अन्त करण का सयम करके, शब्दादिक विषयो की आसक्ति छोड कर, तथा राग और द्वेष को दूर करके, निरुपाधिक देश में रहने वाला, हलका भोजन करन वाला, वाणी, शरीर और मन को सयम मे रखने वाला, एव सदा ध्यान-योग में लगा रहने वाला, अर्थात परमात्मा की सवव्यापकता का निरन्तर ध्यान रखने वाला, वराग्य से युक्त हुआ, अहकार, दुराग्रह, घमण्ड, काम, क्रोध और परिग्रह को त्याग कर ममता से रहित, शान्त पुरुष ब्रह्म स्वरूप होने के योग्य होता ह (५१ ५३)। ब्रह्म भाव को प्राप्त हुआ, प्रसन्न अन्त करण वाला मनुष्य न शोक करता ह, न आकाक्षा रखता ह (और) सब भूतो में सम होकर सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप मेरी परा भक्ति को पाता ह अर्थात भक्त और भगवान का भद मिटा कर आत्म स्वरूप हो जाता ह (५४)। "म" (सबका आत्मा) जो कुछ हू और जसा हू, भक्ति के द्वारा (वह) मुझको तत्त्वत जान लेता ह, इस प्रकार मम यथाथ रूप म तत्त्वत जान लेने पर तुरन्त (मझमें) समा जाता ह (५५)। (सबके आत्मा स्वरूप) मेरे आश्रय में रह कर अर्थात आत्मा -परमात्मा की एकता के निश्चय के आधार पर सब कर्मों को करता हुआ भी (मनष्य) मेरी अर्थात सबके आत्मा—सबके वास्तविक आपकी प्रसन्नता से अव्यय और शाश्वत पद को प्राप्त होता ह (५६)। श्लोक ५१ से ५६ तक का तात्पय यह ह कि, श्लोक ४० से ५० तक परमात्मा की सवव्यापकता अर्थात सबकी एकता के निश्चय-युक्त अपनी अपनी स्वाभाविक योग्यता के कतव्य कम करने द्वारा परम सिद्धि को प्राप्त होने का जो प्रतिपादन किया गया ह, वह सबकी एकता का अनुभव ध्यान-योग के अभ्यास से प्राप्त होता ह, अथवा सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक वणन की हुई सबके आत्मा=परमात्मा [illegible] के द्वारा भी आत्मा=परमात्मा अथवा सबकी एकता का अनभव होता ह। आत्म ज्ञान की परिभाषा में जिसे जीव-ब्रह्म की एकता के अनुभव-रूप ब्राह्मी स्थिति कहते ह, भक्ति की परिभाषा में उसे ही परमात्मा की परा भक्ति कहते ह। यहाँ पर भगवान इस बात को फिर से अच्छी तरह स्पष्ट कर देते ह कि इस प्रकार आत्मा=परमात्मा के अभेद, अर्थात सबके साथ अपनी एकता का अनुभव प्राप्त करके भी, मनुष्य को अपने अपने शरीर की योग्यता के कतव्य कम कभी नहीं छोडने चाहिएँ, किन्तु उक्त परमात्म भाव की स्थिति ही

में जगत रूपी अपने खेल की सुव्यवस्था के लिए अपने शरीर की योग्यता के कम स्वतन्त्रता पूर्वक करके अपने वास्तविक आप=आत्मा अथवा परमात्मा को प्रसन्न करना चाहिए आत्मा अथवा परमात्मा की प्रसन्नता ही से शान्ति, पुष्टि और तुष्टि-रूप शाश्वत पद की प्राप्ति होती है (५१ से ५६)। मन से सब कर्मों का मुझ में संन्यास करके, मेरे परायण हुआ, समत्व-बुद्धि का अवलम्बन करके निरन्तर मुझमें ही चित्त को लगाये रख। मुझमें चित्त लगाये रखने से मेरी प्रसन्नता से तू सब कठिनाइयो एव आपत्तियो से पार हो जायगा परन्तु यदि तू अहकार से नही सुनेगा तो नष्ट हो जायगा। तात्पर्य यह कि सबके आत्मा= परमात्मा स्वरूप मुझको अखिल विश्व में एक समान व्यापक समझने की साम्य-बुद्धि से, मेरे खेल रूप इस जगत की सुव्यवस्था के लिए अपने कर्तव्य कर्म करता हुआ, सबके एकत्व भाव-स्वरूप मुझ परमात्मा में निरन्तर मन लगाये रख, ऐसा करने से अपने कर्तव्य कर्मों में हिंसा आदि के पाप का, धर्म नाश का तथा दूसरे अनेक प्रकार के सकटो का जो तुझे भय और शोक है, वह सब परमात्म रूप मेरी कृपा से दूर हो जायगा। परन्तु यदि तू अपने पृथक व्यक्तित्व के अहकार से अपने कर्तव्य कर्म सबकी एकता के साम्य भाव से करने के मेरे इस उपदेश को नहीं मानेगा और युद्ध नहीं करेगा तो तेरा अवश्य ही सर्वनाश हो जायगा, क्योकि अपने पृथक व्यक्तित्व के अहकार से अपने कर्तव्य से विमुख रहने वाले का यह लोक तथा परलोक दोनो ही बिगड जाते है (५७-५८)। यदि अहकार के वश होकर तू ऐसा मानता है कि "मै नही लडूगा तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है, (क्योकि) प्रकृति तुझे अवश्य (युद्ध में) लगावेगी (५९)। हे कौन्तेय! तू मोह के कारण जिसे, अर्थात जिस कर्म को, नही करना चाहता है, उसे ही अपने स्वभावजन्य कर्म से बँधा हुआ तू विवश हो कर करेगा (६०)। हे अर्जुन! ईश्वर अपनी माया से, (कर्मों के चक्र रूप) यन्त्र पर चढे हुए सब भूत प्राणियो को घुमाता हुआ सब भूत प्राणियो के हृदय में स्थित है। (६१) हे भारत! तू सब प्रकार से उसी की शरण में जा, उसके प्रसाद से परम शान्ति के शाश्वत स्थान को प्राप्त होगा (६२)। श्लोक ५९ से ६२ तक का तात्पर्य यह है कि परमात्मा एव अखिल विश्व के साथ अपनी एकता के तथ्य पर दुर्लक्ष्य करके, अपने पृथक व्यक्तित्व के देह अभिमान से यदि कोई यह अहकार करता है कि "मै अपना स्वाभाविक कर्म नहीं करूँगा" तो यह उसका मिथ्या अहकार है, क्योकि यह शरीर त्रिगुणात्मक प्रकृति का कार्य होने के कारण कर्म रूप है इसलिए जिस शरीर के जो स्वाभाविक गुण होते है, उनके अनुसार उसको कर्म करने ही पडते है, देहाभिमान रखते हुए कोई कर्मों की परम्परा से छूट नहीं सकता। यदि दूसरो से पृथक अपने व्यक्तित्व के देहाभिमान से कोई अपने स्वाभाविक कर्मों से हटना चाहता है तो

उसका सवनाश हो जाता ह, क्योकि देह अभिमान से प्रकृति की अधीनता बढ होती ह, जिससे मनुष्य प्रकृति अथवा माया के बन्धनो मे बँध जाता ह, और बिना इच्छा के भी जबरदस्ती कम करने में घसीटा जाता ह। ईश्वर सबका आत्मा—परमात्मा अथवा परमात्मा प्रत्येक शरीर के अन्त करण में रहता हुआ प्रत्येक शरीर के स्वभाव के अनुसार उससे चेष्टाए करवाता रहता ह। अत जो प्राणी अपने ग्रा ान्मा ागात ारा मन बुद्धि, चित्त, अहकार, इन्द्रिया, और इन सबका समूह रूप एक विशेष शरीर ही मानता ह—अपने को शरीर का स्वामी शरीर का प्रेरक =आत्मा नही मानता—वह सदा परतन्त्रता से कर्मों के चक्कर पर चढा हुआ भ्रमता ही रहता ह। यदि वह किसी विशेष प्रकार के कम से जी चुराता ह तो दूसरे प्रकार के कम में उलझता ह। यदि अपने स्वाभाविक कम को व्यवस्थित रूप से नहीं करता तो अव्यवस्थित रूप से उसे करना पडता ह, ि ा ाि मा।। ा। । के शरीर का स्वभाव कभा छूट नहीं सकता—किसी न किसी रूप में स्वभाव का पालन अवश्य करना पडता ह। परन्तु जो मनुष्य अपन को मन, बुद्धि, चित्त, अहकार और इन्द्रियो आदि के समूह रूप शरीर का स्वामी=आत्मा समझता ह, वह शरीर द्वारा सब प्रकार के स्वाभाविक कम स्वतन्त्रता से विधिवत करता हुआ भी उनके अधीन नही होता, किन्तु कर्मों को अपना खेल समझता ह इस कारण उसे कर्मों का कोई बन्धन नही होता। इसलिए अपने को शरीरो का ग्रामा ाामा ाम कर, सबके आत्मा=परमात्मा के साथ अपनी एकता का अनुभव करते हुए, अपने पथक व्यक्तित्व के अहकार को सबके एकत्व भाव=ईश्वर में जोड कर इस ससार रूपी खेल में अपने अपने शरीर के स्वाभाविक कम सबको यथायोग्य अवश्य करना चाहिए, जिससे पूणतया शान्ति बनी रहे। पथक्ता के व्यक्तित्व के अहकार से अथवा देहाभिमान से शरीर के स्वाभाविक कम छोडने से कभी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती (५९ से ६२)। इस प्रकार मने तुझे यह गुह्य से भी गुह्य ज्ञान कहा ह, इस पर पूण रूप से अच्छी तरह विचार करके (फिर) तेरी जो इच्छा हो वह कर। तात्पय यह कि अध्याय २ श्लोक ११ से लेकर अध्याय १८ श्लोक ६२ तक भगवान ने अनेक दाशनिक विचारो, सारगर्भित युक्तियो एव व्यवहार विज्ञान के आधार पर कतव्याकतव्य का जो विस्तत विवेचन किया ह, वह बहुत सूक्ष्म एव गभीर विचार का विषय ह, इसलिए भगवान कहते ह कि इसको केवल सरसरी तौर से सुन कर अथवा पढ कर ही निश्चित नहीं हो जाना चाहिए, तथा ये "मेरे" वचन होने के कारण इनको अन्ध-श्रद्धा ही से प्रामाणिक नहीं मान लेना चाहिए किन्तु आदि से लेकर अन्त तक इस उपदेश की प्रत्येक बात पर पूण रूप से गहरा विचार करना चाहिए, और अच्छी तरह विचार करने के बाद फिर जिसको जो अच्छा लगे सो करे। इस कथन से स्पष्ट होता ह कि गीता में अन्ध-श्रद्धा अथवा विचार परतन्त्रता के लिए कुछ भी गुजाइश नहीं ह। आरम्भ से लेकर अन्त तक इसमें बुद्धि-योग अथवा विचार-स्वतन्त्रता ही को प्रधानता दी

गई ह, यहा तक कि प्रेम सत्य, दया, अहिंसा क्षमा शम, दम, तप, त्याग, शौच, सरलता आदि दवी सम्पत्ति के सात्त्विक आचरणो में भी बुद्धि योग, अर्थात सबकी एकता की साम्य बुद्धि का सम्पुट साथ मा र लगाया हुआ ह।* अर्जुन भगवान का परम भक्त था, उनमें उसकी अचल श्रद्धा थी, इसलिए वे जो कुछ कह देते, उसे ही वह प्रमाण मान कर उसके अनुसार आचरण करता, परन्तु गीता का उपदेश, भद भाव के धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक शास्त्रो की तरह ऐसा सकुचित अनुदार एव दुबल नही ह कि जिसके लिए अन्धविश्वास की आवश्यकता हो, और जो मनुष्य की बुद्धि को दबाकर उसे विचारशून्य पशु बना देवे। यह उपदेश इतना व्यापक, इतना उदार एव इतना निशक ह कि प्रत्येक मनुष्य—चाहे वह किसी भी जाति का हो किसी भी धम, किसी भी सम्प्रदाय और किसी भी दाशनिक मत का अनुयायी हो अथवा किसी भी देश का वासी हो—इसम प्रतिपादित सिद्धान्तो की युक्ति तक एव विचार द्वारा अच्छी तरह जाँच-पडताल करे और फिर उसे जो अच्छा लगे सो करे। गीता का सिद्धात ह कि मनुष्य अपनी बुद्धि को सवथा शास्त्रो अथवा ग्रन्थो के सुपुद करके निश्चिन्त न हो जाय, किन्तु जो भी कुछ करे वह अच्छी तरह विचारपूवक करे। दूसरे प्राणियो की अपेक्षा मनुष्य में यही विशषता ह कि उसमें विचार शक्ति का विकास होता ह, इसलिए मनष्य की मनुष्यता इसी में ह कि वह प्रत्येक काम विचारपूवक करे। यदि मनष्य अपनी विचार शक्ति का उपयोग न करके पशुओ की तरह अन्धाधुन्ध काम करे, अथवा सवथा दूसरे लोगो का अथवा शास्त्रो का अनयायी होकर उनके वशवर्ती हो जाय तो वह एक प्रकार से पशु ही हो जाता ह। ज्ञानी महापुरुष एव सत शास्त्र मनुष्य को विचार करने में सहायता देने एव बुद्धि बढाने के लिए ह, न कि उसकी बुद्धि अथवा विचार शक्ति छीन कर उसे पशु बना देने के लिए (६३)।

× × ×

अर्जुन का मोह अर्थात हृदय की दुबलता मिटाने के प्रसग को लेकर प्रत्येक मनुष्य के लिए जीवन यात्रा का जो श्रेयस्कर माग ह, वह भगवान ने विस्तारपूवक यहाँ तक बताया, और उपदेश के आरम्भ में तथा बीच-बीच में भी बुद्धि-योग को प्रधानता देते हुए अन्त में यही कहा कि "मने जो कुछ कहा ह, उस पर अच्छी तरह विचार करके फिर जो अच्छा लगे वह करो"—इस प्रकार सवत्र बुद्धि-योग अथवा विचार-स्वातन्त्र्य को प्रधानता दी। अब आगे के तीन श्लोको में थोडे से सारगर्भित एव मार्मिक शब्दो में सारी गीता का निचोड कह कर इस उपदेश की समाप्ति करते ह। इन अन्तिम शब्दो पर गम्भीरतापूवक विचार करने पर इस विषय में कोई सदेह नही रह जाता कि गीता कोरा धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक अथवा मत मतान्तरो का ग्रन्थ नहीं ह जसा कि बहुत से लोग मानते ह, किन्तु भगवान का

---

*बारहव और सोलहव अध्यायो मे इन आचरणो का स्पष्टीकरण देखिए।

यह दिव्य एव महान क्रान्तिकारी उपदेश मनष्य मात्र को सब प्रकार की पराधीनताओ, अन्धविश्वासो, मानसिक दुर्बलताओ एव दासताओ के बन्धनो से मुक्त करके पूण निर्भय, नि शक, स्वतन्त्र, स्वावलम्बी एव दृढ निश्चययुक्त कर्तव्यपरायण बना कर सब प्रकार की उन्नति के शिखर पर चढ़ाने वाला कर्तव्य शास्त्र ह।

सवगुह्यतम भूय शृणु मे परम वच ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम ॥ ६४ ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मा नमस्कुरु ।
मामेवष्यसि सत्य ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥
सवधर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज ।
अह त्वा सवपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥ ६६ ॥

अथ—फिर भी सब से अधिक गुह्य मेरा परम (रहस्यमय) वचन सुन, क्योकि तू मुझे अत्यन्त प्यारा ह, इसलिए म तेरे हित के निमित्त कहता हूँ। मेरे मन वाला हो, अर्थात म परमात्मा ही सब कुछ हू, यह मन में दढ़ निश्चय रख, मेरा भक्त हो अर्थात सबको एक ही परमात्मा-स्वरूप मेरे अनेक रूप समझ कर सबके साथ प्रेम कर मेरा यजन कर अर्थात अखिल विश्व को मेरा व्यक्त स्वरूप समझ कर जगत की सुव्यवस्था के लिए अपने कतव्य कम कर मेरी वन्दना कर, अर्थात मुझ परमात्मा को सबमें एक समान व्यापक समझ कर सबका नमस्कार कर और सबके साथ नम्रता का व्यवहार कर, म तुझे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हू कि, (ऐसा करने से) तू मुझ (सबके आत्मा= परमात्मा) को प्राप्त होगा तू मुझ (सर्वात्मा) को बहुत प्यारा ह, अर्थात मेरा ही व्यष्टि भाव ह। सब धर्मों का परित्याग यानी पूणतया त्याग करके तू एक मेरी शरण में आ, म तुझे सब पापो से मुक्त कर दूगा, शोक मत कर। तात्पय यह कि भेद वाद के साम्प्रदायिक धम शास्त्रो के विधानानसार अजुन को युद्ध करने से अपने जाति धम और कुल धम के नाश होने का, हत्या के पाप लगने का, नरको में गिरने का, तथा पितरो के लिए पिण्डोदक क्रियाओ के लुप्त होने आदि का बडा भय तथा शोक हो रहा था (गी० अ० १ श्लोक ३६ से ४६), और अजन की तरह दूसरे विचार शील कायकर्ता भी भेदवाद के शास्त्रो में वर्णित धम अधम, पुण्य पाप आदि विषयो की उलझनो में पड हुए इसी प्रकार शोक और मोह से ग्रसित रहते ह, क्योकि जसा कि पहले कह आये ह, भेद वाद के साम्प्रदायिक धर्मों का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रो में कतव्य अकतव्य अथवा धम अधम की व्याख्या भिन्न भिन्न प्रकार से की गई ह, और धम के स्वरूप का निणय एक दूसरे से विलक्षण किया गया ह—यहाँ तक कि अनेक स्थलो पर परस्पर विरोधी निणय मिलते ह, जिनसे विचारशील मनुष्य की बुद्धि चकरा जाती ह (गी० अ० २ श्लोक

५२ ५३) । इसलिए गीता में भगवान ने अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त के आधार पर धर्माधर्म अथवा कर्तव्याकर्तव्य के विषय का निश्चित निर्णय करके इस अध्याय के श्लोक ६३ में कह दिया है, कि बुद्धिमान मनुष्य को मेरे कहे हुए इस गूढ़ रहस्य पर अच्छी तरह विचार करके अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए। अब उपदेश के अन्त में भगवान सबके हित के लिए फिर से थोड़े-से सारगर्भित वाक्यों में अपने निश्चित निर्णय को स्पष्ट शब्दों में साफ-साफ दुहराते हैं कि पृथकता के भावों को दृढ़ एवं पुष्ट करने वाले अनेक भिन्न-भिन्न साम्प्रदायिक धर्म अथवा मज़हब हैं वे सब मनुष्य को अत्यन्त संकुचित सिद्धान्तों अलग-अलग धार्मिक कर्मकाण्डों एवं ईश्वरोपासना की पृथक पृथक व्यवस्थाओं तथा परोक्ष कल्पित स्वर्ग-नरक के अन्ध विश्वासों में उलझाये रखते हैं और अपनी अपनी साम्प्रदायिक चारदीवारी के पशु बनाये रख कर उनमें बांधे रखते हैं—उस घेरे के बाहर निकल कर स्वतन्त्र विचार करने का अवकाश भी नहीं देते। इन साम्प्रदायिक धर्मों के जंजाल में रहने वाले मनुष्य, अपने शरीरों के जो स्वाभाविक धर्म होते हैं उनको भूल कर पीछे से जोड़े हुए अथवा लगाये हुए कल्पित साम्प्रदायिक धर्मों में दृढ़ आसक्ति कर लेते हैं जिनसे उनके पृथक व्यक्तित्व का अहंकार बहुत बढ़ जाता है। जिस तरह—"मैं अमुक धर्म अथवा अमुक मज़हब अथवा अमुक सम्प्रदाय अथवा अमुक मत का अनुयायी हूँ, मेरी अमुक जाति अमुक कुल अमुक आश्रम एवं अमुक पद है, मैं बड़ा कुलीन बड़ा प्रतिष्ठित बड़ा धर्मात्मा बड़ा भक्त, बहुत पुण्यवान एवं बहुत बुद्धिमान हूँ" इत्यादि और इस प्रकार के व्यक्तित्व के अहंकार से मनुष्य नाना प्रकार के बन्धनों में जकड़ा रहता है, जिनसे उसे कभी छुटकारा नहीं मिलता और न उसे अपने सच्चे स्वरूप—परमात्म भाव के अनुभव रूप सच्ची शान्ति और मुक्ति ही प्राप्त होती है। इसलिए अपने कल्याण की इच्छा रखने वाले मनुष्यों को इन भेद वाद के सारे धर्मों की उलझन से परे हो कर सबके एकत्व भाव, सबके अपने-आप सर्व व्यापक, सबके आत्मा=परमात्मा की शरण लेनी चाहिए, अर्थात आत्मा परमात्मा की एकता का अनुभव प्राप्त करके नाना रूपों में प्रतीत होने वाले अखिल विश्व को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप समझ कर अपने पृथक व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ देना चाहिए। इस प्रकार पृथकता के भावों से ऊपर उठ कर सबकी एकता के दृढ़ निश्चय-युक्त सबके साथ यथायोग्य प्रेम* का बर्ताव करने से तथा अपने अपने स्वाभाविक धर्म का आचरण करने से अर्थात अपने अपने शरीरों की योग्यता के कर्तव्य कर्म करते रहने से सब प्रकार के बन्धनों से छुटकारा पाकर मनुष्य परमात्म स्वरूप हो जाता है (६४ ६६)।

स्पष्टीकरण—सबके आत्मा=परमात्मा के पूर्ण कला के अवतार, व्यावहारिक वेदान्त के मूर्तिमान स्वरूप, पूर्ण समत्वयोगी भगवान श्रीकृष्ण का दिया हुआ गीता

---

* प्रेम का स्पष्टीकरण बारहवें अध्याय में देखिए।

का सावजनिक सवहितकर, कल्याणकारी, निष्पक्ष, नि शक एव स्पष्ट उपदेश यहाँ पर समाप्त होता ह । भगवान के इस उपदेश के अन्तिम तीन श्लोक अत्यन्त ही मार्मिक रहस्य से भरे हुए ह । अतएव प्रत्येक पाठक पाठिका को इन तीन श्लोको के 'गह्यतम परम रहस्य" मय भाव पर गम्भीरतापूवक विचार करना चाहिए ।

अजुन अपने स्वजन-बा धवो के मारे जाने की आशका से प्रेम और दया से द्रवीभूत होकर अपने कतव्य कम—यद्ध से खिन्न हो गया था और राज पाट आदि सब कुछ छोड छाड कर स यास लेकर भीख पर निर्वाह करने को तयार हो गया था, और अहिंमा मक होने का प्रस्ताव उसने भगवान के सामने उपस्थित किया था । इस पर भगवान ने उसे आत्मज्ञान का उपदेश देकर जगत और समाज की सु यवस्था रूप लोक सग्रह के लिए सव भूतात्मक्य साम्य भाव से अपने कतव्य कम करने का उपदेश दिया । इस अठारहवें अध्याय में अजन द्वारा की हुई सब शकाओ का फिर से सक्षेपतया समाधान करते हुए, स यास और त्याग का तत्त्व समझाया और हिंसा तथा अहिंसा, कर्मों के अच्छेपन और बुरेपन एव और धम और अधम आदि का विवेचन करके अपनी अपनी योग्यता के कतव्य कम करने की आवश्यकता और उसकी विधि का विस्तारपूवक वणन किया, और साथ ही यह भी कहा कि इस ससार में कोई भी मनष्य अपने पथक व्यक्तित्व के अहकार से अपने स्वाभाविक कम छोड नही सकते । यदि कोई कम त्याग का मिथ्या अहकार करता ह तो सबके एकत्व भाव=प्रकृति अथवा ईश्वर के अधीन होकर उसे जबरदस्ती अपने स्वाभाविक कम करने पडते ह । अन्त में ६३वें श्लोक में यह भी कहा ह कि, 'मने जो कुछ कहा ह, उस पर अच्छी तरह विचार करके फिर तुझे जो अच्छा लगे सो कर ।"

प्रेम, सत्य, दया, अहिंसा, क्षमा, त्याग, वराग्य, सयम, सन्तोष, पुण्य, पाप, धर्म, अधम, स्वर्ग, नरक, ब धन, मोक्ष, आदि का जिस तरह का अथ आम तौर से लगाया जाता ह और जिनके लिए अजन अपने कतव्य कम से हटने को तयार हुआ था, वे सब विशेष करके अव्यावहारिक धार्मिक भावनाओ पर अवलम्बित ह । भेद-वाद के सभी साम्प्रदायिक धर्मों अथवा मजहबो एव मतो में यही उपदेश रहा करता ह कि शत्रु, मित्र, सज्जन, दुजन, अपने, पराये—सबके साथ एक समान प्रम का बर्ताव करो, प्राणिमात्र पर दया करो, दुष्टो, अन्यायियो, हिंसको आदि की भी तन, मन और वचन से हिंसा मत करो, किसी को किसी प्रकार का कष्ट तन, मन और वचन से मत दो और किसी की हानि मत करो, यदि कोई एक गाल पर थप्पड मारे तो दूसरा गाल उसके सामने कर दो, अपने स्वत्वो और अधिकारों की परवाह मत करो, सब-कुछ मिथ्या समझ कर त्याग दो, ससार से वराग्य करो, ब्रह्मचय रखो सच बोलो, लोभ मत करो, दान पुण्य करो, अपने (साम्प्रदायिक) धर्म का पूरी तरह पालन करो, इस तरह करने से स्वर्ग

मिलेगा मोक्ष होगा, ऐसा न करने से नरक में गिरोगे, बन्धन में रहोगे, इत्यादि। सभी मत इन आचरणो को सदाचार (Morality) मानते ह। परन्तु व्यवहार में सभी मजहबो और मतो के अनुयायी इनका आचरण कुछ भी नहीं करते ह—अधिकाश लोग इनके विपरीत आचरण करते ह। ये धार्मिक व्यवस्थाए प्राय कहने सुनने और पुस्तको में लिखी रहने मात्र के लिए ही रहती ह। कारण यह कि यद्यपि प्रेम, सत्य, दया, अहिंसा आदि सात्त्विक गण ह परन्तु ये वास्तव में सात्त्विक तभी होते ह जब कि सारे विश्व की एकता क दढ निश्चय से, अथवा सारे विश्व को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनक रूप समझ कर इनका यथायोग्य साम्य भाव से आचरण किया जाय*।

भेद वाद के साम्प्रदायिक धम (मजहब) एव मत इस सिद्धान्त की प्राय उपेक्षा करते ह कि यह विश्व सबके आत्मा=परमात्मा की त्रिगणात्मक इच्छा अथवा प्रकृति का बनाव ह और इसमें जो भी कुछ ह सब अन्योन्याश्रित अर्थात एक दूसरे पर निभर रहने वाले तथा एक दूसरे के भोक्ता भोग्य ह इसलिए कोई भी व्यक्ति अथवा समाज रजोगुण तमोगण से सवथा रहित होकर केवल सात्त्विक नहीं हो सकता और न यह जगत रजोगण तमोगणप्रधान प्राणियो से शून्य हो सकता ह। जिस व्यक्ति अथवा समाज मे सत्त्वगुण की प्रधानता होती ह उसमे एकता के भाव बढ हुए होते ह विद्या बुद्धि और बल अर्थात वीरता की अधिकता होती ह और वही व्यक्ति अथवा समाज रजोगण तमोगणप्रधान प्राणियो पर शासन करता ह और उनकी अपेक्षा अधिक सम्पत्तिशाली अधिक सुखी और अधिक उन्नत होता ह और वही अधिक जीवित रहता ह। जो लोग इस तथ्य की उपेक्षा करके केवल भेदवाद की धार्मिक भावनाओ के अनुसार पथकता के भाव से उपरोक्त सात्त्विक आचरण करने का प्रयत्न करते ह वे उसमें सफलता प्राप्त नहीं कर सकते किन्तु त्रिगणात्मक प्रकृति उनके प्रतिकूल होकर उनका पतन कर देती ह। इसलिए मनुष्य की सच्ची मनुष्यता इसी में ह कि वह भेद वाद के साम्प्रदायिक धर्मों की अव्यावहारिक भावनाओ की उलझन से निकल कर एव तीन गुणो के उपयुक्त रहस्य को जान कर सबकी एकता के दढ निश्चय से उन सात्त्विक आचरणो का यथायोग्य उपयोग करे। इसी से मनष्य की सर्वांगीण उन्नति एव शान्ति पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति होती ह। इसलिए भगवान अपने इस उपदेश के अन्त म इस बात को विशेष ज़ोर के साथ कहते ह कि 'पथकता को दढ करने वाले सब भेद वाद के धर्मों को कतई छोड कर सबकी एकता-स्वरूप मेरी शरण म आ सबकी एकता स्वरूप म तुझे सब पापो से मुक्त करूँगा सोच मत कर।'

---

*बारहव और सोलहव अध्यायो म इन भावो के सदुपयोग दुरुपयोग का खुलासा देखिए।

भद वाद के साम्प्रदायिक धर्मों की कटटरता के कारण ससार में बहुत ही अनथ हुए और हो रहे ह । भारतवष दीघकाल से भेदवाद के साम्प्रदायिक धर्मा का प्रधान अडडा हो रहा ह, इसलिए इस देश की बडी दुदशा हुई ह । इस देश की अधोगति का यदि कोई प्रधान कारण ह तो वह नाना प्रकार के साम्प्रदायिक धर्मों अथवा मजहबो का अ ध विश्वास ही ह । यहाँ के लोग इन साम्प्रदायिक धर्मों की उलझन में इतने फसे हुए ह कि ससार के सारे "यवहारो पर धम ही को प्रधानता देते ह और धमभीरु" होना बडे गौरव की बात समझते ह । परिणाम यह हुआ कि यहाँ की साधारण जनता वास्तव में ही "भीरु" हो गई और प्रत्यक काम में कल्पित अदश्य बातो का वहम करने और डरने लगी—यहा तक कि स्वत त्र विचार करने की हिम्मत भी इसमें नहीं रही । "यतो धमस्ततो जय" तथा 'धर्मो रक्षति रक्षित" के नारे दिन रात लगते रहन पर भी, हजारो साम्प्रनायिक धर्मों में से किसी ने इस देश की सहायता नही की और यह देश पराधीन एव पीछे पडा हुआ, तरह तरह के अत्याचारो का शिकार हो रहा ह । इसलिए भारतवासियो को भगवान का यह अ तिम उपदेश अच्छी तरह हृदय में धारण करना चाहिए और अनेकता को बढ़ाने तथा दढ़ करने वाले सब धर्मों को छोडकर सबकी एकता स्वरूप भगवान की शरण म जाने का विश्वधम धारण करना चाहिए, अर्थात आपस की फूट मिटाकर पूण रूप से एकता करके, विद्या, बद्धि और बल (वीरता) का बनाना और मुसगठित होना चाहिए । एसा करने से ही देश का उद्धार हो सकता ह ।

ससार में वे ही व्यक्ति अथवा समाज सुखपूवक जीवित रह सकते है, जिनमें पारस्परिक एकता हो और जो बुद्धिमान, विद्वान और बलवान (वीर) हो । गीता के अ तिम श्लोक में भी यही बात कही है कि "जहाँ सबकी एकता स्वरूप योगेश्वर कृष्ण ह, और जहाँ युक्ति सहित शक्ति स्वरूप धनुर्धारी अजुन ह, वहाँ ही लक्ष्मी, विजय, वभव और अटल नीति ह ।" यदि हम लोगो में ये गुण नही ह तो हमको इनका सम्पादन करना चाहिए, क्योकि इनके बिना हमारा सच्चा और स्थायी उद्धार कभी नहीं हो सकता ।

गीता पर जितनी टीकाए ह, वे प्राय किसी न किसी प्रकार की साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक (मजहबी) अथवा मल-मता तरो की भावनाओ को लिये हुए ह । इसलिए ६६वें श्लोक के 'सवधर्मान परित्यज्य' वाक्य को किसी में भी समुचित महत्त्व नहीं दिया गया है । सभी टीकाकारो न खींचातानी करके अपने-अपने साम्प्रनायिक धर्मों एव मतो को भगवान के इस क्रा तिकारी महा वाक्य से बचाने की कोशिश की ह, और 'मामेक शरण व्रज' वाक्य का, (जगत से अलग) एक ईश्वर के शरण होने का अर्थ करके गीता का भक्ति प्रधान उपसहार माना ह । परन्तु, जसा कि गीता में सर्वत्र कहा गया है, यह एक व्याव

हारिक वेदान्त का कतव्य-शास्त्र ह, और इसम सब भूतात्मक्य साम्य भाव से जगत के व्यवहार करने का प्रतिपादन ह और जब कि इसके अ त में भगवान यह जोरदार भूमिका बाँध कर कि "सबसे गुह्यतम मेरे परम रहस्यमय वचन फिर से सुन, तू मेरा अत्य त प्यारा ह, इसलिए तेरे हित के लिए म कहता हू,' फिर उसके बाद सवधर्मान परित्यज्य' का उपदेश देते ह, तो इसी से इन वाक्यो का महत्व अच्छी तरह स्पष्ट होता ह और 'धर्मान' के पहले 'सव' शब्द और त्यज्य' के पहले परि' उपसग, इनके महत्त्व को और भी अधिक पुष्ट और दढ करते ह। साराश यह कि भगवान की असदिग्ध शब्दो मे स्पष्ट घोषणा ह कि भेद वाद के सब साम्प्रदायिक धर्मो को कतइ छोड कर सबकी एकता स्वरुप मेरी शरण मे आओ—अर्थात सारे विश्व को सबके आत्मा=परमात्मा ही के अनेक रूप समझ कर विश्व की एकता के अनुभव रूप विश्व धम को स्वीकार करो, और अपनी अपनी योग्यता के कतव्य कम अच्छी तरह करो, ऐमा करने से कोई पाप या अ यन शेष नहीं रहेगा।

× × ×

गीता का उपदेश समाप्त करके भगवान अब इसका माहात्म्य कहते ह —

इद ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्य न च मा योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥
य इम परम गुह्य मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्ति मयि परा कृत्वा मामेवष्यत्यसशय ॥ ६८ ॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तम ।
भविता न च मे तस्मादन्य प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥
अध्येष्यते च य इम धर्म्य सवादमावयो ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्ट स्यामिति मे मति ॥ ७० ॥
श्रद्धावाननसूयश्च श्रृणुयादपि यो नर ।
सोऽपि मुक्त शुभाल्लोका प्राप्नुया पुण्यकमणाम ॥ ७१ ॥
कच्चिदेतच्छ्रुत पाथ त्वयकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसमोह प्रनष्टस्ते धनजय ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोह स्मतिलब्धा त्वत्प्रसादा मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसदेह करिष्ये वचन तव ॥ ७३ ॥

सजय उवाच

इत्यह वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मन ।
मन्रादमिममश्रागमन्भुत रोमहषणम ॥ ७४ ॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेन न्हमत परम ।
योग योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयत स्वयम ॥ ७५ ॥
राजसस्मृत्य सस्मृत्य सवादमिममद्भुतम ।
केशवार्जुनयो पुण्य हृष्यामि च मुहुर्मुहु ॥ ७६ ॥
तच्च सस्मृत्य सस्मृत्य रूपमत्यद्भुत हरे ।
विस्मयो मे महाराज हृष्यामि च पुन पुन ॥ ७७ ॥
यत्र योगेश्वर कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धर ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिमम ॥ ७८ ॥

अर्थ---तप नहीं करन वाले को, भक्ति नहीं करने वाले को, सुनन की इच्छा नहीं रखने वाले को, तथा जो मेरी निन्दा करता ह उसको, यह (गुह्य ज्ञान) तुझे कभी न कहना चाहिए। तात्पय यह कि सबकी एकता के ज्ञान युक्त सासारिक व्यवहार करने के समत्व-योग अथवा व्यावहारिक वेदान्त के उपरोक्त उपदेश का पात्र वही होता ह, जो कि सत्रहवें अध्याय में वर्णित सात्त्विक तप यानी शिष्टाचार से युक्त हो जिसके अन्त करण में परमात्मा के व्यक्त स्वरूप जगत के साथ प्रेम हो, और जिसको इस उपदेश के सुनन की सच्ची जिज्ञासा हो, तथा जिसकी भगवान श्रीकृष्ण म श्रद्धा हो---ऐसे पुरुषो को ही उपदेश देन से लाभ होता ह। इसके विपरीत गुणो वाले पुरुषो को इस गूढ़ ज्ञान का उपदेश देना निरथक ही नहीं किन्तु अनेक अवसरो पर बहुत हानिकर होता ह, क्योकि वे लोग इस रहस्य को ठीक ठीक समझ नहीं सकते अत इसका उलटा अथ लगाकर बडा अनथ कर सकते ह, इसलिए एसे लोगो को यह उपदेश कदापि नहीं देना चाहिए। किन्तु इस उपदेश को सुनन की इच्छा रखन वालो में पहले शिष्टाचार, प्रेम, जिज्ञासा और भगवान श्रीकृष्ण में श्रद्धा उत्पन्न करके फिर उन्हे इसका रहस्य कहना चाहिए (६७)। जो इस परम गुह्य (रहस्य) को मेरे भक्तो को समझा कर कहेगा, वह मेरी परा भक्ति करके निस्सदेह मुझे ही प्राप्त होगा। मनुष्यो म उससे अधिक दूसरा कोई भी मेरा अतिशय प्रिय करने वाला नहीं ह, और न पृथ्वी में कोई दूसरा मुझ उससे अधिक प्रिय होगा। तात्पय यह कि जो योग्य पात्रो को मेरे इस अतीव गूढ़ उपदेश के रहस्य को अच्छी तरह समझा कर कहेगा और इस ज्ञान का प्रचार करेगा, वह मेरा परम भक्त होगा, उसके जसा मेरा प्रिय काय करने वाला दूसरा कोई मनुष्य नहीं है, और न भूमण्डल में उससे अधिक कोई

मुझे विशष प्यारा कभी होगा। इस गीता ज्ञान का प्रचार करने वाला ही मेरा सच्चा भक्त ह, अत वह मुझे अवश्य ही प्राप्त होगा (६८ ६९)। जो कोई हम दोनो के इस धम रूप सवाद का अध्ययन करेगा, 'उसने ज्ञान यज्ञ से मेरी पूजा की ह" ऐसा म मानूगा। और जो मनुष्य श्रद्धा से युक्त, एव दोष दष्टि से रहित होकर (इसको) सुनेगा, वह भी (पापो से) छूट कर पुण्य कम करने वालो के शुभ लोको को प्राप्त होगा। तात्पय यह कि जो इस गीता शास्त्र का अच्छी तरह विचारपूवक अध्ययन करेगा, वह आत्म ज्ञान के अभ्यास में लगने के कारण सबके आत्मा=परमात्मा का ज्ञान यज्ञ द्वारा पूजन करेगा और जो इसको श्रद्धा और आदरपूवक एकाग्र चित्त से सुनेगा, वह भी बुरे कम करना छोड कर श्रेष्ठ आचरणो म लगेगा, इसलिए उसकी भी श्रेष्ठ गति होगी (७० ७१)। हे पाथ! क्या तूने एकाग्र चित्त से यह उपदेश सुना ह? और हे धनजय! क्या तेरा अज्ञान और कतव्याकतव्य का मोह पूणतया नष्ट हो गया ह? तात्पय यह कि भगवान श्रीकृष्ण अजुन से पूछते ह कि देहाभिमान से उत्पन्न तेरे हृदय की दुबलता और मोह के मिटाने के उद्देश्य से जो गीता का उपदेश सुनाया गया उसे तूने अच्छी तरह ध्यानपूवक दत्तचित्त होकर सुना कि नहीं? और उससे तेरे हृदय की दुबलता और मोह मिटाने का प्रयोजन सिद्ध हुआ कि नहीं (७२)? अजन बोला कि हे अच्युत। आपके प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हो गया और मुझे (अपने स्वरूप की) स्मति प्राप्त हुई म सदेह से रहित होकर स्थित हू, आपका कहना करूगा। तात्पय यह कि भगवान के प्रश्न के उत्तर में अजुन कहता ह कि देहाभिमान के कारण मुझे अपने वास्तविक सच्चिदानन्द स्वरूप का अज्ञान हो जाने से हृदय दुबल होकर कतव्याकतव्य के विषय में जो मोह हो गया था, वह अपने वास्तविक स्वरूप की पुन स्मति हो आने से दूर हो गया अब मुझे कुछ भी सदेह नहीं रहा ह, अत आपने जो उपदेश दिया ह उसी के अनुसार म करूँगा (७३)।

सजय बोला कि इस प्रकार वासुदेव भगवान श्रीकृष्ण और महात्मा अजुन के अदभुत एव रोमाच उत्पन्न करने वाले इस सवाद को मने सुना। श्री वेदव्यास की कृपा से मने यह परम गुह्य समत्व-योग स्वय योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण को कहते हुए साक्षात सुना। हे राजन! भगवान श्रीकृष्ण और अजुन के इस अदभुत और कल्याणकर सवाद को स्मरण कर करके म बार-बार हर्षित होता हू, और हे राजन! भगवान श्रीकृष्ण के अत्यन्त अदभुत उस रूप को याद कर करके भी मुझे महान आश्चय और बार-बार हष होता ह। तात्पय यह कि सजय, महाराज धतराष्ट्र से कहता ह कि महर्षि वेदव्यास ने कृपा करके जो मुझे मनो-योग की दिव्य दष्टि दी, उससे मने स्वय योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण द्वारा कहे हुए समत्व-योग के इस आश्चयजनक और अत्यन्त गुह्य उपदेश को प्रत्यक्ष सुना, जिससे मेरा रोम रोम प्रफुल्लित हो रहा ह, और इस कल्याणकर सवाद को याद करके मे रह रह कर हर्षित हो रहा हूँ, तथा भगवान ने अजुन को जो अपना अदभुत

विश्वरूप दिखाया, उसे भी मैंने उक्त मनो योग की दिव्य दृष्टि से देखा, जिसे याद कर करके मुझे उसकी अलौकिकता के कारण अतीव आश्चर्य हो रहा है, और साथ साथ उससे सबकी एकता का प्रत्यक्ष ज्ञान होने के कारण हर्ष भी हो रहा है (७४ ७७)।

जहाँ योगेश्वर कृष्ण है और जहा धनुर्धारी अर्जुन है वहाँ लक्ष्मी एवं शोभा, विजय, वैभव एवं ऐश्वर्य और ध्रुव नीति है—ऐसा मेरा मत है। तात्पर्य यह कि जहा सबकी एकता के साम्य भाव की पूर्णता स्वरूप महा योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण है, और जहाँ युक्ति सहित शक्ति स्वरूप अर्जुन है, दूसरे शब्दो में जहाँ सबकी एकता का साम्य भाव है और जहाँ विद्या, बुद्धि और बल है, वहाँ ही निश्चयपूर्वक राज लक्ष्मी रहती है वहीं सब प्रकार की शोभा और कीर्ति है वहीं विजय होती है, वहीं वैभव और ऐश्वर्य है और वही अटल नीति है। जहाँ एकता नही, तथा विद्या, बुद्धि और बल नहीं, वहाँ दरिद्रता, अकीर्ति, पराजय, दासता, दीनता और मूर्खता का अविचल साम्राज्य रहता है (७८)।

॥ अठारहवाँ अध्याय समाप्त ॥

× गीता का व्यावहारिक अर्थ समाप्त ×

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥